श्रीविशाखदत्तप्रणीतम्

मुद्राराक्षसम्

डॉ निरुपण विद्यालंकार

तुषार गान्धी

अलंकार-पुष्पमाला (१)

श्रीविशाखदत्तप्रणीतं

मुद्राराक्षसम्

"मर्म-प्रकाशिका" टीका, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत भूमिका
तथा समालोचनात्मक एवं व्याख्यात्मक
टिप्पणियों से युक्त

व्याख्याकार

डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार

एम० ए०, पी-एच० डी०

भूतपूर्व रीडर, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग

मेरठ कॉलिज, मेरठ

साहित्य भण्डार

शिक्षा साहित्य के मुद्रक एवं प्रकाशक

सुभाष बाज़ार, मेरठ-२५०००२

* प्रकाशक :

रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष :
साहित्य भण्डार,
सुभाष बाजार, मेरठ–2
प्रतिष्ठान : ०१२१-२४२३७५४

कार्यालय :
'शास्त्री सदन'
२५४, वैस्टर्न कचहरी रोड, मेरठ।
दूरभाष : ०१२१-२६५६४४४

* बुक कोड **A032**

* त्रयोदश संस्करण २००७

* मूल्य : एक सौ रुपये मात्र (100.00)

* मुद्रक :
शर्मा प्रेस,
,मेरठ

★ समर्पणम् ★

जिनके श्रीचरणों में बैठकर मैंने

विद्यामधु का पान किया

उन परम श्रद्धेय

स्वर्गीय डा० सत्यनारायण "पाण्डेय" एम० ए०; पी-एच० डी०

भूतपूर्व अध्यक्ष—संस्कृत विभाग, सनातन-धर्म कॉलिज, कानपुर।

की सेवा में

सादर सविनय

समर्पित

प्राक्कथन

मुद्राराक्षस की अनेक टीकायें, व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं। आंग्लभाषा में भी और हिन्दी में भी। संस्कृत नाटयसाहित्य में एक विशिष्ट प्रकार की कृति होने के कारण काव्य रसज्ञों की सदैव से आलोचकों का विषय रही है। इतना होते हुये भी इस नूतन व्याख्या की रचना का प्रयोजन और लाभ क्या है ? यह एक स्वाभाविक प्रश्न है। यह प्रस्तुत व्याख्या उसी परम्परा में से एक नहीं है। इसका अपना एक दृष्टिकोण और प्रयोजन है। अंग्रेजी में तो संस्कृत काव्य-शास्त्र एवं आधुनिक आलोचना शैली से नाटच-सौन्दर्य और नाटक के पाठ को समझने के लिये अनेक विद्वानों की टिप्पणी समन्वित अनेक टीकायें या व्याख्यायें मिलती हैं। परन्तु हिन्दी में इसप्रकार की कवि-परिचय, कला-परिचय, नाटक की विशेषतायें आदि का विस्तृत विवरण देने के साथ-साथ मूल नाटक के अर्थ एवं भाव को शब्दशः प्रकट कर हृदयंगम कराने वाली व्याख्या रचना का नितान्त अभाव है। हिन्दी में तो मूलग्रन्थ या टीकाओं के अनुवाद मात्र ही उपलब्ध होते हैं। इसी अभाव की पूर्ति का यह एक प्रयत्न है। इसमें कुछ नवीन प्रयोगों को भी अपनाया गया है। यथा—

(१) प्रत्येक अङ्क के प्रारम्भ में उस अङ्क के प्रमुख पात्र के चरित्र को प्रकाशित करने वाला अथवा उस अङ्क की मूल केन्द्र-वस्तु को प्रतिपादित करने वाला श्लोक रखा है।

(२) प्रत्येक अङ्क में आने वाले पात्रों का परिचय उसी अङ्क के प्रारम्भ में दिया गया है। किन्तु यदि किसी अङ्क में किसी ऐसे पात्र का समावेश हुआ है, जो पूर्व भी किसी अङ्क में आ चुका है, तो उसका भी प्रारम्भिक पात्र-परिचय में निर्देश करके यह लिख दिया गया है कि यह पात्र अमुक अङ्क में पहले आ चुका है

(३) इसीप्रकार प्रत्येक अङ्क की कथावस्तु उसी अङ्क के प्रारम्भ में दी गई है। इसके लिये "कथा-शैली" को न अपना कर "विश्लेषणात्मक-शैली को अपनाया गया है। मैं समझता हूँ कि इससे प्रत्येक अङ्क को पढ़ने से पूर्व ही उस अङ्क के पात्र और उस अङ्क की कथावस्तु से पढ़ने वालों का परिचय हो जायेगा।

(४) हिन्दी-अनुवाद करते हुये शब्दशः अनुवाद करने का प्रयत्न किया गया है किन्तु फिर भी जो ऐसे शब्द आ गये हैं, जो मूलपाठ में आये हुये किसी संस्कृत शब्द का अर्थ नहीं है, उन्हें कोष्ठक में दे दिया गया है। ऐसा करते हुये पग-पग पर आने वाली भाषा के प्रवाह की कठिनाई को भी दूर करने का यथासाध्य प्रयास किया गया है।

इसप्रकार अर्थ, व्याख्या या टिप्पणी लिखते हुये इस बात का सतत प्रयत्न किया गया है कि कोई भी स्थल ऐसा शेष न रह जाये जो छात्रों की किसी भी प्रकार की शङ्का का समाधान न करता हो।

इस संस्करण के तैयार करने के प्रसङ्ग में अनेक पूर्ववर्ती मुद्राराक्षस की टीकाओं एवं व्याख्याओं से मुझे पर्याप्त सहायता मिली है। अतः जाने अनजाने में प्रभावित करने वाले उन रचनाओं के लेखकों का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। विशेषतया श्री काशीनाथ त्र्यम्बक तैलङ्ग महोदय का, जिनके द्वारा सम्पादित संस्करण को मैंने पाठ की दृष्टि से आदर्श रूप में स्वीकार किया है। किन्तु जहाँ पाठ की सङ्गति उचित प्रतीत नहीं हुई, वहाँ दूसरे पाठ को भी स्वीकार कर लिया गया है। यद्यपि ऐसे स्थल दो चार से अधिक नहीं हैं।

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी में अध्ययन करते हुये (सन् १६३२ से १६४५ तक) जिन गुरुजनों के आशीर्वाद एवं प्रेरणा से संस्कृत साहित्य में गति एवं रुचि उत्पन्न हुई है—उनका श्रद्धापूर्वक स्मरण न करना तो कृतघ्नता है। इस क्षेत्र में यत्किञ्चित् भी जो सफलता प्राप्त हुई है, वह उन्हीं के आशीर्वादों का फल है। ग्रन्थ के प्रूफ आदि देखने में मेरे अनुज डॉ० **स्वतन्त्रनिरूपण आयुर्वेदालङ्कार** ने विशेष कष्ट उठाया है। उनका हृदय से धन्यवाद करता हूँ अन्यथा यह इस रूप में मुद्रित न हो सकती। पुस्तक की Press-copy मेरे एम० ए० अन्तिम वर्ष के छात्र कुमारी सतीश भाटिया और **प्रेमनारायण पालीवाल** ने ही अहर्निश और अनथक परिश्रम करके तैयार की है। उनके सहयोग के बिना सम्भवतः यह व्याख्या इतनी शीघ्र प्रकाश में न आ पाती। उन्हें तो मेरा आशीर्वाद ही है कि वे अपने भावी विद्याजीवन में यशोभावी होवें। प्रिय **कैलाश विद्यालङ्कार एम० ए०** ने आवरण पृष्ठ तैयार कर इसे मनमोहक बनाया है। इस प्रसङ्ग में, मैं अपने परम सहयोगी स्नेही मित्र **श्री रामपाल विद्यालङ्कार एम० ए०** प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, गवर्नमेंट कॉलिज, मलेरकोटला (पंजाब) को विशेष रूप से स्मरण करता हूँ, जिन्होंने मुझे इस पुस्तक को लिखते हुये अनेक उपयोगी सम्मतियाँ तथा क्रियात्मक सहयोग दिया है। पुस्तक मुद्रित रूप में आ गई है—इसका सम्पूर्ण श्रेय मेरठ के साहित्य भण्डार के अध्यक्ष, साहसी एवं उत्साही प्रकाशक **श्री रतीराम जी शास्त्री** को है।

अन्त में केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि इस पुस्तक के निर्माण में मेरा अपना कहने के लिये कुछ भी नहीं है। जो कुछ भी है, दूसरों का है। मैंने केवल-मात्र साहित्य-उपवन में यत्र-तत्र बिखरे हुए पुष्पों को एकत्र करके उनको एक गुलदस्ते के रूप में सजाने का प्रयत्न किया है। यदि यह "**गुलदस्ता**" किसी के भी नयनों को अपनी ओर आकृष्ट कर सका, किसी के भी मन को हर सका तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूंगा। मेरी विद्वान् मनीषियों से प्रार्थना है कि यदि इसमें कुछ भी सार दिखाई दे तो अपने पास रखकर दोषों की सूचना और अभीष्ट संशोधनों का सुझाव देकर मुझे कृतार्थ करेंगे, जिससे अगले संस्करण में उनका साभार उपयोग किया जा सके। किं बहुना—

यथाबुद्धि कृता व्याख्या नाम्ना "मर्मप्रकाशिका"।
भूषणुना छात्रवृन्देन सार्धं सप्रीयतां हरिः॥

गुढ़ा–मैनपुरी
ऋषि बोधोत्सव
२६ फरवरी १६७६

—निरूपण विद्यालङ्कार

———

नीर-क्षीर विवेक

संस्कृत नाट्य साहित्य की अपूर्व निधि महाकवि श्री विशाखदत्त प्रणीत मुद्रा-राक्षस की यह हिन्दी-व्याख्या मुझे देखने को मिली। मैंने इसे आद्योपान्त देखा है। नाटक की संज्ञा के विवेचन के समय लेखक ने प्रसिद्ध व्युत्पत्ति का ही अवलम्बन लिया है। "**मुद्रा**" शब्द मुद्रण, सोमा तथा मौनावलम्बन अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसा कि नैषधादि काव्यों में प्रयुक्त "**अमुद्रद्रारिद्र्यसमुद्रमानम्**"—इत्यादि प्रयोगों से सिद्ध है। तदनुसार '**मुद्रा-मौनमुद्रा राक्षसस्य यस्मिन्नाटके तत्**" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अपनी मुद्रा को देखने पर राक्षस का स्तब्ध, चकित और विवश बन जाना तथा चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व ही एक मात्र मार्ग रह जाना भी ध्वनित होता है।

टीकाकार ने टीका को सर्वाङ्गीण बनाने के लिये कोई कसर नहीं उठा रखा है और मुझे एक अपने प्राचीन भाई गुरुकुल विश्वविद्यालय काङ्गड़ी के प्राचीन स्नातक गुजरांवाला के रहने वाले श्री लाला काशीराम जी के सुपुत्र श्री जयचन्द्र जा विद्यालङ्कार की दिङ्नागकृत "कुन्दनमाला-नाटिका" की टीका इससे बरबस याद हो आई। उन्होंने वह पुस्तक बड़े प्रेम से देखने के लिये दी थी। लाहौर के दयालसिंह कालिज में प्रोफेसर होने के पश्चात् वे मुझे नहीं मिले। आज एक दूसरे इसी विश्व-विद्यालय के स्नातक की विद्वत्तापूर्ण टीका देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। सबसे बड़ी विशेषता जो मुझे इस टीका में लगती है, वह है—गद्य या पद्य में आये हुये विशेषणों का सार्थक्य-निरूपण। इसप्रकार श्री निरूपण जी ने "**परिकर**" का सपरिकर निरूपण करते हुये निरूपण नाम को सार्थक कर दिखाया है। स्थाली-पुलाक न्याय से दो-चार उद्धरणों का दिग्दर्शन कराना अनुचित न होगा। यथा—"**कश्चन्द्रादिव चन्द्रगुप्तनृपतेः कर्तुं व्यवस्येत्पृथक्**" (१।२३)—इस पद्य की व्याख्या में राज्यलक्ष्मी और चन्द्रगुप्त के नित्य सम्बन्ध (समवाय) की स्थापना की है। वह लेखक की कवि के हृदय में पैठ जाने की प्रवृत्ति की परिचायिका है। यही स्थिति "**नेद विस्मृतभक्तिना न विषयव्यासङ्ग-मूढात्मना**" (२।५)—के पद्य में है। "**अपामुद्वृत्तानाम्**" (३।८) में जिन ध्वनियों का प्रदर्शन किया गया है, वे बहुत ही चमत्कारिणी है। (४।३) का सन्धिवर्णन, ४।१६ का साम्य-वर्णन, ३।२०—११ का शरद ऋतु वर्णन, ५।२ में नीति और नियति का सादृश्य व्याख्यान—जहाँ विशाखदत्त की उदात्त काव्य मर्मज्ञता का परिचायक है वहाँ इन स्थलों की व्याख्या उनकी कीर्तिकौमुदी में चार चाँद लगा रही है। इसीप्रकार भूमिका में चाणक्य को कौटिल्य कहा जावे या कौटिल्य—इस विषय में भी व्याख्याकार के विचार विवेचनात्मक और मौलिक हैं। इन सब तथ्यों के होते हुये भी कहीं-कहीं टीकाकार ने अपनी प्रतिभा से व्यायाम कराया है, यह मालूम पड़ता है। जैसे पृष्ठ ९४ पर "**परकृत्योपजापार्थम्**" की व्याख्या में "कृति-छेदने" धातु से कर्तितुं-पृथक्कर्तुं योग्याः=कृत्याः-विभागार्हाः—इस अर्थ का आश्रय लेते हुये **कृत्य** शब्द का अभूतपूर्व अर्थ ही प्रदर्शित किया है, पर वह है नवीन। "**स्वाम्यपरोधरौद्रविषमात्**" (३।३१) की व्याख्या करते हुये रौद्र शब्द की व्याख्या **हृदय में उत्पन्न होने वाली अनुभूति**"

की है। अच्छा होता यदि अनुभूति शब्द से पूर्व कोई "विपरीत भावात्मक" या "प्रति-हिंसात्मक" ऐसा विशेषण दे दिया जाता। पृष्ठ १०२ पर "सर्पदर्शन" को अपशकुन बताया है।

तत्सादृश्यं तदन्यत्वं तदल्पत्वं विरोधिता।
अप्राशस्त्यमभावश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ।।

इस नञर्थ निरूपण परक कारिका के अनुसार "अशकुन" शब्द में नञ् का अभिप्रेत अर्थ नहीं बैठता। अतः यदि "अपशकुन" शब्द प्रयुक्त गिया गया होता तो अच्छा होता। पृष्ठ १५७ पर "औद्धत भाव" के स्थान पर "औद्धत्य भाव" और पृष्ठ ३५८ पर "राज्यलक्ष्मी" की जगह "राज्यलक्ष्मी", ५।१० की व्याख्या में 'पक्षव्यापकत्व' की जगह "पक्षवृत्तित्व", "असत्यप्रतिपक्ष" की जगह "असत्प्रतिपक्षत्व" शब्दों का प्रयोग ग्राह्य प्रतीत होता। पृष्ठ २५७ पर "अदक्षिणं नक्षत्रम्" इस गद्य की व्याख्या करते हुये "अकार" को समुच्चयार्थक माना गया है, पर इसमें कोई प्रमाण नहीं दिया गया है। उससे इस अर्थ में बात तो बैठ जाती है, पर प्रमाणाभाव में कुछ जंचती नहीं है। मेरी समझ में तो "क्षत्रम् अदक्षिणं न" इसप्रकार अन्वय करके क्षपणक राक्षस को यह विश्वास दिला रहा है कि तुम्हारी क्षत्रिय सेना युद्ध-कला के चातुर्य से रहित नहीं। अतः तुम यदि भिड़ जाओगे तो सफलता की भी उम्मीद है। ऐसा अर्थ मान लिया जावे तो सम्भवतः कुछ अनुचित न हो। इसीप्रकार सभी मुद्राराक्षस के पाठों में ३।१२ के पद्य में "कुसचिवदृष्टराज्यभारः" पाठ मिलता है। मुझे तो इसके स्थान पर "कुसचिवसृष्टराज्यभारः" पसन्द है और "सृष्ट" शब्द विसृष्टार्थक है। अतएव सचिवायत्तसिद्धि का सूचक है। मैं नहीं समझता कि मेरे विचारों से व्याख्याकार एवं पाठक कहाँ तक सहमत होगे पर जैसे मुझे सूझा वैसा लिख रहा हूँ। मुझे यह बात भी कुछ अधिक उपयोगी प्रतीत नहीं हुई कि प्रत्येक पद्य के नीचे उसके छन्द का निर्देश न करके सभी छन्दों की तालिका अन्त में दे दी गई है। यह द्रविड़ प्राणायाम कराया है। कुछ भी हो, कवि के हृदय का जितना सुन्दर चित्रण इस टीका में किया गया है, वैसा मुझे आज तक देखने को नहीं मिला है। पृष्ठ २९१ पर "कृतार्थोऽस्मि" की व्याख्या का मर्मस्फोरण इसका ज्वलन्त उदाहरण है। महाकवि विशाखदत्त ने ६।१२ के पद्य में जो First-aid का नजारा खींचा है और व्याख्याकार ने जो व्याख्या की है—ये दोनों ही बातें अनूठी हैं।

मुझे दृढ़ विश्वास है कि यह व्याख्या संस्कृत जगत् के लिये एक देन सिद्ध होगी। कहना ही पड़ता है—

विशाखदत्तहृदयं विशाखो वेत्ति वा न वा।
एतन्निरूपणे शक्तः व्याख्याकृच्छ्री 'निरूपणः' ।।

भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
डी० ए० वी० कालिज, कानपुर।

—हरिदत्त

विषय-क्रम

आमुखम्

(१) विशाखदत्त–एक परिचय

संस्कृत साहित्य के अन्य लेखकों की भाँति मुद्राराक्षस के लेखक का भी विस्तृत जीवन-परिचय हमें उपलब्ध नहीं होता। केवल नाटक की—"आज्ञापितोऽस्मि परिषदा यथाद्य त्वया सामन्तवटेश्वरदत्तपौत्रस्य महाराजभास्करदत्तसूनोः कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिरभिनवं मुद्राराक्षसं नाम नाटकं नाटयितव्यमिति" (पृष्ठ ६)—इस प्रस्तावना से यह विदित होता है कि लेखक का नाम विशाखदत्त है। कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'विशाखदेव' नाम भी मिलता है और वह सामन्त वटेश्वरदत्त के पौत्र और महाराज भास्करदत्त के पुत्र हैं। इस प्रस्तवना में प्रयुक्त सामन्त व महाराज विशेषणों से तथा नामों के अन्त में प्रयुक्त दत्त शब्द से यह संकेत होता है कि विशाखदत्त का जन्म किसी 'दत्त' राजवंश में हुआ था। सम्भवतः कनिष्ठ पुत्र होने के कारण इन्हें राजकार्य का दायित्व नहीं वहन करना पड़ा।

मुद्राराक्षस की अनेक प्रतियों में प्रस्तावना में "महाराजभास्करदत्तसूनोः" स्थान पर 'माहराजपदभाक्पृथुसुनोः' यह पाठ उपलब्ध होता है। इसी के आधार पर प्रो० विलसन ने लेखक के निवासस्थान का निश्चय करने का प्रयत्न किया है। उनकी स्थापना है कि इस प्रस्तावना में संकेतित महाराज पृथु और अजमेर के पृथुराज या पृथुराय एक ही हैं। परन्तु स्वयं ही उन्होंने ऐसा संकेत दिया है कि 'वटेश्वरदत्त' में आया दत्त शब्द इस स्थापना के सिद्ध करने में कठिनाई उपस्थित करता है। श्री काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग महोदय प्रो० विलसन की स्थापना को स्वीकार नहीं करते। इनका मत है कि विशाखदत्त के पिता पृथु और अजमेर के चौहान पृथुराय दोनों ही भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। क्योंकि नाटककार के पिता पृथु विशेषरूप से "महाराज" पद से सम्बोधित किये गये हैं जबकि अजमेर के पृथु केवल पृथुराज या पृथुराय हैं। अब तो जर्मन विद्वान् हिल्ली ब्राण्ड द्वारा सम्पादित मुद्राराक्षस में पृथु के स्थान पर 'भास्करदत्त' नाम को ही प्रामाणिक स्वीकार किया गया है।

विशिष्ट राजवंश से सम्बन्ध निश्चित न होने पर भी रचना में उत्तर भारत के विस्तृत वर्णन से, पार्वतीय जातियों तथा कुलूत, काश्मीर और सिन्ध आदि प्रदेशों के नामोल्लेख से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि विशाखदत्त उत्तर-

भारत के निवासी थे । इस मत की पुष्टि नाटक में वर्णित काशपुष्पों और हंस के वर्णन से भी होती है, जो उत्तर-भारत की नदियों के किनारे ही पाये जाते हैं। तृतीय अङ्क में शरद् का वर्णन करते हुये वैतालिक गाते हैं—

> आकाशं काशपुष्पच्छविमभिभवता भस्मना शुक्लयन्ती
> शीतांशोरंशुजालैर्जलधरमलिनां क्लिश्नती कृत्तिमैभीम् ।
> कापालीमुद्वहन्ती स्रजमिव धवलां कौमुदीमित्यपूर्वा
> हास्यश्रीराजहंसा हरतु तनुरिव क्लेशमैशी शरद्वः ॥३/२०॥

मोतियों की श्वेत हिम से उपमा भी कवि के उत्तर-भारत के परिचय की ही सूचक है। गङ्गातट पर अवस्थित पाटलिपुत्र के विशद वर्णन से, जहाँ उत्तर-पश्चिम दिशा से केवल शोण नदी को पार करके ही पहुँचा जा सकता है, भी यही प्रकट होता है कि नाटक लिखने वाला इस प्रदेश के भू-भाग से खूब परिचित है और इसी ओर का रहने वाला है।

आस्था की दृष्टि से नाटककार वैदिक धर्म का विश्वासी प्रतीत होता है। विशाखदत्त ने शिव और विष्णु का वर्णन निम्न श्लोकों में किया है—

(१) धन्या केयं स्थिता ते शिरसि शशिकला किन्नु नामैतदस्याः,
नामैवास्यास्तदेतत् परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः ?
नारीं पृच्छामि नेन्दुं, कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु-
र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः ॥१/१॥

(२) पादस्याविर्भवन्तीमनवतिमवने रक्षतः स्वैरपातैः······ १/२

(३) आकाशं काशपुष्पच्छविमभिभवता भस्मना शुक्लयन्ती······३/२०

(४) प्रत्यग्रोन्मेषजिह्मा क्षणमनभिमुखी रत्नदीपप्रभाणाम् । ३/२१

(५) वाराहीमात्मयोनेस्तनुमवनविधावास्थितस्यानुरूपां,
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री ।
म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः,
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः ॥७/१९॥

किन्तु शिवजी और विष्णुजी के इन वर्णनों से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है कि लेखक इन दोनों में से किसी एक का भक्त था। क्योंकि उसने तो केवल नाटककार की दृष्टि से इनका वर्णन किया है। जो भी थे, थे उदार दृष्टिकोण के। वैदिक धर्म में आस्था होते हुये भी नाटक में बौद्ध सम्प्रदाय की परम्पराओं एवं जातक कथाओं का आदर के साथ उल्लेख है। राक्षस ने चतुर्थ अङ्क में अवश्य जीवसिद्धि के आगमन को अपशकुन समझा है। राक्षस के माध्यम से ही कवि ने 'आविर्भूतानुरागाः क्षणमुदयगिरेरुज्जिहानस्य भानोः'। ४/२१ श्लोक में सूर्य के प्रति अपनी भक्ति प्रकट की है। अभिप्राय यह है कि विशाखदत्त उदार दृष्टिकोण के हिन्दू धर्म में विश्वास रखते थे।

(२) विशाखदत्त का बहुविधज्ञान

विशाखदत्त प्रणीत मुद्राराक्षस को आद्योपान्त पढ़कर यह प्रतीत होता है कि नाट्यकला के सूक्ष्म तत्वों के ज्ञान के साथ-साथ लेखक को अन्य शास्त्रों का भी प्रगाढ़ परिचय था। मुद्राराक्षस सात अङ्कों का नाटक है और इसका प्रमुख रस वीररस है। रचना की कथावस्तु कहीं से ली गई हो पर उसका निर्वाह उनका अपना है। उनका दृष्टि विचार पक्ष की गम्भीरता से युक्त है। नाटककार के गम्भीर उत्तरदायित्व का निर्वाह कितना क्लेशपूर्ण है—इसे विशाखदत्त जानता है। नाट्य-शास्त्र का उसने अध्ययन किया हुआ था। उसके अनुसार रूपक के विभिन्न अङ्गों के निर्वाह की दुरूहता को भी वह भलीभाँति समझता था। तभी तो उसने राक्षस के मुख से कहलवाया है—

कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छ-
न्बीजातां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च।
कुर्वन्दुद्धया विमर्शं प्रसृतमपि पुनः संहरन्कार्यजातं
कर्ता वा नाटकानामिमनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा ॥४/३।

इस क्लेश का अनुभव या तो विशाखदत्त के समान सफल नाटककार को ही हो सकता है अथवा राजनीति के नाटक में खेलने वाले कुशल राजनीतिज्ञ राक्षस को ही।

नाट्यशास्त्र का तो नाटककार के लिये ज्ञान आवश्यक था ही, नाटकीय कथावस्तु के कारण राजशास्त्र का परिचय भी आवश्यक था। विशाखदत्त न केवल कौटिल्य के अर्थशास्त्र शकुनीति एवं अन्य नीतिशास्त्रों में वर्णित राजनीति विज्ञान से परिचित थे अपितु उसके प्रकाण्ड पण्डित भी थे। अपने दृष्टिकोण से लेखक ने अर्थ-शास्त्र के विचारों को मुद्राराक्षस में सन्निविष्ट किया है जिससे अर्थशास्त्र पर नवीन प्रकाश पड़ता है। अर्थशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का लेखक ने अपनी रचना में बाहुल्येन प्रयोग किया है। यथा - द्रव्य, अद्रव्य, कृत्य, परिगणन, गजाध्यक्ष, सिद्धि, वान्चिक, षाड्गुण्य, उपाय, उपजाप, बाह्यकोप और अन्तःकोप आदि। तृतीय अङ्क में पृष्ठ १८९ पर विरक्त व्यक्तियों के अनुग्रह और निग्रह के विषय में चाणक्य और चन्द्रगुप्त के मध्य हुये वार्तालाप द्वारा विस्तृत विचार किया गया है। यहीं पर राजायत्त, सचिवायत्त, उभयायत्त-इन तीन भिन्न प्रकार की सफल शासन-व्यवस्थाओं की भी चर्चा की है। चाणक्य कहता है—"वृषल ! श्रूयताम्। इह खल्वर्थशास्त्र-कारास्त्रिविधां सिद्धिमुपवर्णयन्ति राजायत्तां सचिवायत्तामुभयायत्तां चेति" (पृष्ठं १७६)। इसीप्रकार दूतों को किसप्रकार नियुक्त करना चाहिये—यह इस उद्धरण में संकेतित है—"प्रयुक्ताश्च स्वपक्षपरपक्षयोरनुरक्तापरक्तजनजिज्ञासया बहुविधदेशवेशभाषा-चारवेदिनो नानाव्यञ्जनाः प्रणिधयः" (पृष्ठ ३३)। अमात्यविषयक गुणों का इस श्लोक में निर्देश है—

अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्याद्भक्तियुक्तेन कः
प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत्किं भक्तिहीनात्फलम्।

प्रज्ञाविक्रमभक्तय: समुदिता येषां गुणा भूतये
ते भृत्या: नरपते: कलत्रमितरे संपत्सु चापत्सु च ।।१/१४।।

विशाखदत्त ज्योतिषशास्त्र व गणितशास्त्र के भी अगाध पंडित थे। ज्योतिष-विषयक ज्ञान की गहराई चतुर्थ अङ्क में विजययात्रा के लिये प्रस्थान से पूर्व शुभ मुहूर्त की चर्चा के प्रसङ्ग से विदित होती है।

नाटक के आरम्भ में भी सूत्रधार "रक्षत्येनं तु बुधयोग:" (पृष्ठ १७) वाक्य से भी नाटककार के ज्योतिषज्ञान का परिचय मिलता है। उसे विदित है कि चन्द्र को ग्रहण किन परिस्थितियों में लगता है?

"दैवमविद्वांस: प्रमाणयन्ति" (पृष्ठ २००) यह चाणक्य के मुख से कहलवाकर जहाँ लेखक ने भाग्य के विषय में अपनी दृढ़ सम्मति प्रकट की है, वहाँ इस सार्वजनीन सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है कि बिना परिश्रम और अव्यवसाय के भाग्य का आश्रय निरर्थक है।

समकालीन धर्मों का भी नाटककार ने विस्तृत अध्ययन किया हुआ था। क्षपणक के मुख से कहलाये गये निम्न पद्यों में बौद्ध धर्मों के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन मिलता है—

आर्हतानां प्रणमामि ये ते गम्भीरतया बुद्धे:
लोकोत्तरैर्लोके सिद्धिं मार्गैर्गच्छन्ति ।।५/२।।
शासनमर्हतां प्रतिपद्यध्वं मोहव्याधिवैद्यानां
ये प्रथममात्रकटुकं पश्चात्पथ्यमुपदिशन्ति ।।४/१८।।

विशाखदत्त की अपनी यह विशेषता है कि उनकी प्रतिभा शास्त्रीय ज्ञान से कुण्ठित न होकर और भी अधिक निखरी है।

दर्शनशास्त्र का भी विशाखदत्त को पर्याप्त ज्ञान था। पञ्चम अङ्क के दसवें श्लोक से लेखक ने गौतम के न्यायदर्शन के प्रति अपने प्रगाढ़ पाण्डित्य को प्रदर्शित किया है। श्लोक इसप्रकार हैं—

साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत्सपक्षे स्थितिं
व्यावृत्तं च विपक्षतो भवति यत्तत्साधनं सिद्धये।
यत्साध्यं स्वयमेव तुल्यमुभयो: पक्षे विरुद्धं य-
स्तस्याङ्गीकरणेन वादिन इव स्यात्स्वामिनो निग्रह: ।।५/१०।।

इसप्रकार कवि की रचना से यह विदित होता है कि वे न केवल साहित्य-शास्त्र से ही परिचित थे अपितु उनकी व्याकरण, नाट्यशास्त्र एवं उनके नियमों; राजतन्त्र और ज्योतिषशास्त्र में अप्रतिहत गति थी। इनके कुछ पद्य सूक्ति संग्रह में भी मिलते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि विशाखदत्त का ज्ञान बहुमुखी है। क्या दर्शनशास्त्र, क्या नाट्यशास्त्र, क्या व्याकरण और क्या ज्योतिषशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र—सभी में उनकी अबाध गति है। यही कारण है कि वे अपने इस राजनीति के नाटक को

वह परिधान पहना सके हैं, जो भिन्न-भिन्न शास्त्रों के सूक्ष्म सिद्धान्तों से अनुप्राणित होता हुआ भी राजनीति के सिद्धान्तों पर विशद रूप से प्रकाश डालता है। साथ ही राजनीति को क्रियात्मक रूप देते हुये भी नाटक की नाटकीयता को अक्षुण्ण रखा है।

(३) विशाखदत्त का स्थितिकाल—

विशाखदत्त के स्थितिकाल और उनकी रचना निर्माण-काल के विषय में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये कोई विशिष्ट आधार नहीं है। सामान्यतः काल-निर्णय अन्तः-साक्ष्य या बहिःसाक्ष्य के आधार पर किया जाता है। नाटक में वर्णित देशकालविषयक परिस्थितियों तथा नाटक के अन्त में ग्रथित भरतवाक्य को हम अन्तःसाक्ष्य के रूप में स्वीकार कर सकते हैं और बाह्यसाक्ष्य के रूप में वे रचनायें आती है जिनमें मुद्राराक्षस के श्लोक उद्धृत हैं या उनकी छाया है या जिनकी मुद्राराक्षस में छाया मिलती है। अन्तःसाक्ष्य के रूप में सबसे प्रमुख और महत्त्वशाली, जिस पर विद्वानों ने विशद रूप से विवेचन किया है, मुद्राराक्षस में आने वाला 'भरतवाक्य' है। किन्तु इस भरतवाक्य से लेखक के स्थिति-काल निर्णय करने में सबसे बड़ी कठिनाई इसकी अनेकरूपता है क्योंकि मुद्राराक्षस की उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों में **'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः' 'पार्थिवोऽवन्तिवर्मा,' 'पार्थिवो दन्तिवर्मा'** और 'पार्थिवो रन्तिवर्मा'—ये चार भिन्न-भिन्न पाठ मिलते हैं। भरतवाक्य इस प्रकार है—

> वाराहीमात्मयोनेस्तनुमवनविधावास्थितस्यानुरूपां
> यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री।
> म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः
> स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं **पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः** ॥ ७/१६

इस पद के अनुसार मुद्रारासक्ष नाटक का लेखक जिस शक्तिशाली राजा के आश्रय में आ रहा है, उसकी भुजाओं का आश्रय प्रलयकालीन वर्षा के समान सर्वत्र फैल जाने वाले म्लेच्छों से पीड़ित होकर पृथिवी ने लिया है। कुछ प्रमुख विद्वानों ने **'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः'** पाठ को प्रामाणिक माना है और विशाखदत्त का सम्बन्ध गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३०५–४१३ ई०) से स्थापित किया है। इसी आधार पर कुछ विद्वान् उन्हें कालिदास का समकालीन भी स्वीकार करते हैं। सबसे पूर्व इस मत के मानने वाले विद्वानों के विचारों पर विवेचन किया जायेगा। अस्तु—

(१) **'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः'**—यद्यपि यह भरतवाक्य नाटक का अङ्ग नहीं होता है तथापि यह प्रयुक्त नाटक के पात्रों द्वारा ही किया जाता है। प्रकृत नाटक में भी इस भरतवाक्य को लेखक ने राक्षस के मुख से, जो इस नाटक का प्रमुख पात्र है, कहलवाया है। इसमें **'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः'** ऐसा कहा गया है। इसका राज्य म्लेच्छों

से पीड़ित किया जाता हुआ वर्णन किया गया है । कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि यह संकेत 'चन्द्रगुप्त मौर्य' के लिये है, जो अपने आप में नाटक का एक प्रमुख पात्र है । इसीप्रकार मुद्राराक्षस के एक प्रामाणिक टीकाकार ढुण्ढिराज ने भी **'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः'** से चन्द्रगुप्त मौर्य का ग्रहण किया है, जो इस नाटक में वर्णित राजा है, चन्द्रगुप्त द्वितीय का नहीं । इसके विपरीत कुछ विद्वान् विशाखदत्त को गुप्त साम्राज्य के चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन (३७५—४१३ ई०) और साथ ही कालिदास का समकालीन भी स्वीकार करते हैं । श्री माधवदास चक्रवर्ती ने अपनी 'A Short History of Sanskrit literature' में यह निष्कर्ष निकाला है कि यदि भरतवाक्य के इस **'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः'** पाठ को प्रामाणिक रूप से स्वीकार कर लिया जाये तब एक कठिनाई उपस्थित होती है कि **'चन्द्रगुप्त'** यह संकेत किस चन्द्रगुप्त की ओर है क्योंकि भारत में तीन चन्द्रगुप्त हुये हैं जिन्होंने राज्य किया है:— (१) मौर्य साम्राज्य की स्थापना करने वाला चन्द्रगुप्त मौर्य, (२) मगध के गुप्त साम्राज्य की स्थापना से सम्बन्ध रखने वाला और (३) चन्द्रगुप्त द्वितीय, जो अपनी अपरिमित शक्ति के कारण विक्रमादित्य नाम से अभिहित किया जाता है । इन तीन चन्द्रगुप्त में से सबसे पहला 'चन्द्रगुप्त मौर्य' नहीं हो सकता क्योंकि नाटक के अन्दर लेखक का उसके प्रति केवल आदर का भाव ही व्यक्त न होकर घृणा की भी अभिव्यक्ति हुई है । और दूसर' मगध के गुप्त साम्राज्य से सम्बन्धित चन्द्रगुप्त भी नहीं हो सकता क्योंकि इतिहास में कहीं ऐसा नहीं मिलता है कि इसने विदेशी म्लेच्छ आक्रमणकारियों को परास्त किया हो इसलिये पारिशेष्यात् चन्द्रगुप्त द्वितीय ही होना चाहिये, जिसके आश्रय में कवि रहा हो । यह चन्द्रगुप्त द्वितीय पाँचवीं शताब्दी ईस्वी में हुआ है । अतः सम्भवतः कवि की भी पंचम शती के मध्य में स्थिति रही होगी ।

डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने भरतवाक्य के **'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः'** पाठ को ही प्रामाणिक माना है और भरतवाक्य के **'अधुना और चन्द्रगुप्तः'** के आधार पर नाटक की रचना चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के ही (३७५–४१३ ई०) काल की स्वीकार की है । उनकी प्रमुख युक्तियाँ इसप्रकार हैं —

(१) विशाखदत्त की शैली छठी शताब्दी के पश्चात् की नहीं है । लम्बे-लम्बे समासों का अभाव लेखक को पाँचवी शती के पश्चात् का सिद्ध नहीं करते ।

(२) भरतवाक्य मे जिस साम्राज्य की कल्पना की गई है, वह गुप्त काल ही था । अतः नाटक की राजनीतिक कल्पना ४ थी या ५वीं शताब्दी की परिस्थितियाँ ही हैं ।

(३) यदि विशाखदत्त बाण के बाद या समसामयिक थे तो दोनों को एक दूसरे का पता क्यों नहीं था ?

मुद्राराक्षस में वर्णित कहानी में चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा विषकन्या के प्रयोग से Pantalak (Philippos) की मृत्यु की शक क्षत्रप की मृत्यु के बचाव के विषय में

डॉ० जायसवाल ने सन्देह व्यक्त किया है। वायुपुराण में गुप्त साम्राज्य के प्रारम्भिक दस वर्षों में मालवा और राजपूताना में शकों को समूल नष्ट करने का वर्णन है। उन्होंने इस विषय में हर्षचरित से निम्न उद्धरण दिया भी है—

'अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनी वेषगुप्तचन्द्रगुप्तशशकपतिमनाशयत्।'

साथ ही उनका ऐसा भी विचार है कि मलयकेतु (Selucus) का बिगड़ा हुआ रूप है। अतः इनका मत है कि भरतवाक्य में कवि का अभिप्राय नाटक के प्रमुख नियन्ता एवं विधायक मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त से न होकर गुप्तवंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय से है, जिसका राज्यकाल (सन् ३७५ से ४१३ ई० तक) था। इसप्रकार नाटककार का समय चौथी शताब्दी है। Hildebrendt. Speyer और Towney डॉ० जायसवाल के मत से सहमत हैं और मुद्राराक्षस को, यहाँ तक कि पञ्चतन्त्र के सबसे पहले संशोधित होकर निकलने से भी पूर्व का, भर्तृहरि से भी पूर्व का, जिनकी मृत्यु ६५१ A. D. में हुई थी, स्वीकार करते हैं। यह विचारणीय है कि भरतवाक्य में कवि नाटक में राजा के साथ-साथ अपने आश्रयदाता चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५ A. D. से ४१३ A. D.) का भी, जिसने हूणों को और दूसरे म्लेच्छों को दूर भगा कर पञ्जाब में उनके अधिकृत प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया था वर्णन कर रहा है।

M कृष्णमाचार्य ने अपनी 'History of Classical Sanskrit Literature' में प्रतिपादित किया है कि यह सम्भव हो सकता है कि नाटक का कथानक उस समय राज्य कर रहे राजा के नाम के साथ तादात्म्य होने के कारण और उस समय हूणों के आक्रमण पर विजय पाने से स्फुरित हुआ हो। नाटक में जिस राजा का वर्णन है, वह चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य है, जिसकी ४१३ ई० में मृत्यु हुई थी, जिस समय का नाटक में वर्णन है उस समय हूणों ने भारत में किसी प्रदेश पर अधिकार नहीं किया था और जिस समय मुद्राराक्षस की रचना हुई उस समय देश हूणों के आक्रमण से त्रस्त था।

Sten konow का भी यह मत है कि पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः' यही पाठ अधिक प्रामाणिक है और इस भरतवाक्य से संकेतित चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य है, जिनका राज्यकाल ३७५–४१३ ई० है। इन्होंने विशाखदत्त को कालिदास का समकालीन माना है।

मुद्राराक्षस में चन्दनदास के शील एवं सौजन्य का जो चित्र है, वह बोधिसत्वों से अधिक श्रेष्ठ है। यथा—

'बुद्धानामपि चेष्टितं सुचरितैः क्लिष्टं विशुद्धात्मना'। ७/५

चौथी या पाँचवी शती में गुप्तवंश के वैष्णव नरेश इस मत के अनुयायी थे। अतः कवि ने भरतवाक्य में वैष्णव आश्रयदाता गुप्तवंशीय सम्राट् समुद्रगुप्त या चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की ओर संकेत किया है। साम्राज्य एवं सामाजिक दशा का चित्रण देश की चौथी या पाँचवी शताब्दी की दशा का प्रतीत होता है। अतः नाटक

की शैली और सामाजिक दशा के आधार पर कवि का समय चौथी या पाँचवी शती ई० माननां ही श्रेयस्कर है।

इसीप्रकार अभी हाल में उपलब्ध होने वाले 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक के कथानक के आधार पर भी इसकी पुष्टि होती है कि लेखक गुप्त राजाओं के दरबार में रहा है। इस नाटक का नायक निःसन्देह **चन्द्रगुप्त द्वितीय** है। इसके आधार पर लेखक की ऊपर की सीमा तो निश्चित रूप से स्वीकार की जा सकती है कि लेखक या तो इस चन्द्रगुप्त द्वितीय के समकालीन हुआ है और या इसके पश्चात्। क्योंकि इस 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक की रचना किसी ऐसे कवि के द्वारा की जानी चाहिये जो इसमें वर्णित घटनाओं से केवल सुपरिचित ही नहीं अपितु उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध भी रखता हो। दुर्भाग्य से यह नाटक खण्डित अवस्था में उपलब्ध होता है, इसमें ये भोज से शृङ्गारप्रकाश और रामचन्द्र एवं गुणचन्द्र के नाट्यदर्पण में उद्धृत उद्धरणों मे इसके इतिवृत का निर्माण करने में और इसकी पूर्व भूमिका निर्णय करने में सहायता मिलती है। इसके अन्दर विशाखदत्त ने तीन पात्रों के चरित्र पर विशद रूप से प्रकाश डाला है—(१) राजा (२) रानी और (३) राजकुमार चन्द्रगुप्त। इसप्रकार का चित्रण उसी व्यक्ति का हो सकता है जो या तो स्वयं दरबार में विद्यमान हो और सम्बन्धित व्यक्ति को भलीप्रकार जानता हो या उस व्यक्ति का हो सकता है, जिसका काम केवल मात्र प्रशंसा करना है और जहाँ आवश्यक हुआ कुमार के चरित्र को निर्दोष बनाना है, जो आगे चलकर राजगद्दी पर बैठता है। किसी भी अवस्था में हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यह **'देवीचन्द्रगुप्त'** रचना उस व्यक्ति की है, जो सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन है।

वह विशाखदत्त केवल चन्द्रगुप्त का समकालीन ही नहीं अपितु उसका सम्बन्धी भी है। क्योंकि मुद्राराक्षस की प्रस्तावना में लेखक का पितामह केवल 'सामन्त' कहा गया है जबकि उसका पिता 'महाराज' के रूप में वर्णित है। 'महाराज' की स्थिति 'सामन्त' की अपेक्षा कुछ उच्च ही होती है। केवल एक ही पीढ़ी में होने वाली यह आकस्मिक पदोन्नति राजवंश के परिवार के साथ वैवाहिक सम्बन्ध की ओर संकेत करती है। मुद्राराक्षस के अन्तःसाक्ष्य और देवीचन्द्रगुप्त के खण्डित अंश इस बात को सिद्ध करते हैं कि लेखक दरबारी जीवन राजनीतिक, और युद्ध सम्बन्धी कौशल से सुपरिचित हैं और इसीलिये मुद्राराक्षस के भरतवाक्य में लेखक अपने सम्बन्धियों और अधिकारियों से सहायता पाया हुआ (श्रीमद्बन्धुभृत्यः ३/१६) सम्राट् पृथ्वी की रक्षा करें इसप्रकार की प्रार्थना करता है। इसप्रकार 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक चन्द्रगुप्त द्वितीय के इतिहास पर नवीन प्रकाश डालता है और इसके लेखक विशाखदत्त के स्थितिकाल को, जो मुद्राराक्षस का भी लेखक है, ४०० A. D. स्थिर करने में सहायता करता है।

R. S. Pandit ने अपने द्वारा सम्पादित मुद्राराक्षस की भूमिका में प्रतिपादन किया है कि सम्भवतः यह नाटक ४०० A. D. के लगभग लिखा गया है। गुप्त-

साम्राज्य के काल में साहित्य, कला और विज्ञानादि का पुनरुज्जीवन हुआ था, जो हमको चतुर्थ और तृतीय शताब्दी B. C. के मौर्य काल के यश का स्मरण दिलाता है। विशाखदत्त इसी स्वर्णिम युग की सृष्टि थे। नाटक सम्भवतः सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५–४१३ ई०) के दरबार में पाटलिपुत्र में सबसे पहले अभिनीत हुआ था। इस नाटक के अन्दर लेखक ने अपने श्रोताओं के सम्मुख कल्पना के द्वारा चतुर्थ शताब्दी B. C. के अन्तिम चरण के समय पाटलिपुत्र की एक झांकी प्रस्तुत की है। नाटक के अन्दर इस पर प्रकाश डाला गया है कि ग्रीक सेना के विजेता चन्द्रगुप्त के द्वारा मौर्य साम्राज्य की स्थापना किसप्रकार हुई और साथ ही लेखक के समय राज्य करने वाले चन्द्रगुप्त नाम वाले राजा की ओर इंगित करता है अर्थात् जहाँ लेखक के अपने नाटक का इतिवृत्त मौर्य साम्राज्य की स्थापना करने वाले चन्द्रगुप्त से सम्बन्धित है, वहाँ लेखक यह भी संकेत करता है कि उसके समय में राज्य करने वाले राजा का नाम भी चन्द्रगुप्त है। भरतवाक्य के 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः' का संकेत गुप्तवंश के साम्राज्य के चन्द्रगुप्त द्वितीय की ओर है। पौराणिक आख्यायिकाओं में इसे ही 'विक्रमादित्य' नाम से कहा गया है और यही ज्ञान के आश्रयदाता के रूप में तथा 'शकारि' के रूप में प्रसिद्ध है।

प्रायः भरतवाक्य उस समय राज्य कर रहे राजा की ओर संकेत करता है। यद्यपि कुछ स्थलों में ऐसा नहीं भी है। यथा—कालिदासप्रणीत 'मालविकाग्निमित्रम्'। यह उस समय राज्य कर रहे राजा को इंगित न करके नाटक के पात्र को ही लक्षित करता है। अतः यह सर्वात्मना स्वीकार्य है कि भरतवाक्य के श्लोक में वर्णित चन्द्रगुप्त उस समय राज्य कर रहे राजा की ओर संकेत करने के साथ-साथ नाटक के पात्र की ओर भी संकेत करता है। अतः उस समय राज्य कर रहे राजा और नाटक के पात्र दोनों का ही समान नाम चन्द्रगुप्त है।

C. R. Devdhar का भी यही मत है कि विशाखदत्त चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन था। उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भरतवाक्य के 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः' से चन्द्रगुप्त मौर्य का ग्रहण न होकर 'चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य' का ग्रहण होता है और इसी आधार पर लेखक को चतुर्थ-पञ्चम शती का मानना अनुचित नहीं।

(२) **पार्थिवोऽवन्तिवर्मा**—मुद्राराक्षस के भारतवाक्य के अन्तिम श्लोक में 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः' के स्थान पर कुछ विद्वानों ने 'पार्थिवोऽवन्तिवर्मा' पाठ को प्रामाणिक माना है। किन्तु इस पाठ को प्रामाणिक मान लेने के उपरान्त भी लेखक किस राजा के आश्रित था, इसका उचित समाधान नहीं है क्योंकि भारतीय इतिहास में दो अवन्तिवर्मा नाम के राजाओं का उल्लेख मिलता है। विद्वानों ने इन दोनों ही अवन्तिवर्मा के नामों का उल्लेख कवि के आश्रयदाता के रूप में किया है। इनमें से एक तो कन्नौज के मौखरि राजा अवन्तिवर्मा हैं, जो ७ वीं शती में हुये हैं, जिनके पुत्र ग्रहवर्मा का विवाह हर्षवर्धन की बहिन राज्यश्री से हुआ था, और दूसरे काश्मीर के

राजा अवन्तिवर्मा है, जिन्होंने नवम शताब्दी के मध्य (८५५–८६३ ई० तक) राज्य किया था।

Prof. Jacob का अपना विचार है कि २ दिसम्बर ८६० ई० को जो चन्द्रग्रहण हुआ था, उसी का उल्लेख मुद्राराक्षस के प्रथम अङ्क की प्रस्तावना में इस-प्रकार हुआ है—

क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम् ।
अभिभवितुमिच्छति बलाद् रक्षत्येन तु बुधयोगः ॥१/६॥

इसी आधार पर उनकी यह मान्यता है कि कवि काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के समय में--जिसका काल नवम शती है--हुआ था। इन्होंने मुद्राराक्षस की रचना ९ वीं शती के उत्तरार्ध की मानी है। इसी ग्रहण के अवसर पर अवन्तिवर्मा के मन्त्री शूर ने इस नाटक का अभिनय कराया था परन्तु वास्तविकता यह है कि मुद्राराक्षस के लेखक विशाखदत्त ने काश्मीर के राजा पुष्कराक्ष को 'म्लेच्छ' इस घृणित नाम से अभिहित किया है। यदि लेखक काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के आश्रय में रहा होता तो यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि वह काश्मीर के राजा को 'म्लेच्छ' शब्द से कहता। अतः विशाखदत्त काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के आश्रय में नहीं रहे।

डॉ० कीथ किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे हैं पर वे इतना अवश्य संकेत करते हैं कि नाटक ९ वीं शती से पूर्व का है। उनके अनुसार मुद्राराक्षस, रघुवंश, मृच्छकटिक और शिशुपालवध से नवीन है अथवा नवम शती में लिखा गया है अथवा इससे भी प्राचीन हो सकता है। उनका कहना है कि—'There is nothing that prevents a date in the 9th century, though the work may be earlier.' ये विशाखदत्त का समय काश्मीर शासक अवन्तिवर्मा के शासनकाल में मानते हैं। यही मत दास गुप्ता का भी है। काश्मीर के अवन्तिवर्मा के आश्रित विशाखदत्त को स्वीकार करने से एक कठिनाई यह आती है कि लेखक ने अपने भरतवाक्य में जिन म्लेच्छों से भारतभूमि की रक्षा की प्रार्थना की है, उन म्लेच्छों की चर्चा अवन्तिवर्मा के समय में ऐतिहासिकों ने स्वीकार नहीं की है, क्योंकि कहीं भी इतिहास में ऐसा नहीं आता है कि काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा (८५५ ई०–८८३ ई०) ने किसी विदेशी राजा को अपने शासन काल में परास्त किया हो। इसके विपरीत स्थाण्वीश्वर राजा हर्षवर्धन की बहिन राज्यश्री के श्वसुर मौखरि वंश के राजा अवन्तिवर्मा के साथ विशाखदत्त का सम्बन्ध स्थिर करने वाले विद्वानों का विचार है कि विशाखदत्त ६०० A. D. के लगभग बंगाल के समीप का रहने वाला है। मौखरि राजा के साथ उसका सम्बन्ध और ६०० ई० के लगभग उसके समय की पुष्टि इससे भी होती है कि लेखक उस समय की पाटलिपुत्र की भौगोलिक परिस्थितियों से सर्वथा अभिज्ञ था। क्योंकि मुद्राराक्षस में पाटलिपुत्र को एक समृद्ध नगर के रूप में वर्णित किया गया है। नाटक में जिन हूणों का म्लेच्छ के रूप में वर्णन किया है,

ये वे ही होंगे जिनके विरोध में हर्षवर्धन के बड़े भाई राज्यवर्धन ने आक्रमण किया था। मुद्राराक्षस के पात्र चन्द्रगुप्त के विषय में प्रो० ध्रुव का मत है कि वे नाटक के पात्र मात्र ही हैं। नाट्य परम्परा के अनुसार भरतवाक्य में कवि का अभिप्राय किसी पात्र विशेष से न होकर तत्कालीन राजा से ही होता है। अतः इन्होंने 'अवन्तिवर्मा' पाठ को ही शुद्ध माना है। भरतवाक्य में कन्नौज के अवन्तिवर्मा का निर्देश ऐतिहासिक रीति से प्रमाणित होता है। इसी समय हूणों का उपद्रव पश्चिमोत्तर (पंजाब) भारत में विशेष रूप से हुआ है। प्रो० ध्रुव के मतानुसार "तोरमाण" और उसके पुत्र "मिहिरकुल" द्वारा स्थापित हूण-साम्राज्य दशपुर (आजकल का मंडसर) के संग्राम में महाराज यशोवर्मा के हाथ सन् ५२८ ई० में नष्ट-भ्रष्ट हुआ और छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया, जिनमें पंजाब में 'शाकल' (वर्तमान स्यालकोट) राज्य और पश्चिमी राजपूताना तथा पूर्वी गुर्जरराज्य प्रमुख रहे। हूणों के ये छोटे-मोटे राज्य स्थाण्वीश्वर और कान्यकुब्ज के राजाओं से शत्रुता रखते रहे। कन्नौज के मौखरिवंश के राजा ईशानवर्मा तथा शर्ववर्मा की इन हूणों से लड़ाइयाँ हुई, जिनमें थानेसर के राजाओं की सैनिक सहायता से मौखरिवंशीय राजाओं ने हूणों को हराया। शाकल के हूणवंशीय राजा लोग थानेसर के राज्य के शत्रु बन गये किन्तु महाराज प्रभाकरवर्धन और उनके सम्बन्धी कन्नौज के महाराज अवन्तिवर्मा ने मिलकर इन हूणों का नाश किया। हूण विजेता प्रभाकरवर्धन की विजय-प्रशस्ति महाकवि बाण की प्रसिद्ध ही है और जिस 'अवन्तिवर्मा' की प्रशस्ति विशाखदत्त ने अपने मुद्राराक्षस के भरतवाक्य में इसप्रकार की है—

म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः।
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवोऽवन्तिवर्मा ॥७/१९॥

वे महाराज प्रभाकरवर्धन के सम्बन्धी और उनके परम सहायक कन्नौज के महाराज अवन्तिवर्मा ही हैं, जिनका हूण विजय का समय सन् ५८२ निश्चित है और इसप्रकार मुद्राराक्षस के नाटककार का कार्यकाल ईसा की छठी शताब्दी (५८५ ई०) के आस-पास होना चाहिये। इस समय का निर्धारण करते समय यह बात ध्यान देने योग्य है कि विशाखदत्त ने एक पद्य में भारवि का अनुसरण किया है, जिसका समय लगभग छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह भारवि का परवर्ती है। परन्तु वह माघ का पूर्ववर्ती प्रतीत होता है क्योंकि माघ ने परिवर्तित रूप में मुद्राराक्षस से यह उक्ति ली है। 'नरेन्द्र' चन्द्रगुप्त चाणक्य की मन्त्रशक्ति के द्वारा तन्त्रावाप से युक्त होकर राक्षस के दर्पोन्मत्त 'नाग' को वश में कर लेता है और वह मन्त्रबद्ध वीर्य की भाँति नतानन हो जाता है।

तन्त्रावापविदायोगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता।
सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रवः ॥ (माघ)

इन उद्धरणों के आधार पर यह कहना उचित ही होगा कि विशाखदत्त

का समय इन दोनों कवियों के समय के बीच में था और वह समय छठी शताब्दी के आस-पास होगा।

Prof. Winternitz का अपना मत है कि 'देवी चन्द्रगुप्त' के उपलब्ध अंशों से यह पता चलता है कि इस नाटक में चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा शकों का नाश, अपने भाई कुमारगुप्त को मारकर उसके राज्य पर अधिकार करने और उसकी पत्नी ध्रुवदेवी से विवाह करने का वर्णन है। इसका अभिनय चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में सम्भव न था। अतः इनका स्थितिकाल कन्नौज के मौखरि राजा अवन्तिवर्मा के समय छठी शताब्दी में रखना अधिक ठीक जान पड़ता है।

श्री काशीनाथ त्र्यम्बक तैलग ने "**पार्थिवश्चचन्द्रगुप्तः**" के स्थान पर '**पार्थिवोऽवन्तिवर्मा**' पाठ को शुद्ध और प्रामाणिक माना है। साथ ही अवन्तिवर्मा नाम से उपलब्ध होने वाले काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा और मौखरि नरेश अवन्तिवर्मा में से मौखरि नरेश अवन्तिवर्मा को ही मुद्राराक्षस के लेखक का आश्रयदाता स्वीकार किया है। भरतवाक्य के इस '**पार्थिवोऽवन्तिवर्मा**' पाठ से संकेतित काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा को इस आधार पर स्वीकार नहीं किया है कि उनको जिन स्थानों से मुद्राराक्षस की दो पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हुई हैं, उनसे यह काश्मीर स्थान काफी दूर है। मौखरि नरेश अवन्तिवर्मा, जिनके पुत्र ग्रहवर्मा का विवाह कन्नौज के हर्षवर्धन की बहिन राज्यश्री से हुआ था, को पश्चिमी मगध या बिहार का राजा होना चाहिये और यदि मुद्राराक्षस का लेखक उस प्रदेश का रहने वाला था—जैसा कि अनेक विद्वान् स्वीकार करते हैं—तो यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि यह नाटक उसने अवन्तिवर्मा के राज्य में लिखा था। इसलिये उसका नाम भरतवाक्य की अन्तिम पंक्ति में चन्द्रगुप्त के स्थान पर आ गया। यदि इस समयकाल भाव को स्वीकार कर लिया जाये तो अवन्तिवर्मा के स्थितिकाल को ७ वीं शताब्दी A. D. के आस-पास निर्धारित किया जा सकता है और यह समय विशाखदत्त का भी होगा। सम्भवतः मौखरि राजाओं ने, बाद के गुप्त राजाओं की, जो उनके पड़ोसी थे, श्वेत हूणों के साथ होने वाले युद्ध में सहायता की थी। Prof. Wilson और कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने '**म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः**' इस पद्य में 'म्लेच्छ' शब्द से यह अनुमान लगाया है कि इससे यवनों के आक्रमणों की ओर संकेत है और ऐसा ही स्वीकार करके ११ वीं और १२ वीं शताब्दी के मध्य में इसके समय को निर्धारित किया है। किन्तु तैलङ्ग ने मुद्राराक्षस में प्रयुक्त होने वाले 'म्लेच्छ' शब्द पर विवेचन करते हुये यह शङ्का उठाई है कि म्लेच्छ शब्द से मुसलमान मानने का आधार क्या है? जैसा कि अन्य विद्वानों ने स्वीकार किया है। मुद्राराक्षस में तो मलयकेतु के लिये भी म्लेच्छ शब्द का प्रयोग हुआ है, परन्तु उसका न तो अपना नाम ही, न ही उसके चाचा वैरोचक का और न ही उसके पिता पर्वतक, जिसको कि कभी शैलेश्वर या पर्वतेश्वर भी कहा गया है, का नाम उसको मुसलमान सिद्ध करता है। इसीप्रकार मृत पितरों को दिया जाने वाला श्राद्ध और तर्पण का वर्णन भी किसीप्रकार से

मुसलमानों से इनके सम्बन्ध को निश्चित करता है। अतः इस युक्ति शृङ्खला के आधार पर तैलङ्ग की यह मान्यता है कि यद्यपि नाटक के पूर्व भाग में प्रयुक्त म्लेच्छ शब्द मुसलमानो के लिये आया है क्योंकि पूरी शताब्दी ७११ A. C. से लेकर ८१२ A. C. तक अनेक प्रकार के मुसलमानों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों का पता लगता है। इन्होंने 'म्लेच्छ' उन हूणों को माना है, जो गुप्त की पिछली पीढ़ी के राजाओं से लड़-भिड़ रहे थे।

Prof. Wilson के मत में मुद्राराक्षस में प्रयुक्त क्षपणक का अर्थ जैन न होकर बौद्ध है। परन्तु तैलङ्ग की यह मान्यता है कि क्षपणक का प्रयोग नाटक में केवल-मात्र जैन के लिये ही हुआ है। उनके विचार से क्षपणक शब्द पञ्चतन्त्र में तो अवश्य ही जैनियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। तैलङ्ग की दृष्टि से Prof. Wilson ने सम्भवतः क्षपणक और श्रमणक को मिला दिया है। इस क्षपणक शब्द का अर्थ निश्चित रूप से बौद्ध और इसी अर्थ में इसका खुलकर प्रयोग भी हुआ है। इसीप्रकार मृच्छकटिक में संन्यासी, जो कि निश्चित रूप से बौद्ध है को या तो श्रमणक कहा गया है और या भिक्षु, किन्तु क्षपणक नहीं कहा गया है। इसीप्रकार कदम्बताम्रपत्र में—जिनकी खोज स्वयं तैलङ्ग ने की है—क्षपणक शब्द निर्भ्रान्त रूप से जैन संन्यासियों के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। कहने का आशय यह है कि Prof. Wilson के समान तैलङ्ग का अर्थ बौद्धों के लिये न करके संन्यासियों के लिये करते हैं। मुद्राराक्षस में जैन जीव-सिद्धि की स्थिति ध्यान देने योग्य है। यद्यपि धर्म विरुद्ध सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हुये उनका दिखाई दे जाना अशुभ माना गया है, तब भी वह राज्य के मन्त्रियों का विश्वासपात्र है। चाणक्य, जो अपने आप में ब्राह्मण है, स्वयं राक्षस से उसका परिचय कराता है और राक्षस, ब्राह्मण होता हुआ भी उसका इतना घनिष्ठ मित्र हो जाता है कि वह कहता है कि शत्रुओं ने मेरे हृदय पर अधिकार कर लिया है। जब वह देखता है कि दूसरे व्यक्तियों के समान जीवसिद्धि भी चाणक्य का एक गुप्तचर है।

इसप्रकार तैलङ्ग ने विशाखदत्त का समय ७ वीं ८ वीं शताब्दी सिद्ध किया हैं। इनकी दृष्टि से कवि ८ वीं शताब्दी के पश्चात् का तो कभी हो ही नहीं सकता।

A. A. Macdonell और Rapson का विचार तैलङ्ग से मिलता है। A. A. Macdonell ने अपनी 'A History of Sanskrit Literature' में प्रतिपादित किया है कि मुद्राराक्षस की रचना की तिथि के विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है, परन्तु पुनरपि इतना स्वीकार किया जा सकता है कि यह ८०० A. D के पश्चात् की रचना नहीं है। नाटक की घटना चन्द्रगुप्त के समय में घटित हुई है, जिसने Alexander के भारत में आक्रमण के एकदम पश्चात्

नन्दवंश के अन्तिम राजा को राज्य से च्युत करके पाटलिपुत्र में एक नवीन राजवंश की स्थापना की थी।

इसप्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि "**पार्थिवो-ऽवन्तिवर्मा** पाठ को प्रामाणिक मानने वाले विद्वानों ने लेखक के समय को ६ठी, ७वीं और ८वीं शताब्दी का सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

सप्तम अङ्क में एक महत्त्वपूर्ण पद्य इसप्रकार है —

दुष्कालेऽपि कलावसज्जनरुचौ प्राणैः परं रक्षता
नीतं येन यशस्विनाऽतिलघुतामौशीनरीयं यशः।
बुद्धानामपि चेष्टितं सुचरितैः क्लिष्टं विशुद्धात्मना
पूजार्होऽपि स यत्कृते तव गतो वध्यत्वमेषोऽस्मि सः ॥७/५॥

इस पद्य के अन्दर अपने मित्र राक्षस के लिये चन्दनदास को अपने प्राणों का त्याग करते हुए वर्णित किया गया है। केवल प्राणों का त्याग करते हुये ही वर्णित नहीं है अपितु उसके इस त्याग को बौद्धों के सुचरितों ने भी बढ़-चढ़कर दिखाया गया है। इसप्रकार उसके द्वारा भगवान् बुद्ध के साथ चन्दनदास की तुलना तथा चतुर्थ अङ्क में बौद्ध धर्मावलम्बी क्षपणक जीवसिद्धि का राक्षस, चाणक्यादि ब्राह्मणों के साथ रहने और उसके प्रति घृणा को देखकर यह निष्कर्ष विद्वानों ने निकाला है कि जिस समय मुद्राराक्षस की रचना हुई होगी उस समय बौद्ध आदि नास्तिक मतों का केवल नाममात्र ही शेष होगा। बौद्धादि मतों का ह्रास ६ठी शताब्दी के पश्चात् हुआ है, अतः ७वीं के पूर्व ही इसकी रचना हुई होगी।

परन्तु इसके विपरीत इस पद्य के विषय में तैलङ्ग का विचार है कि बौद्धधर्म विषयक यह संकेत भारत से बौद्ध धर्म के सर्वथा लुप्त हो जाने और क्षय होने के बहुत पहले के समय से सम्बन्ध रखता है। विशाखदत्त जो अपने आप में निश्चित रूप से बौधधर्म का मानने वाला नहीं है, बौद्धधर्म का सम्मान के साथ उल्लेख करता है। उसका इस प्रकार उल्लेख करना इस बात को प्रमाणित करता है कि चन्दनदास के चरित का अतिरेक जिन बौद्धधर्मावलम्बियों से बढ़-चढ़कर है, वह क्षीण होते हुये बौद्धों के समय से बहुत पहिले से सम्बन्धित है। यह चर्चा ८वीं और ९वीं शती के बौद्धों की नहीं हो सकती। इस समय बौद्धधर्म पतित हो चुका था। इसमें किसी प्रकार की शक्ति सर्वसाधारण को अपनी ओर आकर्षित करने की नहीं थी। इस समय इसको राजाओं का भी आश्रय प्राप्त नहीं था। साथ ही इसके अन्दर ब्राह्मणों से मुकाबला करने की भी शक्ति नहीं थी। इन सबसे तैलङ्ग ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इस मुद्राराक्षस की रचना लगभग ८वीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में हुई होगी।

(३) **पार्थिवो दन्तिवर्मा**—कुछ विद्वानों ने मुद्राराक्षस के भरतवाक्य में '**पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः**' के स्थान पर "**पार्थिवो दन्तिवर्मा**" पाठ को प्रामाणिक माना है और इसकी प्रामाणिकता के आधार पर मुद्राराक्षस की रचना दक्षिण के पल्लव नरेश

दन्तिवर्मा (७७८–८३० ई०) शासनकाल में बताई है। श्री रामस्वामी ने इसी पल्लव-नरेश दन्तिवर्मा के साथ, जो ९वीं शती में हुआ है, विशाखदत्त का सम्बन्ध जोड़ा है। किन्तु 'दन्तिवर्मा' पाठ का स्वीकार कर लेने पर जो विशाखदत्त का सम्बन्ध राष्ट्रकूट राजा दन्तिवर्मा के साथ, जो ६०० ई० में हुआ है, लाट राजा दन्तिवर्मा—जो ८५० ई० में हुआ है—के साथ और पल्लवनरेश दन्तिवर्मा—जो ७८६-८८३ ई० में हुआ है—के साथ भी हो सकता है। इनमें से विशाखदत्त का सम्बन्ध किस दन्तिवर्मा के साथ है यह निश्चयात्मक रूप में नहीं कहा जा सकता है। यदि दक्षिण के पल्लवनरेश को विशाखदत्त का आश्रयदाता मान लिया जावे तो मुद्राराक्षस की रचना अष्टम शतक में हुई—ऐसा मानना उचित है। किन्तु इस पल्लवनरेश दन्तिवर्मा को स्वीकार करने से विशाखदत्त के जन्मस्थान विषयक प्रश्न को छोड़कर—जो कि स्पष्ट रूप से दाक्षिणात्य नहीं है—अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यथा—क्या इस राजा ने म्लेच्छों के अत्याचार से पृथ्वी की रक्षा की? दक्षिण के अन्दर म्लेच्छ नाम से कहे जाने वाले कौन थे? क्या दन्तिवर्मा वैष्णव था? जबकि सामान्यतः पल्लव-नरेश शिव की उपासना करने वाले थे। इतिहास पर दृष्टि डालने से मालूम पड़ता है कि दक्षिण में इस समय किसी भी आक्रमणकारी म्लेच्छ का पता नहीं चलता है जिसके उत्पीड़न से पृथिवी की रक्षा की प्रार्थना की जावे। इस अवस्था में मुद्राराक्षस का भरतवाक्य अपना यह गौरव खो देता है, जो कि विद्वानों ने इसे दिया है।

प्रो० ध्रुव का अपना यह मत है कि पल्लव-नरेश कट्टर शैव मतावलम्बी थे। जबकि कवि ने भरतवाक्य में विष्णु अवतारस्वरूप राजा का ही वर्णन किया है। अतः उनकी दृष्टि में पल्लवनरेश दन्तिवर्मा को विशाखदत्त का आश्रयदाता मानना अनुचित है। C. R. Devadhar ने अपनी मुद्राराक्षस की भूमिका में लिखा है कि मालावार से प्राप्त होने वाली अत्यन्त प्राचीन और विश्वसनीय हस्तलिखित प्रति में 'दन्तिवर्मा' पाठ उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि यदि **'पार्थिवो दन्तिवर्मा'** पाठ को प्रामाणिक मान लिया जावे तो मुद्राराक्षस की रचना अष्टम शताब्दी में हुई है। परन्तु प्रायः सभी विद्वान् इस मत से सहमत हैं कि **"पार्थिवो दन्तिवर्मा'** पाठ भ्रामक और अप्रामाणिक है। अतः पल्लव-नरेश दन्तिवर्मा को स्वीकार करने में विद्वानों की सम्मति नहीं है।

(४) **'पार्थिवो रन्तिवर्मा'**—मुद्राराक्षस की एक पाण्डुलिपि में भरतवाक्य की अन्तिम पंक्ति में चन्द्रगुप्त के स्थान पर **'अवन्तिवर्मा'** लिखा मिलता है। एक पाण्डुलिपि में **'रन्तिवर्मा'** पाठ है। किन्तु इसप्रकार प्राप्त होने वाले इन दोनों नामों में से कोई एक नाम ही शुद्ध हो सकता है। या तो **'रन्तिवर्मा'** नाम को शुद्ध होना चाहिये और या रन्तिवर्मा नाम को। **'रन्तिवर्मा'** नाम के विषय में तैलङ्ग का अपना यह कहना है कि उनको भारतीय इतिहास के प्राचीन तथा मध्ययुगीन काल में कहीं पर

भी रन्तिवर्मा नाम उपलब्ध नहीं हुआ है। अतः यह पाठ अशुद्ध समझना चाहिये। साथ ही उनका यह भी विश्वास है कि अवन्तिवर्मा के स्थान पर रन्तिवर्मा ठीक प्रकार से नकल न करने के कारण हो गया है। तैलङ्ग के समान दासगुप्ता का भी यही विचार है कि रन्तिवर्मा नाम कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। हाँ, कालिदास ने अपने मेघदूत में अवश्य 'रन्तिदेव' की इसप्रकार चर्चा की है—

आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लंघिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद् वीणिभिर्मुक्तमार्गः।
व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥४६॥

यदि यही रन्तिदेव' मुद्राराक्षस के भरतवाक्य के 'रन्तिवर्मा' हैं तब तो यह नाटक कालिदास कालीन भी हो सकता है और पश्चात् का भी।

संक्षेपतः 'रन्तिवर्मा' पाठ अप्रामाणिक है।

(५) भोज का सरस्वतीकण्ठाभरण और धनञ्जय का दशरूपक—

मुद्राराक्षस से दो पद्य ११वीं शताब्दी के भोज विद्यारत्नकृत सरस्वतीकण्ठाभरण में उद्धृत किये गये हैं। इनमें से प्रथम पद्य तो तृतीय परिच्छेद का ८७वां है—

उपरिघनं घनरटितं दूरे दयिता किमेतदापतितम्।
हिमवति दिव्योषधयः शीर्षे सर्पः समाविष्टः॥ मुद्रा० १/२२॥

यह पद्य सरस्वतीकण्ठाभरण में संस्कृत के अन्दर है जबकि मुद्राराक्षस में यह पद्य अपने मूल रूप में प्राकृत भाषा में है। और दूसरा पद्य पञ्चम परिच्छेद में ६५ वां है—

प्रत्यग्रोन्मेषजिह्मा क्षणमनभिमुखी रत्नदीपप्रभाणा-
मात्मव्यापारगुर्वी जनितजललवा जृम्भितैः साङ्गभङ्गैः।
नागाङ्कं मोक्तुमिच्छोः शयनमुरुफणाचक्रवालोपधानं
निद्राच्छेदाभितान्ना चिरमवतु हरेर्दृष्टिराकेकरा वः॥ मुद्रा० ३/२१॥

इसी मुद्राराक्षस से उद्धृत है। सरस्वती कण्ठाभरण में नाम्ना कहीं पर भी मुद्राराक्षस का उल्लेख नहीं मिलता है। इन दोनों में से यदि संशयशील (उपरिघनम् १/२२) पद्य को छोड़ भी दिया जाय तब भी एक उद्धरण तो ऐसा है जिसके विषय में निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यह मुद्राराक्षस से लिया गया है।

इसीप्रकार मुद्राराक्षस का अलङ्कार ग्रन्थों में प्राचीनतम उल्लेख धनञ्जय ने दसवीं शती में किया है। दशरूपक में मुद्राराक्षस से उद्धृत तीन स्थल हैं। इनमें से सर्वप्रथम दशरूपक के प्रथम प्रकाश की ६८वीं कारिका के नीचे मुद्राराक्षस का उल्लेख इसप्रकार हुआ है—

तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम् (बृ० क० २/२१६)—

चाणक्यनाम्ना तेनाथ शकटालगृहे रहः ।
कृत्यां विधाय सहसा सपुत्रो निहितो नृपः ॥
योगानन्दयशः शेषे पूर्वनन्दसुतस्ततः ।
चन्द्रगुप्तः कृतो राजा चाणक्येन महोजसा ॥

इस उद्धरण की सत्यता पर तैलङ्ग ने सन्देह प्रकट किया है क्योंकि इसके अन्दर मुद्राराक्षस का स्रोत बृहत्कथा बतलाया गया है, जहाँ से मुद्राराक्षस की कथा-वस्तु को लिया गया है । जबकि बृहत्कथा पैशाच प्राकृत में है और यह उद्धरण संस्कृत में है । इसीप्रकार दशरूपक के द्वितीय प्रकाश में नायक के सामान्य गुणों की चर्चा करते हुए 'स्थिर' इस विशिष्ट गुण को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

यथा वा भर्तृहरिशतके (नीति० श्लोक २५)—
प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥२।१४॥

किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में इस श्लोक का अन्तिम चरण **'प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्व-मिवोद्वहन्ति'** भी मिलता है । इसप्रकार यह पद्य मुद्राराक्षस और भर्तृहरिशतक दोनों में समान रूप से उपलब्ध होता है । यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात है कि दशरूपावलोक में यह पद्य भर्तृहरिशतक से लिया गया है, परन्तु वास्तविक रूप में यह पद्य मुद्राराक्षस में जिस प्रकरण में कहा गया है, बहुत ठीक प्रतीत होता है । भर्तृहरिशतक में अन्तिम पंक्ति में **'त्वमिव'** की सङ्गति ठीक नहीं बैठती । अतः यह प्रतीत होता है कि उक्त पद्य मुद्राराक्षस का ही है, भर्तृहरिशतक का नहीं और यदि यह तथ्य है तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भर्तृहरि ने इस पद्य को मुद्राराक्षस से लिया है । इस अवस्था में विशाखदत्त भर्तृहरि से प्राचीन सिद्ध होते हैं । भर्तृहरि की मृत्यु ६५१ ई० के लगभग हुई और यदि इसके विपरीत धनञ्जय के अनुसार यह माना जाये कि यह पद्य भर्तृहरि से लिया गया है तो विशाखदत्त को भर्तृहरि से बाद का भी माना जा सकता है ।

विशाखदत्त और भर्तृहरि के पूर्वापर सन्दर्भ में तैलङ्ग का यह विचार है कि इस बात की सम्भावना हो सकती है कि दशरूपावलोक के लेखक ने इस पद्य को अपनी स्मृति से उद्धृत किया हो और ऐसा करने में मुद्राराक्षस के स्थान पर भर्तृहरि-शतक को गलत रूप में उद्धृत कर दिया हो ।

इसीप्रकार दशरूपक से द्वितीय प्रकाश की ५५ वीं कारिका के नीचे इसप्रकार उल्लेख है : **''मन्त्रशक्त्या, यथा मुद्राराक्षसे राक्षससहायादीनां चाणक्येन स्वबुद्ध्या भेदनम् । अर्थशक्त्या तत्रैव; यथा पर्वतकाभरणस्य राक्षसहस्तगमनेन मलयकेतुसहोत्था-यिभेदनम् ।'**

इन दोनों (सरस्वतीकण्ठाभरण और दशरूपक) ग्रन्थों की रचना की तिथियाँ

मुद्राराक्षस की तिथि का निर्णय करने में सन्तोषजनक आधार प्रस्तुत करती हैं अर्थात् मुद्राराक्षस की रचना इन दोनों ग्रन्थों से पूर्व अवश्य हुई होगी। Dr. Fity Edward Hale's के अनुसार दशरूपक का रचनाकाल १०वीं या ११वीं शताब्दी A. D. है। सरस्वतीकण्ठाभरण स्वयं राजा भोज की कृति है और दशरूपक उस कवि की रचना है जो राजा भोज के चाचा मुञ्ज के समय में हुआ है। इसप्रकार यदि इन दोनों के रचनाकाल की तिथियों को Dr. Hale's के आधार पर स्वीकार किया जावे तो यह कहा जा सकता है कि मुद्राराक्षस की रचना कम से कम ११वीं शताब्दी A. D. से एक शताब्दी पूर्व अवश्य हो चुकी होगी। यह तिथि भी केवल इस बात का आधार प्रस्तुत करती है कि मुद्राराक्षस की रचना इसके पश्चात् की नहीं हो सकती है। इसके पूर्व जो तिथि निर्धारित की जावे, की जा सकती है।

(६) **पाटलिपुत्र**—विद्वानों ने विशाखदत्त के स्थितिकाल और मुद्राराक्षस के रचनाकाल के विषय में **'पाटलिपुत्र'** को प्रमुखतम आधार के रूप में स्वीकार किया है क्योंकि मुद्राराक्षस नाटक के प्रायः सम्पूर्ण दृश्य पाटलिपुत्र नगर में घटित हुए हैं। किन्तु इस पाटलिपुत्र की भौगोलिक स्थिति पर विचार करते हुए भी विद्वानों के निष्कर्ष भिन्न-भिन्न हैं।

मुद्राराक्षस में पाटलिपुत्र एक प्रसिद्ध और गौरवशाली नगर के रूप में वर्णित है। इसको पुष्पपुर और कुसुमपुर भी कहा गया है। इन दोनों का ही अर्थ है—पुष्पों का नगर। महान् वैय्याकरण पाणिनि के महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कुछ उपसर्गों की व्याख्या करते हुए इस नगर का **'अनुशोण पाटलिपुत्रम्'** कहकर वर्णन किया है अर्थात् पाटलिपुत्र शोण नदी के साथ-साथ अवस्थित है। चतुर्थ शताब्दी B.C. में आने वाले मेगस्थनीज ने भी इस नगर का वर्णन किया है। उस समय यह नगर शोण और गङ्गा के संगम पर अवस्थित था। नाटक में हम देखते हैं कि यह नगर भौगोलिक दृष्टि से शोण नदी के दक्षिण में अवस्थित है और उस नगर में राजा का महल गङ्गा की अपेक्षा करता है। इससे मालूम पड़ता है कि नाटक की रचना से पूर्व ही शोण नदी ने अपना मार्ग अवश्य ही बदल लिया होगा। साथ ही यह भी सोचा जा सकता है कि नाटक की रचना के समय पाटलिपुत्र विद्यमान था। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसकी सत्ता सिद्ध होती है। चीनी यात्री Fa-Hieun ने इसको (जिसने भारत, को मध्य एशिया में 399 A. D.—411 A. D. में भ्रमण किया था) मगध की राजधानी के रूप में देखा था। इसके विपरीत एक-दूसरे चीनी यात्री Hieun-Tsang ने इसका वर्णन खण्डहर के रूप में किया है। Hieun-Tsang की यात्रा 699 A. D. से प्रारम्भ होकर 646 A. D. तक रही। इस-प्रकार सातवीं शताब्दी के मध्य तक पाटलिपुत्र की सत्ता विद्यमान थी। इस सबसे तैलंग ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मुद्राराक्षस की रचना ८ वीं शताब्दी A. D. के पूर्वार्द्ध में हुई होगी। इसप्रकार पाटलिपुत्र की स्थिति शोण और गङ्गा नदी के संगम के पास रही होगी, इन दोनों नदियों के बीच में नहीं। साथ ही पाटलिपुत्र इन दोनों

नदियों के दक्षिण तट के साथ-साथ बसा होगा। चिरकाल से यह नगर शक्तिशाली सामाज्य का गढ़ और भारत की राजधानी रहा होगा। सम्प्रति यह नगर पटना नाम से विख्यात है और बिहार की राजधानी है।

C. R. Devadher ने पाटलिपुत्र के आक्रमण के आधार पर लेखक की स्थिति का इसप्रकार अनुमान लगाया है। उनका कहना है कि Hieun-Tsang ने मगध की राजधानी पाटलिपुत्र को गंगा के दक्षिण में विनष्ट शहर के रूप में वर्णित किया है। इनकी यात्रा 699-646 A. D. के बीच में रही। इससे यह प्रमाणित होता है कि मुद्राराक्षस का लेखक गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन था और नाटक की रचना लगभग ५वीं शती A. D. के प्रारम्भ में हुई होगी। प्रो० कीथ इस मत का बड़ी उग्रता से खण्डन करते हैं और इसको केवल कल्पना ही मानते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मुद्राराक्षस के **भरतवाक्य, भोजकृत सरस्वती-कण्ठाभरण** एवं **धनञ्जयकृत दशरूपक** में मुद्राराक्षस से उभृद्त उद्धरण और **पाटलि-पुत्र**-जिसमें नाटक के सभी दृश्य घटित हुये हैं-के आधार पर विद्वानों ने विशाखदत्त के स्थितिकाल एवं मुद्राराक्षस की रचना के समय को भिन्न-भिन्न कालों में निर्धारित किया है।

इसप्रकार विशाखदत्त का स्थितिकाल चतुर्थ शती से लेकर १२ वीं शती के मध्य तक निर्धारित किया गया है।

---

(४) नाटक की सामान्य विशेषतायें :—

मुद्राराक्षस सात अङ्कों में समाप्त होने वाला एक नई शैली का नाटक है। इसके रचयिता कवि विशाखदत्त हैं। विशुद्ध कूटनीतिक राजनीति को आधार मानकर लिखा गया कदाचित् सम्पूर्ण संस्कृत नाटक साहित्य में उपलब्ध नाटकों में यही एक मात्र अपनी तरह का उपलब्ध अद्वितीय नाटक है। भारतेन्दु बाबू ने इसका एक हिन्दी रूपान्तर १९३५ बिक्रमी में किया था, जो कि बहुत ही लोकप्रिय सिद्ध हुआ। यह रस प्रधान न होकर घटना प्रधान है। पुनरपि रसों की दृष्टि से इसमें वीररस प्रधान है। विषय की दृष्टि से, युग्मरूप से चित्रित चरित्र-चित्रण की दृष्टि से, शैली की दृष्टि से और विषय के निर्वाह की दृष्टि से निःसन्देह यह एक अपूर्व नाटक है। उसके अन्दर महान् कूटनीतिक चाणक्य की प्रतिभा और षड्यन्त्र के द्वारा नन्दवंश के विनाश के उपरान्त राक्षस को वश में करने का वर्णन है। राक्षस को वश में करने के विषय में चाणक्य की यह स्पष्ट धारणा है कि—**"अथवा अगृहीते राक्षसे किमुत्खातं नन्दवंशस्य किं वा स्थैर्यमुत्पादितं चन्द्रगुप्तलक्ष्म्याः"** (प्रथम अङ्क पृष्ठ ३१)। यही कारण है कि नन्दवंश के विनाश के उपरान्त भी उसने चन्द्रगुप्त के लिये इस महान् भार को धारण किया है—**'वृषलापेक्षया शस्त्रं धारयामि'** (प्रथम अङ्क, पृष्ठ ३०)।

(१) मुद्राराक्षस की सबसे प्रमुख विशेषता है किसी नायिका का न होना और नायिका के अभाव में नायिका को आधार मानकर उद्दीप्त होने वाले प्रेम के विषय का भी सर्वथा अभाव है। चन्द्रगुप्त और मलयकेतु की प्रतिहारी शोणोत्तरा

और विजया को छोड़कर सम्पूर्ण नाटक में केवल एक स्त्री पात्र है और वह है चन्दनदास की पत्नी, जो अपने पुत्र के साथ सप्तम अङ्क में हमारे सम्मुख आती है। यह स्त्री पात्र भी किसीप्रकार की प्रेममयी भावनाओं को उद्बुद्ध करने के लिये नहीं, पारिवारिक गुणों को विकसित करने के लिये नहीं, अपितु अपने पति के प्रति आत्मत्याग एवं कठोर कर्त्तव्य की दृढ़ भावना का निदर्शन लेकर रंगमंच पर उपस्थित होती है। मृत्यु का आलिङ्गन करने वाली घड़ियों में प्रेम कर्त्तव्य की वेदी पर न्योछावर है। **"दिष्ट्या मित्रकार्येण में विनाशो न पुरुषदोषेण'** (पृष्ठ ७६) अर्थात् मेरी मृत्यु मेरे मित्र के कारण से हो रही है, किसी पुरुष के दोष के कारण नहीं। प्रथम अङ्क में इसप्रकार व्यक्त होने वाली भावना के हमको सप्तम अङ्क में भी दर्शन होते हैं। वह अपनी पत्नी से सप्तम अङ्क में पुनः कहता है कि **"आर्ये, अयं मित्रकार्येण में विनाशो न पुनः पुरुषदोषेण'**। उसकी यही भावना उसको निरन्तर अपने प्राणों का उत्सर्ग करने के लिये प्रेरणा और उत्साह प्रदान करती रहती है। फांसी के तख्ते पर सहर्ष झूल जाने वाला पिता विदा के अन्तिम क्षणों में आशीर्वाद देने के लिये अपने पुत्र से नहीं मिलता है, अपितु जिस प्रयोजन के लिये वह स्वयं मृत्यु का ग्रास बन रहा है, उसी प्रयोजन को अक्षुण्ण रखने के लिये मिलता है। इससे अधिक कोई पिता अपने पुत्र को क्या कह सकता है कि **'पुत्र, चाणक्यविरहिते देशे वस्तव्यम्"** (सप्तम अङ्क)। चन्दनदास की पत्नी का पातिव्रत धर्म उसको उसका अनुगमन करने की प्रेरणा देता है। स्त्री सम्बन्धी कोमल भावनाओं का स्थान कठोर कर्त्तव्य ने लिया है। पतिव्रता पत्नी अपने पति की चिता पर आत्म-बलिदान के लिये प्रस्तुत होती है। किसी नैराश्य की भावना के कारण नहीं अपितु सुख और दुख में साथ देने की भावना से अनुप्राणित होकर। उसका यह दृढ़ विचार है कि— **"भर्तुश्चरणावनुगच्छन्त्या आत्मानुग्रहो भवतीति"** (सप्तम अङ्क, पृष्ठ ३६६)। मुद्राराक्षस में केवल यही नहीं कि उसमें सर्वथा शृङ्गारिक भावनाओं का अभाव है अपितु उसमें किसीप्रकार की कोमल और शृङ्गारिक भावनाओ को उद्दीप्त करने के लिये किसीप्रकार का वातावरण, किसीप्रकार की पृष्ठभूमि भी नहीं है। इसप्रकार हम देखते हैं कि इसमें न प्रेम की मधुरिमा है और न ही इस प्रेम की मधुरिमा को मूर्तरूप देने वाली संगीत की तान ही है। इसीप्रकार इसमें न नृत्य का आयोजन है और न ही प्रेम के आलम्बन या उद्दीपन में चित्रित प्रकृति-नटी है।

(२) इस नाटक में नायिका के समान विदूषक नामक पात्र का भी सर्वथा अभाव है, जिस पात्र के बिना संस्कृत नाटककारों का नाटक अपूर्ण रहता है, परन्तु क्योंकि नायिका के अभाव में विदूषक का अपना महत्व भी शून्य है, अतः इसके अभाव की ओर दृष्टि जाती ही नहीं है।

(३) चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य की योजनायें और षड्यन्त्र अपने आप में मौलिक हैं और जगत्प्रसिद्ध अर्थशास्त्र के रचयिता के गुणों पर विशदरूप से प्रकाश डालते हैं। क्रियात्मकरूप से इसमें कहीं भी युद्ध नहीं दिखाया गया है, किसीप्रकार का रक्तपात नहीं हुआ है। यद्यपि ऐसा है, तथापि इस नाटक की पूर्व की घटनायें रक्तपात से रहित नहीं हैं क्योंकि पग-पग पर हम चाणक्य को यह गर्व के साथ घोषणा

करते हुये देखते हैं कि उसने नन्दों का विनाश किया है। श्मशान में प्रज्वलित होने वाली नन्द की चिताओं की अग्नि आज भी शान्त नहीं हो रही है। इसीप्रकार सर्वार्थसिद्धि और पर्वतक की मृत्यु की चर्चा है। विषकन्या का केवल नाम सुनने को मिलता है, उसके रंगमंच पर दर्शन नहीं होते। परन्तु पुनरपि नाटक के अन्दर चाणक्य की राजनीति की यह विशेषता रही है कि किसीप्रकार का रक्तपात न करना पड़े और इसमें वह सफल भी हुआ है। क्योंकि सप्तम अङ्क की समाप्ति पर चन्द्रगुप्त बड़े दुःख के साथ कहता है कि—

फलयोगमवाप्य सायकानां विधियोगेन विपक्षतां गतानाम् ।
न शुचेव भवत्यधोमुखानां निजतूणीशयनव्रतं प्रतुष्टयैः ॥/७१०॥

नाटक में सर्वत्र युद्ध की चर्चा है, युद्ध के प्रति उत्साह है। हाथियों की चिंघाड़, घोड़ों की हिनहिनाहट, तलवारों की झनझनाहट और शत्रुनारियों के नेत्रों की अविरल अश्रुधार व युद्ध करने की चर्चा हमको नाटक में मिलती है, पर इतना होते हुये भी कहीं युद्ध नहीं, कहीं रक्तपात नहीं और न ही कहीं ऐसा अवसर आया है कि युद्ध की लिप्सा को शान्त किया जा सके। हमको सम्पूर्ण नाटक ने द्वन्द्व दिखाई देता है। दो विरोधी शत्रु सेनाओं में नहीं अपितु दो राजनीतिज्ञों की कूटनीतिक योजनाओं में, पदाति सेनाओं के रणक्षेत्र में कूद पड़ने की गतिविधि में नहीं अपितु गुप्तचरों की गतिविधियों में, रुधिर की सरिता प्रवाहित करने में और शस्त्रों की झंकार में नहीं अपितु वाणी की गर्जनाओं में। मुद्राराक्षस की वास्तविक लड़ाई चाणक्य और राक्षस की लड़ाई नहीं, उनकी मन्त्रशक्तियों की लड़ाई है। इस नाटक का वीररस संग्राम की रणस्थली में नहीं अपितु बड़े-बड़े संग्रामों को जन्म देने वाली राजनीतिज्ञों की राजनीतिक प्रतिभा में जन्म लेता है। नाटक के पात्र लड़ाई में आनन्द का अनुभव करते हैं और भाग्य की कठोरताओं से आकृष्ट होते हैं

(४) Unity of action, जो एक नाटकीय गुण विशेष है, इसका जैसा सुन्दर निर्वाह इस नाटक में हुआ है वैसा अन्यत्र कहीं दिखाई नहीं देता है। इसमें छोटे से छोटे पात्र से लेकर बड़े से बड़े पात्र तक की अपनी गतिविधि का लक्ष्य और आदि से लेकर अन्त तक घटित होने वाली समस्त घटनाओं का उद्देश्य केवलमात्र राक्षस को वश में करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सत्य और मिथ्या, राक्षस को वश में करना है। उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सत्य और मिथ्या, न्याय और अन्याय, धर्म और अधर्म का कोई विचार, कोई परिभाषा उनके सम्मुख नहीं है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये मित्रता की जाती है और तोड़ दी जाती है। क्षपणक जीवसिद्धि (इन्दुशर्मा), भागुरायण और सिद्धार्थक की क्रमशः राक्षस, मलयकेतु और शकटदास के साथ मित्रता राजनीतिक मित्रता है। क्षपणक जीवसिद्धि के विषय में राक्षस का अपना अन्तिम अनुभव है कि "**कथं जीवसिद्धिरपि चाणक्यप्रणिधिः। हन्त रिपुभिर्मे हृदयमपि स्वीकृतम्**" (पञ्चम अङ्क, पृष्ठ ३३१) और भागुरायण मलयकेतु के प्रेम के वशीभूत होकर सोचता है कि—"**कष्टमेवमपि अस्मासु स्नेहवान् कुमारो मलयकेतुरतिसन्धातव्य इत्यहो दुष्टकरम्**" (पञ्चम अङ्क, पृष्ठ २८१)। नाटक का

एकमात्र उद्देश्य राक्षस के विरोध को शान्त करने के उपरान्त उसको चन्द्रगुप्त का मन्त्री बना देना है। यह राक्षस विनष्ट हुये नन्दवंश का विश्वस्त अमात्य है। कुटिल राजनीति में चाणक्य इसको जीतना चाहता है। वह उसकी योग्यता और ईमानदारी को समझता है। चाणक्य का कुटिल षड्यन्त्र राक्षस की योजना के साथ संश्लिष्ट है। इनको उससे पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। राक्षस ने पर्वतक के पुत्र मलयकेतु के साथ सन्धि कर रखी है। यह पर्वतक कभी चन्द्रगुप्त का मित्र था और सम्प्रति मलयकेतु केवल इसलिये चन्द्रगुप्त से पृथक् हो गया है कि उसको पता चल गया है कि चाणक्य ने किसी गुप्त षड्यन्त्र से उसके पिता को विषकन्या के प्रयोग से मरवा दिया है। नाटक की विस्तृत कथावस्तु अपने आप में बड़ी संश्लिष्ट है और कथावस्तु की भाँति चाणक्य की कूटनीति भी बड़ी संश्लिष्ट है। तभी तो राक्षस ने पञ्चम अङ्क में खिन्न होकर कहा है कि—"अहो **सुश्लिष्टोऽभूच्छत्रुप्रयोगः**" (पृष्ठ ३३८)। चाणक्य का प्रारम्भ से ही उद्देश्य सुखान्त रहा है। तभी तो भागुरायण कहता है कि—"**रक्षणीया राक्षसस्य प्राणा इत्यार्यदिशः**" (पञ्चम अङ्क, पृष्ठ २६६)। इसीलिये चाणक्य ने अपनी योजनाओं को इसप्रकार से क्रियात्मक रूप दिया है कि अनेक अवसरों के आने पर भी कथानक चाणक्य की इच्छा के अनुकूल मोड़ लेता है। चाणक्य ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों की शक्ति और कमजोरी का जो अनुमान लगाया है, वह ठीक है। इसीके अनुसार उसने अपनी योजनाओं को मूतरूप दिया है। चाणक्य यह समझता है कि यदि राक्षस को अपने वश में करना है तो उसके किसी घनिष्ठ व्यक्ति को अपने अधिकार में कर लो और इसीलिये चन्दनदास को पाकर वह कहता है कि "**हन्त, लब्ध इदानीं राक्षसः**' (प्रथम अङ्क, पृष्ठ ७६)। क्यों ? क्योंकि—

त्यजत्यप्रियवत्प्राणान्यथा तस्यायमापदि।
तथैवास्यापदि प्राणा नूनं तस्यापि न प्रियाः ॥१/२५॥

सचमुच चाणक्य का यह अनुमान ठीक निकला। राक्षस अपने प्राणों को देकर भी चन्दनदास को छुड़ाना चाहता है। वह चाणक्य के पास सन्देश भिजवाता है कि :—

पूजार्होऽपि स यत्कृते तव गतः शत्रुत्वमेषोऽस्मि सः।।७/५।।

इसी चन्दनदास के प्रेम के वशीभूत होकर राक्षस, जिसकी उसने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी, चन्द्रगुप्त के मन्त्रित्व को—अपनी इच्छा से नहीं, बाध्य होकर—स्वीकार करता है। इस मन्त्रित्व की स्वीकृति में उसके अपने प्राणों की रक्षा उद्देश्य नहीं है, अपितु चन्दनदास के प्राणों की रक्षा करना है। प्रत्येक अंक अपने आप में परिपूर्ण है; परन्तु फिर भी वे एक दूसरे से अलग-अलग नहीं हैं। नाटक में विद्यमान कोई भी परिस्थिति बलात् ठूंसी हुई नहीं है, कोई भी घटना अस्वाभाविक रूप से विकसित नहीं हुई है। सभी घटनायें, सभी पात्र, सम्पूर्ण कथोपकथन—हम को एक लक्ष्य की ओर ले जाते हुये प्रतीत होते हैं और वह लक्ष्य है—**राक्षस का चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व स्वीकार करना**। इस नाटक की समाप्ति राक्षस के आत्म-

समर्पण और मौर्यवंश की प्रतिष्ठा में होती है। सम्पूर्ण नाटक में जीवन है, क्रिया-शीलता है और निरन्तर बनी रहने वाली रुचि है। नाटक की योजना कुछ इसप्रकार से हुई है कि व्यापार की गत्यात्मकता कहीं क्षुण्ण नहीं होती। घटनाओं की एकता का प्रदर्शन सुन्दर और व्यवस्थित ढंग से हुआ है। इसप्रकार हम देखते हैं कि इस नाटक में क्रिया से रोचकता निरन्तर बनी रहती है, उसमें प्रवाह अकुण्ठित है, घटनाओं के निर्वाह में कहीं भी शिथिलता नहीं है। प्रत्येक घटना सार्थक है और उसका अन्तिम परिणाम के लक्ष्य में योग है। सभी क्रियायें और सभी गतिविधियें राजनीतिक उद्देश्य का एक अङ्ग हैं। इसप्रकार नाटक घटना-सामञ्जस्य के लिये ध्यान देने योग्य है। प्रो० Weber के अनुसार सम्पूर्ण नाटक साहित्य में घटना-सामञ्जस्य के नियम का इससे अच्छा उदाहरण नहीं है। सब कार्य विधान एक केन्द्र अर्थात् राक्षस की मैत्री-भाव की ओर प्रवृत्त हैं।

(५) नाटक की अपनी एक और विशेषता है कि इसमें किसी भी धर्म के प्रति कोई आस्था नहीं है। राजनैतिक नाटक होने के कारण नैतिकता का यहाँ पर कोई मूल्य नहीं है। सदाचार का मापदण्ड योग्यता है। राजनीतिक चतुराई कर्त्तव्य की उच्चतम भावना के सामने फीकी पड़ गई है। तभी तो चाणक्य चन्दनदास के विषय में कहता है कि—

सुलभेष्वर्थलाभेषु परसम्वेदने जने।
क इदं दुष्करं कुर्यादिदानीं शिबिना बिना ॥१/२४॥

दोनों राजनीतिज्ञों के लिये साध्य की सफलता या असफलता साधन के औचित्य या अनौचित्य के निर्णय की कसौटी है। पाप और पुण्य का विचार राज-नीतिक प्रयोग की पूर्ति के लिये गौण है, चाहे उनके विषय में कितना ही विवाद क्यों न हों ?

(६) मुद्राराक्षस की एक विशेषता है चरित्र-चित्रण। कवि ने चरित्रों के विकास को एक नये ढंग से चित्रित करने का प्रयास किया है और उसमें वह पूर्ण सफल है। यदि नाटक के अन्दर कोई और विशेषता न होती, केवल चरित्र-चित्रण ही चरित्र-चित्रण होता तब भी यह नाटक ग्राह्य और उपादेय होता। इसके पात्रों को हम युगलरूप में पाते हैं। दो पात्रों के पारस्परिक विरोध और संघर्ष में प्रत्येक पात्र के चरित्र का विकास हुआ है। युग्म रूप में पात्र इसप्रकार चित्रित हैं—(१) कूटनीति में निपुण चाणक्य और राक्षस, (२) एक दूसरे से विरोधी गुणों वाले, एक-दूसरे के शत्रु राजा चन्द्रगुप्त और मलयकेतु तथा (२) भागुरायण और सिद्धार्थक। चाणक्य को नन्दवंशीय राजओं के प्रति एक प्रबल हिंसावृत्ति से परिपूर्ण दिखाया गया है। उनके प्रति उसके घृणा स्पष्ट है। उनका नाम सुनते ही उसकी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठती है और उसको नन्दवंश को समूल नष्ट करने में समर्थ दिखाया गया है। इसके विपरीत राक्षस नन्द के पक्ष में है। उसकी नन्दवंश के प्रति भक्ति उतनी ही दृढ़ और अविचल है जितनी चाणक्य की नन्दवंश के प्रति घृणा। हम देखते हैं कि

नाटककार ने ऐसे चरित्रों की उद्भावना की है जो साधारण होते हुये भी असाधारण हैं, देशकाल से परिच्छिन्न होते हुये भी अपरिच्छन्नि हैं, नाटकीय होते हुये भी वास्तविक हैं और यथार्थ होते हुये भी आदर्श हैं। चाणक्य के समान नायक और राक्षस के समान प्रतिनायक कामिनी और काञ्चन के लिये आपस में नहीं झगड़ते अपितु उनका झगड़ा तो महान् आदर्शों के लिये होता है। चाणक्य का आदर्श है :—

बुद्ध्या निगृह्य वृषलस्य कृते क्रियाया-
मारण्यकं गजमिव प्रगुणीकरोमि ॥१/२६॥

और राक्षस का आदर्श है : "देवः स्वर्गगतोऽपि शास्त्रवधेनाराधितः स्यादिति" ।२/५। दोनों ही निष्काम और निरीह हैं। दोनों के लिये राजनीति का प्रयोग अपने लिये न होकर किसी दूसरे के लिये है। दोनों के लिये जय-पराजय का महत्त्व उतना नहीं है जितना कि कर्त्तव्य-निर्वाह का है। इसप्रकार हम देखते हैं कि विशाखदत्त का चरित्र-चित्रण इस नाटक की केन्द्र बिन्दु का एक दृढ़ आधार है। सभीप्रकार के नाटकीय पात्रों ने अभिनय का निर्वाह सफलतापूर्वक किया है।

(७) विशाखदत्त ने अङ्कों का दृश्यों में विभाजन कर एक नवीन मौलिकता का श्रीगणेश किया है। इसमें अन्य नाटकों की अपेक्षा एक नवीन मार्ग का अवलम्बन किया गया है। भास, कालिदास आदिकों के नाटकों में तो अङ्कों का विभाजन दृश्यों के आधार पर न किया जाकर पात्रों को लक्ष्य करके किया जाता है। प्रमुख पात्र प्रारम्भ से लेकर नाटक की परिसमाप्ति तक रङ्गमञ्च पर ही दिखाई देते हैं। मुद्राराक्षस में ऐसा नहीं है। इसमें अङ्कों का विभाजन दृश्य को आधार मानकर किया गया है। इसप्रकार विलक्षण कथावस्तु की योजना और सुव्यवस्थित दृश्य-विधान अपना एक विशिष्ट महत्त्व रखते हैं।

(८) राजनीति मनुष्यों के लिये एक कठिन खेल के रूप में चित्रित की गई है। इसकी तुलना सर्प के साथ की गई है "ननु खेलत्येवायोऽहिना" (द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ८९)। इसमें सर्पों का खेल दिखाने वाला सपेरा, संन्यासी, ज्योतिषी, वैतालिक आदि सभीप्रकार के व्यक्ति गुप्तचर के कार्य में संलग्न हैं। इसमें मिथ्या-कलह भी होती है और खुलकर एक-दूसरे को धोखा भी दिया जाता है। पाश्चात्य समालोचकों के निर्धारित मापदण्ड पर केवल एकमात्र यही ऐसा नाटक है, जो पूर्णरूप से खरा उतरता है। नाट्य-शास्त्र की परम्परा के अनुसार नायक प्रख्यातवंशोद्भव होना चाहिये परन्तु इस नाटक का नायक एक ऐसा व्यक्ति है जो राजा न होकर भी, राजवंश में उत्पन्न न होकर भी चक्रवर्ती सम्राट् का निर्माता और मौर्य साम्राज्य का संस्थापक है। मुद्राराक्षस में राजा और मन्त्रियों के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ता है।

(९) इन सबसे ऊपर "मुद्राराक्षस" का वैशिष्ट्य और महत्त्व इसी से सिद्ध होता है कि Prof. Wilson ने कुछ प्रसिद्ध नाटकों का निर्वाचन करके उनका English में अनुवाद किया था। विशाखदत्त का मुद्राराक्षस उन निर्वाचित नाटकों में

से एक है। इसप्रकार हम देखते हैं कि मुद्राराक्षस अनेक दृष्टियों से संस्कृत में एक अद्वितीय रचना है।

---

(५) नाटकीय पात्रों का चरित्र-चित्रण—

(१) **चाणक्य**—किसी भी व्यक्ति के चरित्र का यदि पता करना हो कि इस व्यक्ति का चरित्र कैसा है, तो इसको पता करने के तीन प्रकार हैं:—(१) उस व्यक्ति ने पात्ररूप में आत्माभिव्यक्ति कैसी की है? इसप्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति दृश्य-काव्यों में 'स्वगतम्' के द्वारा होती है। (२) उस पात्र के विषय में दूसरे पात्रों की क्या सम्मति है और (३) नाटक के अन्दर नाटककार के स्थान-स्थान पर आये हुये अपने विचार। इन्हीं तीन प्रकारों से हम किसी व्यक्ति के चरित्र का अवगाहन कर सकते हैं और उसके चरित्र के विषय में किसी निर्धारित निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं।

मुद्राराक्षस नाटक के अन्दर हम प्रत्यक्ष रूप से रङ्गमञ्च पर चाणक्य को तीन अङ्कों में देखते हैं। पहले अङ्क में, जिसमें सर्वात्मना चाणक्य की राजनीति का बीजन्यास हुआ है, तृतीय अङ्क में, जिसमें उसने राक्षस को धोखा देने के लिये चन्द्रगुप्त के साथ कृतक-कलह का आयोजन किया है और अन्तिम सप्तम अङ्क में, जहाँ राक्षस के आत्मसमर्पण के उपरान्त वह राक्षस को सम्राट् चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व स्वीकार कराता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि चाणक्य के अन्दर कार्य करने की क्षमता और शक्ति अनन्त है। वह किसीप्रकार की क्लान्ति का अनुभव नहीं करता है। प्रथम अङ्क की समाप्ति पर वह कहता है कि मेरा सर्वस्व चला जावे किन्तु सैंकड़ों सेनाओं को अपने कौशल से परास्त करने वाली एकमात्र मेरी बुद्धि न जावे।

> एका केवलमेव साधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका।
> नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम ॥१/२६॥

उसको अपनी बुद्धि और नीति पर भरोसा है। उसने अपनी बुद्धि से ही मलयकेतु की सेनाओं को जीत लिया है। उसने अपनी अद्भुत बुद्धि की प्रखरता से नन्दवंश के वध दुस्तर प्रतिज्ञार्णव को पार किया है। वह दृढ़प्रतिज्ञ, कूटनीति-विशारद एवं महान् राजनीतिज्ञ है। वह चन्द्रगुप्त का गुरु, मन्त्रि और पथ-प्रदर्शक सभी कुछ है। एकमात्र उसी की कृपा से वृषल चन्द्रगुप्त नन्द के सिंहासन पर बैठ सका है। तभी तो राक्षस दूसरे अङ्क में कहता है कि चाणक्य को इस पर गर्व है कि **"चाणक्योऽपि मदाश्रयादयमभूद्राजेति जातस्मयः"** (२/२३)। मौर्यसाम्राज्य के मन्त्रित्व का उपभोग करते हुये भी चाणक्य राजसी भोग-विलास के केन्द्र राजभवन से दूर नगर से बाहर एक सामान्य सी कुटी में रहता है। इस सामान्य-सी कुटी को भी चन्द्रगुप्त के कञ्चुकी ने एक असाधारण विभूति के रूप में देखा है। वह कहता है—**अहो! राजाधिराजमन्त्रिणो विभूतिः। तथाहि—**

> **उपलशकलमेतद्भेदकं गोमयानां बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तूपमेतत्।**
> **शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभिर्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम् ॥३/१५॥**

कहाँ राजाधिराज चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व और कहाँ यह साधारण रहन-सहन। इसप्रकार का चित्रण करके विशाखदत्त ने आजकल के राजनैतिक नेताओं को यह सन्देश दिया है कि राज्यों का निर्माण, संचालन और उत्थान केवल बिजली के बल्बों से प्रकाशित बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं में रहकर ही नहीं होता है अपितु एक सामान्य से स्थान में रहकर भी हो सकता है। दैव के ऊपर विश्वास करना तो चाणक्य जानता ही नहीं है। उसे अपने पुरुषार्थ पर अटल विश्वास है। वह यह मानने के लिये तैयार ही नहीं है कि कार्यों का फल भाग्यायत्त है। उसकी सम्मति में मूर्ख व्यक्ति ही दैव में विश्वास करते हैं—"दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति" (तृतीय अङ्क, पृष्ठ २००)। चाणक्य का स्वभाव क्रोधी है—"कौटिल्यः कौपनोऽपि" (४/१२) किन्तु उसको क्रोध तब आता है, जब उसके आत्मसम्मान को ठेस पहुँचती है अथवा उसकी किसी योजना को असफल बनाने की चेष्टा की जाती है। चाणक्य की क्रोध-मुद्रा का गम्भीर वर्णन उसके स्वभाव का परिचायक है। यथा—

शिखां मोक्तुं बद्धामपि पुनरयं धावति करः
प्रतिज्ञामारोढुं पुनरपि चलत्येष चरणः।
प्रणाशान्नन्दानां प्रशममुपयातं त्वमधुना
परीतः कालेन ज्वलयसि मम क्रोधदहनम् ॥३/२९॥

और राजा चन्द्रगुप्त इस क्रोध को देखकर कह उठता है कि **"अये, कथं सत्यमेवार्यः कुपितः"** (पृष्ठ २०६)। यह तो उस क्रोध का वर्णन है, जो कृत्रिम है। इसीसे उसके वास्तविक क्रोध के रूप का पता लगाया जा सकता है। चाणक्य को विलम्ब एक मिनट का भी सह्य नहीं है। इसी विलम्ब के कारण वह अपने शिष्य शार्ङ्गरव पर भी झुंझला उठता है परन्तु साथ ही कहता है **'वत्स, कार्याभिनियोग एवास्मानाकुलयति न पुनरुपाध्यायसहभूः शिष्यजने दुःशीलता"** (प्रथम अङ्क, पृष्ठ २५)। वह इस बात को भलीभाँति समझता है कि अध्यापकों का यह स्वभाव होता है कि वे अपने शिष्यों पर यदा-कदा झुंझलाया करते हैं। वह लोकोत्तर चरित्र है। अर्थशास्त्र के प्रणेता और मुद्राराक्षस के नायक एवं सर्वेसर्वा चाणक्य में एक हम आश्चर्यजनक भिन्नता देखते हैं। अर्थशास्त्र का चाणक्य मुद्राराक्षस में निःस्वार्थ, निरीह एवं लोकभावना के प्रतीक रूप में चित्रित किया गया है—**"निरीहाणामीशस्तृणमिव तिरस्कारविषयः"** ३/१६। ऐसा कहकर कञ्चुकी ने चाणक्य के प्रति एक महान् सम्मान प्रकट किया है। इससे बढ़कर और अलौकिकता क्या होगी? वह आत्मविश्वासी है। नन्दवंश को समूल नष्ट करने वाला वह अपने को मानता है, दैव को नहीं। मनोविज्ञान का वह अद्वितीय वेत्ता है। वह ब्राह्मण है, ब्राह्मणवंश में उत्पन्न हुआ है, असाधारण मेधा सम्पन्न है। साथ ही धूर्तता में भी अग्रणी है। राक्षस के गुणों को जितना वह समझता और सम्मान करता है, [अतः एवास्माकं त्वत्संग्रहे यत्नः, प्रथम अङ्क, पृष्ठ ३२।] उतना सम्भवतः राक्षस स्वयं भी अपने गुणों को नहीं जानता। चाणक्य ने अपने पुरुषार्थ से सम्पूर्ण नन्दवंश को ध्वस्त करके चन्द्रगुप्त को

राज्य-सिंहासन पर बैठा दिया और स्वयं 'कमलपत्रमिवाम्भसा' निर्लिप्त रहा। उसको अपने इस महान् कार्य के ऊपर गर्व है, उसको अपार हर्ष है, पर वह मदान्ध नहीं है। एक नवीन साम्राज्य का प्रतिष्ठापक मदान्ध कैसे हो सकता है? वह सतत जागरूक है—'जागर्ति खलु कौटिल्य.' (तृतीय अङ्क, पृष्ठ १८३)। कौमुदी-महोत्सव की रङ्गरेलियाँ एक नवीन प्रौढ़ अवस्था के राजा को तो आकृष्ट कर सकती हैं, परन्तु भविष्य पर निरन्तर दृष्टि रखने वाले व्यक्ति को इन भोगलिप्साओं से क्या? वह तो स्पष्ट कहता है कि—'सोऽयं व्यायामकालो नोत्सवकाल इति दुर्गसंस्कारे प्रारब्धव्ये किं कौमुदीमहोत्सवेनेति' (तृतीय अङ्क पृष्ठ १९०)। वह अपने शत्रुओं को एक क्षण के लिये भी पसन्द नहीं करता, उनकी चर्चा भी उसको अच्छी नहीं लगती है। उनके नाम की चर्चा आते ही वह क्रोध से तिलमिला उठता है। इसके साथ ही वह शत्रुओं की निन्दामात्र करने में अपने बहुमूल्य समय को नष्ट करना भी नहीं चाहता है। वह शत्रुओं के प्रति यमराज के समान क्रूर होता हुआ भी राक्षस के गुणों की प्रशंसा करता है, जिसको वह बुद्धिमान्, योग्यतम व्यक्ति, साहसिक योद्धा और योग्य अमात्य समझता है। चाणक्य अविश्वासी है, अविश्वास का पुतला है। उसको न अपने गुप्तचरों पर भरोसा है और न ही चन्द्रगुप्त पर। क्योंकि हम सम्पूर्ण नाटक में देखते हैं कि चाणक्य की योजनाओं का स्रोत वह स्वयं ही है। किसी अन्य व्यक्ति के साथ किसी भी योजना पर मन्त्रणा करते हुये हम उसको नहीं पाते हैं। यदि किसी पर उसको विश्वास है तो उसको अपने पर, अपनी बुद्धि पर। उसका यही अविश्वास उसको हृदय की भावनाओं से दूर कर देता है। चाणक्य के हृदय में भावुकता नाम की वस्तु का सर्वथा अभाव है और यही अभाव उसकी विजय का कारण है। मनुष्यों पर अविश्वास के समान उसको सिद्धान्तों पर भी कोई विश्वास नहीं है। चाणक्य का एकमात्र उद्देश्य है राक्षस को वश में करना। वह चाहता है कि राक्षस की भक्ति मौर्य चन्द्रगुप्त के प्रति हो जावे। चाणक्य का पर्याप्त संगठन है। उसकी कूटनीति की यह विशेषता है कि उसके गुप्तचर अपने आप में एक-दूसरे को नहीं पहिचानते हैं कि वे एक ही उद्देश्य को लेकर कार्य करने वाले चाणक्य के व्यक्ति हैं। वह अपने अनुयायियों में प्रेरणा फूंकने में समर्थ है, जो उसकी दक्षता, कठोरता, जागरूकता और लक्ष्य से प्रभावित हैं। उसके जितने भी सहायक हैं, ऐसा मालूम पड़ता है कि उनकी कोई अभिलाषा नहीं, उच्चाकांक्षा नहीं और स्वार्थसिद्धि नहीं। चाणक्य की महत्वाकांक्षा ही उनकी महत्वाकांक्षा है। चाणक्य की कार्यसिद्धि ही उनकी कार्यसिद्धि है। चाणक्य के अन्दर वह शक्ति है कि वह अस्त और उदय युगपत् कर सके और इसीलिये वह "धाम्नातिशाययति धाम सहस्रधाम्नः" (३/१७) है।

चाणक्य प्रतिहिंसा और प्रतिशोध का अवतार है। वह ही इस नाटक के घटनाचक्र का एकमात्र नियन्ता है। वह जो कुछ करता है अपने लिये नहीं, अपने स्वार्थभाव से नहीं अपितु चन्द्रगुप्त के लिये और मौर्य साम्राज्य को बद्धमूल करने के लिये करता है। इसको अपने यश की, अपने नाम की चिन्ता नहीं है। चाणक्य

अमात्यराक्षस की प्रज्ञा, पराक्रम-शक्ति और राजभक्ति की महत्ता को स्वीकार करता हुआ भी उसको अपना प्रतिस्पर्धी मानने के लिये तैयार नहीं। वह कहता है कि— **"चाणक्यस्त्वमपि च नैव केवलं ते साधर्म्यं मदनुकृतेः प्रधानवैरम्"** (३/१२)। **चाणक्य** के अपने व्यक्तित्व की चरम परिणति ही इसमें है कि वह अपनी दूरदर्शिनी बुद्धि के द्वारा अपने शत्रु राक्षस को अपना मित्र और अपने आदर्शों का पालक बना लेता है।

कौटिल्य अथवा कौटल्य—मुद्राराक्षस नाटक के ऐतिहासिक पात्रों में **प्रमुखतम** पात्र चाणक्य है। यह चणक का पुत्र है। उसके पूर्ववर्तियों में एक 'कुटिल' हुआ था, जिसके आधार पर उसका नाम **कौटिल्य** हुआ, ऐसी कुछ विद्वानों के द्वारा व्याख्या की जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि चाणक्य की कुटिल नीति के कारण और नन्दवंश के बड़ी क्रूरता से समूल विनष्ट करने के कारण विद्वानों ने उसके नाम की व्याख्या 'कुटिल' से **कौटिल्य** की है। वस्तुतः उसका यथार्थ नाम कौटल्य था। उसके पिता का नाम "कुटिल" न होकर कुटल' था अर्थात् **कुट-कुटपूर्ण धान्यं लाति-गृह्णाति इति कुटलः** अर्थात् कुट का अर्थ है घड़ा अर्थात् जो घटपरिमित धान्य का संग्रह करता है। अथवा कुट का अर्थ **परिवार** भी होता है। इस परिवार के अर्थ में ऋग्वेद १/४६/४ में कुट शब्द का प्रयोग हुआ है अर्थात् जो केवल अपने परिवार की आजीविका चलाने मात्र धन का संचय करता है। इसप्रकार की व्याख्या करने पर **चाणक्य के** पिता की त्याग भावना व्यक्त होती है। अतः उसके पिता का नाम 'कुटल' हुआ। अपत्य अर्थ में कौटल्य बना। **कौटल्य** ही कौटिल्य में परिणत हो गया है। इसप्रकार चाणक्य और कौटल्य उसके पैतृक नाम हैं। उसका वास्तविक नाम विष्णुगुप्त है। वह यज्ञ में की जाने वाली बलिदान सम्बन्धी क्रियाओं के रहस्यों के ज्ञान में परम प्रवीण था। यथा—

यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः।
पपात मूलतः श्रीमान् सुपर्वा नन्दपर्वतः॥ कामन्दकी नीतिसार १–४

अथवा
कौटिल्यः कोपनोऽपि स्वयमभिचरणज्ञातदुःखप्रतिज्ञो
दैवात्तीर्णप्रतिज्ञः पुनरपि न करोत्यायतिग्लानिभीतः॥ मुद्रा० ४–१२

इसप्रकार हम देखते हैं कि चाणक्य स्पष्ट मस्तिष्क वाला, आत्मविश्वासी, कूटनीतिज्ञ, षड्यन्त्र करने वाला, कठोर राजनीतिज्ञ, अपनी इच्छा की पूर्ति को सर्वात्मना दृढ़ निश्चय के साथ पूर्ण करने वाला और अपनी कूटनीतिक योजनाओं का अन्त तक निर्वाह करने वाला चित्रित किया गया है।

अन्य पात्रों की दृष्टि में चाणक्य—भागुरायण को **चाणक्य** की राजनीति नियति की तरह चित्र-विचित्र रूप वाली दिखाई देती है—

मुहुर्लक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावगहना
मुहुः सम्पूर्णाङ्गी मुहुरतिकृशा कार्यवशतः।
मुहुर्नश्यद्बीजा मुहुरपि बहुप्रापितफले-
त्यहो चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः॥५/३॥

चाणक्य के सम्बन्ध में चन्दनदास की यह उक्ति कि—**'फलेन विसंवादितमस्य विकत्थितम्'** (प्रथम अङ्क, पृष्ठ ६७) उसके व्यक्तित्व की महत्ता को और भी अधिक अभिव्यक्त करती है। चाणक्य की राजनीति इतनी संश्लिष्ट है कि राक्षस के लिये भी उसको समझ पाना एक कठिन कार्य है। षष्ठ अङ्क में सिद्धार्थक कहता है कि—

जयति जयनकार्यं यावत्कृत्वा च सर्वं।
प्रतिहतपरपक्षा आर्यचाणक्यनीतिः ॥६/१॥

यही बात वह अपने मित्र समिद्धार्थक से कहता है कि जिस आर्य चाणक्य की नीति का अवगाहन राक्षस भी नहीं कर सका, उसी को तुम जानना चाहते हो।

'अतिमुग्धोऽसीदानीं त्वं यतोऽमात्यराक्षसेनाप्यनवगाहितपूर्वमार्यचाणक्यस्य चरितमवगाहितुमिच्छसि' (पृष्ठ ३४९)।

राक्षस ने चाणक्य को देखकर अपनी भावना इन शब्दों में व्यक्त की है—

'अयं दुरात्मा अथवा महात्मा कौटिल्यः'—

आकरः सर्वशास्त्राणां रत्नानामिव सागरः।
गुणैर्न परितुष्यामो यस्य मत्सरिणो वयम् ॥७/७॥

और इसप्रकार हम देखते हैं कि नाटककार विशाखदत्त ने उसको स्वयं 'महात्मा' कहकर अपनी उसके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है।

चाणक्य और राजनीति—यदि चाणक्य की राजनीति को हम एक शब्द में कहना चाहें तो कह सकते है कि **"दैव की गति के समान चाणक्य की नीति भी अश्रुत-गति है।"** किन्तु जहाँ चाणक्य की कूटनीति इसप्रकार की है वहाँ यह भी स्पष्ट है कि उसकी नीति कुछ अधिक उच्च नैतिक गुणों पर आधारित नहीं है। सामान्य से सामान्य धोखा देने से लेकर जालसाजी और हत्या करने तक प्रत्येक योजना चाणक्य के उस निश्चय को पूर्ण करने में योग देती प्रतीत होती है, जिस लक्ष्य का निर्धारण चाणक्य ने स्वयं किया है। चाणक्य की यह अन्तिम इच्छा है कि वह अपने आश्रित चन्द्रगुप्त को राजगद्दी पर स्थित कर दे और राक्षस को पुनः लाकर उसकी सेवा में नियुक्त कर दे, जिसकी नन्दों के प्रति भक्ति विख्यात है। चाणक्य समझता है कि बिना राक्षस को चन्द्रगुप्त के पक्ष में किये मौर्य साम्राज्य स्थिर नहीं हो सकता। यदि साध्य, साधन के भले या बुरे का निर्णायक है, तो उसका निर्णय इस स्थान पर किया जा सकता है। साथ ही यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि कूटनीति और राजनीति का खेल कम या अधिक संदिग्ध नैतिकता का खेल होता है। राजनीति में नैतिक मापदण्ड सामाजिक या धार्मिक मापदण्ड से सर्वथा भिन्न होते हैं। महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य मौर्य साम्राज्य का प्रिंस बिस्मार्क कहलाता है। साध्य साधन की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करता है और साध्य यहाँ पर सुन्दर और महान् है। चाणक्य ने कोई काम बुरा नहीं किया। उसको तो राजनीतिक आवश्यकता के रूप में स्वीकार करना पड़ा। जनता के लिये नन्द अभिशाप के रूप में थे। अतः जनता विप्लव करने के लिये तैयार थी। इस जनता का उद्धारक चन्द्रगुप्त था और इसकी सहायता करने में

चाणक्य एक उचित व्यक्ति की सहायता कर रहा था। राक्षस नन्दों का अग्रणी था। उनका सहायक था। यदि चाणक्य उसको अपने मार्ग पर चलने देता तो यह निश्चय था कि जनता में एक क्रान्ति, एक विद्रोह एवं एक विप्लव खड़ा हो जाता। जिससे देश के अन्दर रक्त की नदियां बह जाती। इसप्रकार चाणक्य को प्रजा में होने वाली रक्तपात परिपूर्ण क्रान्ति और चन्द्रगुप्त इन दोनों बुराइयों में से किसी एक को चुनना था। चाणक्य ने इनमें से कम बुराई को चुना और आचारशास्त्र के नियमों से थोड़ा हटकर उसने धोखा, कपट और हत्या का आश्रय लिया। इस अवस्था में इसको एक बार के लिये क्षम्य माना जा सकता है क्योंकि उद्देश्य महान् और सुन्दर था। पर्वतक, सर्वार्थसिद्धि और मलयकेतु के ५ म्लेच्छ राजाओं की हत्या राजनीतिक आवश्यकतायें थीं। इसके विपरीत मलयकेतु को कैद करके केवल छोड़ ही नहीं दिया अपितु उसको उसका राज्य भी वापिस कर दिया। शकटदास और चन्दनदास को फाँसी की सजा से भयभीत करना वास्तविकता की अपेक्षा "राजनैतिक बहाना मात्र" था। चाणक्य की राजनीति की सबसे बड़ी विशेषता क्षपणक जीवसिद्धि है, जिसको राक्षस अपना सबसे अधिक घनिष्ठ मित्र समझता है। राक्षस ने इसके द्वारा चन्द्रगुप्त पर विषकन्या का प्रयोग किया था। दूसरा पात्र, जो चाणक्य की कूटनीति को क्रियात्मक रूप देने वाला है, भागुरायण है। जिस भेद में राक्षस असफल हो गया उसी भेद को करने में चाणक्य सफल हो गया है। चाणक्य की कूटनीति का केन्द्रबिन्द्र वह कपट-पत्र है, जिससे उसने राक्षस और मलयकेतु में भेद डाला है। जिस पत्र के परिणामस्वरूप राक्षस के ५ परम विश्वस्त-म्लेच्छ राजागण मृत्यु के घाट उतार दिये गये। राक्षस को निश्शस्त्र वध्यस्थान पर भेजने वाला 'वह विष्णुदास का कपट मित्र चाणक्य की कूटनीति का अन्तिम प्रयोग है। चाणक्य ने अपनी कूटनीति को राक्षस के सामने इसप्रकार व्यक्त किया है—

> भृत्या भद्रभटादयः स च तथा लेखः स सिद्धार्थकः
> तच्चालङ्करणत्रयं स भवतो मित्रं भदन्तः किल।
> जीर्णोद्यानगतः स चापि पुरुषः क्लेशः स च श्रेष्ठिनः
> सर्वं मे वृषलस्य वीर भवता संयोगमिच्छोर्नयः ॥७/९।

अर्थशास्त्र के लेखक कामन्दक ने चाणक्य को अपने आध्यात्मिक गुरु के रूप में देखा है। उसने उसको प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न, वेदों के प्रकाण्ड विद्वान् और अर्थ-शास्त्र के प्रणेता के रूप में वर्णित किया है। आर्यशूर की जातकमाला कौटिल्य को अर्थशास्त्र का प्रणेता मानती है। यह महान् राजनीतिक विचारक अपने साधारण और सुन्दर उपदेश देने वाले नीतिवाक्यों के लिये भी प्रसिद्ध है। क्रियात्मक रूप से उसकी राजनीतिक सफलता का रहस्य उसकी उस नीति का यथार्थ रूप से पालन करना था जिसके विषय में उसकी अपनी मान्यता सर्वसिद्ध थी।

> सुकृत्यं विष्णुगुप्तस्य मित्राप्तिर्भार्गवस्य च।
> बृहस्पतेरविश्वासो नीतिसन्धिस्त्रिधा मतः ॥

इसप्रकार हम देखते हैं कि राजनैतिक क्षेत्र में कौटिल्य की प्रामाणिकता सर्वोपरि है। उसकी प्रसिद्धि प्रमुखरूप से अर्थशास्त्र पर प्रतिष्ठित है।

(१) **नाटक का नायक चाणक्य**—नाटक का नायक कौन है? **चन्द्रगुप्त या चाणक्य**—इस प्रश्न का समाधान भी आवश्यक है। कुछ चन्द्रगुप्त को नायक मानते हैं और कुछ आचार्य चाणक्य को। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस सम्पूर्ण नाटक में चाणक्य एक प्रमुख और असाधारण पात्र है। संस्कृत नाटच-शास्त्र की परम्परा सम्भवतः चन्द्रगुप्त को नायक मानना चाहे पर विशाखदत्त स्वयं चाणक्य के पक्ष में प्रतीत होते हैं। नाटक में स्थान-स्थान पर ऐसे संकेत मिलते हैं, जो चाणक्य को नायक मानने के पक्ष को पुष्ट करते हैं। यथा—"**जयति जयनकार्यं यावत्कृत्वा च सर्वं प्रतिहतपरपक्षा आचार्यचाणक्यनीतिः**" (६/१)। यद्यपि राक्षस को वश में कर लेने से चन्द्रगुप्त को अमात्य लाभ हुआ है, पर चाणक्य को भी फलागम का विशेष लाभ हुआ है। वस्तुतः चाणक्य की वास्तविक प्रतिज्ञा की पूर्ति तो इसी स्थान पर आकर होती है। उसका लक्ष्य था चन्द्रगुप्त के लिये निष्कण्टक राज्य की स्थापना और राक्षस को मन्त्री बनाना। वह अपने इस उद्देश्य में सर्वात्मना सफल हुआ है। विशाखदत्त ने किसी प्रख्यातवंश में उत्पन्न व्यक्ति अथवा सम्राट् को प्राचीन नाटच-परम्परा के अनुसार नाटक का नायक न बनाकर राजनीति में अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि, प्रसिद्ध सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु चाणक्य को अपनी रचना का नायक बनाकर एक दिव्य प्रतिभा का उदाहरण प्रस्तुत किया है। '**मुद्रया गृहीतो राक्षसो यस्मिन् तन्मुद्राराक्षसं नाम नाटकम्**"—इस मुद्रा से अपनी राजनीति का प्रवर्त्तन करने वाला चाणक्य ही है, अतः उसीका नायकत्व उचित प्रतीत होता है। इससे बढ़कर चाणक्य के नायकत्व को सिद्ध करने वाला और क्या प्रमाण होगा कि नाटक की समाप्ति पर चाणक्य स्वयं आदेश देता है कि—

> विना वाहनहस्तिभ्यो मुच्यतां सर्वबन्धनम्।
> पूर्णप्रतिज्ञेन मया केवलं बध्यते शिखा ॥७/१७॥

नाटचशास्त्र की परिभाषा के अनुसार यह चाणक्य धीरशान्त और धीरोदत्त इन दो नायकों का मिश्रण प्रतीत होता है। क्योंकि चाणक्य में इन दोनों नायकों के गुणों का समावेश देखने को मिलता है।

अन्त में, हम देखते हैं कि नाटककार ने चाणक्य को नन्द साम्राज्य के संहारक और मौर्य साम्राज्य के प्रतिष्ठापक के रूप में चित्रित किया है। उसने चाणक्य के चरित्र का जो चित्रण किया है वह उसकी नाटचसाहित्य को एक बहुत बड़ी देन है।

---

२. राक्षस—

सम्पूर्ण नाटक विरोधी चरित्रों के मध्य विकसित हुआ है। चाणक्य और राक्षस परस्पर विरोधी रूप में चित्रित हैं। एक के चरित्र को हृदयंगम करने के लिये दूसरे के चरित्र की पृष्ठभूमि अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है

कि चरित्रों का विकास भी अङ्कों में क्रमशः हुआ है। प्रथम अङ्क में चाणक्य, द्वितीय अङ्क में राक्षस, तृतीय अङ्क में चन्द्रगुप्त और चतुर्थ अङ्क में मलयकेतु के चरित्र का विकास हुआ है।

इस नाटक के अन्दर हम प्रथम और तृतीय अङ्क को छोड़कर सभी अङ्कों में राक्षस को रङ्गमञ्च पर उपस्थित पाते हैं। द्वितीय अङ्क में राक्षस के चरित्र का विकास राजनीति की पृष्ठभूमि में हुआ है। चतुर्थ अङ्क में राक्षस को चाणक्य के विरोध में कूटनीतिक योजनाओं के निर्माण में और चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने की तैयारी में व्यस्त देखते हैं। पञ्चम अङ्क के अन्दर राक्षस एक अभियुक्त के रूप में हमारे सन्मुख आता है। षष्ठ अङ्क में राक्षस अपने मित्रों और सहायकों से दूर, उद्देश्य के प्रति सर्वथा निराश, अतीतकाल की स्मृतियों में डूबा हुआ कुसुमपुर के एक जीर्णोद्यान में दिखाई देता है और अन्तिम अङ्क में राक्षस के भाग्य का सहसा परिवर्तन होता है और उसे हम मौर्य साम्राज्य के सम्राट् चन्द्रगुप्त के अमात्यपद पर प्रतिष्ठित देखते हैं। इसप्रकार नाटक की सम्पूर्ण कथावस्तु राक्षस के दुर्भाग्य की कहानी है। इसके चरित्र में जो आशा-निराशा, घात-प्रतिघात आदि द्वन्द्वों का चित्र खींचा गया है, उससे मानव-जीवन की अस्थिरता का सहज ही ज्ञान हो जाता है।

राक्षस के चरित्र में कुछ ऐसे गुण विद्यमान हैं जो उसको राजनीतिक बुद्धि की कठोरता की भूमि से पृथक् हृदय के कोमल तल पर खड़ा कर देते हैं। उसके हृदय के कोने में छिपकर बैठी हुई भावुकता ही उसकी पराजय का कारण है। यह ब्राह्मण वंश का भूषण, नन्दों का प्रमुख अमात्य है। नन्द साम्राज्य का सञ्चालन करने वाला है। इसकी नन्दवंश के प्रति अनन्य भक्ति है। नाटककार ने राक्षस को अपने स्वामी नन्द राजाओं के प्रति प्रगाढ़ भक्ति भावना से ओत-प्रोत चित्रित किया है। इसकी इस भक्ति को देखकर ही चाणक्य कहता है कि—"**अहो राक्षस्य नन्दवंशे निरतिशयो भक्तिगुणः। स खलु कस्मिंश्चिदपि जीवति नन्दान्वयावयवे वृषलस्य साचिव्यं ग्राहयितुं न शक्यते। तदभियोगं प्रति निरुद्योगः शक्य अवस्थापयितुमस्माभिः**" (पृष्ठ ३१–३२)। नन्दभक्ति और राक्षस की महत्वाकांक्षा इन दोनों को एक ही माना जा सकता है। कूटनीति का मर्मज्ञ है, मेधावी है। राक्षस शस्त्रविद्या में निपुण है, सैन्य का सञ्चालन करने की योग्यता रखता है। राक्षस की शूरवीरता इसप्रकार प्रकट हुई है—

> यत्रैण मेघनीला चरित गजघटा राक्षसस्त्र यायात्
> एतत्पारिप्लवाम्भःप्लुतितुरगबलं वार्यतां राक्षसेन।
> पत्तीनां राक्षसोऽन्तं नयतु बलमिति प्रेषयन्मह्यमाज्ञा-
> मज्ञासीः प्रीतियोगात्स्थितमिव नगरे राक्षसानां सहस्रम् ॥२/१४॥

इसीप्रकार चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने के लिये उसने जिस व्यूह की रचना की है, उसमें अपने आपको उसने अग्रणी रखा है—

प्रस्थातव्यं पुरस्तात्खशमगधगणैर्मामनुव्यूह्य सैन्यैः ॥५/११॥

खड्ग उसका प्रिय सुहृत् और प्रधानतम शस्त्र है। वह अपने मित्र चन्दनदास को फाँसी के तख्ते से छुड़ा लाने के लिये अपनी तलवार पर विश्वास रखता है। यथा—

निस्त्रिंशोऽयं सजलजलदव्योमसंकाशमूर्ति—
युद्धश्रद्धापुलकित इव प्राप्तसख्यः करेण।
सत्वोत्कर्षात्समरनिकसे दृष्टसारः परैर्मे
मित्रस्नेहाद्विवशमधुना साहसे मां नियुङ्क्ते ॥६/१९॥

नाटक के अन्दर जहाँ राक्षस के गुणों का विकास हुआ है, वहाँ उसकी मैत्री, भावना, मित्र के प्रति कर्त्तव्य भावना प्रखररूप से हमारे सामने आती है। मित्र के प्राणों की रक्षा वह अपने आपको बन्धन में डालकर भी करता है। सचमुच वह सच्चा मित्र है। राक्षस में जिस मैत्री भावना का कवि ने चित्रण किया है वह भारतीय संस्कृति की अपूर्व देन है। वह अपने मित्र के लिये आत्मसमर्पण में संकोच नहीं करता है। चन्दनदास उसका मित्र है। सामान्य मित्र नहीं, अपितु चाणक्य के गुप्तचर निपुणक की सम्मति में "**द्वितीयमिव हृदयम्**" (पृष्ठ ४७) है। चाणक्य भी इस बात की पुष्टि इन शब्दों में करता है—"**नूनं सुहृत्तमः। न ह्यानात्मसदृशेषु राक्षसः कलत्रं न्यासीकरिष्यति**" (प्रथम अङ्क, पृष्ठ ४७)। और अन्त में कहता है—

त्यजत्यप्रियवत्प्राणान्यथा तस्यायमापदि।
तथैवास्यापदि प्राणा नूनं तस्यापि न प्रियाः ॥१/२५॥

दूसरे अङ्क में राक्षस स्वयं अपनी मित्रता के विषय में विराधगुप्त से कहता है कि—"**तत्किं परितुष्टः कथयसि अपवाहितं राक्षसकलत्रमिति। ननु वक्तव्यं संयमितः सपुत्रकलत्रो राक्षस इति**" (पृष्ठ १२८)। राक्षस अपने में और चन्दनदास में कोई भेद नहीं देखता है। एक प्राण दो शरीर हैं। इसलिये अपने मित्र के लिये, मित्र की मैत्री को अमर बनाने के लिये सप्तम अङ्क में चन्दनदास से कहता है कि तुम्हारे प्राणों की रक्षा के लिये अपना समर्पण करके मैंने "**स्वार्थ एवानुष्ठितः**"—(पृष्ठ ४००) अर्थात् अपना स्वार्थ ही सिद्ध किया है। चाणक्य से कहता है "**विष्णुगुप्त, नमो सर्वकार्यप्रतिपत्तिहेतवे सुहृत्स्नेहाय**" (पृष्ठ ४१६) और अपने मित्र के प्राणों की रक्षा के लिये अपने उद्देश्य को, जिसके लिये उसने जीवन पर्यन्त संघर्ष किया—तिलाञ्जलि देकर आत्मसमर्पण कर देता है और सचमुच इस कसौटी पर राक्षस महान् है। वस्तुतः राक्षस की पराजय का एक प्रमुख कारण चन्दनदास के स्नेह का निर्वाह भी है। वह सिद्धार्थक को भी अपना हितैषी और मित्र समझता है। शकटदास पर उसे सर्वात्मना विश्वास है और इसी विश्वास के कारण वह कहता है कि—"**यदि शकटदासेन लिखितस्ततो मयैव**" (पृष्ठ ३१८)। उसको उसकी मैत्रीभक्ति और नन्द

के प्रति स्वामिभक्ति का पता है ; परन्तु जब उसके प्रति राक्षस के हृदय में सन्देह का अंकुर उत्पन्न होता है तो यह कहकर—

स्मृतं स्यात्पुत्रदारस्य विस्मृतस्वामिभक्तिना ।
चलेष्वर्थेषु लुब्धेन न यश स्वनपायिषु' ।।५/१४।।

अपना समाधान कर लेता है ।

राक्षस का स्वभाव है सब पर विश्वास कर लेना । इसे चारित्रिक दोष और गुण किसी भी रूप में देखा जा सकता है । इसी अपने विश्वास कर लेने वाले स्वभाव के कारण वह किसी भी अनजान नवीन व्यक्ति पर विश्वास कर लेता है, यथा—सिद्धार्थक । उसने जीवसिद्धि और सिद्धार्थक—इन दो ऐसे प्राणियों पर विश्वास किया है, जो घटनाचक्र को बदल देने की सामर्थ्य रखते हैं । इन्होंने केवल घटनाचक्र को ही प्रभावित नहीं किया अपितु राक्षस के भाग्य के साथ भी खिलवाड़ किया है । यह प्रत्येक पर विश्वास कर लेना भी उसके पतन का एक कारण है । राक्षस का अपना कोई स्वार्थ नहीं है, वह निःस्वार्थ है । उसकी एकमात्र प्रबल इच्छा है कि चाणक्य और चन्द्रगुप्त से अपने स्वामी नन्दों का बदला ले सके और इसलिये उसने मलयकेतु का आश्रय लिया है, इसलिये वह राजनीति में सतत प्रयत्नशील है । वह कहता है कि—

नेदं विस्मृतभक्तिना न विषयव्यासङ्गमूढात्मना
प्राणप्रच्युतिभीरुणा न च मया नात्मप्रतिष्ठार्थिना ।
अत्यर्थ परदास्यमेत्यनिपुणं नीतौ मनो दीयते
देवः स्वर्गगतोऽपि शात्रववधेनाराधितः स्यादिति ।।२/५।।

उसको अहर्निश एकमात्र यही चिन्ता सताये रखती थी कि नन्दवंश की पुनः राज्य पर प्रतिष्ठा कैसे हो ? इसी चिन्ता में उसने अपने शरीर की स्वाभाविक साज-सज्जा भी छोड़ दी थी ।

राक्षस शकुनों पर विश्वास करता है—"**वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा**" (पृष्ठ १००) । वह सर्पदर्शन और क्षपणक के दर्शन—दोनों को अपशकुन का प्रतीक समझता है—"**कथं प्रथममेव सर्पदर्शनम्**" (पृष्ठ १००) उसे ज्योतिषियों पर विश्वास है । आक्रमण के अवसर पर शुभ दिन की उसको प्रतीक्षा है । वह पूछता है—"**निरूप्यतां तावदस्मत्प्रस्थानदिवसः**" (पृष्ठ २५७) । भाग्य पर उसको अटल विश्वास है । सम्पूर्ण नाटक में उसकी भाग्यवत्ता प्रकट होती है । वह तो नन्दवंश का शत्रु ही दैव को मानता है, चाणक्य को नहीं । "**दैवं हि नन्दकुलशत्रुरसौ न विप्रः**" ।।६/७।। यदा कदा भविष्यत्काल की घटना को सूचित करने वाली दैवीय वाणियों पर भी विश्वास करता है—"**दुरात्मा चाणक्यदुर्जयत्वतिसंधातुं शक्यः स्यादमात्य इति वागीशवरी वामक्षिस्पन्दनेन प्रस्तावगता प्रतिपादयति**" (चतुर्थ अङ्क पृष्ठ २२०) ।

राक्षस के अन्दर उतावलापन भी अधिक है । अतीतकाल की घटना को

सुनते-सुनते वर्तमान काल में आ जाता है। उसे आत्मविस्मृति हो जाती है और वह कह उठता है कि—

प्राकारं परितः शरासनधरैः क्षिप्रं परिक्रम्यतां
द्वारेषु द्विरदैः प्रतिद्विपघटाभेदक्षमैः स्थीयताम्।
त्यक्तवा मृत्युभयं प्रहर्तु मनसः शत्रोर्बले दुर्बले
ते निर्यान्तु मया सहैकमनसो येषामभीष्टं यशः ॥१/१३॥

राक्षस को अपने ऊपर विश्वास नहीं है। उसमें इच्छाशक्ति की कमी है और पराजय की भावना से भरा हुआ है।

राक्षस पहले अपने एक निश्चित लक्ष्य को निर्धारित कर लेता है और फिर बाद में उसके प्रति अपनी नैतिक भावना को विकसित करता है। ऐसा व्यक्ति अपनी सफलता या असफलता को अपने जीवन में अपने उद्देश्य से आंकता है। असफलता को वह सहन नहीं कर सकता है और इसलिये वह साधनों के प्रति उदासीन हो जाता है। चाणक्य के समान इसने भी कूटनीतिक षड्यन्त्रों का सहारा लिया है। विषकन्या, विष शस्त्र इत्यादि के द्वारा शत्रु की हत्या करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि उसे इसमें सफलता नहीं मिली है। राक्षस अपने उद्देश्य की प्राप्ति में इतना डूब जाता है कि वह अज्ञान में ही षड्यन्त्र करने वाला सिद्ध हो जाता है। वह यह अनुभव करने लगता है कि अब उसके लिये चाणक्य के जाल से बाहर निकलना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। वह मलयकेतु के व्यवहार के कारण निराश हो जाता है और मलयकेतु इतना मूर्ख है कि वह समझने लगता है कि राक्षस ने चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि कर ली है जबकि इसके विपरीत राक्षस की यह विचारधारा है कि "**इदानीमपि तावदरातिहस्तगतो विनश्येन्न तु राक्षसश्चन्द्रगुप्तेन सह संदधीत**" (पृष्ठ ३५८)। मलयकेतु के इस विश्वास का कारण वह पत्र है, जो चाणक्य ने प्रथम अङ्क में सिद्धार्थक के द्वारा शकटदास से लिखवाया है और जिस पर राक्षस की मुद्रा अङ्कित है। और हम देखते हैं कि नाटक की समाप्ति में आकर राक्षस निःसहाय और निराश्रित हो जाता है। उसकी अतीत और वर्तमानकाल की अवस्था की एक साथ सूचना देने वाला यह श्लोक कितना सुन्दर है—

पौरैरङ्गुलिभिर्नवेन्दुवदहं निर्दिश्यमानः शनैः
यो राजेव पुरा पुरान्निरगमं राज्ञां सहस्रैर्वृतः।
भूयः सम्प्रति सोऽहमेव नगरे तत्रैव बन्ध्यश्रमो
जीर्णोद्यानकमेष तस्कर इव त्रासाद्विशामि द्रुतम् ॥६/१०॥

षष्ठ अङ्क में राक्षस के लम्बे स्वगत भाषण में हम इसके चरित्र का समीप से अध्ययन कर सकते हैं, जिसमें उसका मानसिक ऊहापोह का, संघर्ष का चित्र हमारे सामने आता है। यहाँ पर वह अपने जीवन के प्रमुख उद्देश्य को महती निराशा में छोड़ देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि राक्षस एक शूरवीर योद्धा, परन्तु भूल

करने वाला, भावना प्रधान अनुभूति के साथ राजनीतिज्ञ के रूप में चित्रित किया गया है।

अन्य पात्रों की दृष्टि में राक्षस—(१) चाणक्य राक्षस के गुणों की प्रशंसा करता हुआ कहता हैं—

ऐश्वर्यादनपेतमीश्वरमयं लोकोऽर्थतः सेवते
तं गच्छन्त्यनु ये विपत्तिषु पुनस्ते तत्प्रतिष्ठाशया।
भर्तुर्ये प्रलयेऽपि पूर्वसुकृतासङ्गेन निःसङ्गया
भक्तया कार्यधुरं वहन्ति वहवस्ते दुर्लभास्त्वादृशाः ॥१/१४॥

राक्षस का अपना व्यक्तित्व, अपनी महत्ता कितनी है इसका पता उससे अधिक चाणक्य को है। तभी तो वह राक्षस को जीवित पकड़ना चाहता है, उसको मरवाना नहीं चाहता है। भागुरायण को चाणक्य का स्पष्ट निर्देश है कि राक्षस के प्राणों की रक्षा करनी है—'**रक्षणीया राक्षसस्य प्राणा इत्यार्यादेश.**' (पंचम अङ्क, पृष्ठ २९२)। चाणक्य भी सोचता है—

बुद्ध्या निगृह्य वृषलस्य कृते क्रियायाम्
आरण्यकं गजमिव प्रगुणीकरोमि ॥०/२७॥

(२) तीसरे अङ्क में चन्द्रगुप्त ने चाणक्य से प्रश्न किया है कि तुमने राक्षस को कैद क्यों नहीं कर लिया तो चाणक्य कहता है कि—

स हि भृशमभियुक्तो यद्युपेयाद्विनाशं
ननु वृषल वियोगस्तादृशेनापि पुंसा ॥३/२५॥

चाणक्य किसी भी प्रकार से राक्षस को अपने हाथ से जाने नहीं देना चाहता है। वह यह भी नहीं चाहता कि राक्षस जीवित रहता हुआ चन्द्रगुप्त के विनाश की योजना बनावे। वह यह भी नहीं चाहता कि राक्षस मारा जावे। यह है राक्षस का व्यक्तित्व। चाणक्य इस व्यक्तित्व को समझता है और इसलिये कहता है कि—"**अत एवास्माकं त्वत्सग्रहे यत्नः**" (पृष्ठ ३१)। और अन्त में राक्षस को देखकर चाणक्य कहता है—**येन महात्मना**—

गुरुभिः कल्पनाक्लेशैर्दीर्घजागरहेतुभिः
चिरमायासिता सेना वृषलस्य मतिश्च मे ॥७/८॥

(३) शकटदास राक्षस को देखकर कहता है—

अक्षीणभक्तिः क्षीणोऽपि नन्दे स्वाम्यर्थमुद्वहन्।
पृथिव्यां स्वामिभक्तानां प्रमाणे परमे स्थितः ॥२/२२॥

राक्षस और राजनीति—इस नाटक में राक्षस की राजनीति का कुछ इस-प्रकार प्रयोग हुआ है कि जिसमें वह अपने शस्त्र के प्रयोग से स्वयं ही पराजित हुआ है। राक्षस कुसुमपुर में अपने पीछे अपने परिवार को यह सोचकर छोड़ आया है कि इस प्रकार कुसुमपुर में रहने वाले उसके अनुयायियों का उत्साह क्षीण होगा।

परन्तु पाटलिपुत्र में उनकी पत्नी की उपस्थिति अभिन्न मित्र चन्दनदास के लिये आपत्ति का कारण हुई है । इसी कारण उसे कुछ क्षणों के लिये मृत्यु की घड़ियों का भी दर्शन होता है । साथ ही उसकी पत्नी का पाटलिपुत्र में रहना ही निपुणक को राक्षस की उस मुद्रा की प्राप्ति करा देता है, जिससे चाणक्य ने एक कूटलेख लिखा है और जिसका प्रयोग उसने राक्षस और मलयकेतु मे भेद डालने के लिये किया है । चाणक्य इसमें सफल होता है और यह राक्षस की मुद्रा ही उसके पराजय का कारण बनती है । चन्द्रगुप्त को मारने के लिये बड़ी सभाल कर रखी हुई विषकन्या से चन्द्रगुप्त तो नहीं मरता, परन्तु उस पर्वतक की मृत्यु हो जाती है जो चन्द्रगुप्त के आधे राज्य का अधिकारी है । राक्षस ने अपने जिन गुप्तचरों को विष और शस्त्रों के द्वारा चन्द्रगुप्त को मारने के लिये नियुक्त किया था, वे उसके गुप्तचर चाणक्य की चतुराई और सतत जागरूकता के कारण उन्हीं विष और शस्त्रों से मारे गये । यथा --

कन्या तस्य वधाय या विषमयी गूढं प्रयुक्ता मया
दैवात्पर्वतकस्तया स निहतो यस्तस्य राज्यार्द्धहृत् ।
ये शस्त्रेषु रसेषु च प्रणिहितास्तैरेव तेघातिताः
मौर्यस्यैव फलन्ति पश्य विविधश्रेयांसि मन्नीतयः ॥२/१६॥

मलयकेतु ने जो आभूषण कञ्चुकी के द्वारा राक्षस को पहनने के लिये भिजवाये थे, राक्षस उसमें से एक आभूषण चन्द्रगुप्त के गुप्तचर सिद्धार्थक को शकटदास के प्राण बचाने के बदले में पारितोषिक के रूप में दे देता है । इसीप्रकार पर्वतेश्वर के आभूषण उसी की आज्ञा से शकटदास खरीदता है, जिनका प्रयोग चाणक्य ने बड़ी निपुणता से अपने कूटपत्र में राक्षस के विरोध में किया है । राक्षस ने अपने गुप्तचर वैतालिकवेषधारी स्तनकलश से चन्द्रगुप्त और चाणक्य में भेद डालने का प्रयास किया है, परन्तु वह इसमें सर्वथा असफल होता है । वह देखता है कि भद्रभट, भागुरायणादि से उसकी सेना सर्वथा घिरी हुई है। वह यह भी समझता है कि ये सभी चाणक्य के गुप्तचर हैं, परन्तु वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ है क्योंकि उसके पास इनके विरोध में कोई ठोस प्रमाण नहीं है और अन्त में हम देखते हैं कि मलयकेतु अपने इन्हीं मित्रों से कैद कर लिया जाता है । राक्षस के मुख से चाणक्य के लिये अनायास निकल जाता है कि—

एकमपि नीतिबीजं बहुफलतामेति यस्य तव ॥२/१६॥

और चरम निराशा की स्थिति में अपने लिये कहता है—

मौर्यस्यैव फलन्ति पश्य विविधश्रेयांसि मन्नीतयः ॥१/१६॥

पांच म्लेच्छ राजाओं की मृत्यु के समय पञ्चम अङ्क में राक्षस कहता है—"तत्कथं सुहृद्विनाशाय राक्षसश्चेष्टते न रिपुविनाशाय" (पृष्ठ ३३४) । राक्षस की सबसे बड़ी निर्बलता यह है कि उसकी योजनायें इतनी विशाल हैं कि उसको यह स्मरण ही नहीं

रहता है कि उसने किस गुप्तचर को किस कार्य के लिये नियुक्त किया हुआ है। वह उन गुप्तचरों के नाम भी भूल जाता है **'कस्मिन् प्रयोजने ममायं प्रहित इति प्रयोजनानां बाहुल्यान्न खलु अवधारयामि'** (चतुर्थ अङ्क पृष्ठ २२१)। और अन्त में हम देखते हैं कि राक्षस अपने ही कूटनीतिक षड्यन्त्रों के परिणामस्वरूप सर्वथा एकाकी, निराश्रित और निराशाजनक स्थिति में पुनः कुसुमपुर लौटता है। इस बार वह किसी राजनीतिक योजना के निर्माण के लिये नहीं, अपितु अपने मित्र चन्दनदास के प्राणों की रक्षा के निमित्त लौटता है। इसप्रकार राजनीति में निष्णात होते हुये भी राक्षस की पराजय हुई, किन्तु पराजित राक्षस भी हमारे सामने महान् है।

नाटक का प्रतिनायक राक्षस—राक्षस चाणक्य का प्रतिपक्षी है और इसीलिये प्रतिनायक है। राक्षस के अन्दर सभी गुण विद्यमान हैं, जो किसी एक प्रतिनायक में होने चाहिये। दशरूपककार ने प्रतिनायक का लक्षण इसप्रकार किया है—

लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृत् व्यसनी रिपुः— ।। प्रकाश २. ९

यह लक्षण सर्वात्मना घटित नहीं होता है क्योंकि राक्षस लोभी न होकर निःस्वार्थ है। पुनरपि शत्रु होने के कारण उसका प्रतिनायकत्व अखण्डित है—

इसप्रकार हम देखते हैं कि नाटककार ने राक्षस को मौर्य साम्राज्य के शत्रु और नन्द साम्राज्य के पुनरुद्धारक के रूप में चित्रित किया है। सप्तम अङ्क में जाकर सहसा राक्षस के भाग्य में परिवर्तन हो जाता है और वह मौर्य साम्राज्य के प्रधान-मन्त्री के रूप में रङ्गमञ्च से विदा लेता है। उसकी दुःखद महत्ता सभी सामाजिकों के आकर्षण का केन्द्र बनती है।

(३) चाणक्य और राक्षस का तुलनात्मक चरित्र—

पात्रों के चरित्र-चित्रण के विधान में विशाखदत्त विरोध के मूल्य को खूब अच्छी प्रकार समझते और अनुभव करते हैं। उन्होंने पात्रों को दो-दो के समूह में रखा है और उसका चरित्र-चित्रण तुलना और विरोध के विधान के द्वारा किया है। उनके चरित्र-चित्रण की यह महती विशेषता है कि प्रायः उनके पात्रों का चरित्र विरोध की पृष्ठभूमि में प्रभाव-पूर्ण ढङ्ग से चित्रित हुआ है। पात्रों की विरोधात्मक प्रवृत्तियों में कहीं पर भी ऐसा अनुभव नहीं होता है कि उनकी विरोध प्रवृत्ति नाटक-कार की अपनी बनाई हुई मूर्तिमात्र है। उनका विकास स्वाभाविक रूप से हुआ है। वे अपने चरित्र का निर्माण करने वाले स्वयं हैं।

(क) चरित्रों में साधर्म्य—चाणक्य और राक्षस दोनों ही साहसी योजनाओं के निर्माता हैं, जो कभी साधनों की चिन्ता नहीं करते। दोनों ही निःस्वार्थ हैं कुशल-राजनीतिज्ञ हैं, साहसी हैं और बहुविध साधनों से सम्पन्न हैं। दोनों ही पहले भिन्न-भिन्न उद्देश्यों के प्रति अविचल भाव से संलग्न हैं। दोनों ही अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में तुच्छ से तुच्छ या जघन्य से जघन्य काम करने के लिये तैयार हैं। उनकी

दृष्टि में साधन का मूल्य नहीं है, साध्य की सफलता है। दोनों का लक्ष्य है कि किसी भी साधन से—अच्छे या बुरे—अपने साध्य को, अपने लक्ष्य को पूरा किया जाये। दोनों ही एक-दूसरे को पराजित करने में प्रशंसा के पात्र हैं। दोनों ने ही अपनी राजनीतिक आकांक्षा को प्राप्त करने के लिये धोखा और हत्या को शस्त्र के रूप में प्रयोग किया है। दोनों राजनीतिज्ञों ने एक-दूसरे को जीतने के लिये एक ही प्रकार की भेदनीति का आश्रय लिया है। तथापि जहाँ चाणक्य सफल हो गया है, वहाँ राक्षस को एक दुःखदायी पराजय का मुख देखना पड़ा है। इसप्रकार हम देखते हैं कि राजनीति के क्षेत्र में, कूटनीतिक षड्यन्त्रों में, साधन की अपरिमितता में और साध्य को ही सर्वात्मना सिद्ध करने में साधन की अपेक्षा न करने में दोनों ही समान हैं।

(ख) चरित्रों में वैधर्म्य -- चाणक्य विचारशील है, राक्षस भावुक है। चाणक्य निर्विकार बुद्धिजीवी है, राक्षस भावावेश में बह जाता है और यही राक्षस की सबसे बड़ी दुर्बलता है। चाणक्य दूरदर्शी है और जिस किसी भी कार्य को करता है पूरी लगन के साथ करता है। चाणक्य अपने विचार में स्पष्ट है, आत्म-विश्वासी है और अपने कार्य के प्रति सतत जागरूक है। इसके विपरीत राक्षस कोमल प्रकृति का है, किन्तु साथ ही पग-पग पर गलती करने वाला है। चाणक्य अपने गुप्त रहस्यों को छिपाने में समर्थ है। यहाँ तक कि कोई भी दो गुप्तचर परस्पर यह नहीं जानते कि वे दोनों चाणक्य के गुप्तचर हैं। किसी पर भी विश्वास न करने वाला है, फलतः उसकी नीति गुप्त है। इसके विपरीत राक्षस खुले हृदय का है, मित्रता रखने वाला और उदार हैं। चाणक्य का व्यक्तित्व इतना कठोर तथा गम्भीर है कि उसके अपने साथ काम करने वाले उसके मित्र तथा अनुयायी उससे डरते हैं, जबकि राक्षस अपने मित्रों और अनुयायियों से प्रेम किया जाने वाला है। चाणक्य अपने उद्देश्य को पूर्ण करने में इतना व्यग्र और रत है कि उसकी चन्द्रगुप्त के प्रति किसी प्रकार की कोई कोमल भावना दृष्टिगोचर नहीं होती है क्योंकि उसके मस्तिष्क में कोमल भावनाओं के लिये कोई स्थान नहीं है। चाणक्य हृदय की अनुभूतियों से दूर और परे है। उसके लिये हृदय नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। इसके विपरीत राक्षस ने एक कोमल; सहानुभूतिमय मानवीय हृदय पाया है। वह महान् कर्तव्य की भावना से प्रेरित है। उसकी नन्दों के प्रति अविचल भक्ति है। उसके गुणों से आकृष्ट होकर उसके शत्रु भी उसकी प्रशंसा करते हैं। यह राक्षस के गुणों का ही प्रभाव है कि चाणक्य को राक्षस को जीतने लिये अपनी योजनाओं को इतना लम्बा रूप देना पड़ा और यही उसके गुणों की विशेषता आगे चलकर उसकी पराजय का कारण बनी है। राक्षस अपने गुणों के कारण ही चाणक्य के हाथों में पड़ गया। राक्षस के सुकोमल-गुणों के कारण ही नाटक में करुण रस का परिपाक हो सका है। निःसन्देह राक्षस ने षड्यन्त्रों की योजना और उनका संचालन किया है, चाणक्य की कूटनीतिक योजना को भङ्ग करने के लिये कूटनीतिक चालें भी चली हैं, परन्तु वह केवल षड्यन्त्रों के मध्य ही निवास

—

नहीं करता है। इसके विपरीत चाणक्य षड्यन्त्रों का पुतला है। षड्यन्त्र उसकी प्रकृति का एक अविभाज्य अङ्ग है। वह षड्यन्त्रों के मध्य रहता है और उसी जगत् में उठता बैठता है। राजनीति के अतिरिक्त उसे कुछ सूझता ही नहीं। जहाँ तक युद्ध के कौशल का सम्बन्ध है, चाणक्य शून्य है। राक्षस में युद्ध कौशल कूट-कूट कर भरा हुआ है। चाणक्य राक्षस के इस युद्ध-कौशल को भली-भाँति समझता और जानता है। वह राक्षस की संग्राम और सैन्य शक्ति संचालन के कारण ही उसके साथ युद्ध करने से कतराता है और इसीलिये कूटनीतिक प्रयोगों से वह उसको वश में करने का प्रयत्न करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी सहानुभूति राक्षस की पूर्ण पराजय के कारण उसके साथ होती है। उसकी आशाओं की समाप्ति में, उसके प्रयत्नों की निष्फलता में हमारा करुणाविगलित हृदय उसकी ओर उमड़ता है। उसकी अपने मित्र चन्दनदास के प्रति उच्च त्यागमयी भावना हमको उसके सम्मुख नतमस्तक कर देती है, हम श्रद्धा से उसकी ओर झुक जाते हैं किन्तु साथ ही उसकी परवशता पर हमको दुःख भी होता है। चाणक्य की विजय सामाजिक के हृदय को प्रभावित करती है, परन्तु राक्षस की महान् तपस्विता, त्याग और नियति अथवा चाणक्य के गुप्तचर द्वारा डाली गई विषम परिस्थिति एक साथ उसके प्रति सम्मान और करुणा के मिश्रित भाव को उत्पन्न करती है। चाणक्य को यदि अपनी बुद्धि पर भरोसा है तो राक्षस को अपनी तलवार पर। एक बुद्धि प्रधान है तो दूसरा पराक्रम प्रधान। चाणक्य धीर प्रकृति का है और राक्षस अधीर प्रकृति का और विस्मरणशील है। चाणक्य की नन्दों के प्रति घोर घृणा है, राक्षस की उनमें अगाध भक्ति है। एक कठोर और किसी के सामने न झुकने वाला है, जबकि दूसरा स्वभाव से कोमल और सज्जन है। चाणक्य दैव पर विश्वास नहीं करता, वह कट्टर पुरुषार्थवादी है जबकि राक्षस दैव पर आश्रित है, भाग्यवादी है। जहाँ चाणक्य अपने चतुर गुप्तचर भागुरायण के कपट भेद के द्वारा राक्षस और मलयकेतु के मध्य आन्तरिक फूट डालने में सफल हो जाता है, वहाँ राक्षस का प्रयत्न उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उसी साधन के प्रयोग—अर्थात् चाणक्य और चन्द्रगुप्त में भेद डालने में—सर्वात्मना असफल हो जाता है। राक्षस का आत्मसमर्पण महान् है। चन्दनदास की मित्रता को अमर बनाने के लिये वह आत्मसमर्पण को भी अपने कर्तव्य के रूप में स्वीकार कर लेता है। राक्षस राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करना चाहता है, अतः उसके प्राप्त न होने पर निराशा का अनुभव करता है। चाणक्य राज्यलक्ष्मी के प्रति उदासीन है, अतः उसके लिये उसका कोई मूल्य नहीं है। राक्षस शीघ्र निराश हो जाता है, चाणक्य के पास निराशा फटकती भी नहीं। राक्षस अपनी सफलता के लिये अपने सहायकों पर आश्रित है; चाणक्य केवल अपनी बुद्धि पर आश्रित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही राजनीतिक धरातल पर रहकर विचरण करने वाले इन दोनों राजनीतिज्ञों में महान् अन्तर है और इस अन्तर को यदि चाणक्य के शब्दों में कहना चाहे तो कह सकते हैं कि—

चाणक्यस्त्वमपि च नैव केवलं ते
साधर्म्यं मदनुकृतेः प्रधानवैरम् ॥३/१२॥

अर्थात् वह कहता है कि तुममें और मुझमें अन्तर है। परन्तु हाँ, मेरे साथ तुम्हारी केवल एक बात में समानता है और वह समानता है—प्रमुख राजा के साथ वैर करना। बुद्धिप्रकर्षादि में तो कोई समानता नहीं है। इस प्रकार चाणक्य और राक्षस में जो अन्तर है, वही अन्तर उन दोनों के सहायकों में भी है।

———

(४) चन्द्रगुप्त—

मुद्राराक्षस नाटक के अन्दर चन्द्रगुप्त के चरित्र का विकास उ रूप में नहीं हुआ है, जिस रूप में एक मौर्य सम्राट् का होना चाहिये। सम्भवतः इसका कारण विशाखदत्त की यह दृष्टि रही हो कि वह सर्वात्मना अपने इस नाटक के नायक चाणक्य के चरित्र को ही सबके सामने लाना चाहता था। चन्द्रगुप्त तो केवलमात्र चाणक्य के हाथ की कठपुतली है (**चाणक्यमतिपरिगृहीतं चन्द्रगुप्तमवलोक्य...**" द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ९), अतः उसके चरित्र का विकास भी उसी रूप में हुआ है। हम देखते हैं कि सम्पूर्ण नाटक के अन्दर चन्द्रगुप्त का प्रभाव नगण्य सा है। उसे इस बात का दुःख है कि आर्य चाणक्य की कुटिल नीति के परिणामस्वरूप उसको अपने पौरुष को दिखाने का अवसर ही नहीं मिला है। वह सप्तम अङ्क में कहता है कि—"**विनैव युद्धादार्येण जितं दुर्जयं परबलमिति लज्जित एवास्मि॥**

मम हि–फलयोगमवाप्य सायकानां विधियोगेन विपक्षतां गतानाम्।
न शुचेव भवत्यधोमुखानां निजतूणीशयनव्रतं प्रतुष्ट्यै" ॥७/१०॥

चन्द्रगुप्त नाटक के अन्दर हमारे सामने प्रमुख रूप से तृतीय अङ्क में आता है। सप्तम अङ्क में भी आता है किन्तु यहाँ केवल नाटक के पटाक्षेप के समय ही आया है।

चन्द्रगुप्त एक योग्य और विचारशील शासक है। उसमें विचारों की प्रौढ़ता और यौवन की अवस्था का उत्साह है। कञ्चुकी ने चन्द्रगुप्त का वर्णन इसप्रकार किया है—

सुविश्रब्धैरङ्गैः पथिषु विषमेष्वप्यचलता
चिरं धुर्येणोढा गुरुरपि भुवो यस्य गुरुणा।
धुरं तामेवोच्चैर्नववयसि वोढुं व्यवसितो
मनस्वी दम्यत्वात् स्खलति च न दुःखं वहति च ॥३/३॥

अर्थात् वह मनस्वी है, दम्य है। राज्य के भार को ग्रहण करने के लिये तत्पर है। उसकी नवीन अवस्था है। यह सब कुछ होते हुये भी वह किसीप्रकार के दुःख का अनुभव नहीं करता है। वह लोकव्यवहार को जानने वाला है–"**अभिज्ञः खल्वसि लोकव्यवहाराणाम्**" (प्रथम अङ्क, पृष्ठ ५२)। उसके राज्य में किसीप्रकार के छल के लिये अवसर नहीं है। वह विद्रोहियों के प्रति कठोर है। उनको कठोर से कठोर दण्ड देने वाला है—"**एवमपथ्यकारिषु तीक्ष्णदण्डो राजा**" (प्रथम अङ्क, पृष्ठ ७३)।

वह प्रकृतिप्रेमी है, तभी तो कौमुदीमहोत्सव के अवसर पर दिशाओं के सौन्दर्य को देखकर उसके हृदय में उल्लास की एक लहर उठ गई है। वह व्यक्तमानावलेप है।

शिष्य चन्द्रगुप्त का अपने गुरु चाणक्य में विश्वासपूर्ण और सर्वात्मना है। सारे नाटक के अन्दर चन्द्रगुप्त के लिये "वृषल" शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसके आधार पर कतिपय विद्वानों ने उसे शूद्रकुलोत्पन्न माना है। राक्षस भी उसको कुछ इसीप्रकार समझता है, क्योंकि वह कहता है कि—

पतिं त्यक्त्वा देवं भुवनपतिमुच्चैरभिजनं
गता छिद्रेण श्रीर्वृषलमविनीतेव वृषली। ६/३॥

यह भी सम्भव हो सकता है कि राक्षस का चन्द्रगुप्त को ऐसा कहना केवल मात्र आक्रोश हो। वृषल का अर्थ **"राज्ञां वृषः वृषल—राजराजेश्वरः"**—ऐसा भी होता है। चाणक्य अपने प्रिय शिष्य, युवक राजा चन्द्रगुप्त को अपने प्रिय नाम 'वृषल' कहकर ही बुलाता है—जिसका अर्थ होता है प्रौढ़ बैल। हम देखते हैं कि सम्पूर्ण नाटक में चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को "वृषल" शब्द से ही अभिहित किया है। सम्भवतः इसीलिये कञ्चुकी कहता है कि चाणक्य का इसको वृषल कहना सर्वथा उचित है **"तत्स्थाने खल्वस्य वृषलोद्यश्चन्द्रगुप्त इति"** (तृतीय अङ्क, पृष्ठ १६६)। केवल नाटक की समाप्ति पर सप्तम अङ्क में पृष्ठ ४२० पर चाणक्य ने वृषल न कहकर **"भो राजन् चन्द्रगुप्त"** ऐसा 'राजन्' कहकर सम्बोधन किया है। चन्द्रगुप्त का चाणक्य के प्रति अटूट विश्वास है और इसीलिये वह स्तनकलश के समान किसी भी गुप्तचर से ठगा या धोखा नहीं खा सका। चन्द्रगुप्त पूर्णरूप से अपने गुरु के संरक्षण में है। वह राज्य के उत्तरदायित्व को भी लेने के लिये तैयार नहीं है। वह चाणक्य पर इतना अधिक निर्भर है कि वह किसी भी कार्य को स्वतन्त्र रूप से करने में सर्वथा असमर्थ है। चन्द्रगुप्त के विषय में राक्षस की धारणा है कि किसी और राजा के लिये तो अमात्यव्यसन नहीं हो सकता है किन्तु चन्द्रगुप्त के लिये तो अमात्यव्यसन सबसे बड़ा व्यसन है क्योंकि वह सचिवायत्तसिद्धि है। राक्षस को तो यह भी विश्वास है कि चन्द्रगुप्त न तो स्वयं ही राज्यकार्य संभालकर हमारी सेना के आक्रमण का प्रतिकार कर सकता है और न ही किसी दूसरे पर अपने राज्यभार को डाल सकता है। उसका तो कहना है कि—**"चन्द्रगुप्तस्तु दुरात्मा नित्यं सचिवायत्तसिद्धावेव स्थितश्चक्षुर्विकल इवाप्रत्यक्षलोकव्यवहारः कथमिव स्वयं प्रतिविधातुं समर्थः स्यात्"** (पृष्ठ २४६)। राक्षस की दृष्टि में वह **"अदृष्टलोकव्यवहारमन्दधीः"** है।

नृपोऽपकृष्टः सचिवात्तदर्पणः स्तनन्धयोऽत्यन्तशिशुः स्तनादिव।
अदृष्टलोकव्यवहारमन्दधीर्मुहूर्तमप्युत्सहते न वर्तितुम् ॥४/१४॥

क्योंकि उसके लिये राज्य भोगविलास के लिये है, कर्त्तव्य पालन के लिये नहीं। चाणक्य स्वयं इस बात की पुष्टि करता है कि वह सचिवायत्तसिद्धि है। चन्द्रगुप्त पूछता है कि मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने "कौमुदी-महोत्सव" का मनाया जाना क्यों रोक दिया? चाणक्य उत्तर देता है कि **"सचिवायत्तसिद्धेस्तव किं**

प्रयोजनान्वेषणेन" (तृतीय अङ्क, पृष्ठ १ ६) अर्थात् तुमको इससे क्या तात्पर्य ? इस विषय में हम ही जानेंगे। यह हमारे अधिकार क्षेत्र की बात है। एक स्थल पर चाणक्य कहता है - "**वृषल एव केवलं प्रधानप्रकृतिरस्मास्वारोपितराज्यतन्त्रभारः सततमुदास्ते**" (प्रथम अङ्क, पृष्ठ ३५)। चन्द्रगुप्त चाणक्य पर सब कुछ छोड़कर निश्चिन्त है। किन्तु वह क्यों निश्चिन्त है इसका उत्तर उसने सप्तम अङ्क में दिया है—

जगतः किं न विजितं मयेति प्रविचिन्त्यताम् ।
गुरौ षाड्गुण्यचिन्तायामार्ये चार्ये च जाग्रति ॥७/१३॥

और ठीक भी है, जिसके गुरु निरन्तर जागरूक हैं, वह निश्चिन्त होकर राज्य का उपभोग क्यों न करे ? चन्द्रगुप्त की सम्मति है—

विगुणीकृतकार्मुकोऽपि जेतुं भुवि जेतव्यमसौ समर्थ एव ।
स्वपतोऽपि ममेव यस्य तन्त्रे गुरवो जाग्रति कार्यजागरूकाः ॥७/११॥

यही वे कारण हैं जिनसे वह स्वाभाविक रूप से नाटक की पृष्ठभूमि में पड़ जाता है और इसीलिये उसको नाटक का नायक स्वीकार नहीं किया जा सकता। चन्द्रगुप्त के चरित्र पर प्रकाश डालने वाली उसकी यह स्वगत उक्ति है—

इह विरचयन् साध्वीं शिष्यः क्रियां न निवार्यते
त्यजति तु यदा मार्गं मोहात्तदा गुरुरङ्कुशः ॥
विनयरुचयस्तस्मात्सन्तः सदैव निरंकुशाः
परतरमतः स्वातन्त्र्येभ्यो वयं हि पराङ्मुखाः ॥३/६॥

इससे मालूम पड़ता है कि वह एक सुयोग्य गुरु का सुयोग्य शिष्य है। वह गुरु के नियन्त्रण में रहना चाहता है इस नियन्त्रण में रहते हुये वह प्रत्येक कार्य को सहर्ष अङ्गीकार कर सकता है—"**अथवा शश्वदार्योपदेशसंस्क्रियमाणमतयः सदैव स्वतन्त्राः वयम्**" (तृतीय अङ्क, पृष्ठ १५२)। वह अपने व्यक्तित्व को उभारने वाली स्वतन्त्रता नहीं चाहता। आर्य चाणक्य के कृतक-कलह के आदेश को उसने पाप के समान स्वीकार किया है।

चन्द्रगुप्त एक क्षण के लिये भी चाणक्य को क्रोध की मुद्रा में नहीं देखना चाहता। चाणक्य का क्रोध उसको शिव के ताण्डव नृत्य का स्मरण दिला देता है। उसका बनावटी क्रोध भी उसको वास्तविक प्रतीत होता है—"**अये, कथं सत्यमेवार्यः कुपित.**" (तृतीय अङ्क, पृष्ठ २०२)। चाणक्य ने निम्न श्लोक में नन्द से चन्द्रगुप्त की तुलना करते हुये कहा है कि—

उत्सिक्तः कुसचिवदृष्टराज्यभारो
नन्दोऽसौ न भवति चन्द्रगुप्त एषः ॥२/१२॥

अर्थात् नन्द के समान चन्द्रगुप्त न तो उत्सिक्त है और न ही कुसचिवदृष्टराज्य-भार है। वह नन्द के समान धन का लोभी नहीं है, प्रजा का अनुरञ्जन ही उसका एकमात्र लक्ष्य है। क्योंकि "**चन्द्रगुप्तराज्यमिदं न नन्दराज्यम्। यतो नन्दस्यैवार्थरुचे-**

र्थसम्बन्धः प्रीतिमुत्पादयति । चन्द्रगुप्तस्य तु भवतामपरिक्लेष एव" (प्रथम अङ्क, पृष्ठ ६३)।

राज्य के विषय में चन्द्रगुप्त के विचार—राज्य के विषय में चन्द्रगुप्त का विचार है कि—"**राज्यं हि नाम राजधर्मानुवृत्तिपरस्य नृपतेर्महदप्रीतिस्थानम्**" (तृतीय अङ्क, पृष्ठ १५०) अर्थात् यदि कोई राजा राज्यधर्मों का पालन करना चाहता है तो राज्य उसके लिये सुख के स्थान पर दुःख की सृष्टि करने वाला है। क्योंकि—

परार्थानुष्ठाने रहयति नृपं स्वार्थपरता
परित्यक्तस्वार्थो नियतमयथार्थो क्षितिपतिः ।
परार्थश्चेत्स्वार्थादभिमततरो हन्त परवान्
परायतः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्ति पुरुषः ॥३/४॥

चन्द्रगुप्त की दृष्टि में राज्यलक्ष्मी दुराराध्या है—"**दुराराध्या हि राज्यलक्ष्मीरात्मवद्भिरपि राजभिः**" (तृतीय अङ्क, पृष्ठ १५१)। और यही कारण है कि वह इतना अधिक चाणक्य पर निर्भर करता है कि उसके स्वतन्त्र चरित्र का विकास नाटक के अन्दर कहीं भी देखने में नहीं आता। कृतक-कलह के अनन्तर कुछ काल तक उसने स्वतन्त्ररूप से राज्यकार्य का सञ्चालन किया है, किन्तु उस समय में भी चाणक्य का निर्देशन अवश्य रहा होगा—ऐसा सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

नाटक की समाप्ति पर चन्द्रगुप्त को देखकर राक्षस के मुख से अनायास निकल पड़ता है—अये, अयं चन्द्रगुप्तः। य एष—

बाल एव हि लोकेऽस्मिन् संभावितमहोदयः ।
क्रमेणारूढवान् राज्यं यूथैश्वर्यमिव द्विपः ॥७/१२॥

सिंहासन पर अधिष्ठित चन्द्रगुप्त को देखकर चाणक्य की यह अनुभूति है—

नन्दैर्वियुक्तमनपेक्षितराजराजै—
रध्यासितं च वृषलेन वृषेण राज्ञाम् ।
सिंहासनं सदृशपार्थिवसंगतं च
प्रीतिं परां प्रगुणयन्ति गुणा ममैते ॥३/१८॥

अर्थात् नन्द से वियुक्त, चन्द्रगुप्त से अध्यासित और योग्य राजा से युक्त—ये सभी गुण मिलकर चाणक्य के हृदय में एक अनुपम आह्लाद और संतोष को उत्पन्न कर रहे हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य सम्राट् के रूप में और अपनी प्रभुशक्ति को अपने प्रधानमन्त्री की मन्त्रशक्ति की संरक्षकता में छोड़कर निश्चिन्त होकर रहने वाले के रूप में चित्रित किया गया है। चाणक्य के प्रति उसकी अगाध श्रद्धा, भक्ति और विश्वास है। नाटक की समाप्ति पर राक्षस के साथ मैत्री हो जाने पर वह अत्यन्त प्रसन्न है। चाणक्य चन्द्रगुप्त को पाकर गर्वित है और चन्द्रगुप्त चाणक्य को पाकर निश्चिन्त है।

— —

५. मलयकेतु—

मलयकेतु एक पर्वतीय राजकुमार है। इसके पिता का नाम पर्वतक है। इसके पिता की मृत्यु विषकन्या के द्वारा हुई थी। मलयकेतु को यह मालूम है कि उसके पिता की मृत्यु में चाणक्य का हाथ है और राक्षस ने यही सोचकर इस मलयकेतु का आश्रय लिया है कि यह अपने पिता की मृत्यु का बदला अवश्य लेगा। इसप्रकार मलयकेतु का आश्रय लेने से राक्षस के दो प्रयोजन सिद्ध होते —(१) नन्दवंश के समूल विनाश का बदला और (२) अपने पिता की मृत्यु से कुपित मलयकेतु को नन्दराज्य पर प्रतिष्ठित करना। यह पराक्रमी है, विजिगीषु भी है परन्तु राजनीति के ज्ञान से सर्वथा शून्य है। यह विवेकशून्य है, अविवेकी है, परिणाम के विषय में बिना सोचे विचारे काम करने वाला है, अतः असमीक्ष्यकारी है। ऐसा मालूम पड़ता है कि बुद्धि का उपयोग करना जानता ही नहीं है। किसी पर भी सन्देह नहीं करता है। हृदय का गम्भीर नहीं है। उद्धत, अशान्त और धीरोद्धत प्रकृति का है। प्रतिष्ठा करने में कृपण है। यह मनुष्यों के पहिचानने में असमर्थ है, अपरिपक्व बुद्धि वाला है। अयोग्य और अहंकारी युवक है।

मलयकेतु की विवेकशून्यता—पञ्चम अङ्क के अन्दर मलयकेतु पीछे से जाकर भागुरायण की आँखों को बन्द कर लेना चाहता है। इससे बढ़कर उसकी और क्या मूर्खता होगी कि उसने अपने नीचे काम करने वाले व्यक्ति को अनुचित महत्त्व दे रखा है। इसी बात को यदि दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि मलयकेतु सर्वथा भागुरायण के वश में हो गया है और भागुरायण के वश में होने का ही यह परिणाम है कि जैसे-जैसे भागुरायण उसको राक्षस के विरोध में समझाता जाता है, वैसे ही वैसे मलयकेतु समझता जाता है। वह अपनी बुद्धि का प्रयोग बिल्कुल भी नहीं करता है। मलयकेतु को इस बात पर गर्व और सन्तोष है कि "**दिष्ट्या न सचिवायत्ततन्त्रोऽस्मि**" (चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ २५०)। किन्तु उसकी यह विचारधारा ही उसकी सबसे बड़ी मूर्खता है। उसकी मूर्खता का ही यह परिणाम है कि वह भागुरायण के बहकाने में आ गया है। राक्षस पर अविश्वास करता है और छिपकर वह उसकी उस बात को सुन लेना चाहता है, जिस बात को वह उसे नहीं बतायेगा, उससे छिपा लेगा। क्योंकि उसकी विचारधारा है—

> सत्वभङ्गभयाद्राज्ञां कथयन्त्यन्यथा पुरः।
> अन्यथा विवृतार्थेषु स्वैरालापेषु मन्त्रिणः ॥४/८॥

राक्षस की सामान्य बात को भी भागुरायण ने अन्यथा करके समझाया है और मलयकेतु इतना मूर्ख है कि वह इस बात को समझता ही नहीं है। भागुरायण ने मलयकेतु के हृदय में राक्षस के प्रति सन्देह उत्पन्न कर दिया है। भद्रभट इत्यादिकों ने यह कहकर कि हम आपके पास राक्षस के द्वारा न आकर शिखरक के द्वारा आये हैं, मलयकेतु के हृदय में एक संशय उत्पन्न कर दिया है, और इसी का यह परिणाम है कि यह अमात्यराक्षस की अपेक्षा भागुरायण पर अधिक विश्वास करने लगा है।

यह अयोग्य मलयकेतु एक समय तो अपने पिता के मित्र राक्षस पर विश्वास करता है, किन्तु उसी समय वह अपने शत्रु चाणक्य के गुप्तचर भागुरायण पर विश्वास करता है। राक्षस यद्यपि गुणी है, किन्तु इस विषय में वह बड़ा ही दुर्भाग्यशाली है कि उसने अपने भाग्य को कुमार मलयकेतु के साथ जोड़ा है। उसका विश्वास राक्षस के प्रति आधे हृदय से है। इसी अविश्वास के कारण उसके हृदय में राक्षस के प्रति दो विकल्प उठ खड़े हुये हैं—(१) क्या यह मौर्य चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि कर लेगा अथवा (२) मेरे प्रति सत्यप्रतिज्ञ होगा। किन्तु इस मलयकेतु की विचारधारा के विपरीत राक्षस की तो यह मान्यता है कि—

यो ननष्टानपि वीजनाशमधुना शुश्रूषते स्वामिन-
स्तेषां वैरिभिरक्षत: कथमसौ संधास्यते राक्षसः।
एतावद्भि विवेकशून्यमनसा म्लेच्छेन नालोचितं
दैवेनोपहतस्य बुद्धिरथवा सर्वा विपर्यस्यति ॥६/८॥

हृदय का गम्भीर न होने के कारण ही वह भागुरायण जैसे चाणक्य के गुप्तचर से ठगा गया है। इसका विश्वास और अविश्वास समानरूप से गलत स्थानों पर है। राक्षस पर पञ्चम अङ्क में अभियोग चल रहा है। अभियोग है मलयकेतु के प्रति विश्वासघात और चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि की चर्चा। इस अभियोग की चरम परिणिति उस समय होती है, जबकि पत्र के लेख को मिलाने के लिये शकटदास को न बुलाकर भागुरायण के कहने से केवलमात्र उसके लेख की प्रतिलिपि मंगाई जाती है, और मूर्ख मलयकेतु भागुरायण के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है। यदि उसने इस प्रस्ताव को स्वीकार न किया होता, तो नाटक का अन्त और मलयकेतु का भाग्य कुछ दूसरा ही होता। पर वह तो भागुरायण के द्वारा राक्षस के विरोध में इतना भर दिया गया है कि अब उसे राक्षस की प्रत्येक गतिविधि उसके विरोध में किया जाने वाला षड्यन्त्र दिखाई देता है। मलयकेतु राक्षस की भर्त्सना करता है, उसे भला-बुरा कहता है, और मलयकेतु की बुद्धि पर आश्चर्य तो तब होता है जबकि वह क्षपणक की इस बात पर विश्वास कर लेता है कि चाणक्य ने तो विषकन्या का नाम भी नहीं सुना ? मलयकेतु के राक्षस के प्रति आक्रोश की चरम परिणति इस रूप में व्यक्त हुई है—

मित्रं ममेदमिति निर्वृतचित्तवृत्ति
विश्रम्भतस्त्वयि निवेशितसर्वकार्यम्।
तातं निपात्य सह बन्धुजनाश्रुतोयै—
रन्वर्थतोऽपि ननु राक्षस राक्षसोऽसि ॥५/७॥

तुम केवल नाम्ना ही राक्षस नहीं हो, अपितु कर्मणा भी राक्षस हो। इस-प्रकार मलयकेतु चाणक्य के गुप्तचरों के जाल में फंस कर राक्षस का घोर अपमान करता है, जिसे अनुभव करके षष्ठ अङ्क में राक्षस कह उठता है—"**अहो विवेक-शून्यता म्लेच्छस्य**" (पृष्ठ ३५७)। मलयकेतु राक्षस के इतने ही तिरस्कार से शान्त नहीं होता अपितु वह तो कहता है कि—

चन्द्रगुप्तस्य विक्रेतुरधिकं लाभमिच्छतः ।
कल्पिता मूल्यमेतेषां क्रूरेण भवता वयम् ॥५/१७॥

अन्त में मलयकेतु अपने हृदय की वास्तविक अनुभूति को इस रूप में प्रकट करता है—

कन्यां तीव्रविषप्रयोगविषमां कृत्वा कृतघ्न त्वया
विश्रम्भप्रवणः पुरा मम पिता नीतः कथाशेषताम् ।
सम्प्रत्याहितगौरवेण भवता मन्त्राधिकारे रिपोः
प्रारब्धाः प्रलयाय मांसवदहो विक्रेतुमेते वयम् ॥५/२१॥

राक्षस के लिये इससे बड़ा आघात क्या होगा ? उसके मुख से केवल इतना ही निकलता है कि —"**शान्तं पापं शान्तं पापम् । नाहं पर्वतेश्वरे विषकन्यां प्रयुक्तवान्**" (पञ्चम अङ्क, पृष्ठ ३३५) । इसप्रकार हम देखते हैं कि चतुर्थ और पञ्चम अङ्क में मलयकेतु के चरित्र के वर्णन के साथ-साथ मलयकेतु की विवेकशून्यता का भी वर्णन है, जिसने अपनी अविवेकिता से राक्षस का तिरस्कार और अपमान ही नहीं किया अपितु राक्षस के अत्यन्त विश्वासी उन पाँच म्लेच्छ राजाओं को भी मृत्यु के घाट उतार दिया जो राक्षस की सेना के केन्द्र बिन्दु थे । इस विवेकशून्यता का भयङ्कर परिणाम उसकी पराजय में देखा जा सकता है । जिन भागुरायणादिकों को उसने अपना समझा, अपने निकट किया, उन्होंने उसको कैद कर चाणक्य की सेवा में उपस्थित कर दिया ।

जो मलयकेतु सुगाङ्ग प्रासाद में स्थित सिंहासन पर बैठने की अभिलाषा रखता था, जो मौर्य को हराकर स्वयं सम्राट् बनना चाहता था, जिस मलयकेतु की यह प्रतिज्ञा थी कि—

वक्षस्ताडनभिन्नरत्नवलयं भ्रष्टोत्तरीयांशुकं
हाहेत्युच्चरितार्तनादकरुणं भूरेणुरूक्षालकम् ।
तादृङ्मातृजनस्य शोकजनितं सम्प्रत्यवस्थान्तरं
शत्रुस्त्रीषु मया विधाय गुरवे देयो निवापाञ्जलिः ॥४/५॥

जिसकी आज्ञा को अनुयायी राजागण समुद्र की मर्यादा के समान पालन करते थे, जो आभिरामिक गुणों से युक्त था, जिसकी उत्कृष्टतम सेना थी और जिसको आधार बनाकर राक्षस ने नन्दवंश के विनाश का बदला लेने का स्वप्न देखा था, वही मलयकेतु अपनी अविवेकता से, अपने अस्थिर स्वभाव से राक्षस का केवल अपमान ही नहीं करता अपितु स्वयं ही शत्रुओं के हाथ से पराजित हो जाता है ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि चतुर्थ और पञ्चम अङ्क में मलयकेतु के जिसप्रकार के चरित्र का विकास हुआ है, वह राक्षस के आश्रय का उचित पात्र नहीं था । क्रोध से अन्धा होकर वह राक्षस से कहता है कि—

विष्णुगुप्तं च मौर्यं च सममप्यागतो त्वया ।
उन्मूलयितुमीशोऽहं त्रिवर्गमिव दुर्नयः ॥५/२२॥

इसप्रकार अनजाने में ही उसने अपनी तुलना 'दुर्नीति' से की है। संक्षेप में वह कृतघ्नी और कृतवेदी नहीं है। पुरुषों को यह पहिचानने में सर्वथा असमर्थ है।

---

(६) चन्द्रगुप्त और मलयकेतु का तुलनात्मक चरित्र—

पात्रों का चरित्र-चित्रण युगलरूप में किया गया है। जिसप्रकार का चरित्रों में विरोध चाणक्य और राक्षस में दिखाई देता है, वैसा ही विरोधात्मक चरित्र चन्द्रगुप्त और मलयकेतु के मध्य दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि ये दोनों ही क्रमशः चाणक्य और राक्षस के राजनीतिक शतरञ्ज के मोहरे हैं, तथापि ऐसा कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त सर्वात्मना चाणक्य के आश्रित हैं, वह कठपुतली मात्र है, इसके विपरीत मलयकेतु ने अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को राक्षस के हाथों में सर्वात्मना नहीं सौंपा है। वह अपने व्यक्तित्व की रक्षा करना चाहता हुआ भी चाणक्य के गुप्तचरों से घिरा हुआ कर नहीं पाता है। इससे यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि चन्द्रगुप्त को चाणक्य पर पूर्ण विश्वास है और मलयकेतु की वैसी दृढ़ आस्था राक्षस के प्रति नहीं है। उसका विश्वास आधे हृदय से है। मलयकेतु का राक्षस के प्रति यही अविश्वास उसके पतन और पराजय का मूल कारण है। उसका विश्वास और अविश्वास दोनों ही समान रूप से अनुचित स्थान पर हैं। यथा–राक्षस के प्रति अविश्वास और भागुरायण के प्रति विश्वास। चन्द्रगुप्त नीच जाति से उत्पन्न होता हुआ भी महत्वाकांक्षी है, उसका चरित्र उज्ज्वल है, सुशिक्षित है और योग्य है। इसके विपरीत पर्वत निवासी मलयकेतु अयोग्य है, दुरभिमानी है, कमजोर चरित्र का और मिथ्या हठी है। राक्षस का उसके प्रति प्रेम पुत्र के समान है। इस नाटक के पात्र केवलमात्र कल्पना प्रसूत नहीं है और चरित्र की दृष्टि से भी सर्वथा निष्कलंक नहीं हैं और ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि पूर्ण आदर्श चरित्र की आदर्श मूर्ति है। चन्द्रगुप्त और मलयकेतु दोनों ही नाटक में अधिक शक्तिशाली पात्र नहीं हैं। चन्द्रगुप्त तो एक प्रकार से निष्क्रिय और कठपुतली मात्र है। उसके अन्दर एक बार के लिये भी अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को प्रकट करने की इच्छा नहीं होती है। इसके विपरीत मलयकेतु राक्षस पर आश्रित भी है और उससे भिन्न अपने अस्तित्व को रखने वाला भी राक्षस उसके लिये केवलमात्र मार्गद्रष्टा है, निर्देशक है। उसका अपना मन्त्री तो भागुरायण है और इसीलिये वह उसके वश में है। चन्द्रगुप्त आदर्श शिष्य है, जो अपने आचार्य चाणक्य की आज्ञा को बिना किसी ननुनच के स्वीकार कर लेता है। प्रभुशक्ति के साथ मन्त्रशक्ति की उपयोगिता को अच्छी प्रकार समझता है। मलयकेतु चन्द्रगुप्त से विपरीत चरित्र वाला है। चन्द्रगुप्त शान्त और गम्भीर है, मलयकेतु अशान्त, उद्धत और उजड्ड है। चन्द्रगुप्त गुरुभक्त, प्रजानुरञ्जक और दृढ़ पराक्रमी नृपति है, यद्यपि उसका पराक्रम देखा नहीं गया है। इसके सामने अपने उपकारी को न पहिचानने वाला मलयकेतु एक सामान्य अनुभवहीन युवकमात्र हैं। चन्द्रगुप्त योग्य और विचारशील शासक है, मलयकेतु बुद्धिहीन, अयोग्य और अपरिपक्व बुद्धिवाला

है। यह यौवन की प्रचण्डता से युक्त, स्थितियों के विश्लेषण में असमर्थ, शीघ्रकारी और विवेकशून्य है। एक सुशिक्षित है और दूसरा अशिक्षित। चाणक्य को चन्द्रगुप्त की देखभाल करने की आवश्यकता नहीं है परन्तु राक्षस को मलयकेतु पर अपनी दृष्टि रखनी पड़ती है। संक्षेप में, चन्द्रगुप्त द्रव्य है और म्लेच्छ मलयकेतु अद्रव्य है। अपने उद्देश्य में निराश राक्षस चन्द्रगुप्त और मलयकेतु के चरित्र का विश्लेषण करता हुआ मन ही मन कहता है कि—

द्रव्यं जिगीषुमधिगम्य जडात्मनोऽपि
नेतुः यशस्विनि पदे नियतं प्रतिष्ठा।
अद्रव्यमेत्य भुवि शुद्धनयोऽपि मन्त्री
शीर्णाश्रयः पतति कूलजवृक्षवृत्त्या ॥७/१४॥

अर्थात् द्रव्य प्राप्ति प्रतिष्ठा कराती है और अद्रव्य प्राप्ति पतन कराती है। और इसीलिये हम देखते हैं कि चन्द्रगप्त को पाकर चाणक्य को सफलता मिलती है और मलयकेतु का आश्रय लेकर राक्षस अपमानित और तिरस्कृत ही नहीं होता अपितु एकाकी, अपने सहायकों से परित्यक्त, अतीत की स्मृतियों मे अपने दुःख को भूल जाने का प्रयत्न करता हुआ दिखाई देता है। चन्द्रगुप्त कृतवेदी है और मलयकेतु उपकार करने वाले व्यक्ति को भी नहीं पहिचान पाता है। इसप्रकार दोनों के चरित्रों में महान् अन्तर है। दोनों ही चरित्र की दृष्टि से एक-दूसरे के प्रति ३६ के अङ्क के समान हैं। विशाखदत्त ने इसप्रकार के युगल पात्रों का निर्माण करके अपनी प्रतिभा को प्रदर्शित किया है। इसप्रकार के चरित्रों के चित्रण में वे एक सफल चित्रकार हैं।

———

अन्य पात्र—

चाणक्य, राक्षस, चन्द्रगुप्त और मलयकेतु के अतिरिक्त इस नाटक के अन्दर अन्य गौण किन्तु प्रमुख भूमिका करने वाले पात्रों का भी चित्रण हुआ है। इनमें से कोई भी निरुद्देश्य चित्रित किया हुआ नहीं दिखाई देता है। प्रत्येक पात्र अपने आप में पूर्ण है और नाटक की दृष्टि से उसके चरित्र का जितना विकास अपेक्षित है, हुआ है। सभी पात्र अच्छे और बुरे के मिश्रण हैं। विशाखदत्त के ये छोटे पात्र भी सशक्त हैं। नाटक के चित्रकार की तूलिका ने इनमें भी जीवन रस भरा है। सभी पात्र अपने आप में स्पष्ट और यथार्थ हैं। नाटक के इन पात्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कोई भी पात्र किसी दूसरे पात्र के कार्य को नहीं कर सकता है। सभी अपने-अपने क्षेत्र में महान् हैं। अपने-अपने कार्य में कुशल और निष्णात हैं।

(७) चाणक्य के प्रमुख गुप्तचर भागुरायण और सिद्धार्थक—

इस नाटक में भागुरायण का नाम हमारे कानों में सबसे पूर्व प्रथम अङ्क की समाप्ति पर आता है, जहाँ चाणक्य का शिष्य शार्ङ्गरव सूचना देता है कि भागुरायण

भाग गया है। इसीने मलयकेतु को यह कहकर कि तुम्हारे पिता को चाणक्य ने मरवाया है, कुसुमपुर से भगा दिया है। इसीप्रकार प्रथम अङ्क के अन्दर ही हमको चाणक्य के स्वगत से इस बात की सूचना मिलती है कि चाणक्य ने सिद्धार्थक को शकटदास का कपट मित्र बनाकर उसकी गतिविधि को जानने के लिये नियुक्त किया हुआ है। साथ ही इसके विषय में यह भी सूचना मिलती है कि वध्यस्थल से शकटदास को छुड़ाकर भाग गया है। भागुरायण सेनापति सिंहबल का छोटा भाई है। यह मलयकेतु के पास जाकर उसका अमात्य बन गया है। इसके पश्चात् भागुरायण चतुर्थ और पञ्चम अङ्क में हमारे सामने रंगमञ्च पर आता है। सिद्धार्थक शकटदास के प्राणों की रक्षा के कारण राक्षस की नौकरी कर लेता है और पञ्चम अङ्क में अपने पूर्ण चरित्र के साथ दिखाई देता है इसप्रकार इन दोनों की गतिविधि का प्रमुख क्षेत्र चौथा और पाँचवां अङ्क है। चाणक्य के कार्य का निर्वाह करने में इनकी अपनी इच्छाशक्ति उतना काम नहीं करती, जितना कि चाणक्य का भय और उसकी आज्ञा का पालन। इन दोनों के व्यक्तित्व को इसप्रकार पृथक् पृथक् देखा जा सकता है। इनमें से एक भागुरायण अपने कार्य से घृणा करता है और एकान्त में उनका प्रायश्चित करता है और दूसरे सिद्धार्थक का अन्तःकरण अपने आप को परिस्थिति के अनुसार ढाल लेने की प्रकृति वाला है। भागुरायण यद्यपि मलयकेतु का मित्र बनाकर उसे धोखा देना उचित नहीं समझता, तथापि सेवक होने के कारण उसे अच्छे या बुरे का विचार करने का अधिकार ही नहीं है। उसे दुःख है कि उसने धन के लिये अपने शरीर को बेच दिया है, अपनी अन्तःकरण की भावना को कुचल दिया है। वह सोचता है—

"कष्टमेवमप्यस्मासु स्नेहवान्कुमारो मलयकेतुरतिसंधातव्य इत्यहो दुष्करम्"।

अथवा—

कुले लज्जायां च स्वयशसि च माने च विमुखः
शरीरं विक्रीय क्षणिकमपि लोभाद्धनवति।
तदाज्ञां कुर्वाणो हितमहितमित्येतदधुना
विचारातिक्रान्तः किमिति परतन्त्रो विमृशति ॥ ५/४॥

राजवंश का होने के कारण उसको अपने स्वाभिमान का सदैव ध्यान रहता है, तथापि चाणक्य की महत्वाकांक्षा को अपना सर्वस्व मानते हुये वह अपनी भावनाओं का हनन करके भी उसकी कार्यसिद्धि करता है। भागुरायण और सिद्धार्थक दोनों ही अपने लक्ष्य को ईमानदारी और विश्वास के साथ निबाहते हैं। भागुरायण जिस समय अपने कार्य को सम्पन्न कर रहा होता है, पश्चात्ताप का अनुभव करता है क्योंकि उसके मन, बुद्धि और हृदय, गम्भीर विश्वासघात के प्रति घृणा करते हैं। उस विश्वासघात के प्रति जिसको उसने मलयकेतु से करना है। परन्तु दूसरा, सिद्धार्थक अपने अनुकूल कर लेने वाले अन्तःकरण से, अपने स्वामी के आदेश के गुणावगुणों की ओर से सर्वथा अपनी आँख बन्द कर लेता है। वह षष्ठ अङ्क में अपने मित्र

सिद्धार्थक से कहता है "**वयस्य, को जीवलोके जीवितुकाम आर्यचाणक्यस्याज्ञप्तिं प्रतिकूलयति। तदेहि। चाण्डालवेषधारिणौ भूत्वा चन्दनदासं वध्यस्थानं नयावः**" (पृष्ठ ३५०)। इसप्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही अपने कार्य में निपुण हैं। न भागुरायण के कार्य को सिद्धार्थक कर सकता है और न ही सिद्धार्थक के काम को भागुरायण।

———

(८) राक्षस के गुप्तचर आहितुण्डिक वेष में विराधगुप्त और शकटदास—

विराधगुप्त के दर्शन हमको दूसरे अङ्क में होते हैं, जहाँ उसने राक्षस को विस्तारपूर्वक कुसुमपुर के समाचार सुनाये हैं। इसके बाद हमको इसका कुछ पता नहीं चलता है। शकटदास के नाम की चर्चा प्रथम अङ्क में आती है, जबकि उसको चाणक्य की योजना से सिद्धार्थक वध्यस्थान से भगाकर ले गया है। यहाँ से भागकर हम उसको राक्षस के पास दूसरे अङ्क में देखते हैं। इसके नाम की चर्चा पञ्चम अङ्क में भी आती है, परन्तु भागुरायण की चालाकी से यह घटनास्थल पर उपस्थित नहीं होता है। इसके प्रति राक्षस के हृदय में उत्पन्न होने वाला सन्देह सप्तम अङ्क में चाणक्य के इस वाक्य से—'**शकटदासोऽपि तपस्वी तं तादृशं लेखमजानन्नेव कपटलेखं मया लेखित इति**'—(पृष्ठ ४०६) दूर होता है और वह संतोष का अनुभव करता हुआ मन ही मन कहता है कि "**दिष्ट्या शकटदासं प्रत्यपनीतो विकल्पः**" (पृष्ठ ४०६)।

विराधगुप्त और शकटदास दोनों ही राक्षस के प्रति गहरी प्रेम भावना के कारण अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं और उनकी यह आन्तरिक अभिलाषा है कि राक्षस के लिये कुछ काम करें। विराधगुप्त का निर्व्याज कार्य सुन्दर है। शकटदास की सत्यता अनुकरणीय है। विराधगुप्त का गुप्तचरत्व और शकटदास की ईमानदारी अनुभव करने की वस्तु है। राक्षस के सहायक उसकी सहायता अवश्य करते हैं और वह सहायता पूरे हृदय से भी करते हैं किन्तु उनमें वह कर्तव्यनिष्ठा और महत्वाकांक्षा नहीं जो हम चाणक्य के सहायकों में पाते हैं। विराधगुप्त राक्षस का विश्वासपात्र गुप्तचर है किन्तु उसके मन में चाणक्य की विजय और राक्षस की विजय का सन्देह निरन्तर बना रहता है। वह कहता है:—

> कौटिल्यधीरज्जुनिबद्धमूर्ति
> मन्ये स्थिरां मौर्यनृपस्य लक्ष्मीम्।
> उपायहस्तैरपि राक्षसेन
> निकृष्यमाणामिव लक्षयामि ॥२/२॥

"**तदेवमनयोर्बुद्धिशालिनो सुसचिवयोर्विरोधे संशयितेव नन्दकुललक्ष्मीः**" (द्वितीय अङ्क पृष्ठ ८८)। **शकटदास राक्षस का परम विश्वासपात्र लेखाध्यक्ष है किन्तु वह एक ऐसी गलती कर देता है जिससे राक्षस की सारी योजना मिट्टी में मिल जाती है अर्थात् वह सिद्धार्थक के जाल में फँसकर चाणक्य के लिये उस कूटपत्र को लिख देता है;**

जिससे चाणक्य की विजय निश्चित हो जाती है। इसप्रकार दोनों के ही चरित्र का विकास अपने-अपने स्थान पर पूर्णरूप से हुआ है।

---

(६) चन्दनदास—

इस नाटक का सबसे अधिक हृदय स्पर्श करने वाला यदि किसी का चरित्र है तो वह चन्दनदास है। यह हमारे सामने प्रथम अङ्क के मध्य में और सप्तम अङ्क के प्रारम्भ में आता है। यह मणिकार श्रेष्ठी है, जौहरियों का नेता है, और वैश्य जाति का है। इसका राक्षस के प्रति आकर्षण और प्रेम उतना ही गम्भीर और अटल है, जितना इन्दुशर्मन् का चाणक्य के प्रति। परन्तु प्रणय की ज्वाला रत्नों के व्यापारी, जौहरियों के नेता चन्दनदास के हृदय में अपने पूर्ण-प्रकाश और कलंक रहित प्रज्वलित होती है, जबकि कपट बौद्ध संन्यासी क्षपणक जीवसिद्धि में धोखा और कपट व्यवहार से यह गन्दी और धुंधली दिखाई देती है। यह अपने मित्र राक्षस के लिये बड़ी प्रसन्नता के साथ मृत्यु को अपने गले लगाने के लिये तैयार हो जाता है। इसी एकमात्र राक्षस की कमजोरी का लाभ उठाकर चाणक्य ने उसके द्वारा राक्षस को अपने वश में किया है। चाणक्य यह अनुभव करता है कि राक्षस का यह चन्दनदास श्रेष्ठ मित्र होगा क्योंकि "न ह्यनात्मसदृशेषु राक्षसः कलत्रं न्यासीकरिष्यति चाणक्यः" (पृष्ठ ४५) और इसी मित्रता से चाणक्य ने यह अनुमान लगाया है कि जिसप्रकार यह राक्षस के लिये अपने प्राणों को तृणवत् छोड़ने के लिये तैयार है, उसीप्रकार राक्षस भी इसके लिये अपने प्राणों छोड़ देगा।

चाणक्यः—(सहर्षम्) हन्त, लब्ध इदानीं राक्षसः। कुतः।

त्यजत्यप्रियवत्प्राणान्यथा तस्यायमापदि।
तथैवास्यापदि प्राणा नूनं तस्यापि न प्रियाः ॥१/२५॥

चाणक्य के इस अनुमान की पुष्टि राक्षस के इन शब्दों से भी होती है "ननु वक्तव्यं **संयमितः सपुत्रकलत्रो राक्षस इति**" (द्वितीय अङ्क, पृष्ठ १२७)। राक्षस का अत्यन्त अभिन्न मित्र चन्दनदास अपने और अपने परिवार के जीवन को संकट में डालकर भी इस बात में दृढ़ है कि वह राक्षस के परिवार को चाणक्य के सुपुर्द नहीं करेगा। वह चाणक्य से कहता है कि—

"आर्य किं मे भयं दर्शयसि। सन्तमपि गेहे अमात्यराक्षसस्य गृहजनं न समर्पयामि, किं पुनरसन्तम्" (प्रथम अङ्क, पृष्ठ ७१)। चाणक्य के तीक्ष्ण दण्ड को वह सहर्ष स्वीकार कर लेता है, वह कहता है—"**सज्जोऽस्मि। अनुतिष्ठतु आर्यः आत्मनोऽधिकारसदृशम्**" (प्रथम अङ्क, पृष्ठ ७३)। उसे इस बात का गर्व है कि उसकी मृत्यु उसके अपने मित्र के लिये हो रही है, किसी सामान्य पुरुष के अपराध के कारण नहीं। इसप्रकार उसको प्राणदण्ड के लिये तैयार किन्तु राक्षस परिवार को न लौटाने के लिये दृढ़ देखकर चाणक्य ने उसकी तुलना शिवि से की है—

सुलभेष्वर्थलाभेषु परसम्वेदने जने।
क इदं दुष्करं कुर्यादिदानीं शिविना विना ॥१/२४॥

चन्दनदास की मित्रभक्ति इस कलियुग में दुष्प्राय है। फाँसी के तख्ते पर जाता हुआ अपनी पत्नी से कहता है कि—"आर्ये, अयं मित्रकार्येण मे विनाशो न पुनः पुरुषदोषेण तदलं विषादेन" (सप्तम अङ्क, पृष्ठ ३९५)। चन्दनदास ने आत्मगत का एक सुन्दर उदाहरण रखा है। तभी तो आत्मसमर्पण करते हुए राक्षस कहता है—

दुष्कालेऽपि कलावसज्जनरुचौ प्राणैः परं रक्षता
नीतं येन यशस्विनातिलघुतामौशीनरीयं यशः।
बुद्धानापि चेष्टितं सुचरितैः क्लिष्टं विशुद्धात्मना
पूजार्होऽपि स यत्कृते तव गतः शत्रुत्वमेषोऽस्मि सः ॥७/५॥

चन्दनदास की महानुभावता और उसकी पत्नी की हार्दिक उच्चता मन में एक उच्चता का आधान करती है। चन्दनदास की पत्नी पति-परायणा हैं, सहृदया है और सती साध्वी स्त्रियों में आभूषण तुल्य है, स्वार्थत्यागिनी, कर्त्तव्य पालने में तत्परा और स्त्रियों के लिये आदर्शभूत है। चन्दनदास की पत्नी की अपनी विचार-धारा है कि—'भर्तुश्चरणावनुगच्छन्त्या आत्मानुग्राहो भवति इति' (सप्तम अङ्क, पृष्ठ ३९५), और इसीलिये वह लौटना नहीं चाहती है। उसका पति परलोक जा रहा है, विदेश को नहीं। अतः वह अपना एकमात्र कर्त्तव्य समझती है कि अपने पति के साथ ही अपने प्राणों की भी आहुति दे दे। चन्दनदास के पुत्र के चरित्र की अभिव्यक्ति विशाखदत्त की अपनी कृति है।

---

१०. निपुणक—

राक्षस की मुद्रा को लाने वाला निपुणक यथार्थनामा है। यह हमारे सामने प्रथम अङ्क में यमपटचर के रूप में आता है। मुद्रिका प्राप्ति में इसका कौशल सराहनीय है।

---

११ करभक—

यह राक्षस का गुप्तचर है। प्रथम अङ्क की समाप्ति पर राक्षस के कहने से हमको पता लगता है कि राक्षस ने इनको कुसुमपुर के समाचार लाने के लिए स्तन-कलश के पास भेजा है कि चतुर्थ अङ्क में यह समाचार लेकर लौटता है। इसी ने आकर यह समाचार दिया है कि चाणक्य और चन्द्रगुप्त में लड़ाई हो गई है, जिसको आधार बनाकर राक्षस अपनी भावी योजना का निर्माण करता है।

विशाखदत्त की शैली—

विशाखदत्त की अपनी एक शैली है। अपनी कला के अद्वितीय निर्माता तथा निर्वाह करने वाले हैं। राजनीतिक धोखा किसप्रकार देना चाहिये, इसका सूक्ष्म और

यथार्थ वर्णन उनकी विशेषता है । उन्होंने अपनी कला का प्रदर्शन उस रूप में नहीं किया है कि वह नाटक के लिए बोझ, एक भार बनकर रह जावे । उनकी शैली स्पष्ट, प्रभावशाली और प्रवाहमयी है । उनके शब्दों का विन्यास परिश्रमपूर्वक संजोया हुआ प्रतीत नहीं होता है, वे व्यर्थ के शब्दाडम्बर से दूर हैं । उनकी शैली नाटक के विषय के अनुरूप बदलती है । क्रोध को व्यक्त करने के लिए उनके शब्दों का चयन सुन्दर है । जहाँ व्यक्ति क्रोध की मुद्रा में आता है, उसके मुख से उसीप्रकार की शब्दावली निकलती है । राजनीतिक षड्यन्त्रों का उद्घाटन चाणक्य और निपुणक के कथोपकथन में तथा राक्षस और विराधगुप्त के कथोपकथन में देखा जा सकता है। ऐसे स्थलों पर भाषा सरल, प्रवाहमयी और प्रकृत विषय के अनुकूल है । नाटक की शैली गम्भीर, सशक्त और लक्ष्यता लिये हुये है । वस्तु का निर्वाह उचित ढङ्ग से हुआ है । मुद्राराक्षस एक कुशल कलाकार की कृति है । नाटक के निर्माण में नाटककार को किन कठिनाइयों में से गुजरना पड़ता है, यह उन्हें मालूम है अपनी नाटकीय कठिनाई के विषय में स्वयं कहते हैं—

कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छन्
बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च ।
कुर्वन् बुद्ध्या विमर्शं प्रसृतमपि पुनः संहरन्कार्यजातं
कर्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा ।।४/३।।

व्यापारान्विति का जो सुगठित रूप इसमें दिखाई पड़ता है वह अन्यत्र दुर्लभ है । औचित्य का सर्वत्र ध्यान रखा गया है । राजनीति जैसे नीरस विषय को भी काव्य एवं नाटक का विषय बना देना, उसमें सरलता और मनोरञ्जकता का समावेश कर देना, अभिनय के गुणों से भरपूर बना देना किसी सामान्य कलाकार का काम नहीं है । इस दृष्टि से वे मूर्धन्य कलाकार हैं । सम्भवतः प्रथम अङ्क की चाणक्य की स्वगतोक्ति और षष्ठ अङ्क की राक्षस की स्वगतोक्ति नाटकीय दृष्टि से लम्बी प्रतीत हो, पर इसके द्वारा एक स्थान पर वह चाणक्य की राजनीति पर विशद प्रकाश डालता है और दूसरे स्थान पर वह राक्षस की मानव प्रकृति को उसकी कोमल भावनाओं की ओर भावात्मक अनुभूतियों को अधिक स्पष्ट रूप में हमारे सामने रखता है । एक निराश महान् व्यक्तित्व की प्रकृति के साथ एकमयता और एकलयता का जैसा चित्रण है वह भावाभिव्यक्ति में बेजोड़ है । शैली में प्रशंसनीय शक्ति, ऋजुता और प्रभावोत्पादकता है । शब्दविन्यास प्रभावशाली है । मानवीय भावों के विश्लेषण में वे सिद्धहस्त हैं । राक्षस के विरोध में मलयकेतु के ऊहापोह का चित्रण (५/५) सुन्दर हुआ है ।

विशाखदत्त की शैली की विशेषता है उनका श्लेष । व्यंग्यार्थ के प्रकाशन के लिये भी उन्होंने श्लेष का आश्रय लिया है । सभी पताकास्थानक इसी श्लेष पर आश्रित हैं । बाण के अनुसार यह भी अपने भावों को व्यक्त करने का एक प्रकार है—

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणत्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः ॥ हर्षचरित १/७॥

मुद्राराक्षस में दो अर्थों का प्रतीति लाक्षणिक रूप से हुई है । कवि की दूसरी विशेषता बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव पर आश्रित उपमा है। उनकी तीसरी विशेषता है "भंग्यन्तरकथन" अर्थात् कवि एक बात को गद्य में कहता है और उसी बात को ठीक उसके पश्चात् पद्य में कह देता है । यथा—

आहितुण्डिकः—(स्वगतम् । संस्कृतमाश्रित्य ।) अहो आश्चर्यम् । चाणक्य-मतिपरिगृहीतं चन्द्रगुप्तमवलोक्य विफलमिव राक्षसप्रयत्नमवगच्छामि । राक्षसमतिपरि-गृहीतं मलयकेतुमवलोक्य चलितमिवाधिराज्याच्चन्द्रगुप्तमवगच्छामि । कुतः—

कौटिल्यधीरज्जुनिबद्धमूर्तिं
मन्ये स्थिरां मौर्यनृपस्य लक्ष्मीम् ।
उपायहस्तैरपि राक्षसेन
निकृष्यमाणामिव लक्षयामि ॥२/२॥

तदेवमनयोर्बुद्धिशालिनोः सुसचिवयोर्विरोधे संशयितेव नन्दकुललक्ष्मीः ।

विरुद्धयोर्भृशमिह मन्त्रिमुख्ययोर्महावने व नगजयोरिवान्तरे ।
अनिश्चयाद् गजवशयेव भीतया गतागतैर्ध्रुवमिव खिद्यते श्रिया ॥२/३॥

इसप्रकार एक ही बात को भिन्न-भिन्न शब्दों में व्यक्त करना शुद्ध और स्पष्ट है । किन्तु इसप्रकार भंग्यन्तरकथन का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है ।

नाटकीय सौष्ठव को दूषित करने वाली क्लिष्ट कल्पना, लम्बे-लम्बे समास और वर्णनों के आधिक्य से वह दूर है। धारावाहिनी गति है । बीच-बीच में आनु-षङ्गिक बातों में रुकना उनकी प्रकृति के प्रतिकूल है और राजनीति के क्षेत्र में इधर-उधर की बातों में समय नष्ट किया भी नहीं जा सकता । ह्रासशील शक्तियों का वर्णन कञ्चुकी जिस ढंग से करता है, उसमें अपूर्व आकर्षण है—

रूपादीन्विषयान्निरूप्य करणैर्यैरात्मलाभस्त्वया
लब्धस्तेष्वपि चक्षुरादिषु हताः स्वार्थावबोधक्रियाः ।
अङ्गानि प्रसभं त्यजन्ति पटुतामाज्ञाविधेयानि ते
न्यस्तं मूर्ध्नि पदं तवैव जरया तृष्णे मुधा माद्यति ॥३/१॥

राक्षस के समयोचित साहस का सराहनीय एवं सुन्दर चित्र उतारा गया है (२/१३) । अपने मित्र को बचाने के लिये राक्षस ने जो निश्चय किया है, उससे भी प्रभाव टपकता है (६/२१) । राक्षस का आशावाद, उस पर नन्द का विश्वास, कर्त्तव्य की अनिवार्यतादि के चित्र में कवि की शक्ति पूर्ण रूप से स्फुट हुई है। कुशल राजनीतिज्ञ की राजनीति का (५/३) बड़ा मनोरम और सजीव चित्र खींचा गया है ।

पात्र—पात्रों के चित्रण का उनका अपना तरीका है । प्रत्येक पात्र स्वतन्त्र

है। वह अपने उद्देश्य से प्रेरित दिखाई देता है। कोई भी पात्र, विशाखदत्त की अपनी सृष्टि होता हुआ भी, गढ़ा हुआ प्रतीत नहीं होता है।

भाषा—विशाखदत्त ने शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी प्राकृत भाषाओं का प्रयोग किया है। उनके कुछ पद्य संस्कृत साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। **"प्रारभ्यते न खलु०"** (२/१७) और "किं शेषस्य भरव्यथा०" (२/१८) ऐसे ही सार्वभौम श्लोक हैं, जिनका इतना अधिक प्रचलन है कि यह भी एक अनुसंधान का विषय हो गया है कि क्या ये विशाखदत्त की कृति हैं ? गत्यात्मक गतिशीलता के लिये और क्रियात्मक तीव्रता के लिये उनकी भाषा सशक्त है। गद्य और पद्य दोनों में ही उन्होंने कोमल, सरस एवं औचित्यपूर्ण पदावली का प्रयोग किया है। भाषा भावों पर आधिपत्य नहीं जमाती अपितु भाव ही भाषा पर अपना अधिकार रखते प्रतीत होते हैं। कभी-कभी तो एक शब्द के प्रयोग से ही नाटककार अधिकाधिक अभिप्राय प्रकट करने में समर्थ होता है। यथा—राक्षस की यह उक्ति—"सत्यं नगरान्निष्क्रामतो मम हस्ताद् ब्राह्मण्या उत्कण्ठाविनोदार्थं गृहीता" (पृष्ठ १३२)। यहाँ "ब्राह्मण्या" शब्द राक्षस के हृदय की समस्त करुणा और वेदना का घनीभूत निष्यन्द सा है। चन्दनदास के पुत्र की यह उक्ति—"तात, किमिदमपि भणितव्यम्। कुलधर्मः खल्वेषोऽस्माकम्" (सप्तम अङ्क, पृष्ठ ३९७) जितना संक्षिप्त और अलंकृत है, उतनी भावपूर्ण और मर्मस्पर्शी भी। इसप्रकार हम देखते हैं कि भाषा सुन्दर और ओजस्विनी है। पद्य हृदय को आकृष्ट करने वाले और मधुर हैं। यद्यपि लेखक पद्यों की बहुलता के प्रति अधिक अनुरागी नहीं है।

भाषा में ओजोमय गद्य का समावेश है। काव्यमय लालित्यपूर्ण प्रवाह है। भावावेश के चित्रण में समर्थ है। गद्य और पद्य दोनों पर समान अधिकार है। भाषा-सौन्दर्य के कुछ उदाहरण देखिये—

न प्रयोजनमन्तरा चाणक्यः स्वप्नेऽपि चेष्टते। (पृष्ठ १७६, तृतीय अङ्क)।
अयमत्रस्थ एव हृदयेणयः शंकुरिवोद्धृत्य दूरीकृतः। (पृष्ठ १९३, तृतीय अङ्क)
अयमपरो गण्डस्योपरि स्फोटः। (पृष्ठ ३३१, पञ्चम अङ्क)।
तन्मयाप्यस्मिन्वस्तुनि न शयानेन स्थीयते। (पृष्ठ ३४, प्रथम अङ्क)।
सर्वज्ञतामुपाध्यायस्य चोरयितुमिच्छसि। (पृष्ठ ४०, प्रथम अङ्क)।
ननु वक्तव्यं राक्षस एवास्मदङ्गलिप्रणयी संवृतः (पृष्ठ ४५, प्रथम अङ्क)।
कीदृशस्तृणानामग्निना सह विरोधः। (पृष्ठ ६३, प्रथम अङ्क)।
चाणक्योऽप्यतिजितकाशितयाऽसहमानश्चन्द्रगुप्तं तैस्तैराज्ञाभङ्गैः चन्द्रगुप्तस्य चेतः पीडामुपचिनोति। (पृष्ठ १३७, द्वितीय अङ्क)।

इसप्रकार की कोमलकान्त पदावली किस सहृदय के चित्त को आकर्षित न करेगी।

नाटकीयता—विशाखदत्त में यद्यपि काव्य की प्रतिभा नहीं है तथापि नाटकीय प्रतिभा में किसी भी प्रकार की कोई कमी नहीं है। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में

मुद्राराक्षस अपने विषय का एकमात्र नाटक है। प्रेम का सर्वथा निराकरण करके नाटक को मूर्धन्य साहित्य कोटी में ला खड़ा करना विशाखदत्त की अपनी प्रतिभा की विशेषता है। नायिका और विदूषक—जो संस्कृत नाटकों के अपरिहार्य अङ्ग हैं; उनसे यह सर्वथा अछूता है। कालिदास के समान काव्यप्रतिभा, कल्पना और कलात्मक वैशिष्ट्य, हर्ष का कोमल और विलासी प्रणयचित्र, शूद्रक का हास्य, व्यङ्ग्य एवं करुणा का वातावरण, भट्टनारायण के समान वीरत्व की गर्मी और उत्साह, भवभूति के समान अश्रुओं से परिप्लावित करुण हृदय की वेदना—हमको विशाखदत्त में भले ही दृष्टिगोचर न हो तथापि निस्सन्देह उनकी शैली और उनका कहने का ढङ्ग उनके अपने विषय के अनुरूप है। इसके विपरीत यह भी मानना पड़ेगा कि विशाखदत्त की भी जो नाट्य कल्पना है उसका भी दर्शन हमें इनमे नहीं होता है। उन्होंने अपनी कल्पनाओं और अलङ्कारों का प्रयोग बड़े सोच-विचार के साथ और संयम के साथ किया है। उन्होंने काव्यमय वर्णनों का विस्तार इसलिये नहीं किया है क्योंकि उनकी नाटकीय विचारसरणी उनको ऐसा करने से रोकती है। नाटक सब प्रकार से सफल है। उसके कथोपकथन और पद्य आवश्यक नाटकीय गुणों से भरपूर हैं। कथोपकथन स्वाभाविक और रोचक है। इनकी छटा दर्शनीय है—

राजा—अन्येनैवदमनुष्ठितम्।
चाणक्यः—आः केन ?
राजा—नन्दकुलविद्वेषिणा दैवेन।
चाणक्यः—दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति।
राजा—विद्वांसोऽप्यविकत्थना भवन्ति। (पृष्ठ २००, तृतीय अङ्क)

विशाखदत्त ने नाटक की रचना की है और नाटकीय औचित्य की दृष्टि से या तो काव्य कल्पनाओं को दूर ही रख दिया है और या फिर उनको नाटक के रंङ्ग में रङ्ग दिया है, यथा—

कामं नन्दमिव प्रमथ्य जरया चाणक्यनीत्या यथा
धर्मो मौर्य इव क्रमेण नगरे नीतः प्रतिष्ठां मयि।
तं सम्प्रत्युपचीयमानमनु मे लब्धान्तरः सेवया
लोभो राक्षसवज्जयाय यतते जेतुं न शक्नोति च ॥२/६॥

इसीप्रकार शकटदास की (२/२१) यह भावाभिव्यक्ति।

छन्द—छन्दों का चयन सुन्दर है। सम्पूर्ण नाटक में १६ प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है, जिसमें अनुष्टुप् के अतिरिक्त शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, वसन्ततिलका प्रमुख हैं।

यह नाटक "रसप्रधान" न होकर "घटनाप्रधान" है। संक्षेप में कह सकते हैं कि विशाखदत्त की नाटक-प्रबन्ध रचना की सफलता एकमात्र उनकी औचित्य दृष्टि और उनकी प्रबलशक्ति पर निर्भर है।

औचित्यं नाट्यजीवितम्

———

नाट्यशास्त्र की दृष्टि से मुद्राराक्षस—

संस्कृत काव्य को हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—(१) दृश्य और (२) श्रव्य। नाटक प्रथम कोटि में आता है। सभी नाटकों के लिये पारिभाषिक नाम संस्कृतसाहित्य में रूपक है। इस रूपक से भिन्न उपरूपक भी होते हैं।

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते।

रूपकं तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम्॥ दशरूपक, प्रकाश १.७॥

रूपक रसाश्रय होना चाहिये। 'रूप्यतेऽभिनयैर्यत्र वस्तु तद्रूपकं विदुः'। रूपक को नाट्य और रूप नाम से भी अभिहित करते हैं। नाटक के लिये नाट्य शब्द अधिक विस्तार को बताता है। इस रूपक के दस भेद होते हैं—

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।

व्यायोगसमवकारौ वीथ्यंकेहामृगा इति॥ दशरूपक, प्रकाश १.८॥

उपरूपक १८ प्रकार के होते हैं, जिनमें सबसे प्रमुख नाटिका और त्रोटक हैं।

श्रीविशाखदत्तप्रणीत मुद्राराक्षस रूपक के इन दस भेदों में से नाटक की कोटि में आता है। इसमें सात अङ्क हैं। नाटक के विधान की दृष्टि से पूर्वरङ्ग का विधान करने के उपरान्त सूत्रधार के चले जाने पर स्थापक आकर काव्य की स्थापना करता है। यहाँ मुद्राराक्षस नाटक में स्थापक का काम सूत्रधार के द्वारा ही चला लिया गया है। प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में दो श्लोक अर्थात् '**धन्या केयम्**' और '**पादस्याविर्भवन्तीम्**' नान्दी के हैं। यह नान्दी '**पत्रावली**' नान्दी है। सूत्रधार इस नान्दी का पाठ करता है क्योंकि—'**सूत्रधारो पठेन्नान्दीं मध्यमैः स्वरमाश्रितः।**' यही सूत्रधार भारती वृत्ति का आश्रय लेकर नाट्यशाला में उपस्थित दर्शकों को काव्यार्थ की सूचना देता है। क्योंकि—

रंगं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः।

ऋतुं कञ्चिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत्॥

भारतीवृत्ति का लक्षण इसप्रकार है—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः।

भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनामुखैः॥ दशरूपक, प्रकाश ३.५॥

इस भारतीवृत्ति के चार भेद होते हैं-(१) प्ररोचना, (२) वीथी, (३) प्रहसन और (४) आमुख। इनमें से प्ररोचना का लक्षण है-'**उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना**' अर्थात् काव्यार्थादि की प्रशंसा के द्वारा सामाजिकों को उसकी ओर उन्मुख करना, उनके मन को आकृष्ट करना प्ररोचना कहलाती है। प्रस्तुत नाटक में '**अद्य त्वया······नाटयितव्यम्**' इति (पृष्ठ ९) यह भारतीवृत्ति का अङ्ग प्ररोचना है। इसी के द्वारा काव्यार्थ की सूचना भी दी है। तद्यथा—'**सामन्तवटेश्वरदत्तपौत्रस्य**' इति (पृष्ठ ९)—इसप्रकार उच्चकुल में उत्पन्न होने का कथन करने से कवि की प्रशंसा है। '**काव्यविशेषवेदिन्याम्** और **सत्क्षेत्रपतिता**' (पृष्ठ ९) परिषद् प्रशंसा है। '**बालिशस्यापि**' (पृष्ठ ९) –अपने विनय को सूचित किया है, अतः नट की स्तुति है।

'तद्यावत्'…से लेकर 'आमुख' का प्रारम्भ है। आमुख और प्रस्तावना पर्यायवाची हैं। भारतीवृत्ति के द्वितीय भेद वीथी के जो अङ्ग होते हैं, वही अङ्ग इस आमुख के भी होते हैं। आमुख उसे कहते हैं, जहाँ सूत्रधार नटी, पारिपार्श्विक या विदूषक के साथ विचित्र उक्ति के द्वारा प्रस्तुत वस्तु का संकेत करते हुये अपने कार्य का वर्णन करे। प्रकृत नाटक में सूत्रधार अपनी पत्नी नटी से बातचीत करते हुये प्रकृत वस्तु का वर्णन करता है। प्रस्तावना के तीन भेद होते हैं—(१) कथोद्घात, (२) प्रवृत्तक और (३) प्रयोगातिशय। 'क्रूरग्रहः सकेतुः०" (१/६) कथोद्घात नाम की प्रस्तावना है। कथोद्घात का लक्षण है—

स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः ।
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातो द्विधैव सः ॥ दशरूपक, प्रकाश ३.६॥

इसीप्रकार "कौटिल्यः कुटिलमतिः स एष येन' (१·७)—यह प्रस्तावना का भेद प्रयोगातिशय है। इसका लक्षण है—

एषोऽयमित्युपक्षेपात्सूत्रधारप्रयोगतः ।
पात्रप्रवेशो यत्रैव प्रयोगातिशयो मतः ॥ दशरूपक, प्रकाश ३.११॥

प्रकृत नाटक में 'कथोद्घात' नाम की प्रस्तावना है। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि किन्हीं नाटकों में सूत्रधार स्वयं प्रस्तावना का निर्माण करता है और किन्हीं नाटकों में नाटककार प्रस्तावना का निर्माण करता है। यहाँ कवि ने स्वयं प्रस्तावना का निर्माण किया है। जहाँ सूत्रधार प्रस्तावना को करता है वहाँ वह नाट्य से पृथक् होती है और जहाँ कविकृत प्रस्तावना होती है वहाँ वह नाट्य का अङ्ग होती है। प्रस्तावना का उद्देश्य दर्शकों को नाटककार और नाटक से परिचित कराना और अभिनय के पात्रों को रङ्गमञ्च पर लाना होता है।

आमुख और प्रस्तावना एक ही होती है। केवल नाम का भेद है। इसीप्रकार आमुख के अङ्ग और वीथी के अङ्ग एक ही होते हैं। वीथी के १३ अङ्ग इसप्रकार दशरूपककार ने गिनाये हैं—

उद्घात्यकावलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम् ।
वाक्केल्यधिवले गण्डमवस्यन्दितनालिके ।
असत्प्रलापव्यवहारमृदवानि त्रयोदश ॥ दशरूपक, प्रकाश ३/१२

प्रस्तुत नाटक में प्रस्तावना के प्रमुख अङ्ग इसप्रकार देखे जा सकते हैं—

'उपरज्यते किल भगवान् चन्द्र इति' (पृष्ठ १६)—'छल' है। 'एवं खलु नगरवासी जनो मन्त्रयते' (पृष्ठ १६, प्रथम अङ्क) 'असत्प्रलाप' है। 'क एष मयि स्थिते इच्छति' (पृष्ठ १७, प्रथम अङ्क) 'अधिबल' अङ्ग है।

प्रस्तुत नाटक के प्रथम अङ्क में विष्कम्भक का प्रयोग नहीं किया गया है क्योंकि इस विष्कम्भक का काम प्रस्तावना से ही चला लिया गया है। "क्रोधाग्नौ प्रसभमवाहि नन्दवंशः" (पृष्ठ १९) कहकर अतीतकाल की घटना की सूचना दी है और मौर्येन्दोः द्विषदभियोगः' (पृष्ठ १९) कहकर भविष्य में होने वाली कथा की ओर

इङ्गित किया है । अथवा 'अन्तर्जनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना' के अनुसार नेपथ्य में विद्यमान चाणक्य के द्वारा नाटकीय कथावस्तु की सूचना दी है । अतः ऐसा समझना चाहिये कि प्रस्तावना के अन्तर्गत ही चूलिका का प्रयोग हुआ है ।

इसप्रकार प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख - इनमें से एक के द्वारा नाटकीय कथावस्तु की सूचना देकर अथवा नाटकीय पात्र का प्रवेश कराने के उपरान्त सूत्रधार प्रस्तावना की समाप्ति पर निकल जावे और उसके अनन्तर कथावस्तु का विस्तार करे । यहाँ प्रकृत नाटक के अन्दर भी सूत्रधार नाटक के प्रमुख पात्र चाणक्य का प्रवेश कराने के उपरान्त रङ्गमञ्च से चला जाता है ।

कथावस्तु सर्वप्रथम दो प्रकार की होती है (१) आधिकारिक और (२) प्रासङ्गिक । आधिकारिक एवं प्रासङ्गिक कथावस्तु का लक्षण इसप्रकार है—

अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
तन्निर्वृत्यमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ।। दशरूपक, प्र० १.१२.
प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः । दश०, प्रकाश १.१३.

इस प्रासङ्गिक कथावस्तु के पुनः दो भेद होते हैं—(१) पताका और (२) प्रकरी । प्रकरी में प्रमुख पात्र भाग नहीं लेता है । थोड़े समय के लिये होती है और कम महत्त्व की होती है । इन दो के अतिरिक्त कथानक के विकास के लिये तीन तत्त्व और आवश्यक हैं । ये हैं—(१) बीज, (२) बिन्दु और (३) कार्य ।

इसप्रकार बीज-बिन्दु-पताका-प्रकरी और कार्य—इन पाँच को नाटयशास्त्र की परिभाषा में 'अर्थप्रकृति' कहते हैं । अर्थप्रकृतयः—प्रयोजनसिद्धिहेतवः ।

यह कथावस्तु, जो इसप्रकार पाँच भागों में विभक्त की गई है, पुनः अपने श्रोत के आधार पर, जहाँ से कि इसको लिया गया है, तीन विभागों में विभक्त की जा सकती है ।

(१) ऐतिहासिक कथावस्तु = प्रख्यात = प्रख्यातमितिहासादेः ।
(२) काल्पनिक = उत्पाद्य—उत्पाद्यं कविकल्पितम् ।
(३) मिश्र = मिश्रं च संकरात्ताभ्याम् ।

इस 'मुद्राराक्षसम्' की कथावस्तु ऐतिहासिक है, अतः प्रख्यात है । नाटक की कथावस्तु की विकास की पाँच अवस्थायें होती हैं :—

(१) आरम्भ, (२) यत्न, (३) प्राप्त्याशा, (४) नियताप्ति और (५) फलागम। जिस समय ये अवस्थायें अपनी प्रगति में होती हैं उस समय इनको मुख्य और प्रासंगिक कथावस्तु के साथ मिलने के लिये कोई न कोई तत्त्व होना चाहिये । इनको 'सन्धि' कहते हैं । इनकी संख्या पाँच हैं । पाँच अर्थप्रकृति और पाँच अवस्थाओं के संयोग से इनका निर्माण होता है । ये इसप्रकार हैं—

(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, (४) अवमर्श और (५) निर्वहण = उपसंहृति = उपसंहार । इसप्रकार मुखसन्धि = बीज + आरम्भ के संयोग से निर्मित है। अर्थात् जहाँ बीज अपने सम्पूर्ण रस के साथ उदित होता है ।

'मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।

अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात्" ।। दशरूपक, प्र० १.२४.

इस मुखसन्धि के बारह अङ्ग होते हैं—

उपक्षेप: परिकर: परिन्यासो विलोभनम् ।
युक्ति: प्राप्ति: समाधानं विधानं परिभावना ।।
उद्भेदकरणान्यन्वर्थान्यथ लक्षणम् ।। दश०, प्र० १.२५

(१) **मुखसन्धि** –'तत: प्रविशति मुक्तां शिखां परामृशंश्चाणक्य:' (पृष्ठ २१) से मुखसन्धि प्रारम्भ होती है । "आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभाम्" (१/८) में चाणक्य की औत्सुक्यमात्र बीज की आरम्भावस्था अर्थ के द्वारा सूचित की है (औत्सुक्यमात्रमारम्भ: फललाभाय भूयसे" दश० प्र० १. २०) । "वत्स, कार्याभिनियोग एवास्मान् व्याकुलयति" (पृष्ठ २५) इत्यादि – इसके द्वारा निर्वहण सन्धि तक बिन्दु आदि से अनेक प्रकार के फैलाने वाले कार्य के कारणभूत आर्य चाणक्य के उद्योगरूपी बीज का किंचिन्मात्र निर्देश किया है ('स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा' दशरूपक, प्रकाश १. १७) । "अत एवास्माकं त्वत्संग्रहे यत्न:"—(पृष्ठ ३१) यहाँ मुखसन्धि का निर्माण जिस बीज और प्रारम्भ से होता है, उनमें से 'प्रारम्भ' का स्पष्ट ही कथन किया है कि इसीलिये हम तुमको अपने वश में करना चाहते हैं । चाणक्य के बीजन्यास को प्रथम अङ्क में "तन्मयाप्यस्मिन्वस्तुनि०"—(पृष्ठ २५) इत्यादि से कवि ने किया है और राक्षस के बीजन्यास को द्वितीय अङ्क में देखा जा सकता है । इसीप्रकार भागुरायणादि का कुसुमपुर से भाग कर जाना और मलयकेतु की Service में लिया जाना भी बीजन्यास है । राक्षस को ग्रहण करना चाणक्य और नाटक का प्रमुख उद्देश्य है–"अगृहीते राक्षसे किमुत्खातं नन्दवशस्य" (पृष्ठ ३१) । सम्पूर्ण यमपटचर का कथानक 'अन्तरैकार्थसम्बन्ध: सन्धिरेकान्वये सति" (दश०, प्रकाश १.२३) अपने पक्ष के अनुरक्त और विरक्त एवं परपक्ष के अनुरक्त और विरक्त व्यक्तियों को जानने की अभिलाषा तथा साथ ही "मुद्राप्राप्ति"—इस अवान्तर प्रयोजन को प्रतिपादन करने के लिये है । इस सन्धि के प्रमुख अङ्ग इसप्रकार देखे जा सकते हैं ।

(१) तन्मयाप्यस्मिन्वस्तुनि न शयानेन स्थीयते । (पृष्ठ २४) 'समाधान' है ।

(२) अत्र तावत्वृषलपर्वतकयो: ·· प्रमार्ष्टुमिच्छामि (पृष्ठ ३४) 'युक्ति' है । इस प्रकार (पृष्ठ ५५ पर) "चाणक्य:—शार्ङ्गरव शार्ङ्गरव"—यहाँ पर मुखसन्धि समाप्त होती है ।

(२) **प्रतिमुख सन्धि**—इसका निर्माण बिन्दु अर्थप्रकृति और प्रयत्नावस्था के संयोग से होता है ।

बिन्दु का लक्षण:—अवान्तरार्थसम्बन्धे बिन्दुरच्छेदकारणम् । दश० प्र० १. १७.

प्रयत्न का लक्षण:—प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वित: ।।

दश० प्र० १. २०

प्रतिमुख सन्धि का लक्षण है:—लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ॥
दश० प्र० १. २०.

इसके निम्न १३ अङ्ग होते हैं—

विलासः परिसर्पश्च विधूतं शर्मनर्मणी ।
नर्मद्युतिः प्रगमनं निरोधः पर्युपासनम् ॥
वज्रं पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ॥ दश० प्रकाश १. ३१.

'किमत्र लिखामि' (पृष्ठ ५०) यह अर्थप्रकृति बिन्दु है। "कृतः कार्यारम्भः" (पृष्ठ ७४) यह भी बिन्दु है। यहाँ पर चाणक्य एक बार पुनः राक्षस को अपने वश में करने के लिये नवीन प्रयत्न करता है। "स्वच्छन्दमेकचरम्" (१/२७) के अन्दर **प्रयत्नावस्था** है। इस सन्धि के प्रमुख अङ्ग इसप्रकार देखे जा सकते हैं—

(१) "गृहीतो जयशब्दः" (पृष्ठ ५०)—'विलास' है। 'अथवा न लिखामि' (पृष्ठ ५२)—"विधूत" है। 'कस्मिश्चिदाप्तजनानुष्ठेये······इच्छामि' (पृष्ठ ५४)—'पर्युपासन' है। "हन्त, गृहीतो राक्षसः" (पृष्ठ ५७)—'शर्म' है। "सांगुलिमुद्रं लेखमर्पयित्वा" (पृष्ठ ५७)—'प्रगमन' है। यहाँ मलयकेतु और राक्षस को परस्पर लड़ाने का साधन लेख के रूप में किया है। "मणिकारश्रेष्ठिनं चन्दनदासमिदानीं द्रष्टुमिच्छामि" (पृष्ठ ५९) राक्षस को चन्द्रगुप्त का मन्त्री पद स्वीकार करने का आयोजन है। "भवानेव तावत्प्रथमम्" (पृष्ठ ६३) "वज्र" है। प्रथम अङ्क के २५ वें श्लोक के पहले तक चाणक्य के मस्तिष्क में विद्यमान सम्पूर्ण योजना कार्यान्वित हो चुकी है और वह समझता है कि इसे कैसे समाप्त होना है? इसप्रकार बिन्दु और प्रयत्न के योग से बनने वाली प्रतिमुखसन्धि के सम्पूर्ण १३ अङ्गों का यथास्थान वर्णन किया गया है।

(३) **गर्भसन्धि**—द्वितीय अङ्क में पताका अर्थप्रकृति और प्राप्त्याशा अवस्था के योग से निर्मित होने वाली 'गर्भ सन्धि' का वर्णन है। इस सम्बन्ध में पताका का होना परमावश्यक है, प्राप्त्याशा चाहे हो या न हो।

पताका का लक्षण:—सानुबन्ध पताकाख्यम् ॥ दश० प्रकाश १. १३.

प्राप्त्याशा का लक्षण:—उपायापायशकाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः ॥

गर्भसन्धि का लक्षण:— दश०, प्र० १. ३६.

गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ।
द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसम्भवः ॥ दश०, प्र० १.३६.

इस सन्धि के १२ अङ्ग होते हैं:—

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः ।
संग्रहश्चानुमानं च तोटकाधिबले तथा ॥
उद्वेगसम्भ्रमाक्षेपा लक्षणं च प्रणीयते ॥ दश० प्र० १.३७.

"अनिश्चयाद्गजवशयेव भीतया गतागतैर्ध्रुवमिह खिद्यते श्रिया" (२/३) पृष्ठ ८८ पर—यह **प्राप्त्याशा** है। विराधगुप्त और राक्षस का विस्तृत संवाद "**पताका**" है। "सखे, वर्णय कुसुमपुरवृत्तान्तम्"—(पृष्ठ १०६) यहाँ से '**पताका**' नामक अर्थप्रकृति प्रारम्भ होती है। इससे राक्षस की नीति पर प्रकाश पड़ता है।

द्वितीय अङ्क में सप्तम श्लोक के अनन्तर गद्य भाग में राक्षस ने अपनी राजनीति पर प्रकाश डाला है कि उसने चन्द्रगुप्त को नष्ट करने के लिये क्या-क्या उपाय किये हैं ? "मया तावत्......दैवमदृश्यमानम्" (पृष्ठ ६४-६६) तक राक्षस के उपाय और अपाय का वर्णन है। इस गर्भसन्धि में बीज कुछ उग आते हैं, कुछ सूख जाते हैं और कुछ उगते ही नहीं हैं। यहाँ चाणक्य का कार्योपक्षेप गर्भित है, राक्षस का नहीं। द्वितीय अङ्क में राक्षस के बीज का विनाश वर्णित है, जबकि विराधगुप्त राक्षस से मिलता है। चाणक्य के बीज की गर्भितता भी द्वितीय अङ्क में देखी जा सकती है, जबकि आभूषण सिद्धार्थक को दिये जाते हैं और वह उनको राक्षस के पास ही रख देता है। तृतीय अङ्क में भी चाणक्य के बीज की गर्भितता देखी जा सकती है, यहाँ हम देखते हैं कि चाणक्य के व्यक्तियों को मलयकेतु ने अपनी सेवा में ले लिया है। गर्भसन्धि के लक्षण के अनुसार द्वितीय अङ्क में राक्षस की गर्भसन्धि चाणक्य की अपेक्षा अधिक है। दारुवर्मा के प्रयत्न में बीज दृष्ट है और उसकी असफलता में नष्ट है। "अन्वेषणं मुहुः"—अभयदत्तादियों के प्रयत्न में देखा जा सकता है, जहाँ क्रमशः सभी प्रयत्न विफल होते हुये दिखाई देते हैं। राक्षस के प्रयत्न में प्राप्त्याशा है, किन्तु यह प्राप्त्याशा चाणक्य के पक्ष में घटित नहीं होती है क्योंकि उसको अपनी विजय में प्रारम्भ से ही विश्वास है, परिणाम के प्रति विश्वास है। उसके लिये अपाय शंका है ही नहीं। परिणामतः चाणक्य के लिये प्राप्त्याशा नहीं है। चाणक्य के पक्ष में सिद्धार्थक के गायब होने और राक्षस के सामने शकटदास के साथ प्रकट होने से बीज दृष्ट-नष्ट है। इसीप्रकार गर्भसन्धि में बीज का भ्रंश दो बार हुआ है। एक तो तब, जब स्तनकलश ने अपना प्रयत्न किया किन्तु चाणक्य की चतुराई से बीज नष्ट होने से बच गया क्योंकि उसने देखा कि यह सारी योजना राक्षस की चाल है और दूसरी बार तब, जबकि चाणक्य और चन्द्रगुप्त की लड़ाई की सूचना पाकर चाणक्य न तो वन में गया और न ही उसने चन्द्रगुप्त के विनाश की प्रतिज्ञा की। राक्षस इस लड़ाई को वास्तविक मानने के लिये तैयार नहीं है, इसीलिये उसने शकटदास से कहा कि **'नेदमुपपद्यते'**, किन्तु बीज बच गया, जब शकटदास ने समाधान करते हुये कहा कि **"उपपद्यत एवैतत्"** और राक्षस ने भी अनुमोदन किया—**'एवमेतत्'**। द्वितीय अङ्क के ९ वें श्लोक में वर्णित कञ्चुकी के निर्वेद के द्वारा राक्षस के प्रयत्न का चाणक्य की नीति से भावी उपमर्द सूचित किया है। यहाँ पर जो आभूषण कञ्चुकी अमात्य राक्षस को पहनाकर गया है, ये ही आभूषण आगे चलकर सिद्धार्थक को राक्षस प्रसन्न होकर परितोषिक के रूप में देगा (पृष्ठ १३०) और निर्वहण-सन्धि में इन्हीं आभूषणों का प्रयोग किया जावेगा। **'कर्णेनेव विषाङ्गनैकपुरुषव्यापादिनी रक्षिता"** (२/१५) में चाणक्य की प्राप्त्याशा राक्षस की प्राप्त्याशा के भङ्ग होने से सूचित होती है। "एकमपि नीतिबीजम्" (२/१९) "एते खलु त्रयोऽलंकारसंयोगा विक्रीयन्ते" (पृष्ठ १३७) बीजान्वेषण है। इसीप्रकार "सिद्धार्थकः—(गृहीत्वा पादयोर्निपत्य स्वगतम्) "अयं खलु आर्योपदेशः"—(पृष्ठ १३२) भी बीजान्वेषण है। राक्षस के पक्ष

में जब विराधगुप्त राक्षस से कहता है कि "इत्थमपि ममानुभवः" (पृष्ठ १३७) यह भी बीजान्वेषण है। "अपि नाम चन्द्रगुप्तो भिद्येत" (पृष्ठ १३६)—यहाँ पर राक्षस यद्यपि "ततःप्रभृति चन्द्रगुप्तशरीरे सहस्रगुणमप्रमत्तश्चाणक्यहतकः" (पृष्ठ १२४) सुनकर चन्द्रगुप्त के वध के विषय में निराश हो गया था, तथापि स्तनकलश के द्वारा चन्द्रगुप्त और चाणक्य के परस्पर विरोध से अपनी अभीष्ट सिद्धि की आशा कर रहा है। इसप्रकार यहाँ राक्षस की प्राप्त्याशा वर्णित है और इसी आशा से राक्षस पुनः राजनीति में प्रवृत्त होता है। इस सन्धि के प्रमुख अङ्गों का विवेचन इसप्रकार है—

(१) आहितुण्डिक का सम्पूर्ण प्राकृत वचन "अभूताहरण" है। इसका आहितुण्डिक के रूप में उत्तम पात्र के होने के कारण स्वगतम् संस्कृत में है। इसकी अपनी भाषा प्राकृत नहीं है। परन्तु क्योंकि इसने आहितुण्डिक का वेष धारण कर रखा है, अतः प्राकृत का प्रयोग किया है।

कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः। दश०, प्रकाश २.६६

(२) भगवती कमलालये–इत्यादि (पृष्ठ ६२) "रूप" है।

(३) "कथं प्रथममेव सर्पदर्शनम्" (पृष्ठ १०१) 'सम्भ्रम' है।

(४) 'अये, कुसुमपुरवृत्तान्तज्ञः'......इत्यादि (पृष्ठ १०२)—'क्रम' है।

(५) 'व्यक्तमाहितुण्डिकच्छद्मना'...इत्यादि (पृष्ठ १०३) 'अनुमान' है।

इसप्रकार पताका एवं प्राप्त्याशा के संयोग से होने वाले गर्भसन्धि के १२ अङ्गों का निरूपण करने के उपरान्त 'गर्भसन्धि' समाप्त होती है।

(४) **विमर्श-सन्धि**—तृतीय अङ्क में राक्षस द्वारा अभीप्सित चाणक्य और चन्द्रगुप्त के विरोध का वर्णन करने के लिये 'विमर्श-सन्धि' का प्रारम्भ है। यह सन्धि तृतीय और चतुर्थ इन दोनों अङ्कों में व्याप्त है। इसका निर्माण प्रकरी अर्थप्रकृति और नियताप्ति अवस्था के संयोग से होता है। तृतीय अङ्क में नियताप्ति वर्णित है तथा चतुर्थ अङ्क में राक्षस–चर सम्वादकथा प्रकरी है। नियताप्ति और प्रकरी के योग से इस सन्धि के १३ अङ्ग होते हैं।

प्रकरी का लक्षणः—प्रकरी च प्रदेशभाक्। दश०, प्रकाश १.१३.

नियताप्ति का लक्षणः—अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता॥
दश०, प्रकाश १.२१.

विमर्श-सन्धि का लक्षणः—क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्शोऽङ्गसंग्रहः॥
दश०, प्रकाश १.४१.

इस सन्धि के निम्न १३ अङ्ग हैं—

तत्रापवादसम्फेटौ विद्रवद्रवशक्तयः।
द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो विरोधनम्।
प्ररोचना विचलनमादानं च त्रयोदश॥ दश०, प्रकाशः १.४४.

"किमविदित एवायं ......प्रतिषेध इति" (पृष्ठ १४६)—यह चाणक्य के नीति रूप बीज का अवमर्श है। "भर्तुस्तथा कलुषितां बहुवल्लभस्य" (३/६)–बीजावमर्श है। 'मद्भृत्यैः किल सोऽपि पर्वतसुतो व्याप्तः प्रविष्टान्तरैः' (३/३२) 'नियताप्ति' अवस्था है। इसीप्रकार "आर्यजयैव मम लङ्घितगौरवस्य" (३/१३) के अन्दर पुनः 'नियताप्ति' वर्णित है। इसीप्रकार भागुरायण ने मलयकेतु के साथ करभक और राक्षस की छिपकर बातें सुनीं और उसने राक्षस के विरोध में मलयकेतु के मन में संशय डाल दिया। यह सफलता में विश्वास पैदा करने के कारण 'नियताप्ति' है। इस सन्धि के प्रमुख अङ्गों को इसप्रकार देखा जा सकता है:—

(१) सक्रोधम् ... स्वयमभियुज्यस्व (पृष्ठ १८३)—'सम्फेट' है।

(२) एते वयं स्वकर्मण्यभियुज्यामहे (पृष्ठ १८३) छल है।

(३) अम्भोधीनां तमालप्रभाव... (३/२४)—प्रसङ्ग है।

(४) अन्येनैवेदमनुष्ठितम्। किमत्रार्यस्य (पृष्ठ १९८) द्रव है।

(५) गृध्रैरावद्धचक्रं वियति विचलितैर्दीर्घनिष्कम्पपक्षैः (३/२८)– विद्रव है।

(६) 'नन्दकुलविद्वेषिणा' से लेकर 'आरोढुमिच्छति' तक (पृष्ठ २००)—चन्द्रगुप्त और चाणक्य का परस्पर वार्तालाप 'विरोधन' है।

(७) 'एवमस्मासु' (पृष्ठ २०६)– प्ररोचना है।

इस विमर्श-सन्धि का राक्षस के पक्ष में अभाव है। वह सर्वदैव शंकित है। चाणक्य के पक्ष में इसे तृतीय अङ्क के ३१ वें श्लोक में देखा जा सकता है। **'सखे भागुरायण** – इत्यादि (पृष्ठ २२८, चतुर्थ अङ्क) से लेकर भागुरायण का मलयकेतु को फोड़ने वाला सम्पूर्ण वचन बीज का अवमर्श है। इस चतुर्थ अङ्क में **'स्नेहरागापनयन** नामक भेद का प्रयोग हुआ है। आश्विन और कार्तिक इन दोनों महीनों में चाणक्य और राक्षस इन दोनों ने एक-दूसरे पर 'भेद' उपाय का प्रयोग किया है। इसके पश्चात् मार्गशीर्ष में कुसुमपुर अभियान करने के लिये राक्षस ने जीवासिद्धि से अभियान का मुहूर्त पूछा है।

इसप्रकार नियताप्ति और प्रकरी के योग से निर्मित होने वाली विमर्श-सन्धि और उसके अङ्गों का वर्णन सम्पूर्ण होता है।

(५) **निर्वहण सन्धि**—पञ्चम, षष्ठ और सप्तम-इन तीनों अङ्कों में निर्वहण सन्धि का वर्णन है। इसका निर्माण **कार्य अर्थप्रकृति** और **फलागम अवस्था** के संयोग से होता है। **कार्य अर्थप्रकृति** का लक्षण :--

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ॥ दश०, प्रकाश, १.१६.

फलागम अवस्था का लक्षण :—समग्रफलसम्पत्तिः फलयोगो यथोदितः।

दश०, प्र०, १.२२.

निर्वहण सन्धि का लक्षण :—बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ॥

दश०, प्र० १.४८

इस निर्वहण सन्धि के निम्न चौदह अङ्ग होते हैं :—

सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ।
प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगूहनाः ।।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश । दश०, प्रकाश १.४९-५०

इस निर्वहण सन्धि के अन्दर "ततः प्रविशति······इत्यादि" (पृष्ठ २७२) से लेकर पञ्चम अङ्क की समाप्ति तक, प्रथम अङ्क में वर्णित 'किमत्र लिखामि' से लेकर 'कर्णे एवमिव' तक उपन्यस्त बीज का अनेक प्रकार से विकास हुआ है। सम्प्रति इधर-उधर फैले हुये बीज का उपसंहार किया जा रहा है। पञ्चम अङ्क की समाप्ति के साथ मलयकेतु को पकड़ने से सम्बन्धित एक 'निर्वहण कार्य' तो सम्पन्न हो गया। इसके पश्चात् राक्षस को वश में करने रूप प्रधान कार्य को सम्पन्न करने के लिये और चन्द्रगुप्त की लक्ष्मी के स्थिर करने रूप महान् फल की सिद्धि के लिये षष्ठ और सप्तम अङ्क का विधान किया गया है। जिस समय राक्षस मलयकेतु के शिविर को छोड़कर चुपचाप पाटलिपुत्र की ओर चल पड़ा था, उस समय उसने भद्रभट और उसके साथियों के द्वारा मलयकेतु को कैद किये जाने का समाचार सुन लिया था, और जब वह पाटलिपुत्र के पास पहुँचा तब उसने चन्द्रगुप्त की सेना को मलयकेतु की सेना को परास्त कर वापिस नगर में जाता हुआ देखा था। जीर्णोद्यान में विद्यमान राक्षस के पास चाणक्य का राक्षस को अपने वश में करने के लिये अन्तिम शस्त्र के रूप में प्रयुक्त, मिथ्या फाँसी लगाने वाला व्यक्ति पहुँचता है। परिणामतः राक्षस अपने मित्र चन्दनदास की मुक्ति के लिये अपने "आत्मसमर्पण" को ही एकमात्र उपाय समझता है। 'एषोऽस्मि सः' (७/५) कहकर राक्षस ने आत्मसमर्पण कर दिया है। सप्तम अङ्क के १७ वें श्लोक में आकर चाणक्य की प्रतिज्ञा पूरी होती है। इस सन्धि के प्रमुख अङ्गों को इसप्रकार देखा जा सकता है :—

(१) 'अहमपि भागुरायणान्मुद्रां याचे' (पृष्ठ २७७, पञ्चम अङ्क) 'विबोध' है।
(२) पञ्चम अङ्क में भागुरायण और क्षपणक का परस्पर वार्तालाप परिभाषण' है।
(३) "कृतार्थोऽस्मि" (पृष्ठ २९०, पञ्चम अङ्क) निर्णय है।
(४) श्लोक ७/६ के अन्दर 'उपगूहन' है।
(५) श्लोक ७/८ के अन्दर 'समय' है।
(६) श्लोक ७/९ के अन्दर (भृत्या (भद्रभटादयः) 'उपसंहार' है। यहाँ चाणक्य ने उन उपायों का वर्णन किया है जिनका आश्रय उसने राक्षस को वश में करने के लिये किया है।
(७) श्लोक ७/११ के अन्दर 'आनन्द' है।
(८) "एष प्रह्वोऽस्मि" (पृष्ठ ४१६) 'भाषण' है।
(९) "आर्यप्रसाद एषः" (पृष्ठ ४१६) 'कृति' है।

'ततः प्रविशति मुक्तां शिखां परामृशन्' (प्रथम अङ्क, पृष्ठ २१)—इसप्रकार मुखसन्धि में निक्षिप्त बीज का यहाँ निर्वहण किया है। इसप्रकार इस मुद्राराक्षस

नाटक के अन्दर आधिकारिक कथावस्तु का विकास ५ **अर्थप्रकृति** और ५ **अवस्थाओं** के संयोग से निर्मित होने वाली ५ **सन्धियों** के रूप में विकसित होता हुआ अपने प्रमुख उद्देश्य राक्षस को चन्द्रगुप्त का अपात्य पद स्वीकार कराकर मौर्य साम्राज्य की लक्ष्मी को स्थिर करता है। यह कथावस्तु चाहे ऐतिहासिक हो, काल्पनिक हो या मिश्रित हो, अपनी स्वाभाविक प्रकृति से पुनः दो प्रकार की होती है :—

(१) सूच्य–"**नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तर.**"। दश०, प्रकाश १.५७.

(२) दृश्य-श्रव्य–"**दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः**"। दश०, प्रकाश १.५७.

सूच्य कथावस्तु की सूचना पाँच प्रकार से दी जा सकती है :—

(१) विष्कम्भक, (२) चूलिका, (३) अङ्कास्य, (४) अंङ्कावतार और (५) **प्रवेशक**—इनका पारिभाषिक नाम '**अर्थोपक्षेपक**' है। क्रमशः लक्षण—

(१) **विष्कम्भक**—वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः॥ दश०, प्र० १.५६

क्रियात्मक रूप से नाटककार ने इसका प्रयोग अपने नाटक में नहीं किया है।

(२) **चूलिका**—अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना॥ दश०, प्र० १.६१
यही नेपथ्य कहलाती है। नाटककार ने इसका यत्र तत्र खुलकर प्रयोग किया है।

(३) **अंकास्य**—अंकान्तपात्रैरंकास्यं छिन्नांकस्यार्थसूचनात्॥ दश०, प्र० १.६२.
इसका प्रयोग भी नाटककार ने अपने नाटक में नहीं किया है।

(४) **अङ्कावतार**—अङ्कावतारस्त्वंकान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः।
दश०, प्र० १.६२

सप्तमं अङ्क अङ्कावतार है क्योंकि षष्ठ अङ्क में प्रस्तावित कथावस्तु का ही इस अङ्क मे अवतरण किया गया है।

(५) **प्रवेशक**—तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः॥ दश०, प्र० १.६७

इसका प्रयोग नाटककार ने पंचम और षष्ठ अङ्क के प्रारम्भ में किया है। यह **कथावस्तु** पुनः तीन भागों में विभक्त की जाती है :—

(१) सर्वश्राव्यम् = प्रकाशम्—नाटक में खुलकर प्रयोग हुआ है।

(२) अश्राव्यम् = स्वगतम्—नाटक में खुलकर प्रयोग हुआ है।

(३) **नियतश्राव्यम्**—इस नियतश्राव्य के पुनः दो भेद हैं—

(क) **जनान्तिकम्**—इसका प्रमुख रूप से एक ही बार प्रयोग हुआ है। **यथा**–
शकटदासः—"(मुद्रां विलोक्य जनान्तिकम्।) अमात्य, भवन्नामांकितेयं मुद्रा"।
(द्वितीय अङ्क, पृष्ठ १३२)

इसका लक्षण :—

त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते **तज्जनान्तिकम्**॥ दश०, **प्रकाश १.६५**

(ख) अपवारितम्—अपवार्य-इसका नाटक में सम्भवतः कहीं प्रयोग नहीं हुआ है। इसका लक्षण है—

रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम् ॥ दश०, प्रकाश १.६६

इन तीनों विभागों से स्वतन्त्र एक और विभाग है, जिसका नाम 'आकाश-भाषित' है। इसका प्रयोग नाटक में खुलकर हुआ है। लक्षण परिशिष्ट (१) में देखना चाहिये।

इसप्रकार नाटक में प्रयुक्त होने वाली 'कथावस्तु' का विवेचन समाप्त होता है।

(२) नेता—प्रकृत मुद्राराक्षस नाटक का नायक चाणक्य है। नाट्यशास्त्र की परिभाषा के अनुसार प्रत्येक नायक में निम्न सामान्य गुणों का होना आवश्यक है—

नेता विनीता मधुरस्त्यागी दक्षः, प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा।
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥ दश०, प्रकाश २-१-२.

इस नायक के चार भेद होते हैं:—(१) धीरललित, (२) धीरशान्त, (३) धीरोदात्त, (४) धीरोद्धत। प्रकृत नाटक में चाणक्य धीरशान्त और धीरोद्धत—इन दो प्रकार के नायकों के लक्षणों से युक्त है।

धीरोशान्त का लक्षण—"सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः।
दश०, प्र० २.४

क्योंकि चाणक्य ब्राह्मण है, अतः **धीरशान्त** का केवलमात्र यही लक्षण उसमें घटित होता है। यद्यपि धीरशान्त नायक प्रकरण में होता है तथापि ब्राह्मणत्वेन उसको यहाँ भी स्वीकार कर लिया है।

धीरोद्धत का लक्षण—दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहंकारश्चलश्चण्डो विकत्थनः। दश०, प्र० ३.५

इस धीरोद्धत नायक के सभी गुणों की स्थिति नायक चाणक्य में देखी जा सकती है।

प्रतिनायक—प्रकृत नाटक में राक्षस प्रतिनायक है। नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रतिनायक इसप्रकार का होना चाहिये :—

लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद् व्यसनी रिपुः ॥ दश० प्र० २.६

राक्षस को हम इस लक्षण के अनुसार 'लुब्धः—लोभी' नहीं कह सकते हैं क्योंकि यहाँ पर उसे हम (७/५) निष्काम भावना से प्रेरित होकर अपने मृत नन्दस्वामियों के लिये कार्य करते हुये देखते हैं।

नायिका—नायिका का इस नाटक में सर्वथा अभाव है। विद्वानों ने नायिका के अभाव को इस नाटक की सबसे प्रमुख विशेषता स्वीकार की है। किन्तु यदि नायिका को स्वीकार करना आवश्यक ही हो; तो **'राज्य-लक्ष्मी'** को नायिका स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु इस अवस्था में यह **'अमूर्त नायिका'** होगी।

(३) रस—यद्यपि यह मुद्राराक्षस नाटक रसप्रधान न होकर घटनाप्रधान नाटक है, तथापि इसमें 'वीररस' का परिपाक भलीप्रकार हुआ है। वीररस तीन प्रकार का होता है :—

(१) दयावीर, (२) युद्धवीर और (३) दानवीर। इस नाटक में 'युद्धवीर' है। इसका स्थायीभाव उत्साह होता है।

(४) वृत्ति = शैली—ये वृत्तियाँ, जिनका नाटक में अनुकरण किया जाता है, संख्या में चार होती है—(१) कैशिकी, (२) सात्त्वती, (३) आरभटी और (४) भारती। रस की दृष्टि से इनका विभाग इसप्रकार है :—

श‍ृङ्गारे कैशिकी, वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च वीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥

प्रकृत नाटक में सात्त्वती और आरभटी वृत्तियाँ हैं। इसका क्रमशः लक्षण इसप्रकार है :—

(१) सात्त्वती—विशोका **सात्त्वती** सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः। दश०, प्र० २.५३ इस वृत्ति के चार भेद होते हैं—(१) संलापक, (२) उत्थापक, (३) सांघात्य और (४) परिवर्तक। यहाँ पर 'सांघात्य' का प्रयोग हुआ है।

(२) आरभटी—मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः। दश०, प्र० २.५३

इस वृत्ति के भी चार भेद होते हैं :—(१) संक्षिप्तिका, (२) सम्फेट, (३) वस्तूत्थापन और (४) अवपातन।

मुद्राराक्षस का मूल स्रोत—

दशरूपक की टीका में दो पद्य आते हैं, जिनका सम्बन्ध मुद्राराक्षस के स्रोत से है। ये श्लोक प्रथम प्रकाश की समाप्ति पर हैं। यथा—

तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम्।

चाणक्यनाम्ना तेनाथ शकटारगृहे रहः।
कृत्यां विधाय सहसा सपुत्रो निहतो नृपः ॥
योगानन्दे यशः शेषे पूर्वनन्दसुतस्ततः।
चन्द्रगुप्तः कृतो राज्ये चाणक्येण महौजसा ॥

इति बृहत्कथायां सूचितम्।

प्रो० ध्रुव का विचार है कि ये पद्य मिथ्या प्रदर्शन करने वाले हैं क्योंकि ये दोनों पद्य संस्कृत में हैं। संस्कृत में होने के कारण ये बृहत्कथा के अंश नहीं हो सकते क्योंकि वह पैशाच प्राकृत में लिखा हुआ ग्रन्थ है। प्रो० ध्रुव के विचार में ये वास्तव में क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामञ्जरी से सम्बन्धित हैं। यह क्षेमेन्द्र दशरूपक के धनिक से लगभग डेढ़ शती बाद का है। अतः ये दोनों पद्य बाद के प्रक्षिप्त अंश हैं। इसीप्रकार द्वितीय प्रकाश के प्रारम्भ में धनिक लिखता है—'स्थिरो वाङ्मनः क्रियाभिरचञ्चलः'। यथा वा भर्तृहरिशतके (नीति० श्लोक २६)—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैं, प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः, प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्वमिवोद्वहन्ति ।।

यद्यपि यहाँ यह शतक से उद्धृत है, ऐसा कहा गया है तथापि वस्तुतः यह पद्य मुद्राराक्षस का है। इसका प्रकरणगत जितना सम्बन्ध नाटकीय वर्णन की दृष्टि से मुद्राराक्षस के साथ है उतना शतक के साथ संगत प्रतीत नहीं होता। इससे मालूम पड़ता है कि मुद्राराक्षस का स्रोत गुणाढ्य की बृहत्कथा नहीं हो सकती। हाँ, यह सम्भव हो सकता है कि बृहत्कथा में जिन घटनाओं का वर्णन है, उन्होंने मुद्राराक्षस की कथावस्तु की रूपरेखा के निर्माण में सहायता दी हो।

शारदातनय ने भावप्रकाश के ८ वें अध्याय में नाटक के भेद भास्वर के उदाहरण के रूप में एक नाटक का उल्लेख किया है, जिसमें नन्द और चाणक्य पात्र हैं। कुन्दमाला की भूमिका में (दक्षिण भारती Series) एक नाटक का उल्लेख है, जिसका नाम **"प्रतिज्ञा चाणक्य"** है। इससे यह सिद्ध होता है कि मुद्राराक्षस की ऐतिहासिक कथावस्तु पर्याप्त प्रसिद्ध थी।

सम्भवतः कवि ने अपने नाटक की कथावस्तु की **राजबलि-चरित** और दूसरी अन्य ऐतिहासिक सामग्री, जो उस समय उसको प्राप्त थी, से लिया हो।

चाणक्य के एक गुप्तचर द्वारा सम्राट् नन्द की हत्या, खाली राजसिंहासन पर राक्षस द्वारा सर्वार्थसिद्धि का राज्याभिषेक उनका तपोवन में तपस्या करने के लिये चला जाना और उसके बाद ही छिपकर उसकी हत्या का होना, हिमालय के प्रमुख राजा पर्वतेश्वर का वध और अन्ततोगत्वा राक्षस के साथ सन्धि का हो जाना–ये सभी अपने आप में ऐतिहासिक तथ्य हैं। नाटक के पात्रों में चाणक्य और चन्द्रगुप्त तो निर्विवादरूपेण ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इसीप्रकार सम्भवतः राक्षस और सर्वार्थसिद्धि भी ऐतिहासिक हैं। यद्यपि इन दोनों के नामों का उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता है। यदि नन्दों का ब्राह्मण मन्त्री राक्षस कवि की अपनी काल्पनिक सृष्टि होता तो ऐसे प्रमुख पात्र का इतना बुरा नाम न रखता। लेखक ने प्रायः अपने काल्पनिक पात्रों के नाम **"यथा नाम तथा गुणः"** के आधार पर रखे हैं। **उदाहरणार्थ** (१) - निपुणक—जो अपने कार्य में अत्यन्त निपुण है। (२) विराधगुप्त–जो सर्वात्मना अपने आपको गुप्त रख सकता है। (३) सिद्धार्थक—जिसने अपने लक्ष्य को सिद्ध कर लिया है। जब लेखक को इसप्रकार सार्थक नाम रखने की प्रवृत्ति है तो फिर वह–जिसने अपने जीवन में कुछ भी नहीं प्राप्त किया है–उनका नाम सर्वार्थसिद्धि कैसे रखता ? इससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि राक्षस और सर्वार्थसिद्धि काल्पनिक पात्र न होकर ऐतिहासिक पात्र हैं। कितने अंश में ये ऐतिहासिक हैं, यह अपने आप में एक पृथक् प्रश्न है। नन्द और राक्षस के साथ चलने वाला युद्ध १२ वर्षों तक चला था। अतः चन्द्रगुप्त और चाणक्य के समान राक्षस और सर्वार्थसिद्धि भी ऐतिहासिक महत्व के व्यक्ति हैं।

नन्द और चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त के मध्य संघर्ष विषयक विभिन्न सामग्री को देखने से पता चलता है कि यह सब कुछ इतना भिन्न और गड़बड़ में डालने वाला है

कि किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता है। उन सब में जो कुछ समानता है वह कुछ विचारों की, घटनाओं की और नामों की समानता हैं।

विष्णुपुराण, वायु, मत्स्य, भागवत और दूसरे पुराणों में चन्द्रगुप्त के विषय में वर्णन आता है। ये सभी निम्न तथ्य के विषय में एक मत है :—

शिशुनागवंश ने मगध पर शासन किया था और उसमें से एक उदयी नाम के राजा ने गंगा के दक्षिण तट पर कुसुमपुर को बसाया था। शिशुनागवंश का अन्तिम शासक महानन्द के शूद्रा स्त्री से उत्पन्न एक पुत्र था, जिसका नाम महापद्म था। यही शक्तिशाली महापद्म घनानन्द नाम से कहा जाता था, सबसे प्रथम नन्द राजा था। इसके बाद आने वाले सभी राजा शूद्र थे। महापद्म ने सम्पूर्ण पृथिवी को एक शासन के अधीन कर लिया था। उसकी आज्ञा सर्वमान्य थी। कोई उसका प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। उसने परशुराम के समान सभी क्षत्रियों का विनाश कर दिया था। उसके सुमाल्य आदि आठ पुत्र थे, जिन्होंने १०० वर्ष तक पृथिवी पर राज्य किया। ये आठ पुत्र अपने पिता महापद्म के साथ परम्परागत नौ नन्द कहलाये। इन सभी को कौटिल्य ने समूल नष्ट कर दिया था और चन्द्रगुप्त मौर्य को एक राजा के रूप में राज्य पर प्रतिष्ठित किया था।

बृहत्कथा के अन्दर और एक पुराण की टीका में चन्द्रगुप्त को स्वयं में नन्द का पुत्र कहा गया है जो उसकी शूद्रा पत्नी मुरा से उत्पन्न हुआ था।

बौद्ध और जैन ग्रन्थों के स्रोत भी चन्द्रगुप्त और उसके वंश के विषय में प्रकाश डालते हैं। इनके अनुसार चन्द्रगुप्त शाक्य था। जिस जाति से यह सम्बन्धित था वह Moriyas कहलाती थी, क्योंकि जिस स्थान पर यह जाति बसी थी, वह स्थान मयूरों से परिपूर्ण था, वह ग्राम मयूरपोषक कहलाता था। जब चन्द्रगुप्त अपनी माता के गर्भ में था, उसके पिता पर पड़ोस के राजा ने आक्रमण कर दिया था और परिणामस्वरूप उसके द्वारा मारा गया। गर्भवती रानी ने पुष्पपुर में आश्रय लिया, जहाँ उसके पशुओं के चरागाह में एक पुत्र उत्पन्न हुआ। चन्द्र नाम के एक बैल ने उसकी रक्षा की थी, अतः वह चन्द्रगुप्त कहलाया। चाणक्य ने घनानन्द को मारकर इसी को पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बिठाया था।

इसप्रकार हम देखते हैं कि कथानक का उपयोग लेखक ने अपने मुद्राराक्षस में किया है, वह ऐतिहासिक होने के साथ-साथ अत्यन्त प्रसिद्ध था। लेखक ने अपने नाटक की कथावस्तु की सामग्री यत्र-तत्र बिखरे हुये और उस समय प्राप्य ऐतिहासिक सामग्री से ली है। इसप्रकार मूलस्रोत के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों का ऐसा भी मत है कि इस मुद्राराक्षस के स्रोत विष्णुपुराण, भागवतपुराण और कथासरित्सागर हैं।

विशाखदत्त की रचनायें—

साहित्यशास्त्रियों ने जिन ग्रन्थों का उल्लेख किया है, उनसे ज्ञात होता है कि विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस के अतिरिक्त दो नाटक और लिखे हैं-(१) देवी चन्द्रगुप्त और (२) अभिसारिकावञ्चितक अथवा अभिसारिकाबन्धितक।

(१) देवी चन्द्रगुप्त—इसके उपलब्ध अंशों में चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा अपने अयोग्य भाई रामगुप्त की पत्नी ध्रुवदेवी को शकों से बचाने, रामगुप्त को मार कर उनकी पत्नी ध्रुवदेवी से विवाह करने और उसके राज्य पर अधिकार करने की कथा है।

(२) अभिसारिकावञ्चितक अथवा अभिसारिकाबन्धितक :—भोज और अभिनवगुप्त ने इसको विशाखदेव के नाटक के रूप में उद्धृत किया है। अभिसारिकावञ्चितक में वत्सराज और उसकी द्वितीय पत्नी पद्मावती के जीवन में घटित हुई घटना का वर्णन है। इसमें उदयन, वासवदत्ता और पद्मावती पात्र हैं। यह नाटक भी लुप्त है।

(३) राघवानन्द नाटक—ऐसा प्रतीत होता है कि विशाखदत्त ने "राघवानन्द" नामक नाटक की भी रचना की थी, जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। किन्तु जिसके उद्धरण विद्वानों ने सुभाषित ग्रन्थों में बिखरे हुये पता लगाये हैं।

(४) सदुक्तिकर्णामृत में निम्न श्लोक विशाखदत्त के नाम से उद्धृत है :—

> नामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैर्यातः प्रसिद्धिं परा—
> मस्मद् भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम् ;
> बन्दीवैष यशांसि गायति मरुद्यस्यैकबाणाहतिः
> श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥

सम्भवतः यह श्लोक विभीषण ने रावण से कहा है। इससे प्रतीत होता है कि सम्भवतः विशाखदत्त ने एक नाटक ऐसा भी लिखा होगा, जिसका कथानक रामायण से लिया गया होगा।

(५) मुद्राराक्षसम्, जो इस समय आपके हाथों में है।

———

चाणक्यः—

स्वच्छन्दमेकचरमुज्ज्वलदानशक्ति-
मुत्सेकिना मदबलेन विगाह्‌मानम् ।
बुद्ध्या निगृह्य वृषलस्य कृते क्रियाया—
मारण्यकं गजमिव प्रगुणीकरोमि ॥१/२६॥

प्रशस्त दानशक्ति वाले, आत्मीय जनों को छोड़कर अकेले विचरण करने वाले, स्वच्छन्द; दुरभिमानी, दर्प के प्रभाव से हमारे अपकार की चेष्टा करने वाले जंगली हाथी के समान तुम्हें बुद्धि के वल से वश में करके चन्द्रगुप्त के लिये अमात्य-कर्म में नियुक्त करता हूँ ॥१/२६॥

प्रथम अङ्क के पात्र

१. सूत्रधार—नाटकीय कथावस्तु का प्रस्तुत कर्ता ।

२. नटी—सूत्रधार की पत्नी ।

३. चाणक्य—कौटिल्य, विष्णुगुप्त । चन्द्रगुप्त का गुरु; सलाहकार और अस्थायी मन्त्री ।

४. शार्ङ्गरव—चाणक्य का शिष्य ।

५. निपुणक—चाणक्य का गुप्तचर, यमपट को लेकर सर्वत्र विचरण करने वाला उपदेष्टा ।

६. शोणोत्तर—चन्द्रगुप्त की प्रतिहारी ।

७. सिद्धार्थक—चाणक्य का गुप्तचर, शकटदास का कृत्रिम-मित्र, वज्रलोमन् नाम से चन्दनदास को फांसी देने वाले जल्लादों में से एक (सप्तम अङ्क में) ।

८. चन्दनदास—मणिकार-श्रेष्ठी, राक्षस का अभिन्न-हृदय मित्र ।

प्रथम अङ्क की कथावस्तु की रूपरेखा

प्रथम अङ्क की कथावस्तु को स्थूल रूप से आठ भागों में विभक्त कर सकते हैं–

(१) नान्दी, (२) प्रस्तावना, (३) चाणक्य का स्वागत, (४) चाणक्य और गुप्तचर निपुणक, (५) चाणक्य द्वारा शकटदास से लिखवाया हुआ पत्र, (६) चाणक्य के दो आदेश, (७) चाणक्य और चन्दनदास, (८) उपसंहार।

इस प्रथम अङ्क में सर्वात्मना चाणक्य की राजनीति पर प्रकाश पड़ता है और यह पता लगता है कि राक्षस को वश में करने के लिये उसने क्या-क्या उपाय किये हैं।

(१) **नान्दी**—नान्दी में आने वाले प्रथम दो श्लोक हैं। ये दोनों श्लोक क्रमश: जहाँ शिव और पार्वती के सम्वाद और विष्णु जी की स्तुति की ओर निर्देश करते हैं, वहाँ नाटक की कथावस्तु पर भी प्रकाश डालते हैं। इनसे मालूम पड़ता है कि चाणक्य की नीति कुटिल नीति है और राक्षस को अपने वश में करने के लिये उसको बड़ी कठिनाई से अपनी उस कुटिल नीति का प्रयोग करना पड़ रहा है।

(२) **प्रस्तावना**—इससे निम्न सूचनायें मिलती हैं: (क) सामन्त बटेश्वरदत्त के पौत्र, महाराज भास्करदत्त के पुत्र कवि विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस नाटक का अभिनय होने जा रहा है।

(ख) सूत्रधार की पत्नी चन्द्रग्रहण के उपलक्ष्य में एक महान् प्रीतिभोज का आयोजन कर रही है। सूत्रधार उसको समझाता है कि चन्द्रग्रहण किसी भी अवस्था में नहीं हो सकता है, क्योंकि—

क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम्।
अभिभवितुमिच्छति बलात्—

वह इतना ही कह पाता है कि इस नाटक का नायक चाणक्य चन्द्रगुप्त के नाम सादृश्य से "**चन्द्रस्य ग्रहणम्**" को मिथ्या समझ कर '**आः, क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति**' कहता हुआ रङ्गमञ्च पर प्रवेश करता है।

(३) **चाणक्य का स्वागत**—नाटक की गतिशीलता में '**स्वगतम्**' बाधक होता है, किन्तु चाणक्य की तो अपनी यह विशेषता है कि वह अपनी राजनीतिक योजना के विषय में किसी दूसरे व्यक्ति के साथ परामर्श ही नहीं करता है। इस अवस्था में उसकी कूटनीति पर प्रकाश कैसे पड़े? सम्भवतः यही सोचकर विशाखदत्त को चाणक्य के इस लम्बे स्वगत भाषण का आश्रय लेना पड़ता है, जिससे दर्शकों और पाठकों के सामने उसकी कूटनीति प्रकाश में आ जावे। '**स्वगतम्**' का सारांश यह है—

(क) राक्षस पर्वतकपुत्र मलयकेतु के साथ मिलकर और उसके द्वारा एकत्र की हुई म्लेच्छ सेना को लेकर चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा है।

(ख) तपोवन में तपस्या करने के लिये गये हुये सर्वार्थसिद्धि को चाणक्य ने मरवा दिया है।

(ग) चाणक्य ने यह प्रवाद फैला दिया है कि राक्षस ने विषकन्या के द्वारा पर्वतक को मरवाया है।

(घ) भागुरायण ने मलयकेतु को यह कह कर पाटलिपुत्र से भगा दिया है कि तुम्हारे पिता को चाणक्य ने मरवाया है।

(ङ) अपने पक्ष के और शत्रुओं के पक्ष के व्यक्तियों का पता लगाने के लिये; राक्षस के मित्रों की गुप्त गतिविधियों पर दृष्टि रखने के लिये गुप्तचरों की नियुक्ति की जा चुकी है।

(च) चाणक्य का सहाध्यायी एवं मित्र इन्दुशर्मा क्षपणक जीवसिद्धि के रूप में राक्षस का परम विश्वस्त मित्र बन गया है।

(४) **चाणक्य और गुप्तचर निपुणक**—यमपट को हाथ में लेकर गली-गली घूमने वाले गुप्तचर निपुणक ने चाणक्य को सूचना दी है कि (i) राक्षस की प्रेरणा से पर्वतक को मारने के लिये विषकन्या का प्रयोग करने वाला क्षपणक जीवसिद्धि, (ii) राक्षस के परिवार को अपने घर में छिपाकर रखने वाला शकटदास और (iii) पुष्पपुर निवासी मणिकारश्रेष्ठी चन्दनदास—ये तीन व्यक्ति राक्षस के परम मित्र हैं और चन्द्रगुप्त के विरोधी हैं। इसके अतिरिक्त वह चाणक्य को राक्षस के नाम की मुद्रा भी देता है, जिसको उसने चन्दनदास के घर से प्राप्त किया है। यही वह मुद्रा है जिसके आधार पर विशाखदत्त ने अपने इस नाटक का नाम **'मुद्राराक्षसम्'** रखा है। इसी मुद्रा का प्रयोग चाणक्य ने राक्षस को मलयकेतु से पृथक् करने के लिये किया है।

(५) **चाणक्य द्वारा शकटदास से लिखवाया हुआ पत्र :—**

(क) चाणक्य ने एक पत्र लिखा है और क्योंकि उसका लेख अच्छा नहीं है, अतः उसने सिद्धार्थक के द्वारा अपने लिखे हुये पत्र की प्रतिलिपि शकटदास से करवाई है। कैसा पत्र है, इसके अन्दर क्या लिखा गया है? यह सब कुछ आगे चलकर पञ्चम अङ्क में स्पष्ट होगा। सिद्धार्थक की प्रेरणा से शकटदास से लिखवाये हुये इस पत्र को निपुणक द्वारा प्राप्त राक्षस की मुद्रा से मुद्रित करवा देता है।

(ख) चाणक्य ने सिद्धार्थक को तीन आवश्यक निर्देश दिये हैं—

(१) वधस्थान पर जाओ और वहाँ जाकर क्रोध में जल्लादों को अपनी आँख का संकेत करना।

(२) आँख का संकेत पाकर जब वे भाग जावें तब शकटदास को वहाँ से भगाकर राक्षस के पास ले जाओ।

(३) राक्षस से शकटदास के प्राणों की रक्षा के बदले में पारितोषिक प्राप्त करना और कुछ काल तक उसी की सेवा करना।

इसके अतिरिक्त चाणक्य ने कुछ उसके कान में भी कहा है, जो आगे चलकर पञ्चम अङ्क में स्पष्ट होगा।

(ग) चन्द्रगुप्त पर्वतेश्वर का श्राद्ध करना चाहता है और साथ ही इस श्राद्ध में वह पर्वतेश्वर के आभूषणों को योग्य ब्राह्मणों को दान करना चाहता है। चाणक्य ने इन आभूषणों को दान में लेने के लिये विश्वावसु आदि तीन भाइयों को नियुक्त किया है। इनका उपयोग भी पञ्चम अङ्क में किया जावेगा।

(६) **चाणक्य के दो आदेश**—(१) क्षपणक जीवसिद्धि पर यह दोष लगाकर उसे नगर से बहिष्कृत कर दो कि इसने राक्षस की प्रेरणा से विषकन्या के द्वारा पर्वतक को मारा है।

(२) शकटदास पर यह अभियोग लगाकर कि यह नित्य प्रति हमारे विरोध में षड्यन्त्र करता रहता है, फाँसी दे दो और इसके परिवार को कैद कर लो।

(७) **चाणक्य और चन्दनदास**—चाणक्य ने चन्दनदास को बुलवाया है और उस पर यह आरोप लगाया है कि तुमने अपने घर राक्षस के परिवार को छिपा रखा है। अतः उस परिवार को हमारे सुपुर्द कर दो। चन्दनदास की यह दृढ़ और स्पष्ट उक्ति है कि पहले तो मेरे घर राक्षस परिवार है ही नहीं, अतः देने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता और यदि होता भी तब भी मैं उसे आपके सुपुर्द नहीं करता। इसी समय नेपथ्य में होने वाले कोलाहल से दो सूचनायें मिलती हैं—

(१) क्षपणक जीवसिद्धि को देश निकाला दिया जा रहा है।

(२) शकटदास को फाँसी के लिये ले जाया जा रहा है।

चाणक्य चन्दनदास को समझाने के साथ-साथ चेतावनी देता हुआ कहता है कि श्रेष्ठिन् चन्दनदास ! राजा विरोधियों के प्रति कठोर है। राक्षस के परिवार के छिपाने को वह किसी भी प्रकार सहन नहीं करेगा, अतः अब भी समय है, राक्षस का परिवार सौंप दो और शेष जीवन आराम से व्यतीत करो और जब चन्दनदास किसी भी अवस्था में राक्षस परिवार को सौंपने के लिये तैयार नहीं होता है तो क्रोध में आकर अपने शिष्य से कहता है कि जाओ विजयपालक से कहो कि इसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति को जब्त करके परिवार सहित कैद में डाल दो। मृत्यु की सजा चन्द्रगुप्त स्वयं देंगे।

(८) **उपसंहार**——अङ्क की समाप्ति में शिष्य शार्ङ्गरव चाणक्य को सूचना देता है कि :—वध्यस्थान से शकटदास को लेकर सिद्धार्थक, भागुरायण और भद्रभट, पुष्पदत्त, डिङ्गरात, बलगुप्त, राजसेन, रोहिताक्ष और विजयवर्मा—ये सभी भाग गये हैं।

चाणक्य इस सूचना को पाकर प्रसन्न है क्योंकि इन सबका भागना चाणक्य की योजना का अङ्ग है। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि चाणक्य की राजनीति का बीज, जो इस प्रथम अङ्क में बोया गया है, पञ्चम अङ्क में फलोन्मुख होगा।

इसप्रकार चाणक्य की कूटनीति पर प्रकाश डालने वाला प्रथम अङ्क समाप्त होता है।

4,

मुद्राप्राप्ति नामक–प्रथम–अङ्क

धन्या केयं स्थिता ते शिरसि शशिकला किन्नु नामैतदस्या,
नामैवास्यास्तदेतत् परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः।
नारीं पृच्छामि नेन्दुं कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु–
र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः ॥१॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वय—इयं का धन्या ते शिरसि स्थिता, शशिकला, किं नु अस्याः एतद् नाम, अस्याः नामैव, तदेतत् परिचितमपि ते कस्य हेतोः विस्मृतम्। नारीं पृच्छामि इन्दुं न, यदि इन्दुः प्रमाणं न, विजया कथयतु, इति देव्याः सुरसरितं निह्नोतुमिच्छोः विभोः शाठ्यं वः अव्यात् ॥१॥

व्याख्या—इयं का धन्या–सौभाग्यवती रमणी ते शिरसि-उत्तमाङ्गे स्थिता, शशिनः-चन्द्रस्य कला-अंशविशेषः, किं नु अस्याः-रमण्याः एतत्-'शशिकला' इति नाम-संज्ञा, अस्याः-मदुत्तमांगे स्थितायाः 'शशिकला' इति नाम एव, तद् एतत्-नाम परिचितमपि-सुविदितमपि ते कस्य हेतोः-केन हेतुना विस्मृतम्। (शिरसि ते इन्दुस्तिष्ठति इति जानाम्येव अहं तु) नारीं (तव शिरसि स्थिताम्)–स्त्रियम् पृच्छामि-नामतः पृच्छामि, इन्दुं–चन्द्रं न, यदि (विजातीयत्वात्) इन्दुः-चन्द्रः (प्रष्टव्यत्वेन) प्रमाणं-विश्वासभाजनं न (भवति) (तदा तव सुखी) विजया (एव) कथयतु, इति-एतद् उक्तरूपम् देव्याः-गौर्याः (सकाशात्) सुरसरितं-गङ्गा निह्नोतुम्-अपलपितुम् इच्छोः-अभिलषतः विभोः-शिवस्य शाठ्यं-छलोक्तिः वः-युष्मान् (रङ्गस्थान्) अव्यात्-पायात् ॥१॥

हिन्दी रूपान्तर

अवतरणिका—महाकवि श्री विशाखदत्त अपने प्रारम्भ किये हुये नाटक की निर्विघ्न परिसमाप्ति की कामना से अपने अभीष्ट देव की स्तुति के साथ-साथ पूर्वरङ्ग के अङ्गभूत आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण नान्दी के द्वारा अर्थतः और शब्दतः दोनों ही दृष्टियों से नाटकीय कथावस्तु का निर्देशन करते हैं।

प्रकरण—शिवजी की जटाओं में रमणी के रूप में छिपकर बैठी हुई अनिन्द्य सुन्दरी गंगा को देखकर ईर्ष्या से युक्त होकर पार्वती जी शिवजी से प्रश्न करती हैं। इस प्रकार इस श्लोक में शिवजी और पार्वती जी का उत्तर-प्रत्युत्तर है।

श्लोक (१) अर्थ—(पार्वती) यह कौन सौभाग्यशालिनी स्त्री है (जो) तुम्हारे सिर पर बैठी हुई है ? (शिवजी गंगा को पार्वती से छिपाना चाहते हैं, अतः अपने सिर पर विद्यमान चन्द्रमा को उपलक्षण मानकर उत्तर देते हैं) (शिव) शशिकला [पार्वती जी यह सोचकर कि सम्भवतः जिस स्त्री के विषय में मैंने प्रश्न किया है, उसका नाम ही शशिकला हो, अतः निश्चय करने के लिये पुनः पूछती हैं] (पार्वती) क्या यह शशिकला इस नारी का नाम है ? (शिवजी पुनरपि चन्द्रकला को लक्ष्य करके उत्तर देते हैं) (शिव) यह तो वस्तुतः इसका नाम ही है, (इस नाम से) परिचित होते हुई भी तुम भूल किस कारण से गई ? [पार्वती जी शिवजी के इस चातुर्य को समझ कर फिर अपनी बात स्पष्ट करती हैं] (पार्वती) मैं नारी के विषय में पूछ रही हूँ, परिचित इन्दु के विषय में नहीं। [शिवजी 'नारीं पृच्छामि' का अर्थ **नारी के विषय में न करके नारी से** पूछती हूँ—ऐसा करके उत्तर देते है] यदि तुम्हारे लिये इन्दु उपलक्षणभूत मैं प्रामाणिक नही हूँ तो (अपनी सभी) विजया से पूछ लो, इस प्रकार देवी पार्वती से गंगा को छिपाने की इच्छा वाले शिवजी की छलोक्ति आप सब (सामाजिकों) की रक्षा करे।

गूढार्थ-धन्या केयम्—यहाँ पर व्यतिरेक लक्षणा से 'धन्या' शब्द का अर्थ 'अधन्या' ऐसा भी लिया जा सकता है अर्थात् यह कौन अश्लाघनीय नारी है जो अपने पूज्य भर्ता के सिर पर चढ़कर बैठी हुई है।

टिप्पणी

(१) **मुद्राराक्षसम्** नाटक के प्रथम अङ्क के आरम्भ के दो श्लोक अर्थात् 'धन्या केयम्' और पादस्याविर्भवन्तीम्' नान्दी के हैं।

(२) **धन्या केयम्**—शिवजी के सिर पर गंगा को देखकर पार्वती जी शिवजी से प्रश्न करती हैं कि परम प्रेयसी होती हुई भी मैं तो आपके वाम-पार्श्व में बैठी हुई हूँ और यह कौन मुझसे भी बढ़कर ऐसी सौभाग्यशालिनी नारी है जो आपके सिर पर बैठी हुई है। इस प्रकार यहाँ ईर्ष्या को व्यक्त करने वाला 'धन्या' शब्द है। साथ ही पार्वती के दोर्भाग्य को भी सूचित कर रहा है।

(३) **धन्या**—शब्द से उपालम्भ भी ध्वनित होता है कि तुम इस नारी के वश में कैसे हो गये हो अथवा उसके वश में होना तुम्हारे लिये ठीक नहीं है—ऐसा तिरस्कार भी व्यक्त होता है।

(४) **शशिकला**--पार्वती जी '**शशिनः कला**' ऐसा समास न खोलकर समस्त पद मानकर पुनः प्रश्न करती हैं कि क्या यह तुम्हारे सिर पर विद्यमान नारी का नाम 'शशिकला है।

(५) **परिचितमपि ते**—परि + चि + क्त कर्मणि वर्तमाने परिचितम्। अतः "ते" में "**क्तस्य च वर्तमाने**" पा० २/३/६७ से षष्ठी विभक्ति आई है।

(६) **कस्य हेतोः**—"**षष्ठी हेतुप्रयोगे**" पा० २/३/२६ से षष्ठी। केन हेतुनेत्यर्थः।

(७) **नारीं पृच्छामि नेन्दुम्**—"अकथितं च" पा० १/४/५१ से पृच्छि धातु द्विकर्मक है। इसके दो कर्म हैं—(१) मुख्य कर्म—जिसके विषय में प्रश्न किया जा रहा है अर्थात् नारीम्, (२) गौणकर्म—वह व्यक्ति जिससे प्रश्न किया जा रहा है अर्थात् शिवजी त्वाम्।

पार्वती जी स्पष्ट रूप से नारी के विषय में जानना चाहती हैं, चन्द्रमा के विषय में नहीं। परन्तु शिवजी इस जिज्ञासा को घुमा देते हैं, वे यह समझकर उत्तर देते हैं कि पार्वती जी अपनी जिज्ञासा का उत्तर नारी से चाहती हैं, इन्दु (जो पुल्लिंग में है) से नहीं। विजया और जया नाम की दो पार्वती की सखियाँ हैं।

(८) **देव्या निह्नोतुम्**—"अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति" पाः १/४/२८ से पञ्चमी है।

(९) (क) इस पद्य के द्वारा नाटकीय कथावस्तु की सूचना दी है अर्थात् जिस प्रकार शिवजी की शठता ने पार्वती जी से गंगा की रक्षा की है, उसी प्रकार चाणक्य की शठता ने भी राक्षस से चन्द्रगुप्त की आपत्ति में रक्षा की है।

(ख) पार्वती जी सत्वगुणप्रधाना हैं, अतः ऋजुनीनि की ओर इशारा है। गंगा कुटिलगामिनी है, अतः कुटिल नीति का प्रतीक है। "**विभुः**" शब्द से चाणक्य सूचित होता है।

(१०) जिस प्रकार शिवजी का शरीर "शिव और घोर" इस रूप में दो प्रकार का है, इसी प्रकार नीतियाँ भी दो प्रकार की हैं। पहली धर्म-नीति और दूसरी शाठ्य-नीति या कुटिलनीति। नाटककार ने यहाँ पर चाणक्य के द्वारा कुटिलनीति का विस्तार किया है। पार्वती जी ऋजुनीति की प्रतीक हैं।

(११) इस पद्य के अन्दर शिवजी पार्वती जी को अपनी बाईं जंघा पर बिठाये हुये और गंगा को सिर पर धारण किये हुए चित्रित किये गये हैं।
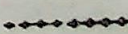
अपि च—

पादस्याविर्भवन्तीमवनतिमवने रक्षतः स्वैरपातैः;
संकोचेनैव दोष्णां मुहुरभिनयतः सर्वलोकातिगानाम्।
दृष्टिं लक्ष्येषु नोग्रज्वलनकणमुचं बध्नतो दाहभीते-
रित्याधाराऽनुरोधात् त्रिपुरविजयिनः पातु वो दुःखनृत्तम् ॥२॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—पादस्य स्वैरपातैः आविर्भवन्तीम् अवनेः अवनतिं रक्षतः, सर्वलोका-तिगानां दोष्णां संकोचेनैव मुहुः अभिनयतः, दाहभीतेः उग्रज्वलनकणमुचं दृष्टिं लक्ष्येषु न बध्नतः—इत्याधारानुरोधात् त्रिपुरविजयिनः दुःखनृत्तं वः पातु ॥२॥

व्याख्या—पादस्य-चरणस्य स्वैरपातैः-स्वच्छन्दविक्षेपणैः आविर्भवन्तीम्-आवि-र्भविष्यन्तीम् अवनेः-पृथिव्याः अवनतिम्-अधोगमनम् रक्षतः-परिहरतः, सर्वलोकाति-गानाम्—सर्वान् लोकान् (ऊर्ध्वं तिरश्च) अतिक्रम्य गन्तुं समर्थानाम् (अतिविस्तार,

भाजाम्) दोष्णां-भुजानां संकोचेनैव-व्यावर्तनेनैन मुहुः-वारम्बारम् अभिनयतः-अङ्ग-विक्षेपं कुर्वतः दाहभीतेः-(दग्धाः मा भूवन्निति) दहनशंकाद् उग्रज्वलनकणमुचम् = उग्र-ज्वलनकणान्-तीव्रवह्निस्फुलिङ्गान् मुञ्चति या तादृशीम् दृष्टिं ललाटलोचनं लक्ष्येषु-दृष्टिविषयेषु न बध्नतः-न निक्षिपतः, इत्याधारानुरोधात = इति-एवमुक्तस्य आधारस्य-नृत्तक्रियाश्रयस्य पृथिव्यादेः अनुरोधात्-(यथाक्रमं भङ्गसंहरणदाहा मा भूवन्निति) अनुक्रोशात् त्रिपुरविजयिनः-शिवस्य दुःखनृत्तं = दुःखेन-कृच्छ्रेण नृत्तं वः-युष्मान् (सामाजिकान्) पातु-रक्षतु ॥२॥

हिन्दी रूपान्तर

अपि च—

श्लोक (२) अर्थ—चरणों के स्वच्छन्द विन्यासों से होने वाली पृथिवी की भंगिमा (धँसकना) को बचाते हुये (अर्थात् कहीं पृथिवी नष्ट न हो जावे इस भय से पैरों को शनैः शनैः रखते हुये), सम्पूर्ण लोकों को अतिक्रमण करके व्याप्त होने वाली (अर्थात् अत्यन्त विशाल एवं विस्तृत) भुजाओं के संकुचित करने के द्वारा ही (कहीं भुजाओं के आघात से सभी लोक नष्ट न हो जायें, अतः अपनी भुजाओं को संकुचित करके) पौनः पुन्येन अभिनय करते हुये, अत्यन्त तीव्र अग्निस्फुलिंगों को छोड़ने वाली (तृतीय भालनेत्र की) दृष्टि को लक्ष्यों पर जल जाने के डर से न डालते हुये इसप्रकार (पूर्वोक्त वर्णित) नृत्त के आधार पृथिवी आदि के क्रमशः भंग-संहरण और दग्ध न हो जाने के अनुरोध से (मयनामक राक्षस के) त्रिपुर को जीतने वाले (शिवजी) का दुःख-नृत्त आप सबकी रक्षा करे ॥२॥

टिप्पणी

(१) **पादस्य**—पादयोरित्यर्थः—जातावेकवचननिर्देशात् ।

(२) **आविर्भवन्तीम्**—आविर्भविष्यन्तीम् **वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा** पा० ३/३/१३१ से भविष्यत्सामीप्ये लट् ।

(३) **स्वैरपातैः**—से प्रतीत होता है कि पादक्षेप स्वच्छन्दता से नहीं हो रहा है और **"संकोचेन"** से हस्तविक्षेप के अन्दर असुविधा प्रतीत होती है । **"न बध्नतः"** सूचित करता है कि दृष्टिपात खुलकर नहीं हो रहा है ।

(४) **दृष्टिम्**—भालनेत्रम् । शिवजी त्रिनेत्रधारी हैं । सूर्य दायाँ नेत्र है, चन्द्रमा बायाँ नेत्र है । इन दोनों के बीच में भाल का नेत्र **"अग्नि"** है ।

(५) **आधारानुरोधाद् दुःखनृत्तम्** इससे दो बातों की ओर इशारा है—एक तो यह कि मौर्य राज्य में सफल संचालन के लिये राक्षस आधारभूत है और इसी-लिये चाणक्य यह चाहता है कि राक्षस को किसीप्रकार की क्षति पहुँचाये बिना उसको वश में कर लिया जाय । यह राक्षस की रक्षा भागुरायण के इस वाक्य से मालूम पड़ती है कि '**रक्षणीया हि राक्षसस्य प्राणा इति ।**" और सचमुच भागुरायण, चाणक्य के आदेश से, क्रुद्ध मलयकेतु से राक्षस के प्राणों की रक्षा करता है और

दूसरी यह है कि 'दुःखनृत्तम्' से चाणक्य की कुटिल नीति बड़ी कठिनाई से प्रयुक्त हुई है क्योंकि चाणक्य राक्षस को पकड़ना चाहता है, मारना नहीं।

इसकी व्याख्या इसप्रकार भी की जा सकती है कि आधार मलयकेतु है और वह सर्वथा मूढ़ और अयोग्य पात्र है। उसके लिये प्रयुक्त की गई अमात्य राक्षस की नीति दुःखनृत्तय हो गई। इसप्रकार की व्याख्या स्वीकार करने पर यह मानना पड़ेगा कि प्रथम श्लोक में चाणक्य की स्तुति है और दूसरे में अमात्य राक्षस की।

(६) त्रिपुरविजयिनः—इस पद से यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार शिवजी ने अपने वाण की अग्नि से त्रिपुर को भस्म कर दिया था उसीप्रकार अपनी क्रोध की अग्नि से नन्दवंश के समान राक्षस सहित मलयकेतु को नष्ट करने में समर्थ होते हुये भी चाणक्य ने राक्षस को पकड़ने की इच्छा से बड़ी कठिनाई से अपनी कुटिल-नीति का प्रयोग किया है।

त्रिपुर—ये तीन नगर हैं जो क्रमशः सुवर्ण, चांदी और लोहे के क्रमशः आकाश, वायु और पृथ्वी पर बने हुये थे। इनका निर्माता मय नामक असुर है। शिवजी ने इनको नष्ट कर दिया था। अथवा 'त्रिपुर' नाम का राक्षस है, जो इन तीनों नगरों का अधिपति था। शिवजी ने इसी 'त्रिपुर' नामक असुर को जीता है।

(७) ताण्डव—यह नृत्य शिवजी ने त्रिपुर विजय के एकदम पश्चात् किया था अथवा शिवजी प्रतिदिन अपनी दैनिकचर्या में नियमित रूप से इसे करते हैं।

(८) इस नाटक का एक प्रमुख पात्र चन्द्रगुप्त है। यह सचिवायत्तसिद्धि है। चाणक्य की नीति का प्रयोग कुछ इसप्रकार हुआ है कि इसको अपना पौरुष दिखाने का कहीं अवसर ही नहीं मिलता है। राक्षस को वश में करना इस नाटक का साध्य है और चाणक्य की कुटिल नीति साधन है।

(नान्द्यन्ते।)

सूत्रधारः—अलमतिप्रसङ्गेन। आज्ञापितोऽस्मि परिदा यथा—'अद्य त्वया सामन्तवटेश्वरदत्तपौत्रस्य महाराजभास्करदत्तसूनोः कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिरभिनवं मुद्राराक्षसं नाम नाटकं नाटयितव्यमिति। यत्सत्यं काव्यविशेषवेदिन्यां परिषदि प्रयुञ्जानस्य ममापि सुमहान् परितोषः प्रादुर्भवति। कुतः।

चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः।
न शालेः स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते ॥३॥

संस्कृत-व्याख्या

अलम् प्रतिप्रसंगेन-अतिविस्तरेण अलम्। अभिनवम् = नूतनम्। मुद्राराक्षसम् = मुद्रया-अंगुलिमुद्रया परिगृहीतः राक्षसोऽत्रेति तदधिकृत्य कृतो ग्रन्थः इति मुद्राराक्षसम्। यत्सत्यम् = नूनम्। काव्यविशेषवेदिन्याम् = काव्यस्य विशेषः (उत्कर्षापकर्षकाधायको गुणदोषौ) तद्वेदिन्यां-तज्ज्ञाने निपुणायाम्। प्रयुञ्जानस्य = नाट्येनाभिनयं कुर्वतः।

अन्वयः —चीयते इति —बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः चीयते, शालेः स्तम्बकरिता वप्तुः गुणं न अपेक्षते ॥३॥

व्याख्या—बालिशस्यापि—(कृषिकर्मणि) अज्ञस्यापि (कर्षकस्य) सत्क्षेत्रपतिता॰ सति क्षेत्रे-उत्कृष्टभूमौ (उर्वरायां भुवीत्यर्थः) पतिता-उप्ता (सती) कृषिः-बीजम् चीयते॰ वर्द्धते, शालेः-धान्यविशेषस्य स्तम्बकरिता-पुष्कलता वप्तुः-वपनकर्तुः गुणं-दक्षत्वादिकं न अपेक्षते ॥३॥

हिन्दी रूपान्तर

(नान्दी की समाप्ति पर।)

सूत्रधार—विस्तार बन्द करो। परिषद् ने मुझे आज्ञा दी है कि आज तुमने सामन्तवटेश्वरदत्त के पौत्र, महाराज भास्करदत्त के पुत्र कवि विशाखदत्त की कृति नवीन (जिसका पहले कभी अभिनय नहीं हुआ है) मुद्राराक्षस नामक नाटक का अभिनय करना है, इति। वस्तुतः काव्य के विशिष्ट गुणों को जानने वाली सभा में

अभिनय करना है, इति। वस्तुतः काव्य के विशष्ट गुणों को जानने वाली सभा में

अभिनय करते हुये मेरे हृदय में भी अत्यन्त सन्तोष उत्पन्न होता है। क्योंकि:—

श्लोक (३) अर्थ—मूर्ख किसान (बीज बोना न जानने वाले) का भी अच्छे खेत में पड़ा हुआ बीज वृद्धि को प्राप्त हो जाता है। (क्योंकि) धान्य का सघन होना बीज बोने वाले के (किसी) गुण की अपेक्षा नहीं करता है। (अपितु स्वयमेव खेत के गुण से वृद्धि को प्राप्त हो जाता है) ॥३॥

टिप्पणी

(१) **नान्द्यन्ते**—नाटक के प्रारम्भ में की हुई नान्दी **पत्रावली नान्दी है।** सूत्रधार इस नान्दी का पाठ करता है, क्योंकि—

सूत्रधारः पठेन्नान्दीं मध्यमं स्वरमाश्रितः।

नन्दनं नन्दः भावे घञ् अथवा नन्दन्ति अस्मिन् नन्दः = Stage, अधिकरणे घञ्। नन्दस्येयं नान्दी। "तस्येदम्" पा० ४/३/१२०

यहाँ सूत्रधार भारती वृत्ति का आश्रय नाट्यशाला में उपस्थित दर्शकों को काव्यार्थ की सूचना देता है। क्योंकि—

रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः।
ऋतुं कञ्चिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ॥

(२) **सूत्रधारः** (Stage Director)—सूत्रं-कथावस्तु धारयतीति सूत्रधारः= प्रधान अभिनेता। "कर्मण्यण्" पा० ३/२/१ इत्यण्।

(३) **अलमतिप्रसङ्गेन**—"अलम्" के योग में तृतीया है। यहाँ "अलम्" शब्द वारणार्थक है।

(४) **आज्ञापितः**—आ + ज्ञा + णिच् + क्त कर्मणि। इसका अनुक्त कर्ता परिषदा है।

(५) **परिषदा**—परि—समन्तात् सीदन्ति अस्यामिति परि + सद् + क्विप् = अधिकरणे परिषद् तया।

(६) कवि के बाबा (Grand Father) सामन्त थे।

(७) **मुद्राराक्षसम्**—मुद्रया परिगृहीतः राक्षसोऽत्रेति (**मध्यमपदलोपी बहुव्रीहिः**)

तदधिकृत्य कृतो ग्रन्थः इति मुद्राराक्षसम् । "अधिकृत्य कृते ग्रन्थे" पा० ४/३/८७ इत्यणन्तत्वात् नपुंसकत्वम् ।

(८) **नाटकम्**—रूपक के दस भेदों में यह पहला भेद है । भेद इसप्रकार हैं—

नाटकं प्रकरणंभाणः प्रहसनं डिमः ।

व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति । दशरूपक, प्रथम प्रकाश, ८.

नाटयति-विचित्रं रञ्जनाप्रवेशेन सभ्यानां हृदयं नर्तयती नाटकम् । इस नाटक में मुख्य रस वीर है ।

(९) **काव्य**—दृश्य और श्रव्य उभयविध काव्य का ग्रहण है ।

(१०) **प्रयुञ्जानस्य** - नाट्येन अभिनयतः । **प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु**" पा० १/३/६४ इति तङ् । प्र + युज् + शानच् कर्त्तरि ।

(११) **चीयते इति**—वह परिषद् सत्क्षेत्र के समान है और काव्यशालि के समान है और स्वयं सूत्रधार मूर्ख कृषक के समान है तथापि फल के प्रति किसीप्रकार का संशय नहीं है । चिञ् धातु के कर्मकर्ता में लट् लकार का रूप है ।

(१२) **बालिशः**—वारि शेते-ड प्रत्यये "**तत्पुरुषे कृति बहुलम्**" पा० ६/१/१४ से सप्तमी का अलुक् रलयोरभेदे बालिशः । **बालिशस्यापीति**--ऐसा कहकर सूत्रधार ने अपनी तुलना मुर्ख कृषक के साथ की है । इसप्रकार अपने विनय को सूचित किया है, अतः नट की स्तुति है । इस पद्य में "**सत्क्षेत्रपतिता**" यह दृष्टान्त भी परिषद् की प्रशंसा ही है अर्थात् जिसप्रकार कैसा भी बीज बोने वाला हो किन्तु यदि भूमि अच्छी है तो धान्य-वृद्धि होगी ही, ठीक उसीप्रकार अभिनय करने वाले नट कुशल नहीं भी हैं तब भी यदि दर्शक और श्रोता गुणी हैं तो अभिनय अपने आप ही अच्छा होगा ।

(१३) **स्तम्बकरिता**—स्तम्बं-स्तोमं करोति इति स्तम्बकरिः । "**स्तम्बशकृतोरिन्**" पा० ३/२१/२४ "**व्रीहिवत्सयोरिति वक्तव्यम्**" (वार्तिक) से स्तम्ब शब्द उपपद होने पर कृञ् से इन् प्रत्यय होता है । स्तम्बकरिः तस्य भावः तत्ता= स्तम्बकारिता ।

तद्यावदिदानीं गृहं गत्वा गृहजनेन सह सङ्गीतकमनुतिष्ठामि । (**परिक्रम्यावलोक्य च**) इमे नो गृहाः । तद्यावत् प्रविशामि । (**नाट्येन प्रविश्यावलोक्य च** ।) अये, तत् किमिदमस्मद्गृहे महोत्सव इव दृश्यते । स्वस्वकर्म्मण्यधिकतरमभियुक्तः परिजनः तथाहि—

वहति जलमियं पिनष्टि गन्धानियमियमुद्ग्रथते स्रजो विचित्राः ।
मुसलमिदमियञ्च पातकाले मुहुरनुयाति कलेन हुँकृतेन ।।४।।

भवतु । कुटुम्बिनीमाहूय पृच्छामि । (**नेपथ्याभिमुखमवलोक्य** ।)

संस्कृत-व्याख्या

गृहजनेन=परिचरवर्गेण । **अनुतिष्ठामि**=अनुष्ठास्यामि । **अभियुक्तः**= **अभिरतः** ।

अन्वयः—वहतीति—इयं जलं वहति, इयं गन्धान् पिनष्टि, इयं विचित्राः स्रजः उद्ग्रथते । इयं च पातकाले मुहुः कलेन हुंकृतेन इदं मुसलमनुयाति ॥४॥

व्याख्या—इयम् (काचित् स्त्री) जलं-पानीयं वहति-आनयति, इयम् (अपरा) गन्धान्-सुगन्धितपदार्थान् पिनष्टि-चूर्णयति, इयम् (अन्या) विचित्राः-नानावर्णादियुक्ताः स्रजः-पुष्पमालाः उद्ग्रथते-उद्ग्रथ्नाति, इयञ्च (कापि) पातकाले-(उलूखले) पतनसमये मुहुः-बारम्बारं कलेन-मधुरास्फुटेन हुंकृतेन-हुमितिशब्दविशेषेण (सह) इदं-मुसलम् अनुयाति-अनुकरोति ॥४॥

कुटुम्बिनीम् = गृहिणीम् । नेपथ्याभिमुखम् = नेपथ्यस्य-वेषरचनास्थानस्य अभिमुखं—सम्मुखम् ।

हिन्दी रूपान्तर

अर्थ—[क्योंकि परिषद् की आज्ञा होने से और अपने हृदय में सन्तोष होने के कारण अभिनय तो करना ही है] इसलिये सम्प्रति (अपने) घर जाकर परिचर-वर्ग के साथ सङ्गीत का आयोजन करता हूँ। (चारों तरफ घूमकर और देखकर।) यह हमारा घर है। तो, अन्दर जाता हूँ। (अभिनय के साथ प्रवेश करके और देख कर।) अरे यह क्या, यह तो हमारे घर में (कोई) बड़ा त्योहार-सा दिखाई दे रहा है। घर का प्रत्येक परिचर अपने काम में (साधारण रूप से) अत्यधिक व्यस्त है। क्योंकि—

श्लोक (४)—यह (कोई स्त्री) जल ला रही है, यह (कोई एक तरफ) सुगन्धित द्रव्यों को पीस रही है, यह (कोई इधर) विविध वर्णों वाली पुष्पमालायें गूंथ रही है और यह (कोई स्त्री) (ओखली में) ऊपर नीचे गिराने के समय में पौनः पुण्येन अव्यक्त एवं मधुर "हुँ" इस शब्द के साथ इस मूसल का अनुसरण कर रही है। ॥४॥

अच्छा। अपनी गृहिणी को **बुलाकर पूछता हूँ**। (नेपथ्य की ओर देखकर।)

टिप्पणी

(१) **संगीतकम्**—सम् + गै + क्त = भावे संगीतम्, स्वार्थ में कन् प्रत्यय होकर संगीतकम्। गीतं वाद्यं **नर्तनं च त्रयं संगीतमुच्यते** । (गीत = Vocal, वाद्य = Instrumental और नर्तन Dance)

(२) **अनुतिष्ठामि**—अनुष्ठास्यामि इत्यर्थः, **"यावत्पुरानिपातयोः लट्"** पा० ३/३/४ इति भविष्यति लट्।

(३) **गृहाः**—पुंल्लिग और नित्यबहुवचनान्त शब्द है।

(४) **अभियुक्तः**—अभि + युज् + क्त कर्तरि।

(५) **हुंकृतेन**—हुम् + कृ + क्त = भावे हुंकृतम्। सह के अर्थ में तृतीया है।

(६) **कुटुम्बिनीम्**—यह कुटुम्ब से बना है। **कुटुम्बमस्ति अस्याः**—परिवार। इसी को गृहिणी भी कहते हैं। यह गृह से बना है, क्योंकि **"न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी**

गृहमुच्यते ।" ऋग्वेद में गृह के स्वामी को "गृहपति" कहा गया है । पति के साथ पत्नी भी यज्ञ में भाग लिया करती थी । वह गृहपत्नी कहलाती थी । यह गृहपत्नी केवल घर के नौकरों पर ही नियन्त्रण नहीं रखती थी अपितु पति के अविवाहित भाइयों और बहिनों को भी अनुशासन में रखती थी । कालिदास ने रघुवंश में पत्नी का इस रूप में वर्णन किया है—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ॥

(७) नेपथ्य—१. वेष और २. नटों के वेषविन्यास का स्थान । **"नेपथ्यं स्याज्जवनिका"** इति ।

गुणवत्युपायनिलये स्थितिहेतोः साधिके त्रिवर्गस्य ।
मद्भवननीतिविद्ये कार्य्याचार्य्ये द्रुतमुपेहि ॥५॥

(प्रविश्य ।)

नटी—अज्ज, इअह्मि । अण्णाणिओएण मं अज्जो अणुगेह्णदु । आर्य, इयमस्मि । आज्ञानियोगेन मामर्योऽनुगृह्णातु ।

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—गुणवतीति—गुणवति उपायनिलये स्थितिहेतोः त्रिवर्गस्य साधिके कार्याचार्ये मद्भवननीतिविद्ये द्रुतमुपेहि ॥५॥

प्रथमोऽर्थः—सूत्रधारः स्वकीयगृहस्य सञ्चालिकां सर्वस्वभूतां स्वकीयां पत्नीं समाकारयति ।

गुणवति—हे सौशील्यगृहकृत्यदक्षत्वादिबहुगुणशालिनि, उपायनिलये=उपायानां—गृहकर्मसाधनीभूतव्यापाराणां निलये-आश्रयभूते स्थितिहेतोः=स्थितेः—गृहस्थाश्रमस्थितेः यो हेतुः—निमित्तं तस्य त्रिवर्गस्य-पुरुषार्थभूतधर्मार्थकामरूपस्य साधिके-सम्पादिके कार्याचार्ये=कार्याणां-कर्तव्यानाम् आचार्ये—उपदेष्ट्रि (अतएव) मद्भवननीतिविद्ये=मद्भवनस्य—मद्गृहस्य नीतिविद्ये—नयशास्त्ररूपे (मम पत्नि) द्रुतं-शीघ्रम् उपेहि-समीपमागच्छ ॥५॥

द्वितीयोऽर्थः—चाणक्येन राक्षसातिसन्धानार्थं विद्यानीतिरभिमुखीक्रियते ।

कूटनीतिपक्षे—गुणवति-सन्धि-विग्रह-यान-आसन-द्वैधीभाव-संश्रयेति षड्गुणविशिष्टे, उपायनिलये-साम-दाम-भेद-दण्डरूपचतुरुपाययुक्ते स्थितिहेतोः=स्थितेः-राज्यस्थितेः यो हेतुः-निमित्तं तस्य त्रिवर्गस्य-क्षयः स्थानं वृद्धिश्चेति त्रिवर्गः तस्य साधिके-सिद्धिकारके कार्याचार्ये-विहितकार्योपदेशिके नीतिविद्ये-राज्यशासनशास्त्रभूते (त्वम्) द्रुतम् उपेहि ॥५॥

तृतीयोऽर्थः – विजिगीषुणा चन्द्रगुप्तेन शरदागमः प्रार्थ्यते ।

शरत्पक्षे - गुणवति-अम्भः प्रसादादिगुणवति, उपायनिलये-विजिगीषूणां सामाद्युपायस्थाने स्थितिहेतोः=स्थितेः-राज्यस्थितेः यो हेतुः-निमित्तं तस्य त्रिवर्गस्य-विजिगीषूणां राज्ञामेव दिग्विजययात्रासम्प्रदायित्वेनार्थसाधिके प्रतिबन्धकत्वात् धर्म-

कामयोः तत् साधिके च कार्याचार्ये = कार्याणां-जैत्रयात्रादिकार्याणाम् आचार्ये-अनुकूल-(वेन प्रवर्तिके भोः शरद्) द्रुतम् उपेहि ॥५॥
आज्ञानियोगेन = आज्ञाप्रदानेन ।

हिन्दी रूपान्तर

अवतरणिका—इस श्लोक के तीन अर्थ हैं:—

(१) सूत्रधार अपनी गृहिणी नटी को बुला रहा है,

(२) चाणक्य अपनी कूटनीति का आह्वान कर रहा है, और

(३) चन्द्रगुप्त शरद् ऋतु के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है।

श्लोक (५)—प्रथम अर्थ—

(१) सूत्रधार अपनी गृहिणी नटी को बुला रहा है :—

हे गुणवति ! (सुशीलता, दया, दाक्षिण्य और घर के कार्यों में निपुण होना इत्यादि गुण हैं) गृह-व्यवस्था के उपायों की भण्डार (प्रवीण) गृहस्थाश्रम की स्थिति के कारण-भूत धर्म-अर्थ और काम (त्रिवर्ग) को सम्पन्न करने वाली ! कर्तव्य कर्मों का उपदेश करने वाली (अतएव) मेरे घर की नीतिविद्यास्वरूप मेरी पत्नी शीघ्र आओ ॥५॥

द्वितीय अर्थ—

(२) चाणक्य अपनी कूटनीति का आह्वान कर रहा है :—

सन्धि-विग्रह-यान-आसन-द्वैधीभाव और संश्रय--इन छः गुणों वाली, साम-दान-भेद और दण्ड इन चार उपायों वाली, राष्ट्र की स्थिति के कारणभूत क्षय-स्थान और वृद्धि–इस त्रिवर्ग को सिद्ध करने वाली करणीय कार्यों का उपदेश देने वाली मेरी नीति-विद्ये शीघ्र आओ ॥५॥

तृतीय अर्थ—

(३) चन्द्रगुप्त शरद् ऋतु के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है :—

वर्षा-ऋतु के कारण मलिन हुये नदी नाले आदिकों के जल को स्वच्छ कर देने आदि गुणों वाली, विजिगीषु राजाओं के लिये सामादि चार उपायों वाली राज्य की स्थिति के कारणभूत दिग्विजय का अवसर देने के कारण अर्थ को सिद्ध करने वाली और इस परम्परा से धर्म और काम की भी साधिके, जैत्र-यात्रादि कार्यों की अनुकूल-त्वेन सञ्चालन करने वाली हे शरद् ऋतु ! शीघ्र आओ ॥५॥

(प्रवेश करके ।

नटी—आर्य, मैं यह रही । आप मुझे आज्ञा देकर कृतार्थ करें ।

टिप्पणी

(१) "**ऋतुं कञ्चिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत्**" के अनुसार ५ वें श्लोक के अन्दर तीसरे अङ्क में वर्णित शरद् ऋतु को ग्रहण किया है—ऐसा समझना चाहिये ।

(२) **गुणवति**—राजनीति में ६ गुण होते हैं—(१) सन्धि, (२) विग्रह, (३) यान, (४) आसन, (५) द्वैध और (६) आश्रय ।

(३) उपाय—चार होते हैं—साम, दान, भेद और दण्ड।

(४) "निलय"—शब्द अप् प्रत्ययान्त होने से नित्य पुल्लिग है।

(५) त्रिवर्ग—"क्षयः स्थानञ्च वृद्धिश्च त्रिवर्गो नीतिवेदिनाम्" और धर्म अर्थ, काम भी त्रिवर्ग कहलाते हैं।

(६) मद्भवननीतिविद्ये--से प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण नाटक मे राजनीति का खुलकर प्रयोग हुआ है।

(७) आचार्य—आ+चर्+ण्यत् कर्मणि स्त्रियाम् आचार्या-स्वयं व्याख्यात्री, "आचार्यादणत्वञ्च" (वार्तिक)। आचार्य की स्त्री यदि कहना हो तो "आचार्यानी" बनेगा। इसप्रकार "आचार्य" के स्त्रीलिङ्ग में दोनों रूप बनेंगे पर अर्थ दोनों का पृथक्-पृथक् होगा।

(८) द्रुतम्—से प्रतीत होता है कि क्षण भर का भी विलम्ब सह्य नहीं है।

(९) उपेहि—उप+एहि—"ओमाङोश्च" पा० ६/१/९५ से पररूप।

(१०) ६ गुणों से युक्त भार्या इसप्रकार कही गई है :—

कार्येषु मन्त्री वचनेषु दासी भोज्येषु माता शयनेषु रम्भा।
धर्मानुकूल क्षमया धरित्री भार्या च षाड्गुण्यवतीह दुर्लभा॥

(११) श्लोक ५ का सूत्रधार विषयक अर्थ ही मुख्यार्थ है, शेष दोनों अर्थ ध्वन्यार्थ समझने चाहिये।

(१२) नटी प्राकृत भाषा बोलती है यद्यपि उसको संस्कृत शब्द "आर्या" इससे अभिहित किया जाता है। "वाच्यो नटीसूत्रधारावार्यनाम्ना परस्परम्" अर्थात् नटी और सूत्रधार को परस्पर एक दूसरे को सम्बोधन करते समय "आर्य" शब्द का प्रयोग करना चाहिये। इसी के अनुसार नटी ने यहाँ सूत्रधार को "आर्य" यह सम्बोधन किया है।

आर्य का लक्षण :—

कर्तव्यमाचरन् कार्यमकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताऽचारे स वै आर्य इति स्मृतः॥ (साहित्यदर्पण)

सूत्रधारः-- आर्ये तिष्ठतु तावदाज्ञानियोगः। कथय किमद्य भवत्या तत्र-भवतां ब्राह्मणानामुपनिमन्त्रणेन कुटुम्बकमनुगृहीतमभिमता वा भवनमतिथयः संप्राप्ताः यद् एष पाकविशेषारम्भः।

नटी—अज्ज, आमन्तिदा मए भअवन्तो ब्राह्मणाः। [आर्य आमन्त्रिता मया भगवन्तो ब्राह्मणाः]।

सूत्रधारः—कथय कस्मिन् निमित्ते।

नटी—उवरज्जदि किल भअवं चन्दो त्ति। [उपरज्यते किल भगवान् चन्द्र इति]।

सूत्रधारः—आर्य, कः एवमाह।

नटी—एवं खु णअरवासि जणो मन्तेदि । [एवं खलु नगरवासी जनो मन्त्रयते] ।

संस्कृत-व्याख्या

कुटुम्बकम् = परिजना: । उपनिमन्त्रणेन = भोजनार्थं निमन्त्रणेन । अभिमता: = वाञ्छिता:, निमन्त्रिता: इति यावत् । कस्मिन् निमित्ते = केन निमित्तेन । उपरज्यते = राहुणा ग्रस्यते ।

हिन्दी रूपान्तर

सूत्रधार—आर्ये, आज्ञा देने की बात तो कुछ देर के लिये रहने दो । (पहले यह तो) बताओ (कि) क्या आज तुमने पूज्य ब्राह्मणों को निमन्त्रण देने से कुटुम्ब को अनुगृहीत किया है अथवा निमन्त्रित अतिथि घर आ गये हैं जिससे यह विशिष्ट भोजन का आयोजन हो रहा है ।

नटी—आर्य, मैंने श्रेष्ठ ब्राह्मणों को निमन्त्रित किया है ।

सूत्रधार—कहो, किस कारण से ?

नटी—भगवान् चन्द्र (राहु से) ग्रस्त हो रहे हैं ।

सूत्रधार—आर्ये, ऐसा किसने कहा है ?

नटी—नगर में रहने वाले व्यक्ति ऐसा कह रहे हैं ।

टिप्पणी

(१) **तत्रभवताम्** और **तेषां भवताम्**—एक ही तात्पर्य है । आदर के लिये प्रयोग में आता है और वह भी दूरस्थ व्यक्ति के लिये । इसीप्रकार भवान् = तत्रभवान्, तं भवन्तम् = तत्रभवन्तम्, तेन भवता = तत्रभवता, इत्यादि । तेषाम् तत्र में बदल जाता है । तद् + त्रल् **'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते'** पा० ५/३/१४ ।

(२) **कुटुम्बकम्** = परिजना:, कुटुम्बानां समूह: इति समुहार्थे कन् प्रत्यय है (कुटुम्ब + कन्) ।

(३) **अतिथय:**—(१) अतति गच्छति न तिष्ठति इति अतिथि: अथवा (२) न विद्यते द्वितीया तिथि: यस्य स: ।

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मण: स्मृत: ।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते ॥ मनु०

(४) **कस्मिन्निमित्ते** = केन निमित्तेनेत्यर्थ:, **"निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्"** (वार्तिक) इति तृतीयार्थ सप्तमी ।

(५) **उपरज्यते** = उप + रञ्ज + लट् + ते कर्मणि । ग्रहण से पूर्व चन्द्रमा कुछ रक्त वर्ण का हो जाता है । इसलिये ग्रहण **"उपराग"** कहलाता है । चन्द्रग्रहण होने पर ब्राह्मणों को भोजन खिलाना कल्याण के लिये होता है । ब्राह्मणों को भोजन खिलाना श्राद्ध से सम्बन्ध रखता है किन्तु श्राद्ध के दिनों में ग्रहण का दिन सबसे अधिक गुणवान् होता है ।

सूत्रधारः—आर्य्ये कृतश्रमोऽस्मि चतुःषष्ट्यङ्गे ज्योतिःशास्त्रे। तत् प्रवर्त्यतां भगवतो ब्राह्मणानुदिश्य पाकः। चन्द्रोपरागं प्रति तु केनापि विप्रलब्धासि। पश्य—

क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम्।
अभिभवितुमिच्छति बलात—(इत्यर्द्धोक्ते—)

(नेपथ्ये।)

आः क एष मयि स्थिते

सूत्रधारः—रक्षत्येनं तु बुधयोगः ॥६॥

नटी—अज्ज, को उण एसो धरणीगोअरो भविअ चन्दं ग्गहाभिजोआदो रक्खिदुं इच्छदि। आर्य, कः पुनरेष धरणिगोचरो भूत्वा चन्द्रं ग्रहाभियोगाद्रक्षितुमिच्छति।

सूत्रधारः—आर्य्ये, यत्सत्यं मयापि नोप लक्षितः। भवतु। भूयोऽभियुक्तः स्वरव्यक्तिमुपलप्स्ये। ("क्रूरग्रहः—" इत्यादि पुनस्तदेव पठति।)

(नेपथ्ये।)

आः क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति।

सूत्रधारः—(आकर्ण्य।) आर्य्ये, ज्ञातम्। कौटिल्यः।

संस्कृत-व्याख्या

चतुःषष्ट्यङ्गे = चतुःषष्टिः अङ्गानि—प्रतिपाद्यप्रकाराः यस्य तस्मिन्। प्रवर्त्यतां = समारभ्यताम्। चन्द्रोपरागं = चन्द्रग्रहणम्। विप्रलब्धा = प्रतारिता।

अन्वयः—क्रूरग्रह इति—क्रूरग्रहः सः केतुः इदानीं पूर्णमण्डलं चन्द्रमसं बलात् अभिभवितुम् इच्छति तु बुधयोगः एनं रक्षति ॥६॥

व्याख्या—चन्द्रपक्षे—

(१) क्रूरग्रहः सः—प्रसिद्धः केतुः—राहुः इदानीम्—अद्य (पौर्णमास्याम्) पूर्णमण्डलं चन्द्रमसं—इन्दुं बलात्—हठात् अभिभवितुं—ग्रसितुम् इच्छति, तु—परन्तु बुधयोगः = बुधस्य-ग्रहस्य योगः—सम्बन्धः एनं-चन्द्रमसं रक्षति ॥६॥

चन्द्रगुप्त पक्षे (२) चाणक्यावगतार्थस्तु—

क्रूरग्रहः = क्रूरो-घोरः ग्रहः-चन्द्रगुप्ताभिभवं प्रति आग्रहो यस्य सः क्रूरग्रहो राक्षसः सकेतुः = केतुना—मलयकेतुना सहितः असम्पूर्णमण्डलम्—अवशीकृतप्रकृति—मण्डलं चन्द्रं—चन्द्रगुप्तम् इदानीं बलात् म्लेच्छबलमाश्रित्य अभिभवितुं—पराभवितुम् इच्छति, तु-परन्तु बुधयोगः = बुधस्य—नयज्ञस्य चाणक्यस्य योगः-उपायः एनं-चन्द्रगुप्तं रक्षति—(शत्रुपराभवात्) त्रायते ॥६॥

धरणिगोचरः—धरणिः गोचरो—विषयो देशो यस्य सः भूमिदेशस्थः। ग्रहाभियोगात् = राहोराक्रमणात्। अभियुक्तः = अवहितः। स्वरव्यक्तिम्—स्वरस्य व्यक्तिम्—अभिव्यञ्जनम्।

हिन्दी रूपान्तर

सूत्रधार—आर्ये, मैंने चौंसठ अङ्गों (२४ अङ्ग + ४० उपाङ्ग) वाले ज्योतिष-शास्त्र के अध्ययन में परिश्रम किया है। (और मैं समझता हूँ कि मेरा वह परिश्रम सार्थक है) अतः पूज्य ब्राह्मणों को लक्ष्य करके भोजन का आयोजन (करना है तो) करो (मैं मना नहीं करता)। किन्तु चन्द्र-ग्रहण के विषय में तो किसी ने (तुमको) धोखा दिया है (अर्थात् आज चन्द्रग्रहण नहीं होगा)। देखो—

अवतरणिका—यह श्लोक द्व्यर्थक है-(१) चन्द्र के पक्ष में और (२) चन्द्रगुप्त के पक्ष में है।

श्लोक (६)—प्रथम अर्थ—

(१) अत्यन्त क्रूर ग्रहण वाला वह प्रसिद्ध राहु (केतुः) सम्प्रति (पूर्णमासी के दिन) सम्पूर्ण कलाओं वाले चन्द्रमा को हठात् ग्रसित करना चाहता है—(ऐसा आधा कहने पर—)

द्वितीय अर्थ—(२) (चन्द्रगुप्त को पराजित करने के लिये) कठोर आग्रह वाला (राक्षस) मलयकेतु के साथ (सकेतुः) प्रकृतिमण्डल को अपने वश में न कर सकने वाले चन्द्रगुप्त को सम्प्रति बड़ी भारी म्लेच्छ सेना से (बलात्) पराजित करना चाहता है—(ऐसा आधा कहने पर—)

(नेपथ्य में।)

आः, यह कौन है (जो) मेरे उपस्थित रहने पर—

सूत्रधार—(१) परन्तु बुध नक्षत्र का योग इस (चन्द्रमा) की (ग्रहण से) रक्षा कर रहा है।

(२) परन्तु नीतिज्ञ चाणक्य का उपाय (बुधयोगः) इस (चन्द्रगुप्त) की रक्षा कर रहा है ॥६॥

नटी—आर्य, (आप तो कहते हो कि आकाश में बुध नक्षत्र का सम्बन्ध चन्द्र की रक्षा कर रहा है, परन्तु) यह कौन है (जो) पृथिवी पर स्थित होकर चन्द्रमा को राहु ग्रह के आक्रमण से बचाना चाहता है।

सूत्रधार—आर्ये, वस्तुतः (तुम्हारी तरह) मैं भी नहीं पहिचान पाया हूँ (कि यह कौन है। अच्छा। पुनः सावधान होकर स्वर की स्पष्टता को पहिचानता हूँ। (क्रूरग्रहः—इत्यादि पुनः (वही व्यक्ति) पढ़ता है।)

(नेपथ्य में।)

आः, यह कौन है (जो) मेरे रहते हुये (अर्थात् मेरा अनादर करके) चन्द्रगुप्त का तिरस्कार करना चाहता है।

सूत्रधार—(सुनकर) आर्ये, मालूम पड़ गया। कौटिल्य है :

टिप्पणी

(१) चतुःषष्ट्यङ्गे = २४ अङ्ग और ४० उपाङ्ग होते हैं। यहाँ पर अङ्ग और उपाङ्गों का भेद न करके सर्वात्मना ६४ इसप्रकार परिगणित कर दिया है।

(२) प्रवर्त्यताम् = प्र + वृत् + णिच् + लोट् कर्मणि । कामाचारानुज्ञायां लोट् ।

(३) चन्द्रोपरागं प्रति—"प्रति" इस कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया है ।

(४) विप्रलब्धा—वि + प्र + लभ् + क्त कर्मणि ।

(५) क्रूरग्रह इति—नेपथ्य में विद्यमान चाणक्य का सहसा प्रकट होना प्रस्तुत चन्द्रग्रह का विरोधी है । राहु पृथिवी की छाया है । अतः अन्धकार का देवता है । चन्द्रमा का ग्रहण पूर्णिमा के समय ही होता है क्योंकि—"**पूर्णिमाप्रतिपत्सन्धौ ग्रस्यते राहुणा शशी**" यह सिद्धान्तशास्त्र है ।

(६) **सकेतुः**—राहु और केतु दोनों का एक शरीर होने के कारण अभिन्नता है । राहु शिरोभाग को कहते हैं और शेष शरीर का भाग केतु कहलाता है । **सकेतुः**—प्रसिद्ध अर्थ का द्योतक तत् शब्द यत् शब्द की अपेक्षा नहीं करता है । अतः सः = प्रसिद्धः । ज्योतिःशास्त्र में व्याससंहिता में गर्ग का कहना है कि—

ग्रहपञ्चकसंयोगं दृष्ट्वा न ग्रहणं वदेत् ।
यदि न स्याद्बुधस्तत्र तं दृष्ट्वा ग्रहणं वदेत् ॥ इति ॥

ग्रहपञ्चक = सूर्य, चन्द्र, बुध, गुरु और शुक्र ।

(७) मण्डलम् = प्रकृतिमण्डलम्—प्रकृति के सात अंग होते हैं :—(१) स्वामी, (२) अमात्य, (३) सुहृत्, (४) कोश, (५) राष्ट्र, (६) दुर्ग और (७) सैन्य । जब सभी अंग सारे और शक्तिशाली होते हैं तब राजा सम्पूर्णमण्डल कहलाता है ।

(८) **गोचरः**—गावश्चरन्ति अस्मिन् इति गो + चर् + घ अधिकरणे संज्ञायाम् = गोचरः ।

(नटी भयं नाटयति ।)

सूत्रधारः—कौटिल्यः कुटिलमतिः स एष येन
क्रोधाग्नौ प्रसभमदाहि नन्दवंशः ।
चन्द्रस्य ग्रहणमिति श्रुतेः सनाम्नो
मौर्य्येन्दोर्द्विषदभियोग इत्यवैति ॥७॥

तदित आवां गच्छावः । (इति निष्क्रान्तौ ।)

इति प्रस्तावना ।

संस्कृत-व्याख्या

नाटयति = अभिनयति ।

अन्वयः—**कौटिल्य इति**—एषः सः कुटिलमतिः कौटिल्यः येन प्रसभं क्रोधाग्नौ नन्दवंशः अदाहि । चन्द्रस्य ग्रहणम् इति श्रुतेः सनाम्नः मौर्येन्दोः द्विषदभियोगः इत्यवैति ॥७॥

व्याख्या—एषः (नेपथ्यगतो जनः) सः कुटिलमतिः—क्रूरमतिः कौटिल्यः—चाणक्यः येन प्रसभं-शीघ्रं (न तु बहुकालेन) क्रोधाग्नौ-कोपवह्नौ नन्दवंशः अदाहि-भस्मीकृत । चन्द्रस्य ग्रहणम् (चन्द्रमभिभवितुमिच्छति) इति श्रुतेः—श्रवणात् सनाम्नः

—समानं नाम यस्य स सनामा तस्य सनाम्नः–तुल्यनामधेयस्य (चन्द्रसदृशनाम्नः) मौर्येन्दोः—चन्द्रगुप्तस्य द्विषदभियोगः = द्विषता—शत्रुणा (मलयकेतुसहितेन राक्षसेन) अभियोगः—आक्रमणम् इत्यवैति—एवं जानाति ॥७॥

हिन्दी रूपान्तर

(नटी भय का अभिनय करती है।)

सूत्रधारः—श्लोक (७) अर्थ--यह वह कुटिल बुद्धि वाला चाणक्य (कौटिल्य) है, जिसने शीघ्र (प्रसभम्) ही (अपनी) क्रोध की अग्नि में सम्पूर्ण नन्दवंश को जला दिया था। (सम्प्रति वही चाणक्य) **"चन्द्रस्य ग्रहणम्"** (चन्द्रमभिभवितुमिच्छति) अर्थात् चन्द्र का ग्रहण हो रहा है—ऐसा सुनने से समान नाम वाले चन्द्रगुप्त मौर्य पर शत्रु मलयकेतु के द्वारा आक्रमण हो रहा है—ऐसा समझ रहा है ॥८॥

इसलिये यहाँ से हम दोनों चलते हैं। (दोनों निकल जाते हैं।)

प्रस्तावना

टिप्पणी

(१) **कौटिल्यः**—कुटिल स्वभाव होने के कारण चाणक्य का कौटिल्य नाम यथार्थ है और इसलिये इसका विशेषण **कुटिलमतिः** है। इसकी कुटिलता नन्दवंश के विनाश में देखी जाती है और विशेषकर उस पर्वतक के विनाश में जिसने चन्द्रगुप्त को राज्य पर प्रतिष्ठित करने के लिये इसकी सहायता की थी।

(२) **प्रसभम्**—शीघ्र। पुराणों में आता है कि चाणक्य ने नन्द को अपने आठ पुत्रों के साथ अपने तिरस्कार के सात दिन बाद ही नष्ट कर दिया था, किन्तु यह सम्भव प्रतीत नहीं होता क्योंकि नाटक को पढ़ने से प्रतीत होता है कि नन्दवंश को नष्ट करने की प्रतिज्ञा करने के उपरान्त चाणक्य अपने एक सहाध्यायी मित्र इन्दुशर्मा का नन्द के अमात्य राक्षस से परिचय कराता है और वह तब तक प्रतीक्षा करता है जब तक कि उसकी राक्षस के साथ दृढ़ मैत्री नहीं हो जाती। यह सब कुछ सात दिन में सम्भव नहीं प्रतीत होता।

(३) **श्रुतेः**—हेतु में पञ्चमी है।

(४) **सनाम्नः**—समानं नाम यस्य स सनामा तस्य, **"ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु"** ॥ पा० ६/३/८५ से समान को स आदेश।

(५) **मौर्य**—मुरा एक शूद्रा स्त्री थी और पुराणों के अनुसार वह राजा नन्द की द्वितीय पत्नी थी। मुरायाः अपत्यं पुमान् इति मुरा + ण्य मौर्य, **"कुर्वादिभ्यो ण्यः"** पा० ४/१/१५१।

(६) **द्विषता—"द्विषोऽमित्रे"** पा० ३/२/१३१ इति शतृ प्रत्ययः।

(७) यहाँ प्रथम अङ्क में नाटककार ने विष्कम्भक का प्रयोग नहीं किया है क्योंकि इस विष्कम्भक का काम प्रस्तावना से ही चला लिया गया है। **"क्रोधाग्नौ प्रसभमदाहि नन्दवंशः"** कह कर अतीत काल की घटना की सूचना दी है और **'मौर्येन्दोर्द्विषदभियोगः'** कहकर भविष्य में होने वाली कथा की ओर इङ्गित किया है।

अथवा—"**अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना**" दशरूपक, प्रकाश १, ६१—इस चूलिका के लक्षण के अनुसार नेपथ्य में विद्यमान चाणक्य के द्वारा नाटकीय कथावस्तु की सूचना दी गई है। अतः ऐसा समझना चाहिये कि प्रस्तावना के अन्तर्गत ही चूलिका का प्रयोग है।

(८) **प्रस्तावना**—प्रस्तूयते-उद्भाव्यने इतिवृत्तम् अनया इति। प्र+स्तु+णिच+युच्-भावे स्त्रियां प्रस्तावना। यह "कथोद्घात" नाम की प्रस्तावना है। किन्हीं नाटकों में तो सूत्रधार प्रस्तावना का निर्माण करता है और किन्हीं नाटकों में नाटककार स्वयं प्रस्तावना का निर्माण करता है। यहाँ कवि ने स्वयं प्रस्तावना का निर्माण किया है। जहाँ सूत्रधार प्रस्तावना को करता है वहाँ वह नाट्य से पृथक् होती है और जहाँ कविकृत प्रस्तावना होती है वहाँ वह नाट्य का अङ्ग होती है। प्रस्तावना का उद्देश्य दर्शकों को नाटककार और नाटक से परिचित कराना होता है और साथ ही अभिनय के पात्रों को रंगमंच पर लाना भी होता है।

(ततः प्रविशति मुक्तां शिखां परामृशंश्चाणक्यः।)

चाणक्यः—कथय। क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति। पश्य।

आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां
सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य।
जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात्स्फुरन्तीं
को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम् ॥८॥

अपि च—

नन्दकुलकालभुजगीं कोपानलबहुलनीलधूमलताम्।
अद्यापि बध्यमानां वध्यः को नेच्छति शिखां मे ॥९॥

संस्कृत-व्याख्या

परामृशन् = स्पृशन्।

अन्वयः—आस्वादितेति—कः जृम्भाविदारितमुखस्य हरेः मुखात् आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां शशलाञ्छनस्य सन्ध्यारुणां कलामिव स्फुरन्तीं (हरेः) दंष्ट्रां परिभूय हर्तुमिच्छति ॥८॥

व्याख्याः—कः (एष जनः) जृम्भाविदारितमुखस्य = जृम्भया—चेष्टाविशेषेण विदारितं—प्रसारितं मुखं येन तस्य हरेः—सिंहस्य मुखात् आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां = आस्वादितं—पीतं यत् द्विरदशोणितं—गजरुधिरं तेन शोणा—रक्तवर्णा शोभा—कान्तिः यस्याः तादृशी शशलाञ्छनस्य-चन्द्रस्य सन्ध्यारुणां-सन्ध्यारागेण अरुणां कलामिव स्फुरन्तीं—दीप्यमानां दंष्ट्रां—दशनं (हरिम्) परिभूय—अवज्ञाय हर्तुम्—उत्पाटयितुम् इच्छति ॥८॥

अन्वयः—नन्दकुलेति—वध्यः कः नन्दकुलकालभुजगीं कोपानलबहुलनीलधूमलतां मे शिखाम् अद्यापि बध्यमानां न इच्छति ॥९॥

व्याख्या—वध्यः—वधार्हः कः (जनः मलयकेतुरित्यर्थः) नन्दकुलकालभुजगीम् =नन्दकुलस्य कालभुजगीं—कृष्णसर्पीं कोपानलबहुलनीलधूमलताम् = कोपः एव अनलः तस्य बहुलनीला—अत्यन्तकृष्णा धूमलता तां मे—मम शिखाम् अद्यापि (प्रतिज्ञा-पूरणेऽपि) बध्यमानां—संयम्यमानां न इच्छति ॥९॥

हिन्दी रूपान्तर

(प्रथम दृश्य । स्थान-पाटलिपुत्र में चाणक्य का घर ।)

(सूत्रधार और नटी के निकल जाने के अनन्तर (ततः) अपनी खुली हुई शिखा को (अपने हाथ से) स्पर्श करता हुआ चाणक्य प्रवेश करता है ।)

चाणक्य—बताओ, यह कौन है जो मेरे जीवित रहते हये चन्द्रगप्त को तिरस्कृत करना चाहता है । देखो ।

श्लोक (८)—अर्थ—कौन (यह व्यक्ति) जंभाई लेने के कारण खोले हुये मुख वाले सिंह के मुख से (सद्यः मारे हुये अतएव) पान किये हुये हाथी के रक्त से लाल शोभा वाली, चन्द्रमा की सन्ध्याकालीन अरुणिम कला के समान चमकती हुई दाढ़ को (सिंह का) निरादर करके अपहरण करना चाहता है ॥८॥

[**गूढ़ार्थ**—यहाँ सिंह के समान अत्यन्त क्रूर मुझ चाणक्य को भी तिरस्कृत करके मेरे द्वारा महान् प्रयत्न से प्राप्त की हुई मौर्यलक्ष्मी को राक्षस अपहरण करना चाहता है—यह अर्थ रूपकातिशयोक्ति से ध्वनित होता है ।]

तथा—

श्लोक (९)—अर्थ—वध के योग्य (यह) कौन (व्यक्ति अर्थात् मलयकेतु) नन्द-वंश के लिये कालसर्पिणी क्रोधाग्नि में से निकलती हुई अत्यन्त कृष्ण धूमलता वाली मेरी शिखा को आज भी (अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर लेने के उपरान्त भी) बाँधी जाती हुई (देखना) नहीं चाहता है ॥९॥

टिप्पणी

(१) **मुक्तां शिखाम्**—यद्यपि नन्दकुल के विनाश के अनन्तर चाणक्य को अपनी शिखा बाँध लेनी चाहिये थी परन्तु क्योंकि अभी चन्द्रगुप्त की लक्ष्मी को स्थिर नहीं कर पाया है, अतः खुली हुई है । "**मुक्तां शिखां परामृशन्**" शिखा का स्पर्श यह बताता है कि वह दूसरी प्रतिज्ञा फिर करने के लिये तैयार है । यह चाणक्य का अपना स्वभाव ही है कि जब कोई भीष्म प्रतिज्ञा करना चाहता है तो अपनी शिखा खोल देता है । इस समय सूत्रधार का वाक्य "**अभिभवितुमिच्छति बलात्**" उसको पुनः प्रतिज्ञा करने के लिये प्रेरित कर रहा है । इसलिये यद्यपि उसकी शिखा खुली हुई है फिर भी उसका हाथ अपनी शिखा पर पहुँच जाता है ।

(२) **मयि स्थिते**—'**षष्ठी चानादरे**" पा० २/३/२८ से अनादर में सप्तमी है ।

(३) "**कः**" से राक्षस की साहसिकता और दुःसाध्यसाधकता सूचित की है ।

(४) **आस्वादित**—से सूचित होता है कि अभी हाल में ही किये हुये नन्दवंश के वध का क्रोध अब भी शान्त नहीं हुआ है ।

(५) द्विरदः—द्वौ रदौ—दन्तौ अस्येति द्विरदः ।

(६) जृम्भाविदारितमुखस्य—इससे चाणक्य ने अपनी जागरूकता सूचित की है । शेर ने केवल जम्भाई ली है, वह मरा नहीं है ।

(७) स्फुरन्तीम्—इससे लक्ष्मी की शत्रु के द्वारा दुःसाध्यता सूचित की है ।

(८) दंष्ट्राम्–"दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदंशनाहः करणे" पा० ३/२/१८२ से ष्ट्रन् । हरेः दंष्ट्राम्—से मौर्य लक्ष्मी का कठिनता से उखाड़ा जाना सूचित किया है ।

(९) सन्ध्यारुण और चन्द्रकला के दृष्टान्त से अभिनव मौर्यश्री की वर्धिष्णुता और सभी के द्वारा अभिनन्दन किया जाना सूचित किया है । साथ ही चन्द्रगुप्त का अभ्युत्थान और लक्ष्मी का चन्द्रगुप्त पर नवीन अनुराग का होना भी सूचित किया है । इस प्रकार चाणक्य के जागरुक होते हुये भी उसके पुरुषार्थ को कुछ न समझकर राक्षस मौर्य लक्ष्मी को हरण करने का प्रयत्न कर रहा है । इससे राक्षस का अत्यन्त शूरवीर होना, दण्डनीति में उसका निष्णात होना और स्वामी नन्द के कार्यभार को वहन करने में समर्थ होना सूचित किया है । अतः इन गुणों से युक्त राक्षस को अवश्य ही वश में करना चाहिये और राक्षस को वश में करना मलयकेतु को पकड़े बिना घटित नहीं हो सकता है । इसप्रकार उसका निग्रह भी अवान्तर प्रयोजनत्वेन सूचित किया है ।

(१०) हाथी को मारकर सिंह ने जम्भाई ली है, इस अवसर पर दाँत को निकालना निश्चय ही मृत्यु को वरण करना है । इसीप्रकार नन्दरूपी गज को मारकर चाणक्य रूपी केसरी थककर जम्भाई ले रहा है, वह मरा नहीं है—इस बीच में कौन यह दन्तरूपी चन्द्रगुप्त को विनष्ट करना चाहता है ।

(११) चाणक्य का एक प्रकार से यह दावा है कि मेरे रहते हुए चन्द्रगुप्त के राज्य को छीन लेना राक्षस के लिये उतना ही कठिन और दुःसाध्य है जितना शेर के मुख से उसकी दाढ़ निकाल लेना ।

(१२) कोपानलबहुलनीलधूमलताम्—इससे प्रतीत होता है कि अग्नि किसी भी समय प्रज्वलित हो सकती है ।

(१३) अद्यापि—अब भी अर्थात् यद्यपि मैंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ली है । अथवा—नन्दवंश के विनाश को प्रत्यक्ष देख लेने के उपरान्त भी ।

(१४) वध्यः—मारने योग्य । मलयकेतु वध्य है क्योंकि वह आक्रमण करने की सोच रहा है । वधमर्हति इति वध् + यत्="अर्हे कृत्यतृचश्च" पा० ३/३/१६९ इति यत् "हनो वा यद्वधश्च वक्तव्यः" (वार्तिक) इससे हन् धातु को यत् परे होने पर वध् आदेश हो जाता है ।

अपि च—

उल्लङ्घयन् मम समुज्ज्वलतः प्रतापं कोपस्य नन्दकुलकाननधूमकेतोः ।
सद्यः परात्मपरिमाणविवेकमूढः कः शालभेन विधिना लभतां विनाशम् ॥१०॥

शार्ङ्गरव, शार्ङ्गरव ।

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—उल्लंघयन्निति—मम समुज्ज्वलतः नन्दकुलकाननधूमकेतोः कोपस्य प्रतापम् उल्लंघयन् कः परात्मपरिमाणाविवेकमूढः शालभेन विधिना सद्यः विनाशं लभताम् ॥१०॥

व्याख्या मम-मदीयस्य समुज्ज्वलतः—प्रदीप्तस्य नन्दकुलकाननधूमकेतोः= नन्दकुलमेव काननं—वनं तस्य धूमकेतोः—अग्निस्वरूपस्य कोपस्य प्रतापम्—उग्रत्वं ज्वालाञ्च उल्लंघयन्—अतिक्रामन् कः (कमलकेतुः) परात्मपरिमाणविवेकमूढः= परस्य-प्रतिपक्षस्य आत्मनः—स्वस्य च यत्परिमाणं—तारतम्यं तस्य विवेके-विशेषज्ञाने मूढः—असमर्थः शालभेन विधिना-पतङ्गरीत्या सद्यः—सपदि विनाशं-क्षयं लभतां-प्राप्नोतु ॥१०॥

हिन्दी रूपान्तर

तथा—

श्लोक (१०) अर्थ—मेरी प्रदीप्त होती हुई नन्दवंशरूपी वन को जलाने के लिये अग्निस्वरूप (धूम जिसकी ज्वाला है अर्थात् अग्नि) क्रोध की उग्रता को और ज्वाला को (प्रतापम्) अतिक्रमण करता हुआ कौन (यह मलयकेतु) शत्रु की ओर अपनी सैन्यशक्ति के तारतम्य को पहिचानने में असमर्थ (अग्नि की ज्वाला में भस्म होने की इच्छा वाले) पतङ्ग की रीति से शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो रहा है ॥१०॥

शार्ङ्गरव, शार्ङ्गरव ।

टिप्पणी

(१) **उल्लंघयन्**=उल्लंघयिष्यन्-वर्तमानसामीप्ये लट् ।

(२) **धूमकेतु**—धूमः केतुः यस्य = अग्नि । क्योंकि इसकी ध्वजा धूम होती है।

(३) **कः शालभेन विधिना**—यहां पर "कः" से निर्दिष्ट व्यक्ति में और शलभ में अन्तर किया है । आक्रमण करने वाले की क्रिया शलभ के समान है । शलभ अग्नि के ऊपर मँडराता है और प्राण न्यौछावर कर देता है ।

(प्रविश्य ।)

शिष्यः—उपाध्याय, आज्ञापय ।

चाणक्यः—वत्स, उपवेष्टुमिच्छामि ।

शिष्यः—उपाध्याय, नन्वियं सन्निहितवेत्रासनैव द्वारप्रकोष्ठशाला । तदस्यामुपवेष्टुमर्हत्युपाध्यायः ।

चाणक्यः—वत्स, कार्याभिनियोग एवास्मान् व्याकुलयति, न पुनरुपाध्यायसहभूः शिष्यजने दुःशीलता । (**नाट्येनोपविश्यात्मगतम्** ।) कथं प्रकाशतां गतोऽयमर्थः पौरेषु यथा किल नन्दकुलविनाशजनितरोषो राक्षसः पितृवधामर्षितेन

सकलनन्दराज्यपरिपणनप्रोत्साहितेन पर्वतकपुत्रेण मलयकेतुना सह सन्धाय तदुपगृहीतेन च महता म्लेच्छराजबलेन परिवृतो वृषलमभियोक्तुमुद्यत् इति। (विचिन्त्य।) अथवा येन मया सर्वलोकप्रकाशं नन्दवंशवधं प्रतिज्ञाय निस्तीर्णा दुस्तरा प्रतिज्ञासरित् सोऽहमिदानीं प्रकाशीभवन्तमप्येनमर्थं समर्थः प्रशमयितुम्। कुतः।

संस्कृत-व्याख्या

सन्निहितवेत्रासना = सन्निहितं-समीपस्थं वेत्रासनं यस्यां तथाविधा। कार्याभिनियोगः = कार्य—राक्षससंग्रहं प्रति अभिनियोगः—अभिनिवेशः। उपाध्यायसहभूः = उपाध्यायानाम्-आचार्याणां सहभूः = सहजा, उपाध्यायत्वव्याप्येत्यर्थः। दुःशीलता—उपालम्भनशीला। प्रकाशतां गतः = प्रचारं प्राप्तः। अयमर्थः = एष वृत्तान्तः। आमर्षितेन = क्रुद्धेन। सकलनन्दराज्यपरिपणनप्रोत्साहितेन = सकलनन्दराज्यस्य यत् परिपणनं-शुल्कत्वेन अवस्थानं तेन प्रोत्साहितेन-जनितोत्साहेन। सन्धाय = सन्धि कृत्वा। उपगृहीतेन = सम्भृतेन। वृषलम्—शूद्रं चन्द्रगुप्तम्। अभियोक्तुम् = आक्रमितुम्। प्रकाशीभवन्तम् = प्रचारं गच्छन्तुम्।

हिन्दी रूपान्तर

(प्रवेश करके।)

शिष्य—उपाध्याय, आज्ञा दीजिये।

चाणक्य—वत्स, (अभी तक तुमने आसन नहीं बिछाया) मैं बैठना चाहता हूँ।

शिष्य—उपाध्याय, प्रवेश द्वार के पास वाले कमरे में बेंत का आसन बिछा दिया है, तो इस कमरे में (वेत्रासन पर) आप बैठ सकते हैं।

चाणक्य—वत्स, कार्य के प्रति (राक्षस को पकड़ने के प्रति) एकाग्रता ही हमको (प्रतिदिन इसप्रकार) व्याकुल किया करती है (और इसीलिये मैंने आसन नहीं देखा), उपाध्याय के साथ उत्पन्न होने वाली शिष्य के प्रति उपालम्भनशीलता (मुझे व्याकुल) नहीं करती (इसलिये शोक मत करो)। (अभिनय के साथ बैठकर मन ही मन।) यह समाचार नागरिकों में कैसे फैल गया कि नन्दवंश के विनाश से उत्पन्न क्रोध वाला राक्षस अपने पिता पर्वतक की मृत्यु के कारण क्रोधित सम्पूर्ण नन्दराज्य को बदले में देने की शर्त के द्वारा (परिपणन) प्रोत्साहित पर्वतक के पुत्र मलयकेतु के साथ सन्धि करके और उसके द्वारा इकट्ठी की हुई विशाल म्लेच्छ राजाओं की सेना से युक्त (परिवृतः) चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने के लिये तैयार है। (सोचकर।) अथवा जिसे मैंने सारे संसार के सामने (यहाँ तो केवल नगर में ही यह बात फैली है) नन्दवंश के वध की प्रतिज्ञा करके दुस्तरणीय प्रतिज्ञारूपी नदी को पार कर लिया वह मैं सम्प्रति फैलती हुई इस बात को भी (कि राक्षस आक्रमण कर रहा है) शान्त करने में समर्थ हूँ। क्योंकि—

टिप्पणी

(१) **उपाध्याय** = उपेत्य अधीते अस्मात् इति उप + अधि + इङ् + घञ् अपादाने संज्ञायाम्।

(२) **ननु** - इसका प्रयोग करके शिष्य ने कुछ अपना क्रोध प्रकट किया है क्योंकि उसने आसन पहले ही बिछा दिया है और वह समझता है कि जो उलाहना उसे दिया जा रहा है, वह उसके योग्य नहीं है।

"नन्वाक्षेपे परिप्रश्ने प्रत्युक्त्वावधारणे" इति हैमः।

(३) **सन्निहित**—सम् + नि + धा + क्त कर्मणि सन्निहित।

(४) **व्याकुलयति**—वि + आ + कुल + अच् कर्तरि व्याकुलः। व्याकुलं करोति इति व्याकुल + णिच् + तिप्।

(५) **उपाध्यायसहभूः दुःशीलता**—कठोरता, उपेक्षाबुद्धि, जिससे एक अध्यापक अपने शिष्य के प्रति व्यवहार करता है। यह अध्यापक की एक परम्परागत विशेषता होती है, उसका यह स्वाभाविक गुण होता है कि वे अपने शिष्य के प्रति कुछ कठोर व्यवहार करते हैं। चाणक्य यह समझता है कि किसी ऐसे अध्यापक की कल्पना नहीं की जा सकती जो दुःशीलता के गुण से रहित हो। इसप्रकार चाणक्य अपने अध्यापक वर्ग की कमजोरी से परिचित है और इसलिये वह अपने शिष्य के प्रति विचारशील है।

(६) **परिपणनम्**—परि + पण-व्यवहारे + ल्युट् - भावे परिपणनम्। जो कुछ भी सहायता मलयकेतु करेगा उसे उसके बदले में सम्पूर्ण नन्दराज्य देने की प्रतिज्ञा राक्षस ने की थी। यहाँ "**सकल**" पर जोर है।

(७) **तदुपगृहीतेन च महता म्लेच्छराजबलेन**—इससे प्रतीत होता है कि सेना मलयकेतु की नहीं है, अपितु इसके द्वारा इकट्ठी की हुई है।

(८) **म्लेच्छ** - आर्यों से भिन्न भाषा का प्रयोग करने वालों को "म्लेच्छ" नाम से अभिहित किया गया है। किन्तु आगे चलकर रीति-रिवाजों और व्यवहार में भी भिन्नता रखने वालों को "म्लेच्छ" संज्ञा दी गई। प्राचीन काल में इससे किसी प्रकार के घृणा के भाव की अभिव्यक्ति नहीं होती थी। किन्तु आगे चलकर इसप्रकार की भावना म्लेच्छ शब्द के साथ जुड़ गई।

(९) **वृषलम्** =वृषं-धर्मं लाति-नाशयति इति वृषलः - शूद्रः तम्। क्योंकि चन्द्रगुप्त शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुआ था, इसलिये वह वृषल है।

(१०) **सर्वलोकप्रकाशम्** - चाणक्य कहता है कि मैंने जो नन्दवंश के विनाश की प्रतिज्ञा की थी वह तो सारे संसार को सामने रखकर की थी और फिर मैंने उस प्रतिज्ञा को पूरा कर लिया और वह बात कि राक्षस चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा है, केवल नगर में ही फैली है। "**कथं प्रकाशतां गतोऽयमर्थः पौरेषु**"—अतः इसको भी शान्त करने में मुझे अधिक परेशान होने की आवश्यकता नहीं है। वास्तविक बात तो केवल इतनी है कि नागरिकों में किसी को भी नहीं मालूम कि आक्रमण कब होने वाला है किन्तु चाणक्य ने सूत्रधार के मुख से जो कुछ सुना है उससे वह अनुमान लगा रहा है कि यह बात सारे नगर में फैल चुकी है किन्तु फिर भी उसको कुछ चिन्ता नहीं है।

(११) **प्रकाशीभवन्तम्**—न प्रकाशोऽप्रकाशः तं प्रकाशं सम्पद्यमानं प्रकाशीभवन्तम् = अभूततद्भावे च्विः। यह च्वि प्रत्ययान्त रूप है।

यस्य मम—

श्यामीकृत्याननेन्दूनरियुवतिदिशां संततैः शोकधूमैः
कामं मन्त्रिद्रुमेभ्यो नयपवनहृतं मोहभस्म प्रकीर्य्य।
दग्ध्वा सम्भ्रान्तपौरद्विजगणरहितान् नन्दवंशप्ररोहान्
दाह्याभावान्न खेदाज्ज्वलन इव वने शाम्यति क्रोधवह्निः॥११॥

अपि च—

शोचन्तोऽवनतैर्नराधिपभयात् धिक्शब्दगर्भैर्मुखै-
र्मामग्रासनतोऽवकृष्टमवशं ये दृष्टवन्तः पुरा।
ते पश्यन्ति तथैव सम्प्रति जना नन्दं मया सान्वयं
सिंहेनेव गजेन्द्रमद्रिशिखरात् सिंहासनात्पातितम्॥१२॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—श्यामीकृत्येति—अरियुवतिदिशाम् आननेन्दून् संततैः शोकधूमैः श्यामीकृत्य, मन्त्रिद्रुमेभ्यः नयपवनहृतं कामं मोहभस्म प्रकीर्य। सम्भ्रान्तपौरद्विजगणरहितान् नन्दवंशप्ररोहान् दग्ध्वा, वने ज्वलन इव क्रोधवह्निः दाह्याभावात् शाम्यति खेदात् न॥११॥

व्याख्या—(यस्य मम) अरियुवतिदिशाम् = अरीणां-शत्रूणां (नन्दानाम्) युवतयः-रमण्यः एव दिशः तासाम् आननेन्दून् = आननानि-मुखानि एव इन्दवः-चन्द्राः तान् संततैः-अविच्छिन्नैः शोकधूमैः = शोकाः-(पत्यादिवियोगजनिताः) खेदाः एव धूमाः तैः श्यामीकृत्य—मलिनीकृत्य, मन्त्रिद्रुमेभ्यः = मन्त्रिणः-नन्दामात्याः एव द्रुमाः-वृक्षाः तेभ्यः नयपवनहृतं = नयः-नीतिरेव पवनः-मारुतः तेन हृतम्-आनीतम् कामं-पर्याप्तं मोहभस्म = मोहः-कर्तव्यमूढता एव भस्म तत् प्रकीर्य-प्रक्षिप्य सम्भ्रान्तपौरद्विजगणरहितान् = सम्भ्रान्ताः-मान्याः ये पौराः-नागरिकाः ते एव द्विजगणाः-पक्षिसमूहाः तैः रहितान्-व्यतिरिक्तान् नन्दवंशप्ररोहान् = नन्दस्य वंश एव वंशः-वेणुः तस्य प्ररोहान्-अंकुरान् (शिशुपर्यन्तान् नन्दवंशान्) दग्ध्वा-भस्मीकृत्य वने ज्वलन इव-दावानल इव क्रोधवह्निः कोपानलः दाह्याभावात् = दाह्यस्य-नाश्यस्य अभावात्-असत्वात् शाम्यति-विरमति खेदात् परिश्रमात् न (शाम्यति)॥११॥

अन्वयः—शोचन्त इति—पुरा ये नराधिपभयात् अवनतैः धिक्शब्दगर्भैः मुखैः शोचन्तः माम् अग्रासनतः अवकृष्टम् अवशं दृष्टवन्तः। सम्प्रति ते जनाः सिंहेन अद्रिशिखरात् पातितं गजेन्द्रमिव मया सान्वयं नन्दं सिंहासनात् तथैव पातितं पश्यन्ति॥१२॥

व्याख्या—पुरा-पूर्वं ये (जनाः) नराधिपभयात्-राजभयात् अवनतैः-नम्रीकृतैः (किन्तु) धिक्शब्दगर्भैः = धिक् राजानम् इति शब्दः गर्भे येषां तादृशैः मुखैः (माम्)

शोचन्तः-अनुकम्पमानाः माम्-चाणक्यम् अग्रासनतः-उत्कृष्टश्राद्धीयब्राह्मणासनात् अवकृष्टं-च्यावितम् अवशं दृष्टवन्तः। सम्प्रति-इदानीं ते जनाः सिंहेन अद्रिशिखरात्-पर्वतशृङ्गात् पातितं गजेन्द्रमिव-करिराजमिव मया सान्वयं-सपुत्रं नन्दं सिंहासनात् तथैव (यथाग्रासनतोऽहमवकृष्टस्तथैवेत्यर्थः) पातितं भ्रंशितं पश्यन्ति ॥१२॥

हिन्दी रूपान्तर

श्लोक (११) अर्थ—जिस मेरी—

(नन्द) शत्रुओं की स्त्रीरूपी दिशाओं के मुखरूपी चन्द्रमाओं को निरन्तर शोकरूपी धुओं से मलिन बनाकर (अर्थात् निरन्तर रोने से शत्रु-स्त्रियों के मुखों को मलिन करके), मन्त्रीरूपी वृक्षों के लिये नीतिरूपी वायु से उड़ाई जाती हुई पर्याप्त मोहरूपी भस्म को फैलाकर (अर्थात् राक्षस वक्रनासादि मन्त्रियों को अपनी नीति-शक्ति से मोहित करके प्रतिकार करने में असमर्थ बनाकर) मान्य नागरिकरूपी पक्षी-समूहों से रहित नन्दरूपी वेणु के अंकरों को जलाकर वन में दावाग्नि के समान (मेरी) क्रोधरूपी वह्नि (किसी दूसरी) दाह्य वस्तु के न होने के कारण शान्त हो रही है, थक जाने के कारण नहीं। (किन्तु सम्प्रति वध्यस्थानीय मलयकेतु के मिल जाने के कारण उस पर क्रोधवह्नि पुनः प्रज्वलित होगी ही।) ॥११॥

श्लोक (१२) अर्थ—तथा—

पहले जिन मनुष्यों ने राजा (नन्द) के भय से (सामने विरोध न कर सकने के कारण) झुके हुये (किन्तु) हे नन्द ! तुमको धिक्कार है, यह शब्द है गर्भ में जिनके ऐसे मुखों से (मुझ पर) दया करते हुये (क्योंकि उस समय प्रतिकार करने में वे असमर्थ थे) मुझको उत्कृष्ट (श्राद्धीय ब्राह्मण के) आसन से नीचे खींचा जाता हुआ विवश होकर देखा था। इस समय वे (ही) मनुष्य सिंह के द्वारा पर्वत के शिखर से गिराये जाते हुये हाथी के समान मेरे द्वारा पुत्रों सहित नन्द को सिंहासन से उसी-प्रकार (जिस प्रकार उन्होंने मुझको देखा था) गिराये जाते हुये देखें ॥१२॥

टिप्पणी

(१) **श्लोक ११ के अन्दर रूपक अलंकार इसप्रकार है**—अरियुवति = दिशा। आनन = इन्दु। शोक = धूम। मन्त्रि = द्रुम। नय = पवन। मोह = भस्म। पौर = द्विजगण। नन्द = वंश।

(२) **श्यामीकृत्य**—अश्यामान् श्यामान् कृत्वा इति अभूततद्भावे च्विः।

(३) **अरियुवतिदिशाम्**—सामान्य रूप से दिशाओं को स्त्री रूप में चित्रित किया जाता है। परन्तु यहाँ इसके विपरीत शत्रु स्त्रियों को दिशाओं के रूप में चित्रित किया गया है और इसीलिये शत्रु-स्त्रियों के मुखों को अनेक चन्द्रमा बताया गया है।

(४) **मन्त्रिद्रुमेभ्यः**—यहाँ पर "पत्ये शेते" के समान "**क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्**" (वार्तिक) से चतुर्थी विभक्ति है।

(५) **प्रकीर्य**—प्र + कृ + ल्यप्।

(६) **सम्भ्रान्तपौरद्विजगणरहितान्**—वन के अन्दर आग लग जाने पर पक्षी उड़ जाया करते हैं। इसीप्रकार नन्द के आपत्तिग्रस्त होने पर कुछ नागरिक उसको छोड़कर चले गये इन्हीं नागरिकों की ओर यहाँ संकेत है।

(७) कहने का आशय यह है कि जिसप्रकार जंगल में वृक्षों के संघर्ष से उत्पन्न होने वाली दावाग्नि चारों दिशाओं को धुयें से व्याप्त करके और वृक्षों के अग्रभाग पर भस्म को फैलाकर सूखे वृक्षों को जलाकर शान्त हो जाती है। उसी-प्रकार नन्दकृत अपमान से उत्पन्न होने वाली चाणक्य की क्रोधवह्नि भी शोक से शत्रु-स्त्रियों के मुखों को मलिन करके और नीति से नन्द के अमात्य को किंकर्तव्यविमूढ बनाकर नन्दवंश का विनाश करके किसी अन्य व्यक्ति के विरोध में न होने के कारण शान्त हो रही है।

(८) **नराधिपभयात्**—"**पञ्चमी भयेन**" पा० २/१/३७ इति समासः।

(९) **धिक्शब्दगर्भैः**—क्योंकि वे सामने विरोध नहीं कर सकते थे। "**इत्थम्भूतलक्षणे**" पा० २/३/२१ से तृतीया।

(१०) **पश्यन्ति**—निकट भूत के अर्थ में वर्तमान काल का प्रयोग हुआ है अर्थात् सद्यः देखा था। "**वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा**" पा० ३/३/१३१।

(११) **सान्वयम्**—अन्वय का अर्थ यहाँ सन्तति है, वंश नहीं।

(१२) श्लोक १२ में चाणक्य ने अपनी उस दिशा का चित्रण किया है जब उसको राजा नन्द ने तिरस्कृत करके आसन से उठा दिया था।

सोऽहमिदानीमवसितप्रतिज्ञाभारोऽपि वृषलापेक्षया शस्त्रं धारयामि। येन मया—

समुत्खाता नन्दा नव हृदयरोगा इव भुवः
कृता मौर्य्ये लक्ष्मीः सरसि नलिनीव स्थिरपदा।
द्वयोः सारं तुल्यं द्वितयमभियुक्तेन मनसा
फलं कोपप्रीत्योर्द्विषति च विभक्तं सुहृदि च ॥१३॥

संस्कृत-व्याख्या

अवसितप्रतिज्ञाभारः—अवसितः—समाप्तः प्रतिज्ञाभारः यस्य सः; तीर्णप्रतिज्ञ इत्यर्थः। **शस्त्रम्** = उद्योगम् अथवा अधिकारचिह्नं खड्गम्।

अन्वयः—समुत्खाता इति—भुवः हृदयरोगा इव नव नन्दाः समुत्खाताः, सरसि नलिनीव मौर्ये लक्ष्मीः स्थिरपदा कृता। कोपप्रीत्योः द्वयोः सारं द्वितयं फलम् अभियुक्तेन मनसा द्विषति च सुहृदि च तुल्यं विभक्तम् ॥१३॥

व्याख्या (येन मया) भुवः-पृथिव्याः हृदयरोगाः इव = हृदयस्य रोगाः व्याधयः इव नव नन्दाः समुत्खाताः-समूलमुन्मूलिताः, सरसि-सरोवरे नलिनि-पद्मिनीव मौर्य-चन्द्रगुप्ते लक्ष्मीः-राज्यश्रीः स्थिरपदा-अचला कृता-विहिता। (तेन च कार्यद्वयेन) कोप-प्रीत्योः-क्रोधस्नेहयोः द्वयोः सारं-न्याय्यं द्वितयं-द्विविधं फलं (निग्रहानुग्रहरूपम्) अभि-युक्तेन-अभिनिवेशवता मनसा-चेतसा द्विषति च-रिपौ (नन्दे) च सुहृदि च-मित्रे (मौर्ये) च तुल्यं-युगपत् विभक्तं-विभज्य स्थापितम् ॥१३॥

हिन्दी रूपान्तर

(इन परिस्थितियों में) वह मैं सम्प्रति (अपनी) समाप्त प्रतिज्ञा के भारवाला

भी चन्द्रगुप्त की अपेक्षा से शस्त्र धारण कर रहा हूँ अथवा उद्योग (शस्त्रम्) कर रहा हूँ (अर्थात् प्रधानमन्त्री के पद को धारण किये हुये हूँ)। (क्योंकि) जिस मैंने—

श्लोक (१३) अर्थ—पृथ्वी के हृदय में विद्यमान रोग के समान नौ नन्दों को (सर्वार्थसिद्धि के ६ पुत्र अथवा नन्द और उसके आठ पुत्रों को) जड़ से समाप्त कर दिया, सरोवर में कमलिनि के समान चन्द्रगुप्त में (नन्दवंश की) राज्यलक्ष्मी को स्थिर पैर वाली बना दिया। (इसप्रकार इन दो कार्यों को करके मैंने) (अपमान से उत्पन्न होने वाले) कोप और (सेवा से उत्पन्न होने वाली) प्रीति इन दोनों के न्याय्य (सारम्) द्विविध फल को (निग्रह और अनुग्रह) तत्पर मन से शत्रु (नन्द) में और मित्र (चन्द्रगुप्त) में युगपत् (तुल्यम्) विभक्त कर दिया ॥१३॥

टिप्पणी

(१) **वृषलापेक्षया**—क्योंकि चाणक्य चन्द्रगुप्त के प्रति अभिरुचिशील है और वह चाहता है कि चन्द्रगुप्त राज्य में स्थिर हो जावे।

(२) **शस्त्रं धारयामि**—जिसप्रकार कञ्चुकी की वेत्रयष्टि उसकी निशानी होती है, उसीप्रकार प्रधान मन्त्री की निशानी शस्त्र होता है—ऐसा प्रतीत होता है। आगे चलकर चाणक्य अपना शस्त्र राक्षस को समर्पित करेगा। राज्य व्यवस्था के अतिरिक्त युद्ध के अवसर पर मन्त्री को सेनापतित्व का भार भी संभालना पड़ता था इसीलिये "**शस्त्रं धारयामि**"।

(३) **हृदयरोगा इव:**—नन्द राजा होने की दृष्टि से प्रजाओं में प्रिय नहीं थे—अतः उनको रोग कहा गया है।

(४) **द्वितयम्**—द्वौ अवयवौ अस्य इति द्वि + तयप्।

(५) **फलं कोपप्रीत्योः**—क्रम ध्यान देने योग्य है—**कोपस्य फलं द्विषति** और **प्रीतेः फलं च सुहृदि**—युगपत् विभक्त कर दिया अर्थात् नन्द को नष्ट करने के साथ ही चन्द्रगुप्त को राज्य पर प्रतिष्ठित कर दिया।

अथवा अगृहीते राक्षसे किमुत्खातं नन्दवंशस्य, किं वा स्थैर्यमुत्पादितं चन्द्रगुप्तलक्ष्म्याः। (विचिन्त्य।) अहो राक्षसस्य नन्दवंशे निरतिशयो भक्तिगुणः। स खलु कस्मिंश्चिदपि जीवति नन्दान्वयावयवे वृषलस्य साचिव्यं ग्राहयितु न शक्यते। तदभियोगं प्रति निरुद्योगः शक्योऽवस्थापयितुमस्माभिः। अनयैव बुद्ध्या तपोवनगतोऽपि घातितस्तपस्वी नन्दवंशीयः सर्वार्थसिद्धिः। यावदसौ मलयकेतुमङ्गीकृत्यास्मदुच्छेदाय विपुलतरं प्रयत्नमुपदर्शयत्येव। (प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा।) साधु अमात्य राक्षस, साधु। साधु श्रोत्रिय, साधु। साधु मन्त्रिबृहस्पते, साधु। कुतः।

ऐश्वर्यादनपेतमीश्वरमयं लोकोऽर्थतः सेवते
तं गच्छन्त्यनु ये विपत्तिषु पुनस्ते तत्प्रतिष्ठाशया।
भर्तुर्ये प्रलयेऽपि पूर्वसुकृतासङ्गेन निःसङ्गया।
भक्त्या कार्यधुरां वहन्ति बहवस्ते दुर्लभास्त्वादृशाः ॥१४॥

अत एवास्माकं त्वत्संग्रहे यत्नः, कथमसौ वृषलस्य साचिव्यग्रहणेन सानुग्रहः स्यादिति । कुतः ।

संस्कृत-व्याख्या

अगृहीते = अवशीकृते । नन्दान्वयावयवे = नन्दान्वयस्य-नन्दवंशस्य अवयवे-अंशे । तदभियोगं प्रति = तस्य–नन्दान्वयावयवस्य अभियोगं प्रति-प्रतिष्ठापनाभिमानं प्रति । अवस्थापयितुं-वशे स्थापयितुम् । तपस्वी = वराकः । उच्छेदाय = उन्मूलनाय ।

अन्वयः—**ऐश्वर्यादिति**—अयं लोकः ऐश्वर्यादनपेतम् ईश्वरम् अर्थतः सेवते ये विपत्तिषु तमनुगच्छन्ति ते पुनः तत्प्रतिष्ठाशया । ये भर्तुः प्रलयेऽपि पूर्वसुकृतासंगेन निःसंगया भक्त्या कार्यधुरां वहन्ति ते त्वादृशाः बहवः दुर्लभाः ॥१४॥

व्याख्या—अयं लोकः-एष संसारः ऐश्वर्यात्-सम्पदः अनपेतम्-युक्तम् ईश्वरं-स्वामिनम् अर्थतः-अर्थलाभहेतोः सेवते परिचरति, ये (जनाः) विपत्तिषु-व्यसनेषु (ऐश्वर्यनाशे इत्यर्थः) तम्-ईश्वरम् अनुगच्छन्ति-अनुसरन्ति ते पुनः तत्प्रतिष्ठाशया = तस्य-भर्तुः प्रतिष्ठा-पुनरुत्थानं तत्र या आशा तया (अनुगच्छन्ति) । ये (तु) भर्तुः–स्वामिनः प्रलयेऽपि-मरणेऽपि पूर्वसुकृतासंगेन-स्वामिकृतपूर्वोपकारा-विस्मरणेन निःसंगया-निःस्पृहया भक्त्या कार्यधुरां-कार्यभारं वहन्ति-धारयन्ति ते त्वादृशाः-भवद्विधाः बहवः दुर्लभाः-विरलाः (भवानेको जगति दिष्ट्योपलब्धोऽस्माभिरित्यर्थः) ॥१४॥

त्वत्संग्रहे-भवद्वशीकरणे । सानुग्रहः-अनुग्रहेण सह विद्यमानः, कृतकृत्य इत्यर्थः ।

हिन्दी रूपान्तर

अथवा राक्षस को वश में किये बिना (मैंने) नन्दवंश का क्या बिगाड़ लिया (अर्थात् कुछ भी नहीं) अथवा चन्द्रगुप्त की लक्ष्मी की क्या स्थिरता उत्पन्न कर दी (अर्थात् कुछ भी नहीं) । (सोचकर ।) आश्चर्य है, (कि) राक्षस की नन्दवंश में अतिशय भक्ति रूपी गुण है । (इस नन्दवंश के प्रति अतिशय भक्ति रूपी गुण होने के कारण) नन्दवंश के अंश किसी के भी जीवित रहने पर उसको चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व ग्रहण नहीं कराया जा सकता है । किन्तु उस (जिस किसी भी) नन्दवंश के अंश को राज्य पर प्रतिष्ठित करने के प्रति उद्योगरहित (राक्षस) को हम वश में कर सकते हैं । इसी विचार से (अर्थात् राक्षस को उद्यम रहित करने की दृष्टि से) तपस्वी (बेचारा) नन्दवंशीय सर्वार्थसिद्धि तपोवन में गया हुआ भी मरवा दिया । ऐसा हो जाने पर भी अर्थात् नन्दवंश के समूल नष्ट किये जाने पर भी (यावत्) वह (राक्षस) मलयकेतु को आश्रय बनाकर हमको नष्ट करने के लिये और अधिक (विपुलतरम्) प्रयत्न दिखा ही रहा है । (प्रत्यक्ष के समान आकाश में लक्ष्य बांधकर ।) अमात्य राक्षस, (तुम) धन्य हो, धन्य हो । श्रोत्रिय, (तुम) धन्य हो, धन्य हो । हे मन्त्रियों में बृहस्पति तुल्य राक्षस (तुम) धन्य हो, धन्य हो । क्योंकि ।

श्लोक (१४)—**अर्थ**—यह संसार ऐश्वर्य से युक्त स्वामी की स्वार्थवश (कुछ प्राप्त करने के लिये) सेवा करता है (और) जो मनुष्य आपत्तियों में (ऐश्वर्य के नष्ट

हो जाने पर) उसका (स्वामी का) अनुमरण करते हैं वे पुनः उस (स्वामी) की अभ्युदय की आशा से (अनुसरण करते हैं), (किन्तु हे राक्षस !) जो स्वामी की मृत्यु हो जाने पर भी पूर्व किये हुये उपकार के अविस्मरण से फलासक्ति रहित होकर भक्ति के द्वारा कार्य के भार को वहन करते हैं वे तुम जैसे बहुत से व्यक्ति (मिलने इस संसार में) दुर्लभ हैं। (हमको तो तुम अकेले ही इस संसार में भाग्य से मिले हो) ॥१४॥

इसीलिये हमारा तुमको (अपने) वश में करने का प्रयत्न है (कि) कैसे वह (राक्षस) चन्द्रगुप्त के मन्त्रित्व को ग्रहण करने के द्वारा कृतकृत्य होवे। क्योंकि।

टिप्पणी

(१) **अगृहीते राक्षसे**—"**यस्य च भावेन भावलक्षणम्**" पा० २/३/३७ से भाव में सप्तमी है। राक्षस को ग्रहण करना चाणक्य और नाटक का प्रमुख उद्देश्य है।

(२) **किमुत्खातं नन्दवंशस्य**—इससे यह ध्वनित होता है कि राक्षस के बुद्धि-वैभव से फिर कोई नन्दवंशीय व्यक्ति चन्द्रगुप्त के विरोध में उठ खड़ा होगा, उस अवस्था में चन्द्रगुप्त के राज्य की स्थिरता की आशा करना सर्वथा ही व्यर्थ होगा, अतः इन सभी अनर्थों के मूल कारण राक्षस को ही वश में करना चाहिये।

(३) **उत्खातम्**—उत् + खन् + क्त कर्म में रूप है।

(४) **प्रत्यक्षवत्**—क्योंकि दूरस्थ राक्षस को सम्बोधन करना सम्भव नहीं है इसीलिये कवि ने उसको "**प्रत्यक्षवत्**" ऐसा कहा है। क्योंकि सम्बोधन का लक्षण है—

स्थितस्याभिमुखीभावमात्रं सम्बोधनं विदुः ॥

(५) **आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा**—इसी को पारिभाषिक भाषा में "**आकाश-भाषितम्**" कहते हैं।

(६) **श्रोत्रिय**—इसका लक्षण इसप्रकार है—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः, संस्कारैः द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं, त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥

(७) **बृहस्पतिः**—वैदिक काल में इनको देवताओं का गुरु और मन्त्री माना जाता रहा है। ग्रहों की दृष्टि से इसी के नाम पर सप्ताह के दिनों में एक दिन बृहस्पतिवार भी है।

अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्याद्भक्तियुक्तेन कः
प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत्किं भक्तिहीनात्फलम्।
प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिता येषां गुणा भूतये
ते भृत्या नृपतेः कलत्रमितरे संपत्सु चापत्सु च ॥१५॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—**अप्राज्ञेनेति**—भक्तियुक्तेन अप्राज्ञेन च कातरेण च कः गुणः स्यात्, प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि भक्तिहीनात् हि किं फलं स्यात्। येषां प्रज्ञाविक्रम-

भक्तयः समुदिताः गुणाः, ते भृत्याः नृपतेः भूतये, इतरे सम्पत्सु चापत्सु च कलत्रम् ॥१५॥

व्याख्या—भक्तियुक्तेन-सानुरागेण (किन्तु) अप्राज्ञेन-बुद्धिरहितेन च कातरेण च-विक्रमशून्येन च (भृत्येन) कः गुणः—किं फलं स्यात् ? (न कोऽपीत्यर्थः), प्रज्ञाविक्रमशालिनः—बुद्धिवीरत्ववतः अपि भक्तिहीनात्– अनुरागशून्यात् (भृत्यात्) हि किं फलं स्यात् ? (न किमपि इत्यर्थः)। येषां प्रज्ञाविक्रमभक्तयः—बुद्धिवीरत्वानुरागाः समुदिताः—समस्ताः (एव) गुणाः (सन्ति), ते भृत्याः नृपतेः भूतये—मङ्गलाय (भवन्ति) इतरे-प्रज्ञादिशून्याः भृत्याः सम्पत्सु-विभूतिकालेषु च आपत्सु-विपत्कालेषु च कलत्रं—वनिता (इव पोष्यमात्रम्) ॥१५॥

हिन्दी रूपान्तर

श्लोक (१५)—अर्थ—भक्ति से युक्त (किन्तु) बुद्धिरहित और पराक्रम रहित अर्थात् भीरु (भृत्य से स्वामी का) क्या लाभ (गुणः) ? अर्थात् कुछ भी नहीं, (तथा) बुद्धि और पराक्रमशील होते हुये भी भक्ति से रहित (भृत्य) से क्या लाभ हो सकता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं, जिन (भृत्यों) के बुद्धि, पराक्रम और भक्ति—ये सभी गुण (होते) हैं वे भृत्य राजा के कल्याण के लिये (होते) हैं, इन (प्रज्ञादि) गुणों से शून्य भृत्य ऐश्वर्य के समय में और आपत्ति के समय में स्त्री (के समान कोमल और पोष्य हुआ करते) हैं। (उनसे किसी भी प्रकार की स्वामी की स्वार्थसिद्धि नहीं हो सकती।) ॥१५॥

टिप्पणी

(१) उक्त श्लोक में भृत्य के गुणों का वर्णन है।

(२) भृत्या—भ्रियते इति—सेवक का पालन पोषण किया जाता है और इसके बदले में वह सेवा करता है। इसके विपरीत "भार्या" भी भरणीया होती है परन्तु वह सेवा नहीं करती। यही भृत्य और भार्या में अन्तर है। इसकी परिभाषा–

यस्मिन् कृत्यं समावेश्य निर्विशङ्केन चेतसा।
आस्यते सेवकः स स्यात् कलत्रमिव चापरम् ॥ (पञ्चतन्त्र)

(३) कलत्रम्—(१) कल अथवा कड धातु है, अर्थ है खाना या रक्षा करना अर्थात् जिनको हमेशा खिलाया-पिलाया जाता है और जिसकी रक्षा की जाती है। (२) कलं दुर्बलं त्रायते कलत्र कलयति वा। 'न वै पत्युः कामाय प्रिया भवति आत्मनस्तु कामाय' इति श्रुतेः। स्त्रियाँ अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये ही पतियों की सेवा करती हैं और इसी सादृश्य के कारण वे भी स्त्री ही हैं, यथार्थ भृत्य नहीं। उनके स्वामी की किसीप्रकार की कार्यसिद्धि नहीं होती है। प्रज्ञा, विक्रम और भक्ति से शून्य सेवक सर्वदा राजा के लिये स्त्री के समान भार होते हैं।

(४) प्रज्ञा, विक्रम और भक्ति – ये तीनों गुण राक्षस के अन्दर हैं। इसलिये उसको वश में करने का प्रयास है। मलयकेतु को तो पकड़ना केवल आनुषङ्गिक है।

तन्मयाप्यस्मिन्वस्तुनि न शयानेन स्थीयते। यथाशक्ति क्रियते तत्संग्रहणं प्रति यत्नः। कथमिव। अत्र तावद् वृषलपर्वतकयोरन्यतरविनाशेनापि चाणक्यस्यापकृतं भवतीति विषकन्यया राक्षसेनास्माकमत्यन्तोपकारि मित्रं घातितस्तपस्वी पर्वतक इति संचारितो जगति जनापवादः। लोकप्रत्ययार्थमस्यैवार्थस्याभिव्यक्तये पिता ते चाणक्येन घातित इति रहसि त्रासयित्वा भागुरायणेनापवाहितः पर्वतकपुत्रो मलयकेतुः। शक्यः खल्वेष राक्षसमतिपरिगृहितोऽपि व्युत्तिष्ठमानः प्रज्ञया निग्रहीतुम्। न पुनरस्य निग्रहात्पर्वतकवधोत्पन्नं राक्षसस्यायशः प्रकाशीभवत्प्रमार्ष्टुमिच्छामि। प्रयुक्ताश्च स्वपक्षपरपक्षयोरनुरक्तापरक्तजनजिज्ञासया बहुविधदेशवेषभाषाचारसंचारवेदिनो नानाव्यञ्जनाः प्रणिधयः। अन्विष्यते च कुसुमपुरवासिना नन्दामात्यसुहृदां निपुणं प्रचारगतम्। तत्तत्कारणमुत्पाद्य कृतकृत्यतामापादिताश्चन्द्रगुप्तसहोत्थायिनो भद्रभटप्रभृतयः प्रधानपुरुषाः। शत्रुप्रयुक्तानां च तीक्ष्णरसदायिनां प्रतिविधानं प्रत्यप्रमादिनः परीक्षितभक्तयः क्षितिपतिप्रत्यासन्नाः नियोजितास्तत्राप्तपुरुषाः। अस्ति चास्माकं सहाध्यायि मित्रमिन्दुशर्मा नाम ब्राह्मणः। चौशनस्यां दण्डनीत्यां चतुःषष्ट्यङ्गे ज्योतिःशास्त्रे च परं प्रावीण्यमुपगतः। स मया क्षपणकलिङ्गधारी नन्दवंशवधप्रतिज्ञानन्तरमेव कुसुमपुरमुपनीय सर्वनन्दामात्यैः सह सख्यं ग्राहितो विशेषतश्च तस्मिन्राक्षसः समुत्पन्नविश्रम्भः। तेनेदानीं महत्प्रयोजनमनुष्ठेयं भविष्यति। तदेवमस्मत्तो न किंचित्परिहास्यते। वृषल एव केवलं प्रधानप्रकृतिरस्मास्वारोपितराज्यतन्त्रभारः सततमुदास्ते। अथवा यत्स्वयमभियोगदुःखैरसाधारणैरप्राकृतं तदेव राज्यं सुखयति कुतः।

स्वयमाहृत्य भुञ्जाना बलिनोऽपि स्वभावतः।
गजेन्द्राश्च नरेन्द्राश्च प्रायः सीदन्ति दुःखिता ॥१६॥

संस्कृत व्याख्या

अस्मिन् वस्तुनि = एतस्मिन् विषये (राक्षसग्रहणकर्मणि)। न शयानेन = सावधानेन। सञ्चारितः = प्रचारितः। जनापवादः = जनश्रुतिः। लोकप्रत्ययार्थम् = लोकानां-मनुष्याणां प्रत्ययार्थं = विश्वासार्थम्। रहसि = एकान्ते। अपवाहितः = अपसारितः। व्युत्तिष्ठमानः = युद्धार्थं यतमानः। प्रमार्ष्टुम् = क्षालयितुम्। नानाव्यञ्जनाः = बहुविधवेषधारिणः। प्रणिधयः = गुप्तचराः। निपुणम् = गूढत्वेन क्रियमाणम्। प्रचारगतम् = कपटाचरणप्रकारः। उत्पाद्य = घटयित्वा। चन्द्रगुप्तसहोत्थायिनः = चन्द्रगुप्तेन सह उत्थायिनः— उत्तिष्ठमानाः। तीक्ष्णरसदायिनाम् = विषदायिनाम्। प्रतिविधानं = निवारणम्। औशनस्यां = शुक्रप्रणीतायाम्। दण्डनीत्यां = नयशास्त्रे। प्रावीण्यम् = अतिदक्षताम्। क्षपणकलिङ्गधारी = क्षपणकस्य—बौद्धसंन्यासिनः लिङ्गधारी = वेषभृत्। समुत्पन्नविश्रम्भः = जातविश्वासः। परिहास्यते = न्यूनं भविष्यति। आरोपितराज्यतन्त्रभारः = आरोपितः— न्यस्तः राज्यस्य यः

—

तन्त्र:=शासनं तस्य भार: येन तादृश:। उदास्ते=उदासीन: सन् तिष्ठति। अभियोगदु:खै:=कार्याभिनिवेशजनितखेदै:। अपाकृतं=वर्जितम्।

अन्वय:—स्वयमिति—स्वयमाहृत्य भुञ्जाना: स्वभावत: बलिनोऽपि गजेन्द्राश्च नरेन्द्राश्च प्राय: दु:खिता: सीदन्ति ॥१६॥

व्याख्या—स्वयं=आत्मना (न त्वन्येनेति) आहृत्य=संगृह्य भुञ्जाना:=उपभोगं कुर्वाणा: स्वभावत:=प्रकृत्या बलिनोऽपि=बलवन्तोऽपि गजेन्द्रा:-करिवराश्च नरेन्द्रा:=भूपाश्च प्राय:=बाहुल्येन दु:खिता:=क्लिष्टा: सन्त: सीदन्ति-अवसन्ना: भवन्ति ॥१६॥

हिन्दी रूपान्तर

इसलिये मेरे द्वारा भी इस विषय में (अर्थात् राक्षस के ग्रहण में) सावधान रहा जा रहा है अर्थात् मैं सतर्क हूँ। (और) यथाशक्ति उसको वश में करने के लिये प्रयत्न कर रहा हूँ। किस प्रकार। [सम्प्रति राक्षस को अपने वश में करने के लिये चाणक्य ने जो कुछ किया है उसका वर्णन हैं] ( ) इस विषय में (सबसे पहले) तो चन्द्रगुप्त और पर्वतक—इन दोनों में से किसी एक के विनाश से भी चाणक्य का अपकार होगा, ऐसा सोचकर विषकन्या के द्वारा राक्षस ने हमारा अत्यन्त उपकारी मित्र बेचारा पर्वतक मरवा दिया है, ऐसी जनश्रुति (मैंने) लोक में फैला दी है। (२) (और मनुष्यों के विश्वास के लिये अर्थात् जिसप्रकार मनुष्य यह समझें कि यही बात तथ्य है और हममें विश्वास कर लें इसलिये) इसी बात की (राक्षस द्वारा किये हुये पर्वतक के वध की भविष्य में) अभिव्यक्ति के लिये **"तुम्हारे पिता को चाणक्य ने मरवाया है"** (राक्षस ने नहीं) ऐसा एकान्त में भय दिखाकर भागुरायण के द्वारा पर्वतक के पुत्र मलयकेतु को भगवा दिया है। और यह (मलयकेतु) राक्षस की बुद्धि के अनुसार आचरण करता हुआ भी (आक्रमण के लिये सन्नद्ध होता हुआ) (मेरी) बुद्धि के द्वारा वश में किया जा सकता है। इसके विपरीत (पुन:) इस (मलयकेतु) के कैद कर लेने से पर्वतक के वध से उत्पन्न होने वाले प्रकट होते हुये राक्षस के अपयश को मैं धोना नहीं चाहता हूँ। (३) और (मैंने) अपने पक्ष में (अनुरक्त और विरक्त) और शत्रु के पक्ष में अनुरक्त और विरक्त मनुष्यों को जानने की इच्छा से विविध देशों के वेश, भाषा, व्यापार और आवागमन को जानने वाले अनेक प्रकार के वेश वाले गुप्तचर नियुक्त कर दिये हैं। (४) और कुसुमपुर में जाने वाले नन्द के मन्त्रियों (राक्षसादि) के मित्रों की प्रच्छन्नरूप से की जाने वाली कपट गति-विधियों को (उन गुप्तचरों से) पता लगाया जा रहा है। (५) उन उन कारणों को उत्पन्न करके चन्द्रगुप्त के साथ उठने-बैठने वाले भद्रभट आदि प्रमुख पुरुषों को कृत-कृत्य बना दिया है। (६) और शत्रुओं द्वारा प्रयुक्त विष देने वालों का प्रतिकार करने के लिये सावधान, परीक्षित भक्ति वाले, राजा के निरन्तर पास रहने वाले विश्वस्त व्यक्तियों को नियुक्त कर दिया हैं। (७) और हमारा सहाध्यायी मित्र इन्दुशर्मा नाम का ब्राह्मण है और वह शुक्राचार्य प्रणीत दण्डनीति और ६४ अङ्गों वाले ज्योतिष-

शास्त्र में परम प्रवीणता को प्राप्त है। बौद्ध संन्यासी का रूप धारण करने वाले उसको मैंने नंदवंश के वध की प्रतिज्ञा के पश्चात् ही कुसुमपुर लाकर नन्द के सभी मन्त्रियों के साथ (उसकी) मित्रता करा दी और विशेषतः उसमें राक्षस को विश्वास उत्पन्न हो गया है। उस (क्षपणक वेषधारी इन्दुशर्मा) से सम्प्रति बड़ा काम निकलेगा। तो इसप्रकार हमसे कुछ कमी नहीं रह जायगी। केवल चन्द्रगुप्त ही राज्य के प्रधान अङ्ग हम पर राज्य की व्यवस्था के भार को डालकर निरन्तर उदासीन रह रहा है। अथवा जो (राज्य) स्वयं राजकार्य में व्यस्त होने के कारण उत्पन्न असाधारण दुःखों से रहित होता है, वही राज्य सुख देता है। क्योंकि।

श्लोक (१६)—**अर्थ**—अपने आप (परिश्रम पूर्वक) लाकर भोगों का उपभोग करते हुये, स्वभाव से शक्तिशाली होते हुये भी हाथी और राजा लोग दुःखित होते हुये पीड़ित होते हैं।

टिप्पणी

(१) **न शयानेन**—न शब्द के साथ समास है—**सावधानेन स्थीयत इत्यर्थः।**

(२) विषकन्या को योगनारी भी कहते हैं। इसके साथ सम्भोग घातक माना गया है। **विषतुल्या कन्या।** इसके शरीर को शनैः शनैः विषयुक्त किया जाता है। Mr. Tawney ने पाठकों का ध्यान "Gesta Romanorum" की ११ वीं कहानी की ओर आकृष्ट किया है जिसमें एक भारतीय नारी ने एक विषकन्या Alexander the Great के पास भेजी है।

विषैर्विहिंस्युः निपुणं नृपतिं दुष्टचेतसः।
स्त्रियो वा विविधान् योगान् कदाचित् सुभगेच्छया।
विषकन्योपयोगाद्वा क्षणाज्जह्यादसून् नरः॥

(सुश्रुतकल्पस्थान, प्रथम अध्याय)

हन्ति स्पृशन्ती स्वेदेन गम्यमाना च मैथुने।
पक्वघृतादि च फलं प्रशान्तयति मेहनम्॥

(सुश्रुतकल्पस्थान की टीका)

आजन्मविषसंयोगात् कन्या विषमयी कृता।
स्पर्शोच्छ्वासादिभिर्हन्ति तस्यास्त्वेतत् परीक्षणम्॥
तन्मस्तकस्य संस्पर्शात् म्लायते पुष्पपल्लवौ।
शय्यायां मत्कुणैर्वस्त्रे यूकाभिः स्नानवारिणा॥
जन्तुभिर्म्रियते ज्ञात्वा तामेवं दूरतस्त्यजेत्॥

(३) **अत्यन्तोपकारि**—पर्वतक चन्द्रगुप्त का अत्यन्त उपकारी मित्र है, क्योंकि चन्द्रगुप्त ने कुसुमपुर के चारों ओर घेरा पर्वतक की सेनाओं की सहायता से डाला था। इसके बदले में यदि सफलता मिल गई तो आधा राज्य देने की प्रतिज्ञा की थी।

(४) **लोकप्रत्ययार्थम्**—नागरिकों में फैली हुई यह जनश्रुति कि पर्वतक को

राक्षस ने मरवाया है, चाणक्य ने नहीं, मलयकेतु को कैद न करने का कारण और भी अधिक विश्वसनीय हो जाता है क्योंकि चाणक्य यदि चाहता तो मलयकेतु को पकड़ कर कैद कर सकता था, परन्तु इसने जानबूझ कर उसे भागने का अवसर दिया। किन्तु इस जनश्रुति के विपरीत चाणक्य ने भागुरायण के द्वारा मलयकेतु को यह विश्वास दिला दिया था कि तुम्हारे पिता को राक्षस ने नहीं मारा है अपितु चाणक्य ने विषकन्या का प्रयोग करके मरवाया है। इसप्रकार भागुरायण चाणक्य से पृथक् होकर राक्षस से जा मिलता है। शनैः-शनैः जैसे जैसे घटनाचक्र का विकास होता है, मलयकेतु को यह विश्वास हो जाता है कि उसके पिता को चाणक्य ने नहीं अपितु राक्षस ने मरवाया है और अन्ततोगत्वा मलयकेतु राक्षस से अलग हो जाता है।

(६) **भागुरायणेन**—यह Commander-in-chief का छोटा भाई और मलयकेतु का मित्र है। चाणक्य का प्रणिधि है।

(७) मलयकेतु को भगा देने में चाणक्य का यह प्रयोजन है कि अब मलयकेतु को ही आधार मानकर राक्षस प्रयत्न करेगा। यदि ऐसा न करके मलयकेतु को कैद या मरवा देता तो राक्षस किसी अन्य व्यक्ति का आश्रय लेकर चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करता और चाणक्य के वश में न होता।

(८) **व्युत्तिष्ठमानः**—"उदोऽनूर्ध्वकर्मणि" पा० १/३/२४ इति आत्मनेपदम् वि + उद् + स्था शानच् कर्तरि।

(९) **प्रमार्ष्टुम्**—प्र + मृज् + तुमुन्। मलयकेतु को कैद करके चाणक्य ने राक्षस के अपयश को क्यों धोना नहीं चाहा यह आगे चलकर पञ्चम अङ्क में स्पष्ट होगा।

(१०) **अनुरक्तापरक्त**—अनु + रञ्ज + क्त कर्तरि अनुरक्त।
अप + रञ्ज + क्त कर्तरि अपरक्त।

(११) **प्रणिधयः**—गुप्तचर। प्रणिधीयन्ते, इति प्र + नि + धा + कि कर्मणि रूपम्।

(१२) **तत्तत्कारणमुत्पाद्य**—"स्त्रीमद्यमृगयाशीलो" इत्यादि तृतीय अङ्क में वर्णित है।

(१३) **भद्रभटप्रभृतयः**—प्रभृति से निम्न व्यक्तियों का ग्रहण होता है—पुरुषदत्त, डिङ्गरात, बलगुप्त, राजसेन, भागुरायण, रोहिताक्ष और विजयवर्मा।

(१४) **सहाध्यायि**—सह अधीते इति सह + अधि + इङ् + णिनि—नपुंसक लिङ्ग में है क्योंकि मित्रम् नपुंसक लिंग है।

(१५) **प्रावीण्यम्**—प्रकृष्टा वीणा अस्य इति प्रवीणा, जो वीणा बजाने में कुशल है—तस्य भावः प्रावीण्यम्। अतः सामान्य कुशलता के लिये प्रयुक्त होने लगा है।

(१६) **क्षपणक**—बौद्ध संन्यासी है। इससे सिद्ध होता है कि चाणक्य ने अपने मित्र इन्दुशर्मा को पहले बौद्ध संन्यासी बनाया है और पश्चात् नन्द के अमात्यों से

उसका परिचय कराया है। वस्तुतः वह क्षपणक नहीं है। क्षपणक लिंगधारी है। यही जीवसिद्धि है।

(१७) **तेनेदानीं महत्प्रयोजनमनुष्ठेयं भविष्यति**—यह प्रयोजन पञ्चम अङ्क में वर्णित है।

(१८) **अस्मत्तः**—अस्माभिः—तृतीयायां तसिल्-हेतु में तृतीया है।

(१९) **प्रधानप्रकृतिषु**— स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोष, राष्ट्र, बल और दुर्ग ये राज्य के सात अङ्ग प्रकृति कहलाते हैं।

(२०) **तन्त्र**—राजनीति में राज्य की आन्तरिक व्यवस्था को तन्त्र कहते हैं। **"स्वमण्डलपालनाभियोगस्तन्त्रम्"**।

(२१) **उदासते**—उदासीन रहता है अर्थात् प्रजाओं के कार्यों में कोई अभिरुचि नहीं लेता है। उद्+आस्+ते लट् लकार।

(२२) **भुञ्जानाः**—उपभोग करते हुये। "भुजोऽनवने" पा० १/३/६६ इति तङि **"ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्"** पा ३/२/१२९ इति चानश्।

(२३) १९ वें श्लोक का आशय है कि चन्द्रगुप्त को उदासीन रहने दो। यह काम हम ही कर लेंगे।
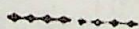
(ततः प्रविशति यमपटेन चरः।)

चरः—

पणमह जमस्स चलणे किं कज्जं देवएहिं अण्णेहिं।
एसो खु अण्णभत्ताणं हरइ जीअं चडपडन्तम् ॥१७॥
प्रणमत यमस्य चरणं किं कार्यं दैवतैरन्यैः।
एष खल्वन्यभक्तानां हरति जीवं परिस्फुरन्तम् ॥

अवि अ।

पुरिसस्स जीविदव्वं विसमादो होइ भत्तिगहिआदो।
मारेइ सव्वलोअं जो तेण जमेण जीआमो ॥१८॥

अपि च।

पुरुषस्य जीवितव्यं विषमाद्भवति भक्तिगृहीतात्।
मारयति सर्वलोकं यस्तेन यमेन जीवामः॥

जाव एदं गेहं पविसिअ जमपडं दसअन्तो गीआइं गाआमि। (इति परिक्रामति।)
यावदिदं गेहं प्रविश्य यमपटं दर्शयन्गीतानि गायामि।

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—प्रणमतेति—यमस्य चरणं प्रणमत अन्यैः दैवतैः किं कार्यम्। एष खलु अन्यभक्तानां परिस्फुरन्तं हरति ॥१७॥

व्याख्या—यमस्य चरणं (यूयम्) प्रणमत, अन्यैः-अपरैः दैवतैः-दैवैः किं कार्यम्?

किं प्रयोजनम् (न किमपि). (यतः) एषः-यमः खलु अन्यभक्तानाम्-अन्यदेव सेवकानां परिस्फुरतं-विलश्यमानं जीवं-प्राणान् हरति-नाशयति ॥१७॥

अन्वयः—पुरुषस्येति—भक्तिगृहीतात् विषमात् पुरुषस्य जीवितव्यं भवति। यः सर्वलोकं मारयति तेन यमेन जीवामः ॥१८॥

व्याख्या—भक्तिगृहीतात् = भक्त्या-गाढानुरागेण गृहीतात्-वशीकृतात् विषमात्-क्रूरात्, (यमादपि) पुरुषस्य जीवितव्यं-जीवन भवति। यः-यमः सर्वलोकं-निखिलं जगत् मारयति-विनाशयति तेन यमेन जीवामः = तमुपसेव्य जीवनधारणं कुर्मः ॥१८॥

हिन्दी रूपान्तर

(तदनन्तर यमपट के साथ गुप्तचर प्रवेश करता है।)

श्लोक (१७) अर्थ—**गुप्तचर**—(हे नागरिको!) यमराज के चरणों की वन्दना करो, अन्य देवताओं से क्या प्रयोजन अर्थात् कुछ भी नहीं (कार्यम्)? (क्योंकि) यह (यमराज) अन्य (देवताओं) के भक्तों के छटपटाते हुये जीव को अपहरण कर लेता है [इसलिये हे नागरिको! राक्षस भक्ति से कोई लाभ नही, चाणक्य की भक्ति करो। क्योंकि चाणक्य के प्रकुपित होने पर राक्षस-भक्तों का कही ठिकाना नहीं है।] ॥१७॥

श्लोक (१८)—अर्थ—तथा भक्ति के द्वारा वश में किये क्रूर (यम) से (भी) पुरुष का जीवन चल जाता है। (यमराज की भक्ति मृत्युनाशिनी है।) (इसलिये) जो सब मनुष्यों को ही नष्ट कर देता है। (हम) उसी यम से जीवन धारण करते हैं ॥१८॥

जब तक (सामने दिखाई देने वाले) इस घर में प्रवेश करके यमपट को दिखाता हुआ गीत गाता हूँ। (चारों ओर घूमता है।)

टिप्पणी

(१) यमपट—यमराज सम्बन्धी पट—वह वस्त्र जिसमें नाना प्रकार के यम-विषयक चित्र बने होते हैं-को लेकर मनुष्यों के शुभ और अशुभ कार्यों की सूचना के द्वारा ही भिक्षुकों की आजीविका चलती है। यमराज मृत्यु का देवता है। ऋग्वेद के अन्दर यम विवस्वान् के पुत्र के रूप में वर्णित है।

(२) सम्पूर्ण यमपटचर का कथानक अपने पक्ष के अनुरक्त और विरक्त एवं परपक्ष के अनुरक्त और विरक्त व्यक्तियों को जानने की अभिलाषा तथा साथ ही राक्षस की मुद्रा प्राप्ति, इस प्रयोजन को प्रतिपादन करने के लिये है।

(३) १७ वें श्लोक का आशय यह है कि चाणक्य यम के समान क्रूर है। वह अपने पक्ष की रक्षा और शत्रु पक्ष के विनाश में समर्थ है। साथ ही उसने अपने गुप्तचर होने की सूचना दी है।

(४) १८ वें श्लोक के अनुसार यम की भक्ति मृत्यु का अपहरण करने वाली है अर्थात् यद्यपि चाणक्य क्रूर है तथापि भक्ति के द्वारा उसको वश में किया जा सकता है।

शिष्यः—(विलोक्य ।) भद्र, न प्रवेष्टव्यम् ।

चरः—हंहो ब्राह्मण, कस्स एदं गेहम् । अहो ब्राह्मण, कस्येदं गृहम् ।

शिष्यः—अस्माकमुपाध्यायस्य सुगृहीतनाम्न आर्यचाणक्यस्य ।

चरः—(विहस्य ।) हंहो ब्राह्मण, अत्तकेरकस्स जेव्व मह धम्मभादुणो घरं होदि। ता देहि मे पवेसं जाव दे उवज्झाअस्स जमपडं पसारिअ धम्मं उवदिसामि। अहो ब्राह्मण, आत्मीयस्यैव मम धर्मभ्रातुर्गृहं भवति । तस्माद्देहि मे प्रवेशं यावत्तवोपाध्यायस्य यमपटं प्रसार्य धर्ममुपदिशामि ।

शिष्यः—(सक्रोधम् ।) धिङ्मूर्ख, किं भवानस्मदुपाध्यायादपि धर्मवित्तरः ।

चरः—हंहो ब्राह्मण, मा कुप्प । णहि सव्वो सव्वं जाणादि । ता किंवि ते उवज्झाओ जाणादि, किंवि अम्हारिसा जाणन्दि । अहो ब्राह्मण, मा कुप्य। नहि सर्वः सर्वं जानाति । तत्किमपि ते उपाध्यायो जानाति, किमप्यस्मादृशा जानन्ति ।

शिष्यः—मूर्ख, सर्वज्ञतामुपाध्यायस्य चोरयितुमिच्छसि ।

चरः—हंहो ब्राह्मण, जइ तव उवज्झाओ सव्वं जाणादि ता जाणादु दाव केण्ण चन्दो अणभिप्पेदोत्ति । अहो ब्राह्मण, यदि तवोपाध्यायः सर्वं जानाति तर्हि जानातु तावत्कस्य चन्द्रोऽनभिप्रत इति ।

शिष्यः—मूर्ख, किमनेन ज्ञातेनाज्ञातेन वा ।

चरः—तव उवज्झाओ एव्व जाणास्सदि जं इमिणा जाणिदेण होदि । तुमं दाव एत्तिअं जाणासि कमलाणं चन्दो अणभिप्पेदोत्ति । णं पेक्ख ।

> कमलाणामणहराणं वि रूआहिन्तो विसंवदइ शीलम् ।
> संपुण्णमण्डलम्मि वि जाइं चन्दे विरुद्धाई ॥१९॥

तवोपाध्याय एव ज्ञास्यति यदेतेन ज्ञातेन भवति । त्वं तावदेतावद्जानासि कमलानां चन्द्रोऽनभिप्रेत इति । ननु पश्य ।

> कमलानां मनोहराणामपि रूपाद्विसंवदति शीलम् ।
> सम्पूर्णमण्डलेऽपि यानि चन्द्रे विरुद्धानि ॥

संस्कृत व्याख्या

सुगृहीतनाम्नः = सुगृहीतं—पुण्यं नाम-अभिधानं यस्य स सुगृहीतनामा तस्य, यन्नाम्नि कृते शुभं स्यात् स सुगृहीतनामा, तस्य । धर्मभ्रातुः—धर्मेण भ्राता तस्य । चोरयितुम् = अनङ्गीकर्तुम् ।

अन्वयः—**कमलानामिति**—मनोहराणामपि कमलानां शीलं रूपाद् विसंवदति । यानि सम्पूर्णमण्डलेऽपि चन्द्रे विरुद्धानि ॥१९॥

व्याख्या—मनोहराणां-सुन्दराणामपि कमलानां-पद्मानां शीलं चरितं रूपाद्-आकाराद् विसंवदति-विरुध्यते । यानि-कमलानि सम्पूर्णमण्डलेऽपि परिपूर्णेऽपि चन्द्रे-चन्द्रविषये विरुद्धानि-विपरीतानि ॥१९॥

हिन्दी रूपान्तर

शिष्य—(देखकर ।) भद्र, (अन्दर) प्रवेश मत करना ।

गुप्तचर—हे ब्राह्मण, किसका यह घर है ?

शिष्य—हमारे उपाध्याय प्रातः स्मरणीय आर्य चाणक्य का ।

गुप्तचर—(हंसकर ।) हे ब्राह्मण, (तब तो) अपने ही, मेरे धर्मभाई का घर है । अतः मुझे अन्दर प्रवेश करने दो, जिससे तुम्हारे उपाध्याय के (सामने) यमपट को फैलाकर धर्म का उपदेश करूँ ।

शिष्य—(क्रोध के साथ ।) हे मूर्ख, (तुझको) धिक्कार है, क्या तुम हमारे उपाध्याय से भी अधिक धर्म को जानने वाले हो ।

गुप्तचर—अरे ब्राह्मण, क्रोध मत करो । सभी व्यक्ति सब कुछ नहीं जानते हैं । इसलिये कुछ तो तुम्हारे उपाध्याय जानते हैं, (और) कुछ हम जैसे (व्यक्ति) भी जानते हैं ।

शिष्य—हे मूर्ख, (हमारे) उपाध्याय की सर्वज्ञता से इन्कार करना चाहता है ।

गुप्तचर—हे ब्राह्मण, यदि तुम्हारे उपाध्याय सब कुछ जानते हैं तो (वे) बतायें (कि) चन्द्र किसको अभीष्ट नहीं लगता है, इति ।

शिष्य—(अरे) मूर्ख, इस बात के जानने या न जानने से क्या होता है ?

गुप्तचर - (यह तो) तुम्हारे उपाध्याय ही (स्वयम्) जानेंगे जो इस (बात) को जानने से होता है । तुम तो (केवल) इतना जानते हो कि कमलों को चन्द्र प्रिय नहीं होता है । अच्छा देखो ।

श्लोक (१९) अर्थ—सुन्दर भी कमलों का चरित्र आकृति से विपरीत होता है । (क्योंकि) जो (कमल) पूर्णबिम्ब होने पर (अपूर्ण बिम्ब होने पर तो कहना ही क्या ?) चन्द्र के विषय में विपरीत आचरण करते हैं । [अर्थात् रूप तो सुन्दर होता है परन्तु चरित्र विपरीत होता है । रूप से चरित्र का अनुमान नहीं हो सकता है ।] ॥१९॥

गूढ़ार्थ—(१) धर्मभ्रातुः—धर्मं-परवृत्तान्तं निवेदगामीति अर्थात् मैं नगर के समाचारों को जानने वाला हूँ । मेरी इस सूचना से राज्य का कार्य चलेगा—यह गूढ़ार्थ है । वैसे याचक के सभी धर्मतः भाई ही होते हैं, यह बाह्य अर्थ है ।

(२) **कस्य चन्द्रोऽनभिप्रेत इति**—चन्द्रगुप्त किसको अभीष्ट नहीं है ।

(३) १९ वें श्लोक के द्वारा बहुत से राक्षस भक्त, जो ऊपर से सौम्य दिखाई देते हैं—वे असम्पूर्ण मण्डल वाले चन्द्रगुप्त के विरोध में हैं और इसीप्रकार पूर्ण मण्डल होने पर भी विरोधी होंगे अर्थात् यह वह विरोधीमण्डल हैं, जो चन्द्रगुप्त के भावी पूर्णमण्डलत्व को सह नहीं सकता है, यह गूढ़ार्थ है

टिप्पणी

(१) **उपाध्याय**—उपेत्यास्मादधीते इति उप + अधि + इङ् + घञ् = "**इङश्च**" पा० ३/३/२१ ।

(२) सुगृहीतनाम्नः—जो कोई भी आदर के योग्य होता है, उन सभी के लिये यह सामान्य रूप से प्रयुक्त होता है। वह व्यक्ति जिसका प्रातः नाम लेना मगलकारी होता है।

"स सुगृहीतनामा स्यात् यः प्रातः स्मर्यते जनैः।

(३) धर्मभ्रातुः—धर्मभाई का। धर्मस्य-राजकार्यस्य भ्राता-प्रवर्तकः तस्य, अर्थात् राजकार्य का सञ्चालन करने वालों का। चर कहना चाहता है कि सेवाधर्म की दृष्टि से एक ही चन्द्रगुप्त राजा की सेवा करने से हम धर्मभाई है। इसप्रकार का भी आशय निकल सकता है कि उसके समान मैं भी जीवों को धर्म का उपदेश देता हूँ। इसप्रकार एक समान कार्य करने से हम दोनों धर्मभाई हैं। एक गुरु से पढ़ने वाला भी धर्मभाई होता है।

(४) अस्मादृशाः—वयमिव पश्यन्ति इति अस्मद् + दृश् + कञ्—"त्यदादिषु दृशोरनालोचने कञ् च" पा० ३/२/६०॥

(५) चन्द्रः—"चन्द्र" शब्द यहाँ चन्द्रमा और चन्द्रगुप्त दोनों अर्थों की ओर इङ्गित करता है।

(६) अनभिप्रेतः—अभि + प्र + इ + क्त अभिप्रेत, न अभिप्रेतः अनभिप्रेतः।

(७) सम्पूर्णमण्डलेऽपि—तब भी जबकि चन्द्रमा अपनी सम्पूर्ण कलाओं के साथ प्रकाशित हो रहा है और जबकि चन्द्रमा इस अवस्था में संसार में सभी के लिये हृदयों में एक नवीन अनुभूति का सञ्चार करने वाला है, तब भी कमल उसको पसन्द नहीं करते हैं। कमलों का यह स्वाभाविक गुण होता है कि वे सूर्य के उदय होने पर विकसित होते हैं और चन्द्रमा के उदय होने पर बन्द हो जाते हैं। इसप्रकार कमलों का चन्द्रमा के प्रति विपरीत आचरण है। यहाँ मण्डल शब्द की विशिष्टता ध्यान देने योग्य है। ध्वनि यह है कि राजा चन्द्रगुप्त के शत्रु हैं, जो उसके सम्पूर्ण मण्डल होने का विरोध कर रहे हैं।

चाणक्यः—(आकर्ण्यात्मगतम्।) अये चन्द्रगुप्तादपरक्तान् पुरुषान् जानामीत्युपक्षिप्तमनेन।

शिष्यः—मूर्ख, किमिदमसंबद्धमभिधीयते।

चरः—हंहो ब्राह्मण, सुसबद्धं जेव्व एदं भवे। अहो ब्राह्मण, सुसंबद्धमेवेद्भत भवेत्।

शिष्यः—यदि किं स्यात्।

चरः—जदि सुणिदुं जाणन्तं लहे। यदि श्रोतुं जानन्तं लभे।

चाणक्यः—भद्र, विश्रब्धं प्रविश। लप्स्यसे श्रोतारं ज्ञातारं च।

चरः—एसो पविसामि (प्रविश्योपसृत्य च।) जेदु अज्जो। एष प्रविशामि जयत्वार्यः।

चाणक्यः—(विलोक्यात्मगतम् ।) कथमयं प्रकृतिचित्तपरिज्ञाने नियुक्तो निपुणकः । (प्रकाशम् ।) भद्र, स्वागतम् । उपविश ।

चरः—जं अज्जो आणवेदि । (भूमावुपविष्टः ।) यदार्य आज्ञापयति !

चाणक्यः—भद्र, वर्णयेदानीं स्वनियोगवृत्तान्तम् । अपि वृषलमनुरक्ताः प्रकृतयः ।

चरः—अह इं । अज्जेण खु तेसु तेसु विराअकारणेसु परिहरिअंतेसु सुगहोदणामहेए देवे चन्दउत्ते दिढं अणुरत्ताओ पकिदिओ ; किंदु उण अत्थि एत्थ णअरे अमच्चरक्खसेण सह पढमं समुप्पण्णसिणेहबहुमाणा तिण्णि पुरिसा देवस्स चन्दसिरिणो सिरिं ण सहन्दि । अथ किम् । आर्येण खलु तेषु तेषु विरागकारणेषु परिह्लियमाणेषु सुगृहीतनामधेये देवे चन्द्रगुप्ते दृढमनुरक्ताः प्रकृतयः । किन्तु पुनरस्त्यत्र नगरे अमात्यराक्षसेन सह प्रथमं समुत्पन्नस्नेहबहुमानास्त्रयः पुरुषाः देवस्य चन्द्रश्रियः श्रियं न सहन्ते ।

चाणक्यः—(सक्रोधम् ।) ननु वक्तव्यं स्वजीवितं न सहन्त इति । भद्र, अपि ज्ञायन्ते नामधेयतः ।

चरः—कहं अजाणिअणामहेआ अज्जस्स णिवेदिअन्ति । कथमज्ञातनामधेया आर्यस्य निवेद्यन्ते ।

चाणक्यः—तेन हि श्रोतुमिच्छामि ।

संस्कृत-व्याख्या

अपरक्तान्=विरक्तान्, विरुद्धानिति यावत् । उपक्षिप्तम्=प्रकाशितम्, सूचितम् । असम्बद्धम्, असंगतम् पूर्वापरसम्बन्धरहितमित्यर्थः ।

हिन्दी रूपान्तर

चाणक्य—(सुनकर मन ही मन ।) अरे, चन्द्रगुप्त से विरक्त विरोधी पुरुषों को जानता हूँ, इस बात की ओर (इति) इसने इंगित किया है ।

शिष्य—मूर्ख, यह क्या असंगत बात कह रहे हो ?

गुप्तचर—हे ब्राह्मण, यह (तो) सुसंगत ही होती ।

शिष्य—यदि क्या होता ?

गुप्तचर—यदि सुनने वाले, जानने वाले को प्राप्त करूं ।

चाणक्य—भद्र, निश्चिन्त होकर प्रवेश करो । सुनने वाले और जानने वाले (दोनों) को प्राप्त करोगे ।

गुप्तचर—यह (लो) प्रवेश करता हूँ (प्रवेश करके और समीप जाकर ।) आपकी विजय हो ।

चाणक्य—(देखकर, मन ही मन ।) (अरे) क्या यह मनुष्यों की चित्तवृत्तियों को जानने के लिये नियुक्त किया निपुणक है । (स्पष्टतः ।) भद्र (आपका) स्वागत हो, बैठो ।

गुप्तचर—जो आज्ञा देते हैं। (भूमि पर बैठ जाता है।)

चाणक्य—भद्र, सम्प्रति अपने कार्य के समाचार का वर्णन करो। क्या प्रजाजन चन्द्रगुप्त में अनुरक्त हैं।

गुप्तचर—(हाँ) और क्या ? आपके द्वारा (प्रजा के) उन उन विरक्ति के कारणों के दूर कर दिये जाने पर प्रातःस्मरणीय महाराज चन्द्रगुप्त में प्रजाजन विशेष रूप से अनुरक्त हैं। किन्तु पुनरपि इस (कुसुमपुर) नगर में अमात्य राक्षस के साथ पहले से ही प्रेम और आदर करने वाले तीन व्यक्ति चन्द्रमा के तुल्य कान्ति वाले महाराज (चन्द्रगुप्त) की राज्यश्री को सहन नहीं करते हैं।

चाणक्य—(क्रोध के साथ।) अच्छा तो यह कहना चाहिये (कि) वे अपने जीवन को नहीं सहन करते हैं। भद्र, क्या (वे) नाम से जाने जाते हैं अर्थात् क्या उनका नाम पता है ?

गुप्तचर—विना नाम जाने हुये आपसे कैसे कहे जा रहे हैं ?

चाणक्य—(यदि ऐसा है) तो सुनना चाहता हूँ।

टिप्पणी

(१) **उपक्षिप्तम्**—उप + क्षिप् + क्त कर्मणि।

(२) **भवेत्**—"हेतुहेतुमतोर्लिङ्" पा० ३/३/१५६ इति लिङ्। क्योंकि तुम न तो सुन सकते हो और न ही समझ सकते हो। यदि तुम सुन और समझ सकते होते तो यह तुमको सम्बद्ध प्रतीत होता।

(३) **वृषलम् अनुरक्ताः**—"**कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया**" पा०: २/३/८—अनु की क्योंकि यहाँ पर कर्मप्रवचनीय संज्ञा है, अतः "वृषलम्" में द्वितीया विभक्ति है। किन्तु अनु उपसर्ग होता तो वृषल शब्द अनुरक्त का आधार हो जाता और उस समय में उसमें सप्तमी विभक्ति आती।

(४) **अथ किम्**—स्वीकृति सूचक अव्यय है।

(५) **तेषु तेषु विरागकारणेषु परिह्रियमाणेषु**—"**यस्य च भावेन भावलक्षणम्**" पा० २/३/३७ इति सप्तमी।

(६) **अपि ज्ञायन्ते**—वाक्य के प्रारम्भ में अपि शब्द प्रश्नवाचक होता है।

(७) **नामधेयतः**—नाम शब्द से स्वार्थ में धेय प्रत्यय है। पुनः नामधेय से तृतीया के अर्थ में तसिल् है।

(८) **शार्यस्य**—शेषे षष्ठी है, वैसे चतुर्थी आनी चाहिये।

चरः—सुणादु अज्जो। पढमं दाव अज्जस्स रिपुपक्खे बद्धपक्खवादो खवणओ जीवसिद्धी। श्रृणोत्वार्यः। प्रथमं तावदार्यस्य रिपुपक्षे बद्धपक्षपातः क्षपणको जीवसिद्धिः।

चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतम्।) अस्मद्रिपुपक्षे बद्धपक्षपातः क्षपणकः।

चरः—जीवसिद्धी णाम सो जेण सा अमच्चरक्खसप्पउत्ता विसकण्णा देवे

पव्वदीसरे समावेसिदा । जीवसिद्धिर्नाम स येन सा अमात्यराक्षसप्रयुक्ता विषकन्या देवे पर्वतेश्वरे समावेशिता ।

चाणक्यः—(स्वगतम् ।) जीवसिद्धिरेष तावदस्मत्प्रणिधिः । (प्रकाशम् ।) भद्र, अथापरः कः ।

चरः—अज्ज, अवरो वि अमच्चरक्खसस्स पिअवअस्सो काअत्थो सअडदासो णाम । आर्य, अपरोऽपि अमात्यराक्षसस्य प्रियवयस्यः कायस्थः शकटदासो नाम ।

चाणक्यः—(विहस्यात्मगतम् ।) कायस्थ इति लघ्वी मात्रा । तथापि न युक्तं प्राकृतमपि रिपुमवज्ञातुम् । तस्मिन्मया सुहृच्छद्मना सिद्धार्थको विनिक्षिप्तः । (प्रकाशम् ।) भद्र, तृतीयं श्रोतुमिच्छामि ।

चरः—तिदीओ वि अमच्चरक्खसस्स दुदीअंविअ हिअअं पुप्फउरणिवासी मणिआरसेट्ठी चन्दणदासो णाम । जस्स गेहे कलत्तं णासीकदुअ अमच्चरक्खसो णअरादो अवक्कन्तो । तृतीयोऽपि अमात्यराक्षसस्य द्वितीयमिव हृदयं पुष्पपुरनिवासी मणिकारश्रेष्ठी चन्दनदासो नाम । यस्य गेहे कलत्रं न्यासीकृत्य अमात्यराक्षसो नगरादपक्रान्तः ।

चाणक्यः—(आत्मगतम् ।) नूनं सुहृत्तमः । न ह्यनात्मसदृशेषु राक्षसः कलत्रं न्यासीकरिष्यति । (प्रकाशम् ।) भद्र, चन्दनदासस्य गृहे राक्षसेन कलत्रं न्यासीकृतमिति कथमवगम्यते ।

चरः—अज्ज इअं अंगुलीमुद्दा अज्जं अवगदत्थं करिस्सदि । (इत्यर्पयति ।) आर्य, इयमंगुलिमुद्रा आर्यमवगतार्थं करिष्यति ।

चाणक्यः—(मुद्रामवलोक्य गृहीत्वा राक्षसस्य नाम वाचयति । सहर्षं स्वगतम् ।) ननु वक्तव्यं राक्षस एवास्मदगुंलिप्रणयी संवृत्त इति । (प्रकाशम् ।) भद्र, अंगुलिमुद्राधिगमं विस्तरेण श्रोतुमिच्छामि ।

संस्कृत-व्याख्या

बद्धपक्षपातः = बद्धस्नेहः । लघ्वी मात्रा = क्षुद्रः अंश । प्राकृतम् = सामान्यम् । न्यासीकृत्य = स्थापयित्वा । अनात्मसदृशेषु — आत्मसदृशभिन्नेसु । न्यासीकरिष्यति = स्थापयिष्यति । अवगतार्थम् = अवगतः अर्थः—विषयः येन तम् । अंगुलिप्रणयी = हस्तगतः । अंगुलिमुद्राधिगमम् = अंगुलिमुद्रायाः अधिगमः—प्राप्तिः तम् ।

हिन्दी रूपान्तर

गुप्तचर—आर्य, सुनिये । सर्वप्रथम तो आपके शत्रुपक्ष में पक्षपात रखने वाला क्षपणक जीवसिद्धि है ।

चाणक्य—(प्रसन्नता के साथ, मन ही मन ।) हमारे शत्रुपक्ष में पक्षपात रखने वाला क्षपणक ?

गुप्तचर—जीवसिद्धि नाम का वह व्यक्ति है जिसने अमात्य राक्षस के द्वारा प्रयुक्त की हुई उस विषकन्या को महाराज पर्वतेश्वर में नियुक्त किया था ।

चाणक्य-- (मन ही मन ।) वह जीवसिद्धि तो हमारा गुप्तचर है। (स्पष्टतः ।) भद्र, अच्छा दूसरा कौन है ?

गुप्तचर--आर्य, और दूसरा अमात्य राक्षस का प्रिय मित्र कायस्थ (लेखक) शकटदास नामक व्यक्ति है।

चाणक्य—(हँसकर मन ही मन ।) कायस्थ (लेखक), यह तो तुच्छ (व्यक्ति) है। (इससे हमारा कुछ अधिक अहित नहीं हो सकता) तथापि सामान्य शत्रु की भी उपेक्षा करना ठीक नहीं है। उसके विषय में (पता लगाने के लिये) मैंने मित्र के बहाने से सिद्धार्थक को नियुक्त कर रक्खा है। (स्पष्टतः ।) भद्र, तीसरे (व्यक्ति) को सुनना चाहता हूँ।

गुप्तचर—और तीसरा अमात्य राक्षस का मानों दूसरा हृदय (हो ऐसा) पुष्पपुर का रहने वाला सेठ जौहरी चन्दनदास है, जिसके घर में (अपनी) पत्नी को रखकर अमात्य राक्षस नगर से भाग गया है।

चाणक्य—(मन ही मन ।) निश्चय ही परम मित्र है। क्योंकि राक्षस अपने से भिन्न (किसी) व्यक्ति के पास (अपनी) पत्नी को नहीं रक्खेगा। (स्पष्टतः ।) भद्र, चन्दनदास के घर में राक्षस ने (अपनी) स्त्री को रखा है—यह कैसे जाना ?

गुप्तचर—आर्य, यह अंगूठी आपको ज्ञात विषय वाला कर देगी। (ऐसा कह कर देता है।)

चाणक्य—(मुद्रा को देखकर लेकर राक्षस का नाम पढ़ता है। प्रसन्नता के साथ मन ही मन ।) तब तो यह कहना चाहिये (कि) राक्षस ही हमारे हस्तगत अंगुलिप्रणयी) हो गया। (स्पष्टतः ।) भद्र, (इस) अंगुलिमुद्रा की प्राप्ति को विस्तार-पूर्वक सुनना चाहता हूँ।

टिप्पणी

(१) **सहर्षमात्मगतम्**---इसका आशय यह है कि चाणक्य को अब यह पूर्ण विश्वास हो गया है कि मेरा सहपाठी मित्र इन्दुशर्मा, जिससे कि आगे चलकर "**महत्प्रयोजनमनुष्ठेयं भविष्यति**", सम्प्रति क्षपणक के वेष में विद्यमान शत्रुओं का प्रबल पक्षपाती है, ऐसा प्रसिद्ध हो गया है। इसी विश्वास के कारण उसको प्रसन्नता है।

जीवसिद्धिर्नाम सः—गुप्तचर यह समझ रहा है कि जिस जीवसिद्धि की चर्चा उसने चाणक्य के सामने अभी की है, उसको चाणक्य न समझ पाने के कारण चुप है। इसलिये उसको और अधिक स्पष्ट करने के लिये गुप्तचर चाणक्य के सामने जीवसिद्धि के उन कार्यों की चर्चा करता है जिससे चाणक्य उसको पहिचान ले। वस्तुतः गुप्तचर विषकन्या के यथार्थ कथानक से अपरिचित है। राक्षस ने इसी जीवसिद्धि के द्वारा ही विषकन्या का प्रयोग किया था।

(३) **समावेशिता**—सम+आ+विश+णिच्+क्त कर्मणि।

(४) **प्रणिधिः**—प्रणिधीयन्ते-गूढकार्यं ज्ञाप्यन्तेऽस्मिन्निति प्रणिधिः प्र+नि

+ धा + कि = 'कर्मण्यधिकरणे च' पा० ३/३/९३ इति किः, घु संज्ञक धा धातु से परे "नेर्गदनदपतपदघुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशाम्यतिचिनोतिदेग्धिषु च" पा० ८/४/१७ से णत्वम् = प्रणिधिः ।

(६) कायस्थः—इसका पिता क्षत्रिय और माता शूद्रा होती है । "लघ्वी मात्रा" यह केवल कायस्थ शकटदास पर ही लागू नहीं होता अपितु सम्पूर्ण जाति पर लागू होता है । इससे यह मालूम पड़ता है कि प्राचीन काल में कायस्थ को कुछ अधिक अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था । नाम के अन्त में आने वाला यह "दास" शब्द स्वयं उनकी स्थिति को स्पष्ट कर रहा है किन्तु इस प्रकरण में आने वाला "कायस्थ" शब्द जाति को सूचित नहीं कर रहा है । इसका अर्थ है लेखक या Clerk.

(७) न युक्तं प्राकृतमपि रिपुमवज्ञातुम्—क्षुद्र शत्रु की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये क्योंकि कहा भी है कि—

"अल्पीयसोऽप्यरेर्वृद्धिर्महानर्थाय रोगवदिति ।"

(८) मणिकारश्रेष्ठी—प्राकृत भाषा का "सेट्ठी" शब्द ही आधुनिक सेठ शब्द है । मणीन् करोति मणिकारः 'कर्मण्यम्' । श्रेष्ठानि—श्रेष्ठवस्तूनि सन्ति अस्येति श्रेष्ठी, मणिकारश्चासौ श्रेष्ठी च । अर्थशास्त्र में "श्रेष्ठिन्" शब्द का अर्थ संघ का प्रधान है ।

(९) न्यासीकृत्य—न्यस्यते इति नि + अस् + घञ् कर्मणि न्यासः । अन्यासं न्यासं कृत्वा इति न्यास + च्वि + कृ + ल्यप् ।

(१०) बद्धपक्षपातः, प्रियवयस्यः और द्वितीयमिव हृदयम्—ये क्रमशः जीवसिद्धि, शकटदास और चन्दनदास के लिये प्रयुक्त होने वाले विशेषण राक्षस की इनके साथ आत्मीयता के अन्तर को प्रकट करते हैं ।

(११) मुद्रा—Seal और अंगूठी ।

(१२) अस्मदङ्गुलिप्रणयी संवृत्तः—चाणक्य सोचता है कि यह केवल मुद्रा ही नहीं है जो उसके हाथ में आ गई है अपितु स्वयं राक्षस है जो उसकी पकड़ में आ गया है । चाणक्य को स्वयं ऐसे स्वर्णिम अवसर के अकस्मात् आ जाने की आशा नहीं थी । इसके साथ ही चाणक्य के सामने वह सारी योजना आ जाती है जिसका प्रयोग उसने राक्षस को पकड़ने के लिये किया है ।

(१३) विस्तरेण—विस्तर, विस्तार और विष्टर—ये तीनों शब्द एक ही धातु स्तृ से बने हैं । "विस्तर" शब्द में अप् प्रत्यय है, विष्टर में भी अप् प्रत्यय है किन्तु "वृक्षासनयोर्विष्टरः" पा० ८/३/९३ से स् को ष् होकर वृक्ष और आसन इन दो अर्थों में नियन्त्रित हो गया है । विस्तार शब्द में घञ् प्रत्यय है ।

चरः—सुणादु अज्जो । अत्थि दाव अहं अज्जेण पोरजणचरिदअण्णेसणे णिउत्तो परघरप्पवेसे परस्स अणासेकणिज्जेण इमिणा जमपडेण हिण्डन्तो मणिआरसेट्ठि-चन्दणदासस्स गेहं पविट्ठोम्हि । तहिं जमपडं पसारिअ पउत्तोम्हि गीदइं गाइदुम् ।

शृणोत्वार्यः । अस्ति तावदहमार्येण पौरजनचरितान्वेषणे नियुक्तः परगृहप्रवेशे

परस्यानाशङ्कनीयेन अनेन यमपटेन आहिण्डमानो मणिकारश्रेष्ठिचन्दनदासस्य गृहं प्रविष्टोऽस्मि। तत्र यमपटं प्रसार्य प्रवृत्तोऽस्मि गीतानि गातुम्।

चाणक्यः—ततः किम्।

चरः—तदो एक्कादो अववरकादो पञ्चवरिसदेसीओ पिअदंसणीअसरीराकिदी कुमारओ बालत्तणसुलहकोदूहलोप्फुल्लणअणो णिक्कमिदुं पउत्तो। तदो हा णिग्गदो हा णिग्गदो त्ति संकापरिग्गहणिवेदइत्तिओ तस्स एव्व अववरकस्स अब्भन्तरे इत्थिआजसस्स उट्ठिदो महन्तो कलअलो। तदो ईसिदारदेशदाविदमुहीए एक्काए इत्थिआए सो कुमारओ णिक्कमन्तो एव्व णिब्भच्छिअ अवलम्बिदो कोमलाए बाहुलदाए। तिस्साए कुमारसंरोधसंभमप्पचलिदंगुलिदो करादो पुरिसअंगुलिपरिणाहप्पमाणघडिआ विअलिआ इअं अङ्गुलिमुद्दआ देहलीबन्धम्मि पडिआ उट्ठिदा ताए अणवबुद्धा एव्व मम चलणपासं समागच्छिअ पणामणिहुआ कुलबहु विअ णिच्चला संवुत्ता। मए वि अमच्चरक्खसस्स णामं कदेत्ति अज्जस्स पाअमूलं पाविदा। ता एसो इमाए आअमो। ततश्च एकस्मादपवरकात्पञ्चवर्षदेशीयः प्रियदर्शनीयशरीराकृतिः कुमारको बालत्वसुलभकौतूलोत्फुल्लनयनो निष्क्रमितुं प्रवृत्तः। ततो हा निर्गतो हा निर्गत इति शंकापरिग्रहनिवेदयिता तस्यैवापवरकस्याभ्यन्तरे स्त्रीजनस्योत्थितो महान्कलकलः। तत ईषद्द्वारदेशदापितमुख्या एकया स्त्रिया स कुमारको निष्क्रामन्नेव निर्भर्त्स्यावलम्बितः कोमलया बाहुलतया। तस्याः कुमारसंरोधसंभ्रमप्रचलितांगुलेः करात्पुरुषांगुलिपरिणाहप्रमाणघटिता विगलितेयमङ्गुलिमुद्रिका देहलीबन्धे पतिता उत्थिता तया अनवबुद्धैव मम चरणपार्श्वं समागत्य प्रणामनिभृता कुलवधूरिव निश्चला संवृत्ता। मयापि अमात्यराक्षसस्य नामांकितेति आर्यस्य पादमूलं प्रापिता। तस्मादेषोऽस्या आगमः।

चाणक्यः—भद्र, श्रुतम्। अपसर नचिरादस्य परिश्रमस्यानुरूपं फलमधिगमिष्यसि।

चरः—जं अज्जो आणवेदि। (इति निष्क्रान्तः।) यदार्य आज्ञापयति।

चाणक्य—शार्ङ्गरव शार्ङ्गरव।

संस्कृत-व्याख्या

अनाशङ्कनीयेन = सन्देहायोग्येन। आहिण्डमानः = भ्रमन्। अपवारकात् = प्रकोष्ठात्। पञ्चवर्षदेशीयः = किञ्चिदूनपञ्चवर्षः। बालत्वसुलभकौतूहलोत्फुल्लनयनः = बालत्वं सुलभं—बाल्योचितं यत् कौतूहलं-कौतुकं तेन उत्फुल्ले-विकसिते नयने यस्य तादृशः। निष्क्रमितुं = निर्गन्तुम्। शङ्कापरिग्रहनिवेदयिता = शङ्कापरिग्रहस्य-भयाविर्भावस्य निवेदयिता-सूचकः। द्वारदेशदापितमुख्या = द्वारदेशे दापितं-दत्तं मुखं यया तादृश्या। कुमारसंरोधसंभ्रमप्रचलितांगुलेः = कुमारस्य संरोधे-नियमने य संभ्रमः तेन प्रचलिताः अङ्गुलयः यस्मिन् तादृशात्। पुरुषाङ्गुलिपरिणाहप्रमाणघटिता = पुरुषस्य अङ्गुलेः यः परिणाहः-विस्तारः तस्य प्रमाणेन-परिमाणन घटिता-निर्मिता। विगलिता = च्युता। अनवबुद्धा = अविदिता। प्रणामनिभृता = प्रणामे-

अभिवादनकर्मणि निभृता-निश्चला । पादमूलम्=चरणप्रान्तम् । अपसर=गच्छ । नचिरात्=अतिशीघ्रम् ।

हिन्दी रूपान्तर

गुप्तचर—आर्य, सुनिये । आपके द्वारा मैं नागरिकों के चरित्र के विषय में (गुप्तरूप से) पता लगाने के लिये नियुक्त किया हुआ दूसरे के घर प्रवेश करने में दूसरे के द्वारा शङ्का न किये जाने वाले इस यमपट के साथ घूमता हुआ सेठ जौहरी चन्दनदास के घर में प्रविष्ट हो गया था । वहाँ यमपट को फैलाकर मैं गाना गाने में प्रवृत्त हो गया ।

चाणक्य - इसके बाद क्या हुआ ?

गुप्तचर - उसके बाद एक अन्दर के कमरे से लगभग पाँच वर्ष के प्रिय और दर्शनीय शरीर की आकृति वाले, बालकपन की सुलभ उत्सुकता (कौतूहल) के कारण विकसित नेत्रों वाले बालक ने निकलना शुरू कर दिया (पूरी तरह से निकला न था) तदनन्तर अरे निकल गया, अरे निकल गया इसप्रकार की (इति) भय की उत्पत्ति की सूचना देने वाला उसी कमरे के अन्दर स्त्रीसमूह का महान् शोर उठ खड़ा हुआ । इसके बाद (एक क्षण के लिये) ईषत् दरवाजे पर दिखाया है मुख जिसने ऐसी एक स्त्री ने निकलते हुये ही उस बालक को डांटकर (अपनी) कोमल भुजलता से पकड़ लिया । पुरुष की अंगुली की विशालता के माप के अनुसार बनी हुई यह अंगुलिमुद्रा बालक को रोकने की शीघ्रता (संभ्रम) के कारण काँपती हुई अंगुलियों वाले उस (स्त्री) के हाथ से निकली हुई ड्योढ़ी पर गिर गई (और गिरने के कारण) उछली हुई (उत्थिता) उस स्त्री के द्वारा न जानी हुई ही मेरे पैरों के पास आकर प्रणाम करने में निश्चल कुलवधू के समान गतिशून्य हो गई अर्थात् ठहर गई । (और) मैंने भी (यह) अमात्य राक्षस के नाम से चिह्नित है ऐसा सोचकर (इति) आपके श्रीचरणों में (पादमूले) पहुँचा दी । इसप्रकार से इस (अंगूठी) का यह आगमन (वृत्तान्त) है ।

चाणक्य—भद्र, सुन लिया । जाओ शीघ्र ही इस परिश्रम के अनुरूप फल पाओगे ।

गुप्तचर—आर्य, जो आज्ञा देते हैं । (ऐसा कहकर निकल गया ।)

चाणक्य—शार्ङ्गरव, शार्ङ्गरव ।

टिप्पणी

(१) **पञ्चवर्षदेशीयः**—पञ्चवर्ष + देशीय–"**ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः**" पा० ५/३/६७।

(२) **ततो हा निर्गतो हा निर्गत इति**—इससे मालूम पड़ता है कि वहाँ वाले उस बच्चे को छिपाकर रखते हैं ।

(३) **तत ईषद्द्वारदेशदापितमुख्या एकया स्त्रिया**—इससे मालूम पड़ता है कि वह स्त्री भी अपने आपको छिपा रही थी ।

(४) **निर्भत्स्यावलम्बितः**—भर्त्सना करने से मालूम पड़ता है कि यह उस बालक की माता है ।

(५) **पुरुषाङ्गुलिपरिणाहप्रमाणघटिता** - क्योंकि वह अंगूठी पुरुष की अंगुली के नाप के अनुसार बनाई गई थी और सम्प्रति एक स्त्री ने धारण कर रखी थी। इसी कारण से वह अँगूठी उसके हाथ से निकल कर बाहर गिर पड़ी ।

(६) **अमात्यराक्षसस्य नामाङ्किता**—इससे मालूम पड़ता है कि अमात्य राक्षस उस बालक का पिता है और यह स्त्री उसकी पत्नी और नगर से बाहर जाते हुये उसने अपने परिवार को चन्दनदास के घर छोड़ दिया है ।

(प्रविश्य ।)

शिष्यः—आज्ञापय ।

चाणक्यः—वत्स, मसीभाजनं पत्रं चोपानय ।

(शिष्यस्तथा करोति ।)

चाणक्यः—(पत्रं गृहीत्वा स्वगतम् ।) किमत्र लिखामि । अनेन खलु लेखेन राक्षसो जेतव्यः ।

(प्रविश्य ।)

प्रतीहारी—चेदु अज्जो । जयत्वार्यः ।

चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतम् ।) गृहीतो जयशब्दः । (प्रकाशम्) शोणोत्तरे, किमागमनप्रयोजनम् ।

प्रतीहारी—अज्ज, देवो चन्दसिरी सीसे कमलमु-लाआरमञ्जलिं णिवेसिअ अज्जं विण्णवेदि । इच्छामि अज्जेण अब्भणुण्णादो देवस्स पव्वदीसरस्स पारलोइअं कारेदुम् । तेण अ धारिदपुव्वाइं आहरणाइं बम्हणाणं पडिवादिमित्ति । आर्य, देवश्चन्द्रश्रीः शीर्षे कमलमुकुलाकारमञ्जलिं निवेश्य आर्यं विज्ञापयति । इच्छाम्यार्येणाभ्यनुज्ञातो देवस्य पर्वतेश्वरस्य पारलौकिकं कर्तुम् । तेन धारितपूर्वाणि आभरणानि ब्राह्मणानां प्रतिपादयामीति ।

चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतम् ।) साधु वृषल, ममैव हृदयेन सह संमन्त्र्य संदिष्टवानसि । (प्रकाशम् ।) शोणोत्तरे, उच्यतामस्मद्वचनाद्वृषलः । साधु वत्स, अभिज्ञः खल्वसि लोकव्यवहाराणाम् । तदनुष्ठीयतामात्मनोऽभिप्रायः किन्तु पर्वतेश्वरेण धृतपूर्वाणि गुणवन्ति भूषणानि गुणवद्भ्य एव प्रतिपादनीयानि । तदहं स्वयमेव परीक्षितगुणान्ब्राह्मणान्प्रेषयामि ।

प्रतीहारी—जं अज्जो आणवेदि । (इति निष्क्रान्ता ।) यदार्य आज्ञापयति ।

संस्कृत-व्याख्या

चन्द्रश्रीः = चन्द्रस्य-श्रीरिव श्रीः- शोभा यस्य सः । शीर्षे = शिरसि । कमलमुकुलाकारम् = कमलस्य-पंकजस्य मुकुलः-कलिका तस्य आकार इव आकारो यस्य तादृशम् । अभ्यनुज्ञातः = दत्तानुमतिः । पारलौकिकम् = श्राद्धकर्म । धृतपूर्वाणि = पूर्वं धारितानि । संमन्त्र्य = मन्त्रयित्वा । गुणवन्ति = बहुमूल्यानि ।

हिन्दी रूपान्तर

(प्रवेश करके ।)

शिष्य—आज्ञा दीजियेगा ।

चाणक्य—वत्स, दवात और कागज लाओ ।

(शिष्य वैसा करता है ।)

चाणक्य—(कागज लेकर मन ही मन ।) इस (कागज) पर क्या लिखूं ? इस लेख के द्वारा राक्षस को जीतना है ।

(प्रवेश करके ।)

प्रतीहारी—आर्य की विजय हो ।

चाणक्य—(प्रसन्नता के साथ मन ही मन ।) "जय" शब्द ग्रहण कर लिया (अर्थात् "जय" मिल गई) । (स्पष्टतः ।) हे शोणोत्तरे, (तुम्हारे) आने का प्रयोजन क्या है ?

प्रतीहारी—आर्य, चन्द्रमा की कान्ति के समान कान्ति वाले महाराज (चन्द्रगुप्त) सिर पर कमलकलिका के आकार की अञ्जलि को रखकर (अर्थात् हाथ जोड़कर) आपसे निवेदन करते हैं । आपके द्वारा आज्ञा पाया हुआ मैं महाराज पर्वतेश्वर के श्राद्धकर्म को करना चाहता हूँ और उनके द्वारा पहले धारण किये हुये आभूषणों को ब्राह्मणों को देना चाहता हूँ ।

चाणक्य—(प्रसन्नता के साथ मन ही मन ।) बहुत अच्छा चन्द्रगुप्त, मेरे ही हृदय के साथ मन्त्रणा करके (तुमने) संदेश भेजा है । (स्पष्टतः) शोणोत्तरे, चन्द्रगुप्त को मेरी ओर से (अस्मद्वचनात्) कहना । वत्स बहुत अच्छा, (तुम) सांसारिक व्यवहार को जानने वाले हो । अतः अपने विचार (अभिप्रायः) को कार्य रूप में परिणत करो । किन्तु पर्वतेश्वर के द्वारा पहले धारण किये हुये बहुमूल्य आभूषणों को गुणी व्यक्तियों को ही देना चाहिये । इसलिये मैं स्वयं ही परीक्षित गुण वाले ब्राह्मणों को भेजता हूँ ।

प्रतीहारी--आर्य जो आज्ञा देते हैं । (निकल गई ।)

टिप्पणी

(१) **अनेन खलु लेखेन राक्षसो जेतव्यः । (प्रविश्य ।) प्रतीहारी-जयत्वार्यः । चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतम् ।) गृहीतो जयशब्दः**—यह "**गण्ड**" है । इसप्रकार का नाटकीय संयोजन संस्कृत नाटकों में सामान्य बात है । **राक्षसो जेतव्यः—चाणक्य** जैसे ही इन शब्दों का उच्चारण करता है, वैसे ही एक अप्रत्याशित व्यक्ति **आकर** कहता है—**जयतु आर्यः** । चाणक्य इसको भविष्यवाणी के रूप में लेता है **और उसे** अपनी विजय के विषय में निश्चय हो जाता है । इसीलिये वह कहता है—**गृहीतो जयशब्दः** । इसी को पारिभाषिक भाषा में '**गण्ड**" कहते हैं ।

(२) **पारलौकिकम्**—परलोके भवम् । "**लोकोत्तरपदाच्च**" (वार्तिक) **इति** ठञ् ।

(३) **प्रेषयामि**—भविष्यत् सामीप्ये लट् प्रेषयिष्यामीत्यर्थः ।

चाणक्यः—शाङ्‌र्गरव, उच्यन्तामस्मद्वचनाद्विश्वावसुप्रभृतयस्त्रयो भ्रातरः वृषलात्प्रतिगृह्याभरणानि भवद्भिरहं द्रष्टव्य इति ।

शिष्यः—तथेति । (निष्क्रान्तः ।)

चाणक्यः—उत्तरोऽयं लेखार्थः पूर्वः कथमस्तु । (विचिन्त्य ।) आः, ज्ञातम् । उपलब्धवानस्मि प्रणिधिभ्यो यथा तस्य म्लेच्छराजबलस्य मध्यात्प्रधानतमाः पञ्च राजनः परया सुहृत्तया राक्षसमनुवर्तन्ते । ते यथा—

कौलूतश्चित्रवर्मा मलयनरपतिः सिंहनादो नृसिंहः
काश्मीरः पुष्कराक्षः क्षतरिपुमहिमा सैन्धवः सिन्धुषेणः ।
मेघाख्यः पञ्चमोऽस्मिन्पृथुतुरगबलः पारसीकाधिराजो
नामान्येषां लिखामि ध्रुवमहमधुना चित्रगुप्तः प्रमार्ष्टु ॥२०॥

(विचिन्त्य ।) अथवा न लिखामि । पूर्वमनभिव्यक्तमेवास्ताम् । (नाट्येन लिखित्वा ।) शाङ्‌र्गरव ।

संस्कृत-व्याख्या

उत्तरः = उत्तरावयवः, उत्तरार्द्धः । अयम् = अलङ्काररूपः इत्यर्थः । लेखार्थः = लेखस्य अर्थः – प्रतिपाद्यः । पूर्वः = पूर्वार्धः, लेखस्य पूर्वावयवार्थः । परया = परमेण ।

अन्वयः—**कौलूत इति**—कौलूतः चित्रवर्मा, नृसिंहः मलयनरपतिः सिंहनादः, काश्मीरः पुष्कराक्षः, क्षतरिपुमहिमा सैन्धवः सिन्धुषेणः । पृथुतुरगबलः पारसीकाधिराजः मेघाख्यः पञ्चमः, अस्मिन् अहं ध्रुवम् अधुना एषां नामानि लिखामि, चित्रगुप्तः प्रमार्ष्टु ॥२०॥

व्याख्या—कौलुतः—कुलूतदेशपतिः चित्रवर्मा नाम, नृसिंहः—नृषु सिंह इव, नरश्रेष्ठः मलयनरपतिः—मलयाधिपतिः सिंहनादो नाम, काश्मीरः—काश्मीर-देशाधिराजः पुष्कराक्षो नाम, क्षतरिपुमहिमा = क्षतः—उच्छिन्नः रिपुमहिमा—शत्रु—माहात्म्यं येन तादृशः (शत्रुन्दमः इत्यर्थः) सैन्धवः = सिन्धुदेशाधिपतिः सिन्धुषेणो नाम । पृथुतुरगबलः = पृथु—महत् तुरगबलम्—अश्वसैन्यं यस्य तादृशः पारसीकाधिराजः—पारसीकदेशपतिः मेघाख्यः—मेघनामा पञ्चमः अस्मिन्—अत्र (लेखे) अहं ध्रुवं-निश्चितम् अधुना एषां नामानि लिखामि, चित्रगुप्तः प्रमार्ष्टु–, स्वगणिताकारपत्रे (खाता) जीवितत्वेन लिखितानामेषां नामानि क्षालयतु ॥२०॥
पूर्वम् = पूर्वभागः । अनभिव्यक्तम् = अनतिस्पष्टम् ।

हिन्दी रूपान्तर

चाणक्य—शाङ्‌र्गरव, हमारी ओर से विश्वावसु प्रभृति तीनों भाइयों को कहना (कि) चन्द्रगुप्त से (पृथक् पृथक्) आभूषणों को ग्रहण करके तुमको मेरे पास आना चाहिये (अहं द्रष्टव्यः) ।

शिष्य—जो आज्ञा। (निकल गया।)

चाणक्य—यह (आभूषणों के बारे में) लेख की कथावस्तु का उत्तरार्द्ध है पूर्वार्द्ध कैसा हो? (सोचकर) अच्छा मालूम पड़ गया। (मुझे) गुप्तचरों से पता लगा है कि म्लेच्छ राजा की सेना के मध्य से प्रमुखतम पाँच राजा अत्यन्त सुहृद भाव से राक्षस का अनुसरण कर रहे हैं। वे राजागण इसप्रकार हैं—

श्लोक (२०)—अर्थ—कुल्लू का (राजा) चित्रवर्मा, मनुष्यों में सिंह के समान अर्थात् मनुष्यों में श्रेष्ठ मलयदेश का अधिपति सिंहनाद, काश्मीर देश का (राजा) पुष्कराक्ष, शत्रुओं के माहात्म्य को नष्ट करने वाला सिन्धुदेश का राजा सिन्धुषेण, विशाल अश्वों की सेना वाला पारसीक देश का अधिपति मेघ नाम वाला पाँचवां (राजा) है। इस (लेख के प्रारम्भ) में (अस्मिन्) मैं निश्चित रूप से सम्प्रति इन (५ राजाओं) के नाम (मृत्यु के लिये) लिखता हूँ, चित्रगुप्त (अपने रजिस्टर में से जीवितत्वेन लिखे हुये इन पांच राजाओं के नामों को) निकाल देवे ॥२०॥

(सोचकर।) अथवा (मैं इन पाँच राजाओं का नाम) नहीं लिखता हूँ। (लेख का) पूर्वभाग (पूर्वम्) अस्पष्ट ही रहे। (अभिनय से लिखकर।) शार्ङ्गरव।

टिप्पणी

(१) **विश्वावसुप्रभृतयस्त्रयो भ्रातरः**—तीनों अलंकारों को पृथक्-पृथक् लेने के लिये "त्रयो भ्रातरः" कहा है। चाणक्य ने दान के बहाने उन अलंकारों को चन्द्रगुप्त के पास से मंगवा लिया है। आगे चलकर ये ही अलंकार एक व्यापारी के द्वारा राक्षस को बेच दिये जावेंगे।

(२) **विश्वावसु**—"विश्वस्य वसुराटोः" पा० ६/३/१२८ से वसु और राट् परे होने पर विश्व शब्द को दीर्घ हो जाता है।

(३) **उत्तरोऽयं लेखार्थः पूर्वः कथमस्तु**—यह आभूषणों के बारे में लेख का उत्तरार्द्ध होगा जिनको लेने के लिये तीन भाइयों को भेजा है। सम्पूर्ण लेख का वर्णन पंचम अंक में आवेगा।

(४) **सैन्धवः**—सिन्धु, आधुनिक सिन्ध है। **कौलूतः**—कुलूत का राजा; आधुनिक कुल्लू है। ७वीं और ८वीं शती में यह एक समृद्ध राज्य था।

(५) **सिन्धुषेणः**—सिन्धुः सेना अस्य "एति संज्ञायामगात्" पा० ८/३/११९ से सेना के स् को षत्व।

(६) **मेघाख्यः**—मेघः आख्या अस्य। यहाँ मेघ शब्द मेघनाद का संक्षिप्त रूप है, जैसे भीमसेन का भीम।

(७) **प्रमाष्टुं**—प्र + मृज् + लोट् + तिप् (तु)।

(८) **चित्रगुप्त प्रमाष्टुं**—चित्रगुप्त अपने रजिस्टर में जीवित व्यक्तियों का नाम लिखता है। चाणक्य कहता है कि मैंने इन पांच व्यक्तियों के नाम मृत्यु के लिये लिख दिये हैं, अतः चित्रगुप्त को अपने रजिस्टर में से इनका नाम काट देना

चाहिये। जीवितों के नाम वह इसलिये लिखता है क्योंकि मृतों की संख्या अपरिमित होती है। यह चित्रगुप्त यमराज का Record रखने वाला है।

(९) मलयकेतु का राज्य पूर्व में मलयप्रदेश से, दक्षिण में कुलूत से और पश्चिम में काश्मीर से घिरा हुआ था। पंचम अंक में इन तीन राजाओं में मलयकेतु के राज्य के बाँटे जाने की चर्चा है।

(१०) **अथवा न लिखामि** — चाणक्य अपने विचार को सहसा बल देता है और फिर यह पत्र शकटदास से लिखवाता है, क्योंकि नाम लिख देने से ऐसा हो सकता है कि शकटदास पत्र न लिखता।

(११) **नाट्येन लिखित्वा**--चाणक्य ने केवल शिष्य को धोखा देने के लिये यह लिखने का अभिनय किया है।

(**प्रविश्य**)

शिष्यः—उपाध्याय, आज्ञापय।

चाणक्यः—वत्स, श्रोत्रियाक्षराणि प्रयत्नलिखितान्यपि नियतमस्फुटानि भवन्ति। तदुच्यतामस्मद्वचनात्सिद्धार्थकः। एभिरक्षरैः केनापि कस्यापि स्वयं वाच्यमिति अदत्तबाह्यनामान लेखं शकटदासेन लेखयित्वा मामुपतिष्ठस्व, न चाख्येयमस्मै चाणक्यो लेखयतीति।

शिष्यः—तथा। (**इति निष्क्रान्तः**।)

चाणक्यः—(**स्वागतम्**।) हन्त, जितो मलयकेतुः।

(**प्रविश्य लेखहस्तः**।)

सिद्धार्थकः—जेदु अज्जो। अज्ज, अअं सो सअडदासेण लिहिदो लेहो। जयत्वार्यः। आर्य, अयं स शकटदासेन लिखितो लेखः।

चाणक्यः—(**गृहीत्वा**।) अहो दर्शनीयान्यक्षराणि। (अनुवाच्य।) भद्र, अनया मुद्रया मुद्रयैनम्।

सिद्धार्थकः—(**तथा कृत्वा**।) अज्ज अअं मुद्दिदो लेहो। किं अवरं अणुचिट्ठीअदु। आर्य, अयं मुद्रितो लेखः। किमपरमनुष्ठीयताम्।

चाणक्यः—भद्र कस्मिंश्चिदाप्तजनानुष्ठेये कर्मणि त्वां व्यापारयितुमिच्छामि।

सिद्धार्थकः—(**सहर्षम्**।) अज्ज, अणुग्गहिदोम्हि। आणवेदु अज्जो किं इमिणा दासजणेण अज्जस्स अणुचिट्ठीदव्वम्। आर्य, अनुगृहीतोऽस्मि। आज्ञापयत्वार्यः किमनेन दासजनेनार्यस्यानुष्ठातव्यम्।

चाणक्यः—प्रथम तावद्वध्यस्थानं गत्वा घातकाः सरोषदक्षिणाक्षिसंकोचसंज्ञां ग्राहयितव्याः। ततस्तेषु गृहीतसंज्ञेषु भयापदेशादितस्ततः प्रद्रुतेषु शकटदासो वध्यस्थानादपनीय राक्षसं प्रापयितव्यः। तस्माच्च सुहृत्प्राणपरिरक्षणपरितुष्टात्पारितोषिकं ग्राह्यम्। राक्षस एव कंचित्कालं सेवितव्यः। ततः प्रत्यासन्नेषु परेषु प्रयोजनमिदमनुष्ठेयम्। (**कर्णे एवमिव**।)

सिद्धार्थकः—जं अज्जो आणवेदि । यदार्य आज्ञापयति ।

चाणक्यः—शार्ङ्गरव, शार्ङ्गरव ।

संस्कृत-व्याख्या

अस्फुटानि = अनतिस्पष्टानि । अदत्तबाह्यनामानम् = अदत्तम्—अलिखितं बाह्यनाम् यस्मिन् तम् । आख्यम्—वाच्यम् । मुद्रय = अङ्कय । अनुष्ठीयताम् = क्रियताम् । आप्तजनानुष्ठेये = आप्तः—विश्वस्तः जनः आप्तजनः तेन अनुष्ठेये—कर्तव्ये । व्यापारयितुम्—नियोक्तुम् । अनुष्ठातव्यम् = विधातव्यम् । घातकाः = हिंसकाः । ग्राहयितव्याः = बोधयितव्याः । गृहीतसंज्ञेषु = गृहीता—अङ्गीकृता संज्ञा—संकेतः यैस्तेषु । भयापदेशात् = भयच्छलात् । प्रद्रुतेषु = पलायितेषु । अपनीय = पृथक् कृत्य । प्रापयितव्यः = नेतव्यः । प्रत्यासन्नेषु = कुसुमपुरप्रान्तेषु सत्सु । परेषु = शत्रुषु ।

हिन्दी रूपान्तर

(प्रवेश करके ।)

शिष्य—उपाध्याय, आज्ञा दीजिये ।

चाणक्य—वत्स, श्रोत्रिय (ब्राह्मण) के अक्षर प्रयत्नपूर्वक लिखे हुये भी निश्चित रूप से अस्पष्ट (अपठनीय) होते हैं । अतः मेरी ओर से सिद्धार्थक को कहना । इन अक्षरों से किसी के द्वारा भी (लिखने वाला है) किसी को भी (जिसको पत्र लिखा जा रहा है) स्वयं (पत्र ले जाने वाले ने) कहना है, इसप्रकार बिना बाहर नाम को लिखे हुये (अर्थात् जिसको पत्र लिखा जा रहा है, उसका नाम बाहर नहीं लिखना है) लेख को शकटदास से लिखवा कर मेरे पास वापिस आओ और इस (शकटदास) को (यह) न कहना कि चाणक्य लिखवा रहा है ।

शिष्य—जो आज्ञा । (ऐसा कहकर निकल गया ।)

चाणक्य—(मन ही मन ।) हन्त (प्रसन्नता के अर्थ में है), मलयकेतु जीत लिया गया ।

(पत्र को हाथ में लिये हुये प्रवेश करके ।)

सिद्धार्थक—आपकी विजय हो, आर्य शकटदास के द्वारा लिखा हुआ यह वह (आपके द्वारा कहा हुआ) पत्र है ।

चाणक्य—(लेकर ।) अहो (पत्र के) अक्षर देखने योग्य हैं । (पढ़कर ।) भद्र, इस मुद्रा से इसको मुद्रित कर दो ।

सिद्धार्थक—(वैसा करके ।) आर्य, यह लेख मुद्रित (sealed) कर दिया । दूसरा (क्या कार्य) करना है ?

चाणक्य—भद्र, विश्वस्त व्यक्ति के द्वारा किये जाने योग्य किसी कार्य में तुम को नियुक्त करना चाहता हूँ ।

सिद्धार्थक—(प्रसन्नता के साथ ।) आर्य, अनुगृहीत हूँ । आर्य, आज्ञा दीजिये आर्य के इस वंशवद को (दासजनेन) क्या करना चाहिये ?

चाणक्य—(१) सबसे पहले तो वध्यस्थान (फाँसी देने के स्थान) पर जाकर

जल्लादों को क्रोध के साथ दक्षिण नेत्र के संकोच के इशारे को ग्रहण कराना चाहिये। (२) उसके बाद उनके द्वारा इशारा समझ लेने पर (और) भय के बहाने से इधर-उधर भाग जाने पर शकटदास को वध्यस्थान से हटाकर राक्षस के पास पहुंचाना चाहिये। (३) और मित्र के प्राणों की रक्षा से सन्तुष्ट उस (राक्षस) से पारितोषिक लेना चाहिये। (४) (पुनः) कुछ काल तक राक्षस की ही सेवा करना। (५) तदनतर (हमारे) शत्रुओं के (नगर के) पास आ जाने पर इस कार्य को करना चाहिये। (कान में इसप्रकार।)

सिद्धार्थक—आर्य, जो आज्ञा देते हैं।

चाणक्य—शार्ङ्गरव, शार्ङ्गरव।

टिप्पणी

(१) **श्रोत्रियाक्षराणि......भवन्ति**—ऐसा कहकर चाणक्य शिष्य के इस सन्देह को दूर करना चाहता है कि क्यों चाणक्य ने यह पत्र किसी दूसरे व्यक्ति से लिखवाया है। साथ ही वास्तविक तथ्य को भी छिपा लिया है।

(२) **सिद्धार्थक**—यह अधिकारी व्यक्ति है। चाणक्य ने इसको शकटदास की गतिविधि के लिये गुप्तचर के रूप में नियुक्त किया था।

(३) **स्वयं वाच्यम्**-ऐसा कहकर सबसे ऊपर नाम क्यों नहीं लिखा है—इस को स्पष्ट किया है, क्योंकि यदि नाम लिख दिया जाय तब तो जिसके नाम पत्र है वह स्वयं ही पढ़ लेगा—पत्र ले जाने वाले को कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है—यही पत्र का नियम है।

(४) **न चाख्येयम्**—शकटदास कुसुमपुर में राक्षस की पार्टी का नेता है। उसको सन्देह हो सकता है, अतः चाणक्य उससे छिपाना चाहता है।

(५) **अनया मुद्रया**—यह राक्षस नामाङ्कित मुद्रा है, जो चाणक्य को सद्यः ही अपने गुप्तचर निपुणक से प्राप्त हुई है।

(६) **आप्तजनानुष्ठेये**—इससे सिद्धार्थक को सम्मान देना चाहता है।

(७) **व्यापारयितुम्**—वि + आ + पृ + णिच् + तुमुन्।

(८) **सरोषदक्षिणाक्षिसंकोचसंज्ञाम्**—पूर्वसंकेत इसप्रकार है—"जब मैं शकटदास को शूली दिये जाने के अवसर पर क्रोधपूर्वक दाईं आँख का इशारा करूं उस समय तुम शकटदास को छोड़कर भाग जाना।"

(९) **भयापदेशात्**—जल्लाद ऐसा दिखायेंगे कि उनको भय लग रहा है, वस्तुतः भय नहीं हैं। ल्यप् लोपे पञ्चमी। भयापदेशमाश्रित्येत्यर्थः।

(१०) **राक्षसं प्रापयितव्यः**—जब तुम शकटदास को वध्यस्थान से ले जाकर राक्षस के पास पहुँचाओगे, उस समय वह समझेगा कि तुम उसके परम हितैषी मित्र हो जो उसके मित्र को मृत्यु के मुख से निकाल कर लाये हो। इसप्रकार उस राक्षस का तुममें अटूट विश्वास हो जावेगा।

(११) **सुहृत्**—शोभनं हृदयं यस्य। "**सुहृद्दुर्हृदौ** मित्रामित्रयोः" पा० ५/४/१५०

(१२) **पारितोषिकम्**—परितोषः प्रयोजनमस्य इति परितोष + ठञ् ।

(१३) **कर्णे एवमिव**—राक्षस के द्वारा प्राप्त पारितोषिक से तुमको क्या करना है और क्या नहीं करना है—यह सब चाणक्य ने सिद्धार्थक के कान में कहा है । यह आगे चलकर पञ्चम अङ्क में स्पष्ट होगा ।

(१४) **चाणक्य की सारी योजना इस प्रकार है**—शकटदास जब अपने मित्र सिद्धार्थक को जल्लादों के कान में कुछ कहता हुआ देखेगा तो वह सोचेगा कि यह मुझे छुड़ाने के लिये उनको उत्कोच दे रहा है । सम्भवतः चाणक्य ने इसके लिये सिद्धार्थक को कुछ रुपया भी दिया है । इस योजना की सफलता चाणक्य के लिये एक ठेस होगी—जैसा कि उसने आगे चलकर दिखाया भी है कि उसका परिचारक वर्ग भ्रष्टाचार से ऊपर नहीं उठा हुआ है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि चाणक्य ने इन जल्लादों को इस अपराध पर कि उन्होंने शकटदास को भागने का अवसर क्यों दिया—फाँसी दे दी है । इसकी सूचना हमको षष्ठ अङ्क में मिलती है ।

(प्रविश्य)

शिष्यः—उपाध्याय, आज्ञापय ।

चाणक्यः—उच्यतामस्मद्वचनात्कालपाशिको दण्डपाशिकश्च, यथा वृषलः समाज्ञापयति "य एष क्षपणको जीवसिद्धिर्नाम राक्षसप्रयुक्तो विषकन्यया पर्वतकं घातितवान्स एनमेव दोषं प्रख्याप्य सनिकारं नगरान्निर्वास्यतामिति" ।

शिष्यः—तथा । (इति परिक्रामति ।)

चाणक्यः—वत्स, तिष्ठ तिष्ठ । योऽयमपरः कायस्थः शकटदासो नाम राक्षसप्रयुक्तो नित्यमस्मच्छरीरमभिद्रोग्धुमिह प्रयतते स चाप्येनं दोषं प्रख्याप्य शूलमारोप्यताम् । गृहजनश्चास्य बन्धनागारं प्रवेश्यतामिति ।

शिष्यः—तथा । (इति निष्क्रान्तः ।)

चाणक्यः—(चिन्तां नाटयति आत्मगतम् ।) अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत ।

सिद्धार्थकः—अज्ज, गहीदो । आर्य, गृहीतः ।

चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतम् ।) हन्त, गृहीतो राक्षसः (प्रकाशम् ।) भद्र, कोऽयं गृहीतः ।

सिद्धार्थकः—गहीदो अज्जसन्देसो । ता गमिस्सं कज्जसिद्धिए । गृहीत आर्यसन्देशः । तस्माद्गमिष्यामि कार्यसिद्ध्यै ।

चाणक्यः—(साङ्गुलिमुद्रं लेखमर्पयित्वा ।) गम्यताम् । अस्तु ते कार्यसिद्धिः ।

सिद्धार्थकः—तथेति । (निष्क्रान्तः ।)

संस्कृत-व्याख्या

घातितवान् = विनाशितवान् । प्रख्याप्य = घोषयित्वा । सनिकारम् = सतिरस्कारम् । निर्वास्यताम् = निःसार्यताम् । अस्मच्छरीरम् = अस्मच्छरीरमिव प्रेष्ठं

चन्द्रगुप्त इति भावः । अभिद्रोग्धुम् = विनाशयितुम् । आरोप्यताम् = आरोह्यताम् ।
बन्धनागारं = कारागृहम् । सांगुलिमुद्रम् = अंगुलिमुद्रया सह वर्तमानम् ।

हिन्दी रूपान्तर

(प्रवेश करके ।)

शिष्य –उपाध्याय, आज्ञा दीजिये ।

चाणक्य - मेरी ओर से कालपाशिक और दण्डपाशिक को (दोनों ही जल्लाद हैं) कहना कि चन्द्रगुप्त आज्ञा देता है "राक्षस के द्वारा नियुक्त किये हुये जिस इस जीवसिद्धि नामक क्षपणक (बौद्ध सन्यासी) ने विषकन्या के द्वारा पर्वतक को मारा है, उसको इसी अपराध की घोषणा करके अपमान के साथ शहर से निर्वासित कर दो।"

शिष्य––जो आज्ञा (ऐसा कहकर घूमता है ।)

चाणक्य—वत्स, रुको रुको ! और राक्षस के द्वारा नियुक्त यह जो दूसरा (व्यक्ति) कायस्थ शकटदास नाम वाला सर्वदा चन्द्रगुप्त के (अस्मद्) शरीर से द्रोह करने के लिये इस नगर में प्रयत्न करता रहता है उसको भी इसी अपराध की घोषणा करके शूली पर चढ़ा दो और इसके परिवार को जेल में डाल दो ।

शिष्य—जो आज्ञा (ऐसा कहकर निकल जाता है ।)

चाणक्य—(चिन्ता का अभिनय करता है । मन ही मन ।) सम्भवतः दुष्टात्मा राक्षस पकड़ा जावे ।

सिद्धार्थक—आर्य, पकड़ (हृदयंगम कर) लिया ।

चाणक्य—(प्रसन्नता के साथ मन ही मन ।) हन्त, (प्रसन्नता के अर्थ में है) राक्षस पकड़ लिया गया । (स्पष्टतः) भद्र, यह कौन पकड़ लिया गया ?

सिद्धार्थक--आर्य का आदेश हृदयंगम कर लिया, तो (अब) कार्यसिद्धि के लिये जाता हूँ ।

चाणक्य—(अंगुलिमुद्रा से मुद्रित लेख को देखकर ।) जाओ । तुम्हारी कार्य-सिद्धि हो ।

सिद्धार्थक—जो आज्ञा । (निकल जाता है ।)

टिप्पणी

(१) कालपाशिकः—कालपाशः प्रहरणमस्य } ये दोनों ही जल्लाद हैं ।
दण्डपाशिकः—दण्डपाशक प्रहरणे अस्य }

(२) यः एषः······निर्वास्यताम्—ये चन्द्रगुप्त के आदेश के शब्द हैं । इसी प्रकार "**योऽयमपरः······प्रवेश्यताम्**" ये चन्द्रगुप्त के आदेश के शब्द हैं ।

(३) **प्रख्याप्य**—प्र + चक्षिङ् + णिच् + ल्यप् ।

(४) **नगरान्निर्वास्यताम्**—किसी भी सन्यासी का दुराचरण सदाचरण के विपरीत अपराध माना गया है । इसी प्रकार के अपराध भविष्य में राजा के विनाश के कारण हुआ करते है । किन्तु इस प्रकार के व्यक्तियों को मृत्युदण्ड देने का विधान

नहीं है—इनके लिये शहर से निकाल देना ही दण्ड है । इसी के अनुसार चाणक्य ने बौद्ध सन्यासी जीवसिद्धि को देशनिर्वासन का दण्ड दिया है, मृत्यु का नहीं । जीवसिद्धि का निर्वासन केवलमात्र धोखा है । चाणक्य चाहता है कि वह राक्षस के पास चला जाये । इसके साथ ही अपने द्वारा किये हुये पर्वतेश्वर के वध को राक्षस के द्वारा किया हुआ प्रसिद्ध करना है । यही बात आगे चलकर जीवसिद्धि मलयकेतु से कहेगा कि "पर्वतेश्वरो राक्षसेनैव हतो न तु चाणक्येन" इति ।

(५) अस्मच्छरीरमभिद्रोग्धुम्—"क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म" पा० १/४/३८ से द्वितीया । अभि + द्रुह् + तुमुन् ।

(६) शूलमारोप्यताम्—सप्तम् अङ्क में वर्णित है । प्राचीनकाल में शूली पर चढ़ाया जाना राजा का अपना निर्णय होता था ।

(७) गृहजनश्चास्य बन्धनागारं प्रवेश्यताम्—इसका फल चतुर्थ अङ्क में प्रकट होगा । वहाँ पर 'तव च पुत्रदारैः सह समागमः" ऐसा राक्षस के कहने पर मलयकेतु के मन में और "स्मृतं स्यात् पुत्रदारस्य" ऐसा राक्षस के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ है ।

(८) अपि नाम—सम्भावना अर्थ में "अपि" का प्रयोग है ।

(९) अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत—मैंने अपनी योजना कार्यरूप में करनी शुरू कर दी है यदि सफलता मिल जावे ।

(१०) चाणक्यः—अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत ।

सिद्धार्थकः—आर्य गृहीतः ।

चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतम्) हन्त, गृहीतो राक्षसः ।

(यह पुनः दूसरा 'गण्ड' है । इससे पूर्व इसीप्रकार का प्रयोग "गृहीतो जयशब्दः" किया था ।)

चाणक्य ने इसको भविष्यवाणी के रूप में लिया है और आनन्द का अनुभव किया है ।

(प्रविश्य)

शिष्यः—उपाध्याय, कालपाशिको दण्डपाशिकश्च उपाध्यायं विज्ञापयतः । इदमनुष्ठीयते देवस्य चन्द्रगुप्तस्य शासनमिति ।

चाणक्यः—शोभनम् । वत्स, मणिकारश्रेष्ठिनं चन्दनदासमिदानीं द्रष्टुमिच्छामि ।

शिष्यः—तथेति (निष्क्रम्य चन्दनदासेन सह प्रविश्य ।) इत इतः श्रेष्ठिन् ?

चन्दनदासः—(स्वगतम् ।)

चाणक्कम्मि अकरुणे सहसा सद्दाविदस्स वि जणस्स ।
णिद्दोसस्स वि सङ्का किं उण मह जोदोसस्स ॥२१॥

ता भणिदा मए वगसेगण्गमुहा णिअणिवेससंठिआ कदावि चाणक्कहदओ गहं विचिण्णा-

वेदि । ता अहविदा णिव्वहेह भट्टिणो अमच्चरक्खसस्स घरअणम् । मह दाव जं होदि तं होदु त्ति ।

चाणक्ये अकरुणे सहसा शब्दायितस्यापि जनस्य ।
निर्दोषस्यापि शङ्का किं पुनर्मम जातदोषस्य ॥

तस्माद्भणिता मया धनसेनप्रमुखा निजनिवेशसंस्थिताः कदापि चाणक्यहतको गेहं विचिनोति । तस्मादवहिता निर्वहत भर्तुरमात्यराक्षसस्य गृहजनम् । मम तावद् यद्भवति तद्भवत्विति ।

शिष्यः—भो श्रेष्ठिन् इत इतः ।

चन्दनदासः—अअं आअच्छामि । अयमागच्छामि ।

(उभौ परिक्रामतः ।)

संस्कृत-व्याख्या

शासनम् = आज्ञा ।

अन्वयः—चाणक्य इति—चाणक्ये अकरुणे सहसा शब्दायितस्य निर्दोषस्यापि जनस्य शङ्का, जातदोषस्य मम पुनः किम् ? ॥२१॥

व्याख्या—चाणक्ये अकरुणे-- निर्दये (निर्दयत्वे न प्रसिद्धे सति तेन) सहसा-अकस्मात् शब्दायितस्य = आहूतस्य निर्दोषस्यापि-निरपराधस्यापि जनस्य-लोकस्य शंका-भयं (भवति) जातदोषस्य-अपराधिनः मम पुनः किं-का कथा ? ॥२१॥ निजनिवेशसंस्थिताः = निजनिवेशे-मद्गेहे संस्थिताः = कृतवासाः । विचिनोति = मार्गयति । अवहिताः = सावधानाः सन्तः । निर्वहत = अपनयत ।

हिन्दी रूपान्तर

(प्रवेश करके)

शिष्य—उपाध्याय, कालपाशिक और दण्डपाशिक उपाध्याय से निवेदन कर रहे हैं । महाराज चन्द्रगुप्त की आज्ञा यह अर्थात् एक दम (इदम्) पालन की जाती है।

चाणक्य—बहुत अच्छा । वत्स, सम्प्रति सेठ जौहरी चन्दनदास को देखना चाहता हूँ ।

शिष्य—जो आज्ञा (निकालकर चन्दनदास के साथ प्रवेश करके ।) हे श्रेष्ठिन् इधर आइये, इधर आइये ।

चन्दनदास—(मन ही मन ।)

श्लोक—(२१) **अर्थ**—चाणक्य के निर्दयी (रूप से प्रसिद्ध) होने पर (उसके द्वारा) सहसा बुलाये जाते हुये निरपराध (व्यक्ति) को भी भय (होता) है, उत्पन्न दोष वाले (अर्थात् अपराधी) मेरा (तो) फिर क्या कहना ? ॥२१॥

इसलिये मैंने अपने घर में रहने वाले धनसेन इत्यादि को निर्देश दे दिया है (कि) दुष्ट चाणक्य कभी भी घर की तलाशी ले सकता है । इसलिये सावधान होकर स्वामी अमात्य राक्षस के परिवार को दूर कर देना । मेरा तो जो होना है वह हो ।

शिष्य—हे श्रेष्ठिन्; इधर आइये, इधर आइये ।

चन्दनदास—यह आ रहा हूँ।

(दोनों घूमते हैं।)

टिप्पणी

(१) मणिकारश्रेष्ठिनं चन्दनदासमिदानीं द्रष्टुमिच्छामि—यह राक्षस को चन्द्रगुप्त का मन्त्रीपद स्वीकार कराने का आयोजन है।

(२) शब्दायितस्य—आहूतस्य। शब्दं करोति इति "शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे" पा० ३/१/१७ इति क्यङ्, "हेतुमति च" पा० ३/१/२१ इति णिचि कर्मणि निष्ठा, इट्—इसके बाद "निष्ठायां सेटि" पा० ६/४/५२ इति णेः लोपः। षष्ठी के एकवचन का रूप है।

शिष्यः—(उपसृत्य।) उपाध्याय, अयं श्रेष्ठी चन्दनदासः।

चन्दनदासः—जेदु अज्जो। जयत्वार्यः।

चाणक्यः—(नाट्येनावलोक्य।) श्रेष्ठिन् स्वागतमिदमासनमास्यताम्।

चन्दनदासः—(प्रणम्य।) किं ण जाणादि अज्जो, जह अणुचिदो उवआरो हिअअस्य परिहवादोवि दुःखमुप्पादेदि। ता इह ज्जेव उचिदाए भूमीए उवविसामि। किं न जानात्यार्यः यथानुचित उपचारो हृदयस्य परिभवादपि दुःखमुत्पादयति। तस्मादिहैवोचितायां भूमावुपविशामि।

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन्, मा मैवम्।* संभावितमेवैदमस्मद्विधैः भवतः। तदुपविश्यतामासन एव।

चन्दनदासः—(स्वगतम्।) उवक्खित्तमणेण दुट्ठेण किंवि। (प्रकाशम्।) जं अज्जो अणवेदि त्ति। (उपविष्टः।) उपक्षिप्तमनेन दुष्टेन किमपि। यदार्य आज्ञापयतीति।

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन् चन्दनदास; अपि प्रचीयन्ते संव्यवहाराणां वृद्धिलाभाः।

चन्दनदासः—(स्वगतम्।) अच्चादरो संकणीओ। (प्रकाशम्।) अह इं। अज्जस्स प्पसाएण अखण्डिदा मे वाणिज्जा। अत्यादरः शंकनीयः। अथ किम्। आर्यस्य प्रसादेन अखण्डिता मे वाणिज्या।

चाणक्यः—न खलु चन्द्रगुप्तदोषा अतिक्रान्तपार्थिवगुणानधुना स्मारयन्ति प्रकृतीः।

चन्दनदासः—(कर्णौ पिधाय।) सन्तं पावम्। सारअणिसासमुग्गणणं जिव पुण्णिमाचन्देन चन्दसिरिणा अहिअं णन्दन्ति पकिदिओ। शान्तं पापम्। शारदनिशासमुद्गतेनेव पूर्णिमाचन्द्रेण चन्द्रश्रियाधिकं नन्दन्ति प्रकृतयः।

संस्कृत-व्याख्या

उपचारः=अभ्यर्थनादिरूप आदरः। उचितायाम्=योग्यायाम्। इदम्=उपचारकरणम्। सम्भावितमेव=अध्यवसितमेव। उपक्षिप्तम्=ज्ञातम्। प्रचीयन्ते=वर्द्धन्ते। संव्यवहाराणाम्=क्रयविक्रयात्मकवाणिज्यानाम्। वाणिज्या=व्यापारः।

अतिक्रान्तपार्थिवगुणान् = अतिक्रान्तस्य— दिवंगतस्य पार्थिवस्य—राज्ञः (नन्दस्य) गुणान् । प्रकृतीः = प्रजाः । चन्द्रश्रिया = चन्द्रगुप्तेन ।

हिन्दी रूपान्तर

शिष्य—(समीप जाकर ।) उपाध्याय, यह सेठ चन्दनदास (आ गया) है ।

चन्दनदास—आर्य की विजय हो ।

चाणक्य—(अभिनय के साथ देखकर ।) श्रेष्ठिन्, (आपका) स्वागत है, यह आसन है बैठिये ।

चन्दनदास—(प्रणाम करके ।) क्या आर्य नहीं जानते हैं अनुपयुक्त सम्मान अपमान से भी अधिक हृदय में दुःख को उत्पन्न करता है । अतः यहीं (अपने) योग्य भूमि पर बैठता हूँ ।

चाणक्य—हे श्रेष्ठिन्, नहीं, ऐसा नहीं । हम जैसे व्यक्तियों के द्वारा आपके (सम्बन्ध में) यह (आदर करना) उचित ही है । अतः आसन पर ही बैठिये ।

चन्दनदास—(मन ही मन ।) इस दुष्ट ने कुछ ताड़ लिया है (स्पष्टतः ।) जो आर्य आज्ञा देते हैं । (बैठ गया ।)

चाणक्य—हे श्रेष्ठिन् चन्दनदास, क्या (आपके) क्रयविक्रयात्मक में (संव्य॰ वहार = Investment) वृद्धि (Interest in loan) और लाभ (Trade profits) बढ़ रहे हैं ।

चन्दनदास—(मन ही मन ।) अत्यधिक आदर शंकनीय होता है । (स्पष्टतः ।) और क्या ? आर्य की कृपा से मेरे व्यापार अखण्डित हैं ।

चाणक्य—(क्या) सम्प्रति चन्द्रगुप्त के दोष प्रजाओं को दिवंगत राजा (नन्द) के गुणों का स्मरण नहीं कराते हैं ।

चन्दनदास—(कानों को बन्द करके ।) पाप शान्त हो शरदकालीन रात्रि में उदित हुये पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान चन्द्रगुप्त से प्रजायें अत्यधिक प्रसन्न हो रही हैं ।

*गूढ़ार्थ—सम्भावितमेवेदम्—बाह्य अर्थ है—यह तो हमारी ओर से तुम्हारा बाह्य सत्कार है । गूढ़ार्थ है—तिरस्कार करना ।

टिप्पणी

(१) **उपचारः**—सम्मान । उप + चर् + घञ् करणे उपचारः । उपचर्यंते अनेन ।

(२) **सम्भावितम्**—चाणक्य का बाह्य आशय है कि तुम हमारे सामने आसन पर बैठने के योग्य हो । किन्तु आन्तरिक दृष्टि से वह यह कहना चाह रहा है कि तुम्हारे विषय में **"इदं परिभवकरणं सम्भावितमेव"** क्योंकि तुम अपराधी हो, किन्तु चन्दनदास समझता है **"इदं उपचारकरणं सम्भावितमेव ।"**

(३) **उपक्षिप्तम्**—उप-समीपे क्षिप्तम् इति उप + क्षिप् + क्त । यह दुष्ट कुछ ऐसा काम करने जा रहा है, जो अरुचिकर है ।

(४) **अपि प्रचीयन्ते**—यह पता लगाना ही ठीक है क्योंकि राज्य परिवर्तन हुआ है। साथ ही व्यापारियों से इसीप्रकार के प्रश्न करना उचित भी है। "**अनष्टं वंद्यम्**" आप० ध० सू० १, ४, १४, १८।

(५) **संव्यवहाराणाम्**—सम् + वि + अव + हृ + घञ्—भाव में रूप है, संव्यवहारः।

(६) **पिधाय**—अपिधाय = "वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।
आपञ्चापि हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा॥
से "अपि" के अकार का लोप। अपि + धा + ल्यप्।

(७) **शान्तं पापम**—"**शान्तं पापमनिर्देश्ये**" इसके अनुसार न कहने योग्य बात के विषय में नाट्य में इसका प्रयोग होता है। लोकव्यवहार में न सुनने योग्य बात को सुनने पर "**राम राम**" ऐसा कहते हैं।

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन्, यद्यवं प्रीताभ्यः प्रकृतिभ्यः प्रतिप्रियमिच्छन्त राजानः।

चन्दनदासः—आणवेदु अज्जो किं कित्तिअं इमादो जणादो इच्छीअदित्ति। आज्ञापयतु आर्यः किं कियदस्माज्जनादिष्यत इति।

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन्, चन्द्रगुप्तराज्यमिदं न नन्दराज्यम्। यतः नन्दस्यैवार्थरुचेरर्थसंबन्धः प्रीतिमुत्पादयति। चन्द्रगुप्तस्य तु भवतामपरिक्लेश एव।

चन्दनदासः—(सहर्षम्।) अज्ज, अणुग्गहीदोम्हि। आर्य, अनुगृहीतोऽस्मि।

चाणक्यः—भो श्रेष्ठिन्, स चापरिक्लेशः कथमाविर्भवतीति ननु भवता प्रष्टव्याः स्मः।

चन्दनदासः—आणवेदु अज्जो। आज्ञापयत्वार्यः।

चाणक्यः—संक्षेपतो राजनि अविरुद्धाभिर्वृत्तिभिर्वर्तितव्यम्।

चन्दनदासः—अज्ज, को उण अधण्णो रण्णा विरुद्धोति अज्जेण अवगच्छीअदि। आर्य, कः पुनरधन्यो राज्ञा विरुद्ध इति आर्येणावगम्यते।

चाणक्यः—भवानेष तावत्प्रथमम।

चन्दनदासः—(कर्णौ पिधाय।) सन्तं पावं सन्तं पावम्। कीदिसो तिणाणं अग्गिणा सह विरोहो। शान्तं पापं शान्तं पापम्। कीदृशस्तृणानामग्निना सह विरोधः।

संस्कृत-व्याख्या

अर्थरुचेः अर्थे रुचिः यस्य तादृशस्य, लुब्धस्येत्यर्थः। **अपरिक्लेशः** = खेदाभावः। **आविर्भवति** = अभिव्यक्तः भवति। **संक्षेपतः** = समासतः। **अविरुद्धाभिः** = अनुकूलैः। **वृत्तिभिः** = व्यवहारैः। **वर्तितव्यम्** = व्यवहर्तव्यम्।

हिन्दी रूपान्तर

चाणक्य—हे श्रेष्ठिन्, यदि ऐसा है (तो) प्रसन्न हुई प्रजाओं से राजा बदले में प्रिय की आशा करते हैं।

चन्दनदास—आर्य आज्ञा दीजिये (कि) इस (मुझ) व्यक्ति से कितना चाहा जाता है ?

चाणक्य—हे श्रेष्ठिन्, यह चन्द्रगुप्त का राज्य है, नन्द का राज्य नहीं। क्योंकि धन का सम्बन्ध लोभी (अर्थरुचेः) नन्द की ही प्रीति को उत्पन्न कर सकता है। चन्द्रगुप्त को तो आपको क्लेश का न होना ही (प्रीति को) उत्पन्न कर सकता है।

चन्दनदास—(प्रसन्नता के साथ।) आर्य, अनुगृहीत हूँ।

चाणक्य—हे श्रेष्ठिन्, और वह क्लेश का न होना कैसे अभिव्यक्त होता है ? यह तुमको हमसे पूछना चाहिये।

चन्दनदास—आर्य, आज्ञा दीजिये।

चाणक्य—संक्षेप में राजा के विषय में अनुकूल प्रवृत्तियों से व्यवहार करना चाहिये।

चन्दनदास—आर्य, "कौन दुर्भाग्यशाली राजा से विरुद्ध है" ऐसा आर्य समझते हैं।

चाणक्य—सबसे पहले तो आप ही।

चन्दनदास—(कानों को बन्द करके।) पाप शान्त हो, पाप शान्त हो। तिनकों का अग्नि के साथ कैसा विरोध ?

टिप्पणी

(१) **नन्दस्य अर्थरुचेः**—नन्द अपनी लुब्धता के लिये दुर्नामरूप से प्रसिद्ध था। नन्द के विषय में यह कहा जाता है कि वह ९९ करोड़ सोने की मोहरों का अधिपति था।

(२) **अपरिक्लेशः**— यहाँ "नञ" का अर्थ अभाव है। नञ् के निम्न छः अर्थ होते हैं—

> तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
> अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥

अव्ययीभाव समास होने पर रूप बनेगा **अपरिक्लेशम्**। अपरिक्लेश का विपरीत है परिक्लेश। यह दण्ड के तीनों भेदों में से एक भेद है। दण्ड इसप्रकार हैं '

> वधोऽर्थग्रहणं चैव परिक्लेशस्तथैव च।
> इति दण्डविधानज्ञैर्दण्डोऽपि त्रिविधः स्मृतः॥ काम० १७-९।

(३) **सहर्षम्**--चन्दनदास को प्रसन्नता इसलिये हुई है कि उसने देखा कि उदार हृदय चन्द्रगुप्त का धन के प्रति किसीप्रकार का लोभ नहीं है। अतः अब इस बात की कोई सम्भावना नहीं है कि उसके धन की क्षति होगी।

(४) ननु भवता—चन्दनदास पर मृदु व्यंग्य है। आपको पूछना चाहिये कि वह अपरिक्लेश कैसे व्यक्त होगा और आपने यह प्रश्न पूछा ही नहीं।

(५) प्रष्टव्याः—प्रच्छ + तव्यत्।

(६) अधन्यः—न धन्यः क्योंकि फिर उसको मृत्यु का सामना करना पड़ेगा।
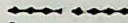
चाणक्यः—अयमीदृशो विरोधः। यस्त्वमद्यापि राजाऽपथ्यकारिणोऽमात्य-राक्षसस्य गृहजनं स्वगृहमभिनीय रक्षसि।

चन्दनदासः—अज्ज अलीअं एदं केणावि अणभिण्णेण अज्जस्स णिवेदिदम्। आर्य, अलीकमेतत्केनाप्यनभिज्ञेन आर्यस्य निवेदितम्।

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन्, अलमाशङ्कया। भीताः पूर्वराजपुरुषाः पौराणा-मनिच्छतामपि गृहेषु गृहजनं निक्षिप्य देशान्तरं व्रजन्ति। ततस्तत्प्रच्छादनं दोष-मुत्पादयति।

चन्दनदासः—एव्वं णेदम्। तस्सि समये आसि अम्हघरे अमच्चरक्खसस्स घर-अणो त्ति। एवं नु इदम्। तस्मिन् समये आसीदस्मद्गृहे अमात्यराक्षस्य गृहजन इति।

चाणक्यः—पूर्वमनृतमिदानीमासीदिति परस्परविरोधिनी वचने।

चन्दनदासः—एत्तिअं ज्जेव अत्थि मे वाआच्छलम्। एतावदेवास्ति मे वाक्-छलम्।

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन्, चन्द्रगुप्ते राजन्यपरिग्रहश्छलानाम्। तत्समर्पय राक्षस्य गृहजनम्। अच्छलं भवतु भवतः।

चन्दनदासः—अज्ज, णं विण्णवेमि तस्सि समए आसि अम्हघरे अमच्चरक्खसस्स घरअणो त्ति। आर्य, ननु विज्ञापयामि तस्मिन् समये आसीदस्मदगृहे अमात्य-राक्षसस्य गृहजन इति।

चाणक्यः—अथेदानीं क्व गतः।

चन्दनदासः—ण जाणामि। न जानामि।

संस्कृत-व्याख्या

अलीकम् = अनृतम्। आशंकया = भयेन। निक्षिप्य = स्थापयित्वा। देशान्तरम् = अन्यं देशम्। तत्प्रच्छादनम् = तस्य-गृहजनस्य प्रच्छादनम्—गोपनम्। दोषम् = अप-राधम्। वाक्छलम् = वाचि छलम्। अच्छलम् = छलस्य अभावः, अकापट्यम्।

हिन्दी रूपान्तर

चाणक्य—यह विरोध इस प्रकार का है, जो तुम आज भी (अर्थात् मलयकेतु का आश्रय लेकर राजा का अहित करते हुये होने पर भी) राजा का अहित करने वाले अमात्य राक्षस के परिवार को अपने घर लाकर रक्षा कर रहे हो।

चन्दनदास—आर्य, (वस्तुस्थिति से) अनभिज्ञ किसी ने आपको यह मिथ्या सूचना दी है।

चाणक्य - हे श्रेष्ठिन्, आशंका से बस (अर्थात् डरो मत)। डरे हुये पहले के राजपुरुष न चाहते हुये भी नागरिकों के घरों में (अपने) परिवार को रखकर दूसरे देश को चले जाते थे। अतः उनका छिपाना अपराध को उत्पन्न करता है।

चन्दनदास—यह ऐसा है। उस समय हमारे घर में अमात्य राक्षस का परिवार था।

चाणक्य—पहले "मिथ्या" (और) अब "था" ऐसा कहना परस्पर विरोधी वचन है।

चन्दनदास—इतना ही मेरे कथन में दोष (वाक्छलम्) है।

चाणक्य—हे श्रेष्ठिन्, चन्द्रगुप्त के राजा होने पर छलों का ग्रहण उचित नहीं है। अतः राक्षस के परिवार को सौंप दो। आपका (वचन) निश्छल हो जावे।

चन्दनदास—आर्य, मैं निवेदन कर रहा हूँ (कि) उस समय मेरे घर में अमात्य राक्षस का परिवार था।

चाणक्य—और अब कहाँ गया ?

चन्दनदास—मैं नहीं जानता हूँ।

टिप्पणी

(१) **राजापथ्यकारिण:**—पथिन् + यत् = पथ्यम्, न पथ्यम् = अपथ्यम्। राज्ञः अपथ्यम् तत्करोति इति णिनिः।

(२) **अभिनीय**—अभि + नी + ल्यप्।

(३) **अलीकम्**—मिथ्या। इसका तात्पर्य है कि--(१) कभी नहीं था या (२) नहीं है। इनमें से प्रथम विकल्प तो तथ्य नहीं है और दूसरा विकल्प सत्य है क्योंकि चन्दनदास अपने घर रहने वाले व्यक्तियों से कह आया है कि हो सकता है कि चाणक्य मेरे घर की तलाशी ले, उस अवस्था में तुम राक्षस परिवार को कहीं अन्यत्र सुरक्षित पहुँचा देना।

(४) **अनिच्छतामपि**—न चाहते हुये भी अर्थात् इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है, क्योंकि तुम यह नहीं चाहते कि वे अपने परिवार को तुम्हारे घर रखें। यह निक्षेप तो राक्षसकृत है। अतः तुम्हें भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है।

(५) **पूर्वमनृतम्**—अलीक अर्थात् पहले तो तुमने अमात्य परिवार तुम्हारे घर था—इस सूचना को ही मिथ्या बतला दिया और सम्प्रति "आसीत्" विशिष्ट समय में राक्षस का परिवार था—यह कहकर इसको स्वीकार कर रहे हो। इसप्रकार तुम्हारी ये परस्पर विरोधी मान्यतायें हैं। यहाँ पर चाणक्य ने "अनृतम्" का अर्थ यह लिया है कि राक्षस का परिवार उसके घर कभी भी नहीं था। इस अर्थ में स्पष्टतः विरोध आता है।

(६) **वाक्छलम्**—न्यायसूत्र के अनुसार छल की परिभाषा है :—

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पनं वाक्छलम्।

(७) अच्छलम्—छलस्याभावः, अव्ययीभाव समास है। अच्छलमनपराधः, छलं स्खलितशाठ्ययोः।

(८) आसीत् अस्मद्गृहे—यहाँ "आसीत्" पर जोर है। "आसीत्" का प्रयोग किया है, "अस्ति" का नहीं।

चाणक्यः—(स्मितं कृत्वा।) कथं न ज्ञायते नाम। भोः श्रेष्ठिन्, शिरसि भयमतिदूरे तत्प्रतीकारः।

चन्दनदासः (स्वगतम्।)

उवरि घणं घणरडिअं दूरे दइदा किमेददावडिअम्।
हिमवदि दिव्वोसहिओ सीपे सप्पो समाविट्ठो ॥२२॥
उपरि घनं घनरटितं दूरे दयिता किमेतदापतितम्।
हिमवति दिव्यौषधयः शीर्षे सर्पः समाविष्टः ॥

चाणक्यः—अन्यच्च। नन्दमिव विष्णुगुप्तः-(इत्यर्धोक्ते लज्जां नाटयित्वा।) चन्द्रगुप्तममात्यराक्षसः समुच्छेत्स्यतीति मैवं मंस्थाः। पश्य।

विक्रान्तैर्नयशालिभिः सुसचिवैः श्रीर्वक्रनासादिभि-
र्नन्दे जीवति या तदा न गमिता स्थैर्यं चलन्ती मुहुः।
तामेकत्वमुपागतां द्युतिमिव प्रह्लादयन्तीं जगत्
कश्चन्द्रादिव चन्द्रगुप्तनृपतेः कर्तुं व्यवस्येत्पृथक् ॥२३॥

अपि च : ('आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभाम्' इति पूर्वोक्तं पठति।)

चन्दनदासः—(स्वगतम्।) फलेण संवादिदं से विकत्थिदम्। फलेन संवादितमस्य विकत्थितम्।

(नेपथ्ये कलकलः।)

संस्कृत-व्याख्या

शिरसि—उत्तमाङ्गे भयं, तत्प्रतिकारः=तस्य—भयस्य प्रतिकारः—निर्यातनोपायः दूरे—विप्रकृष्टे वर्तते।

अन्वयः—**उपरीति**—एतत् किम् आपतितम्, उपरि घनं घनरटितं दूरे दयिता हिमवति दिव्यौषधयः शीर्षे सर्पः समाविष्टः ॥२२॥

व्याख्या - एतत् किम् आपतितम्—उपस्थितम्, (प्रवासस्थस्य जनं यथा) उपरि घनं-सान्द्रं घनरटितं-मेघगर्जनम् (किन्तु) दयिता—प्रिया दूरे (तिष्ठति)। हिमवति—हिमालये (अतिदूरे इत्यर्थः) दिव्यौषधयः (परम्) शीर्षे—शिरसि सर्पः समाविष्टः—दंशनार्थमुपागतः ॥२२॥

समुच्छेत्स्यति=समुन्मूलयिष्यति। मैवं मंस्थाः—मैवं जानीहि।

अन्वयः—**विक्रान्तैरिति**—तदा नन्दे जीवति मुहुः चलन्ती या श्रीः विक्रान्तैः नयशालिभिः वक्रनासादिभिः सुसचिवैः स्थैर्यं न गमिता। द्युतिमिव एकत्वमुपागतां जगत् प्रह्लादयन्तीं तां चन्द्रादिव चन्द्रगुप्तनृपतेः पृथक् कर्तुं कः व्यवस्येत् ॥२३॥

व्याख्या—तदा–तस्मिन् समये नन्दे जीवति मुहुः—वारम्बारं चलन्ती—अतिचञ्चला या श्रीः–राजलक्ष्मीः विक्रान्तैः–विक्रमशालिभिः नयशालिभिः–नीतिज्ञैः वक्रनासादिभिः सुसचिवैः—सुमन्त्रिभिः स्थैर्य-स्थिरतां न गमिता—न प्रापिता। द्युतिमिव—चन्द्रिकामिव एकत्वम्—अभिन्नताम् उपगताम्—आपन्नां जगत्—लोकं प्रह्लादयन्तीम्—उद्भासयन्तीं ताम्—श्रियं चन्द्रादिव चन्द्रगुप्तनृपतेः प्रथक् कर्तुं—वियोजयितुं कः व्यवस्येत्—प्रयतेत ? (न कोपि तत्कर्तुं शक्नुयाद् इत्यर्थः) ॥२३॥ अस्य—चाणक्यस्य विकत्थितम्—आत्मश्लाघा फलेन—नन्दवधरूपेण फलेन सह सम्वादितम्—सामञ्जस्यं गमितम्, फलानुरूपोऽस्य दम्भः शोभते इत्यर्थः।

हिन्दी रूपान्तर

चाणक्य—(मुस्करा करके।) क्या नहीं जानते हो ? हे श्रेष्ठिन्, सिर पर भय है (और) उसका प्रतिकार (करने का उपाय) अत्यन्त दूर है।

चन्दनदास—(मन ही मन।)

श्लोक (२२) अर्थ—यह क्या (मेरे ऊपर) आ पड़ा है (दूर देश में विद्यमान व्यक्ति के समान) ऊपर सान्द्र मेघों की गर्जना है, (किन्तु उसका उपाय) प्रिया दूर है। हिमालय पर (विष का अपहरण करने वाली) दिव्य औषधियाँ हैं (किन्तु) सिर पर सर्प चढ़ा हुआ है ॥२२॥

चाणक्य—और इसके अतिरिक्त नन्द को चाणक्य के समान (ऐसा आधा कहने पर लज्जा का अभिनय करके) चन्द्रगुप्त को अमात्य राक्षस समूल विनष्ट कर देगा—ऐसा मत समझो। देखो—

श्लोक (२३) अर्थ—उस समय (ऐश्वर्य के समय) (जो) नन्दों के जीवित रहने पर पौनःपुन्येन अस्थिर होती हुई जो राजलक्ष्मी शूरवीर नीतिज्ञ वक्रनास और राक्षस आदि श्रेष्ठ मन्त्रियों के द्वारा स्थिरता को प्राप्त नहीं कराई गई, चन्द्रिका के समान अभिन्नता को प्राप्त होती हुई (और) संसार को आह्लादित करती हुई उस (लक्ष्मी) को चन्द्रमा के समान चन्द्रगुप्त राजा से पृथक करने के लिये कौन साहस कर सकता है अर्थात् कोई भी नहीं। (जैसे कान्ति चन्द्रमा से अभिन्न है उसीप्रकार लक्ष्मी भी चन्द्रगुप्त से अभिन्न है। अतः पार्थक्य असम्भव है।) ॥२३॥

और भी। [आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभाम्—इस पूर्वोक्त (पद्य) को पढ़ता है।]

चन्दनदास–(मन ही मन।) आत्मश्लाघा (विकत्थितम्) फल के साथ (नन्दवध-रूप) सामञ्जस्यपूर्ण है। (अर्थात् फल के अनुरूप इसकी आत्मश्लाघा शोभा देती है।)

(नेपथ्य में कोलाहल होता है।)

टिप्पणी

(१) **शिरसि भयम्**—भय राजा से है, जो बिलकुल सन्निकट है किन्तु इसके प्रतिकार की आशा राक्षस से की जा सकती है, किन्तु वह अत्यन्त दूर है।

(२) **किमेतदापतितम्**—विरहियों के लिये मेघों की गर्जना अत्यन्त उद्दीप्त करने वाली होती है, अतएव असह्य है। इस मेघगर्जन के प्रतिकार का उपाय केवल प्रिया है, किन्तु वह दूर है, उसका पास आना सम्भव नहीं है।

(३) २२ वें श्लोक का तात्पर्य है कि वर्षाकाल आना चाहता है किन्तु प्रिया बहुत दूर है। प्रतिकार राक्षस से सम्भव है और वह दूर है। चन्दनदास सोचता है कि अपने मित्र राक्षस के परिवार को समर्पित कर देने में महान् पाप है और अमानवीय कृत्य होने के कारण सज्जनों के द्वारा निन्दनीय है और जब तक उसके परिवार को लौटाया नहीं जाता तब तक चाणक्य से मुक्ति का कोई उपाय नहीं है। इस अवस्था में करना क्या चाहिये ?

चाणक्य को यहाँ पर सर्प के समान सिर पर मँडराता हुआ चित्रित किया गया है।

(४) **विष्णुगुप्तः**—चाणक्य का ही वास्तविक नाम है।

(५) **मैव मंस्थाः**—मन् + लुङ् + थास्। "माङि लुङ्" पा० ३/३/१७५ इति भविष्यति लुङ्।

(६) **विक्रान्तैः**—इससे प्रतीत होता है कि कोई उनसे बलात् आक्रमण करके लक्ष्मी का अपहरण नहीं कर सकता है।

(७) **नयशालिभिः**—कोई यह न समझ ले कि वे केवल पराक्रमी ही थे, नीतिज्ञ नहीं थे और नीति से रहित पराक्रम का कोई मूल्य नहीं है, इसलिये "नयशालिभिः" कहा है अर्थात् वे पराक्रमी ही नहीं थे अपितु नीतिज्ञ भी थे।

(८) **सुसचिवैः**—वे मूर्ख मन्त्री नहीं थे, इसी को स्पष्ट करने के लिये सु का प्रयोग किया है क्योंकि यदि मूर्ख होते तो पराक्रम का क्या मूल्य ? नीतिज्ञता का क्या लाभ ?

(९) **वक्रनासादिभिः**—वक्रनासा अस्य इति वक्रनासः। "आदि" पद से राक्षस का ग्रहण होता है।

(१०) **चन्द्रगुप्तनृपतेः पृथक्**—"पृथक्विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम्" पा० २/३/३२ इति पञ्चमी।

(११) **कः कर्तुं व्यवस्येत्**—अर्थात् कोई भी पृथक् नहीं कर सकता है। इसलिये राक्षस भी प्रयत्न नहीं करेगा और यदि चन्द्रमा और चन्द्रिका की अभिन्नता के समान चन्द्रगुप्त और राजलक्ष्मी की अभिन्नता को न सोचते हुये करता है तो उसका प्रयास निष्फल जायेगा।

(१२) **व्यवस्येत्**—सम्भावना में लिङ् है।

(१३) इसप्रकार केवल मन्त्री ही पराक्रम और नीतिशाली नहीं थे। अपितु नन्द भी सम्पूर्ण राजा के गुणों से युक्त थे। एक नन्द नहीं था, नौ नन्द थे। इस अवस्था में जब लक्ष्मी नन्दकुल में स्थिर न हो सकी तो अब तो जबकि इनमें से कोई

भी नहीं है, चन्द्रगुप्त से बलात् राज्यश्री का अपहरण करना सर्वथा असम्भव है।

(१४) **संवादितम्**— सम् + वद् + णिच् + क्त कर्मणि रूपम्।

(१५) **विकत्थितम्**—वि + कत्थ + क्त भाव में रूप है।

चाणक्यः—शार्ङ्गरव, ज्ञायतां किमेतत्।

शिष्यः—तथा। (इति निष्क्रम्य, पुनः प्रविश्य।) उपाध्याय, एष राज्ञश्चन्द्रगुप्तस्याज्ञया राजापथ्यकारी क्षपणको जीवसिद्धिः सनिकारं नगरान्निर्वास्यते।

चाणक्यः—क्षपणकः, अहह। अथवा अनुभव राजापथ्यकारित्वस्य फलम्। भोः श्रेष्ठिन् चन्दनदास, एवमयमपथ्यकारिषु तीक्ष्णदण्डो राजा। तत्क्रियतां पथ्यं सुहृद्वचः समर्प्यतां राक्षसगृहजनः। अनुभूयतां चिरं विचित्रो राजप्रसादः।

चन्दनदासः—णत्थि मे गेहे अमच्चघरअणो। नास्ति मे गेहे अमात्यगृहजनः।

[नेपथ्ये पुनः कलकलः।]

संस्कृत-व्याख्या

राजापथ्यकारी = पथ्यं—हितं, न पथ्यम् = अपथ्यम्, अहितमित्यर्थः, राज्ञः अपथ्यं राजापथ्यं तत्कर्तुं शीलमस्य इति राजापथ्यकारी, राजाविद्रोहीत्यर्थः। सनिकारम् = सापमानम्। निर्वास्यते = देशान्तरं प्रस्थाप्यते। राजापथ्यकारित्वस्य = राजद्रोहविधायित्वस्य। अपथ्यकारिषु = राजविद्रोहिषु। तीक्ष्णदण्डः = तीक्ष्णः-तीव्रः दण्डः-शासनं यस्यासौ, उग्रशासन इत्यर्थः। पथ्यं = हितम्।

हिन्दी रूपान्तर

चाणक्य—शार्ङ्गरव, पता लगाओ यह क्या है ?

शिष्य—जो आज्ञा। (निकलकर, पुनः प्रवेश करके।) उपाध्याय, राजा चन्द्रगुप्त की आज्ञा से यह राजा का अहित करने वाला अर्थात् राजद्रोही (राजापथ्यकारी) क्षपणक जीवसिद्धि तिरस्कार के साथ नगर से निर्वासित किया जा रहा है।

चाणक्य—क्षपणक, अहह (करुणा प्रकट करने के लिये है)। अथवा राजविद्रोही होने का फल अनुभव करो। हे श्रेष्ठिन् चन्दनदास, इसप्रकार यह राजा (चन्द्रगुप्त) विद्रोहियों के विषय में कठोर दण्ड वाला है। अतः हितकारी मित्र की बात मानो। राक्षस के परिवार को सौंप दो। (और) अद्भुत राजकृपा को चिरकाल तक अनुभव करो।

चन्दनदास—मेरे घर में अमात्य राक्षस का परिवार नहीं है।

(नेपथ्य में पुनः कोलाहल होता है।)

टिप्पणी

(१) चन्दनदास के साथ बातचीत के समय क्षपणक के इस राजदण्ड का वर्णन उसको भयभीत करने के लिये है।

(२) अहह—सिर को घुटाकर रखने वाला, कुछ भी न संग्रह करने वाला तपस्वी अपमान के योग्य नहीं है—इसप्रकार की करुणा को प्रकट करने के लिये अहह शब्द का प्रयोग किया है।

(३) अथवा—जो कोई भी राजद्रोही होगा उसे दण्ड दिया ही जाना चाहिये, ऐसा चाणक्य ने अपने आप समाधान कर लिया है।

(४) सुहृद्वचः—राजा का प्रसाद विचित्र होगा वह चिरकाल तक रहेगा—एक प्रलोभन दिया है।

चाणक्यः—शार्ङ्गरव, ज्ञायतां पुनः किमतेत्।

शिष्य—तथा। (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य।) उपाध्याय, अयमपि राजापथ्यकार्येव कायस्थः शकटदासः शूलमारोपयितुं नीयते।

चाणक्यः—स्वकर्मफलमनुभवतु। भोः श्रेष्ठिन्, एवमयं राजापथ्यकारिषु तीक्ष्णदण्डो न मर्षयिष्यति राक्षसकलत्रप्रच्छादनं भवतः तद्रक्ष। परकलत्रेणात्मनः कलत्रं जीवितं च।

चन्दनदासः—अज्ज, किं मे भअं दावेसि। सन्तं वि गेहे अमच्चरक्खसस्स घरअणं ण समप्पेमि किं उण असन्तम्। आर्य, किं मे भयं दर्शयसि। सन्तपि गेहे अमात्यराक्षसस्य गृहजनं न समर्पयामि किं पुनरसन्तम्।

चाणक्यः—चन्दनदास, एष ते निश्चयः।

चन्दनदासः—बाढं, एसो धीरो मे णिच्चओ। वाढमेष धीरो मे निश्चयः।

चाणक्यः—(स्वगतम्।) साधु चन्दनदास, साधु।

सुलभेष्वर्थलाभेषु परसंवेदने जने।
क इदं दुष्करं कुर्यादिदानी शिविना विना॥२४॥

(प्रकाशम्।) चन्दनदास, एष ते निश्चयः।

चन्दनदासः—बाढम्। बाढम्।

संस्कृत-व्याख्या

मर्षयिष्यति = क्षमिष्यते। राक्षसकलत्रप्रच्छादनम् = राक्षसगृहजनगोपनम्। मे = माम इत्यर्थः। असन्तम् = अविद्यमानम्। धीरः = दृढः।

अन्वयः—सुलभेष्विति—परसंवेदने अर्थलाभेषु सुलभेषु इदानीम् इदं दुष्करं जने शिविना विना कः कुर्यात्॥२४॥

व्याख्या परसंवेदने = परस्य-परकीयार्थस्य संवेदने-समर्पणे कृते सति (स्वस्य) अर्थलाभेषु सुलभेषु (सतसु) इदानीं-सम्प्रति (कलियुगे) इदम्-परकलत्रसंरक्षणरूपम्

दुष्करम्-असाध्यं (कर्म) जने—लोके (एकेन) शिविना विना (त्वदन्यः) कः कुर्यात्, न कोऽपीत्यर्थः ।।२४।।

हिन्दी रूपान्तर

चाणक्य—शार्ङ्गरव, पता लगाओ यह क्या है ?

शिष्य—जो आज्ञा । (निकलकर पुनः प्रवेश करके ।) उपाध्याय, यह भी राजा का अहित करने वाला ही अर्थात् राजद्रोही कायस्थ शकटदास शूली पर चढ़ाने के लिये ले जाया जा रहा है ।

चाणक्य—अपने कर्मों के फल को अनुभव करे । हे श्रेष्ठिन्, इसप्रकार अहित करने वालों के विषय में (अर्थात् राजद्रोहियों के विषय में) कठोर दण्ड वाला यह राजा तुम्हारे राक्षस की स्त्री को छिपाने को सहन नही करेगा । इसलिये दूसरे की स्त्री से अपनी स्त्री और जीवन की रक्षा करो ।

चन्दनदास—आर्य, मुझे क्या भय दिखा रहे हो ? घर में विद्यमान भी अमात्य राक्षस के परिवार को नहीं दूंगा, न होते हुये (परिवार के विषय में तो) कहना ही क्या ?

चाणक्य—चन्दनदास यह तुम्हारा निश्चय है ।

चन्दनदास—हाँ, यह मेरा दृढ़ (धीरः) निश्चय है ।

चाणक्य—(मन ही मन ।) बहुत अच्छा चन्दनदास, बहुत अच्छा ।

श्लोक (२४) अर्थ—दूसरे (व्यक्ति) की वस्तु को समर्पित कर देने पर (संवेदन) (अपना) आर्थिक लाभ सुलभ होने पर इस समय (कलियुग में) इस दुष्कर कार्य को संसार में (जने) (एक) शिवि के बिना (तुमसे भिन्न दूसरा और) कौन कर सकता है (अर्थात् कोई नहीं ।) ।।२४।।

(स्पष्टतः) चन्दनदास, तुम्हारा यही निश्चय है ।

चन्दनदास—हाँ ।

टिप्पणी

(१) **गृहजनम्**—कलत्र, बच्चों की भावना यहाँ नहीं है ।

(२) **संवेदने**—समर्पणे-समर्पित कर देना । इसी धर्म में बहुधा "निवेदन" शब्द का भी प्रयोग होता है । शिवि के पक्ष में यह समर्पण कबूतर का है और चन्दनदास के पक्ष में यह समर्पण राक्षस परिवार का है ।

(३) २४ वें श्लोक का आशय यह है कि सतयुग में शिवि ने अपने प्राणों का त्याग किया था किन्तु तुम तो इस समय पापी कलयुग में कर रहे हो । अतः उससे भी अतिशयित चरित्र वाले हो । इस श्लोक के अन्दर चाणक्य मन ही मन चन्दनदास की प्रशंसा करता है क्योंकि वह प्रत्यक्ष देख रहा है कि यह अपने मित्र की रक्षा के लिये अपना सब कुछ लुटा रहा है । केवल सम्पत्ति ही नहीं, अपितु अपने बहुमूल्य प्राणों को भी ।

चाणक्यः—(सक्रोधम् ।) दुरात्मन्, तिष्ठ दुष्टवणिक् । अनुभूयतां तर्हि नरपतिक्रोधः ।

चन्दनदासः—सज्जोह्मि । अनुचिट्ठदु अज्जो अत्तणो अहिसारसरिसम् । सज्जोऽस्मि । अनुतिष्ठतु आर्यः आत्मनोऽधिकारसदृशम् ।

चाणक्यः—शार्ङ्गरव, उच्यतामस्मद्वचनात्कालपाशिको दण्डपाशिकश्च । शीघ्रमयं दुष्टवणिक् निगृह्यताम् । अथवा तिष्ठतु, उच्यतां दुर्गपालको विजयपालकः गृहीतगृहसारमेनं सपुत्रकलत्रं संयम्य तावद्रक्ष यावन्मया वृषलाय कथ्यते । वृषल एवास्य प्राणहरं दण्डमाज्ञापयिष्यति ।

शिष्यः—यदाज्ञापयत्युपाध्यायः । श्रेष्ठिन्, इत इतः ।

चन्दनदासः—अज्ज, अअमाअच्छामि । (स्वगतम् ।) दिट्ठिआ मित्तकज्जेण मे विणासो ण पुरिसदोसेण । आर्य, अयमागच्छामि । दिष्टया मित्रकार्येण मे विनाशो न पुरुषदोषेण । (परिक्रम्य शिष्येण सह निष्क्रान्तः ।)

चाणक्य—(सहर्षम् ।) हन्त, लब्ध इदानीं राक्षसः । कुतः ।

त्यजत्यप्रियवत्प्राणान्यथा तस्यायमापदि ।
तथैवास्यापदि प्राणा नूनं तस्यापि न प्रियाः ॥२५॥

[नेपथ्ये कलकलः ।]

संस्कृत-व्याख्या

अधिकारसदृशम्—अधिकारानुरूपम् । गृहीतगृहसारम्=गृहीतः गृहस्य सारः यस्य स तथोक्तस्तम् । संयम्य=बद्ध्वा ।

अन्वयः—**त्यजतीति**—यथा तस्य आपदि अयं प्राणान् अप्रियवत् त्यजति । तथैव अस्य आपदि तस्यापि प्राणाः प्रियाः न नूनम् ॥२५॥

व्याख्या—यथा तस्य-राक्षसस्य आपदि अयं—चन्दनदासः (स्वकीयान्) प्राणान्-असून् अप्रियवत्-अनिष्टवत् त्यजति । तथैव-तेनैव प्रकारेण अस्य-चन्दनदासस्य आपदि तस्य-राक्षसस्यापि (स्वकीयाः) प्राणाः=असवः प्रियाः न (भविष्यन्ति) (इत्यहम्) नूनम्-उत्प्रेक्षे ॥२५॥

हिन्दी रूपान्तर

चाणक्य—(क्रोध के साथ ।) दुरात्मन् दुष्ट वणिक् ठहर । तब तो राजा के क्रोध को अनुभव करो ।

चन्दनदास—तैयार हूँ । आर्य, अपने अधिकार के अनुरूप (कार्य) करें ।

चाणक्य—शार्ङ्गरव, मेरी ओर से कालपाशिक और दण्डपाशिक को कहना । शीघ्र (ही) इस दुष्ट वणिक् को कैद कर लो । अथवा ठहरो, दुर्ग की रक्षा करने वाले (जेलर) विजयपाल से कहो (कि) जब्त की हुई सम्पूर्ण घर की सम्पत्ति वाले पुत्र और स्त्री के साथ इसको बाँधकर तब तक (अपनी निगरानी में) रखो जब तक मैं चन्द्रगुप्त को कहता हूँ । चन्द्रगुप्त ही इसके प्राणों का अपहरण करने वाले दण्ड की आज्ञा देगा ।

शिष्य—उपाध्याय, जो आज्ञा देते हैं। श्रेष्ठिन्, इधर (आइये), इधर।

चन्दनदास—आर्य यह आ रहा हूँ (मन ही मन।) सौभाग्य से मित्र के कार्य से मेरी मृत्यु हो रही है, पुरुष के दोष से नहीं। (घूमकर शिष्य के साथ निकल गया।)

चाणक्य—(प्रसन्नता के साथ।) हन्त (प्रसन्नता में है), सम्प्रति राक्षस पकड़ा गया। क्योंकि।

श्लोक (२५) अर्थ—जिस प्रकार उस (राक्षस) की आपत्ति में यह (चन्दनदास अपने) प्राणों को अप्रिय वस्तु के समान छोड़ रहा है, उसीप्रकार इस (चन्दनदास) की आपत्ति में उस (राक्षस) को भी (अपने) प्राण प्रिय नहीं (होंगे), ऐसी मैं कल्पना करता हूँ (नूनम्) ॥२५॥

(नेपथ्य में कोलाहल होता है।)

टिप्पणी

(१) दुर्गपालक यहाँ यह किसी का नाम न होकर विजयपाल का विशेषण है, अतः अर्थ है किले की अथवा Jail की रक्षा करने वाला।

(२) २५ वें श्लोक का आशय यह है कि चाणक्य सोच रहा है कि चन्दनदास के प्राणों पर बीतने पर राक्षस अपने प्राणों की चिन्ता न करता हुआ उसकी रक्षा के लिये अपने आपको हमारे हाथ में सौंप देगा।

(३) यहाँ तक चाणक्य के मस्तिष्क में विद्यमान सम्पूर्ण योजना कार्यान्वित हो चुकी है और वह यह समझता है कि इसने कैसे समाप्त होना है।

चाणक्यः—शार्ङ्गरव, शार्ङ्गरव।

(प्रविश्य।)

शिष्यः—उपाध्याय, आज्ञापय।

चाणक्यः—किमेष कलकलः।

शिष्यः—(विभाव्य।) उपाध्याय, एष खलु शकटदासं वध्यमानं वध्यभूमेरादाय समपक्रान्तः सिद्धार्थकः।

चाणक्यः—(स्वगतम्।) साधु सिद्धार्थक; कृतः कार्यारम्भः। (प्रकाशम्।) प्रसह्य किमपक्रान्तः? (सक्रोधम्।) वत्स, उच्यतां भागुरायणो तथा त्वरितं संभावयेति।

(निष्क्रम्य प्रविश्य च।)

शिष्यः—(सविषादम्।) उपाध्याय, हा धिक् कष्टम्। अपक्रान्तो भागुरायणोऽपि।

चाणक्यः—(स्वगतम्।) व्रजतु कार्यसिद्धये। (प्रकाशम्। सक्रोधमिव।) वत्स, उच्यन्तामस्मद्वचनाद्भद्रभटपुरुषदत्तडिङ्गरातबलगुप्तराजसेनरोहिताक्षविजयवर्माणः शीघ्रमनुसृत्य गृह्यतां दुरात्मा भागुरायणः।

शिष्यः—तथा । (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य सविषादम् ।) हा धिक् कष्टम् । सर्वमेव तन्त्रमाकुलीभूतम् । तेऽपि खलु भद्रभटप्रभृतयः प्रथमतरमुषस्येवापक्रान्ताः ।

संस्कृत-व्याख्या

वध्यभूमेः = प्राणदण्डस्थानात् । समपक्रान्तः = पलायितवान् । प्रसह्य = हठात् । सम्भावय = धर, निगृह्य सिद्धार्थकमानयेत्यर्थः । तन्त्रम् = प्रकृतिमण्डलम् । आकुलीभूतम् = व्यतिध्वस्तम्, अनवस्थितमर्यादमिति यावत् । प्रथमतरम् = अतिशयेन प्रथमं यथा तथा ।

हिन्दी रूपान्तर

चाणक्य—शार्ङ्गरव, शार्ङ्गरव ।

(प्रवेश करके ।)

शिष्य—उपाध्याय, आज्ञा दीजियेगा ।

चाणक्य—यह कोलाहल क्यों हो रहा है ?

शिष्य—(पता करके ।) उपाध्याय, यह सिद्धार्थक मृत्युदण्ड दिये जाते हुये शकटदास को वध्यभूमि से लेकर भाग गया ।

चाणक्य—(मन ही मन ।) बहुत अच्छा सिद्धार्थक, (तुमने अपना) कार्य प्रारम्भ कर दिया है । (स्पष्टतः ।) क्या बलात् (छुड़ाकर) भाग गया है । (क्रोध के साथ ।) वत्स, भागुरायण से कहो कि शीघ्र (ही) पकड़कर लाये ।

(निकलकर और प्रवेश करके ।)

शिष्य—(दुःख के साथ ।) उपाध्याय, हा महान् दुःख की बात है । भागुरायण भी भाग गया है ।

चाणक्य—(मन ही मन ।) (अभीष्ट) कार्य की सिद्धि के लिये जावे । (स्पष्टतः । मानों क्रोध के साथ) । वत्स, मेरी ओर से भद्रभट-पुरुषदत्त-डिङ्गरात-बलगुप्त-राजसेन-रोहिताक्ष और विजयवर्मा से कहो (कि) शीघ्र (ही) पीछा करके दुष्ट आत्मा वाले भागुरायण को पकड़ लें ।

शिष्य—ओ आज्ञा । (ऐसा कहकर निकलकर पुनः प्रवेश करके दुःख के साथ ।) हाँ बड़े कष्ट की बात है । सम्पूर्ण ही राज्य (तन्त्रम्) अस्तव्यस्त हो गया है (आकुलीभूतम्) । वे भद्रभट इत्यादि भी बहुत पहले उषःकाल में ही भाग गये थे ।

गूढार्थ—त्वरितं सम्भावय—सिद्धार्थक को शीघ्र ही पकड़कर लाओ, यह बाह्य अर्थ है । गूढार्थ है कि तुम भी उसके साथ जाकर कार्य को सिद्ध करो ।

टिप्पणी

(१) वध्यभूमेः आदाय—"अपादाने पञ्चमी" पा० २/३/२८ इति पञ्चमी ।

(२) कृतः कार्यारम्भः—चाणक्य सोचता है कि ठीक है, तुमने अपना काम प्रारम्भ कर दिया । शकटदास को वध्यस्थान से राक्षस के पास ले जाने से तुम उसके विश्वासपात्र हो जाओगे और इस प्रकार मेरा महान् कार्य सफल होगा ।

(३) **सम्भावय**—यह विशिष्ट प्रयोग है। यह कार्य गलत हो गया है, तुम इस कार्य को **सम्यक् भावय**-ठीक करो। यहाँ इसका अर्थ है कि बाहर जाओ और सिद्धार्थक को शीघ्र पकड़ कर लाओ।

(४) **अपक्रान्तः भागुरायणोऽपि**—भागुरायण को भी भागकर मलयकेतु के पास जाकर आश्रय लेना, आगे कहे जाने वाले कार्य को सम्पन्न करने के लिये ही है और यह कार्य चाणक्य ने स्वयं ही कहा है।

चाणक्यः— (स्वगतम्) सर्वथा शिवाः पन्थानः सन्तु !
(प्रकाशम्।) वत्स, अलं विषादेन। पश्य।
ये याताः * किमपि प्रधार्य हृदये पूर्वं गता एव ते
ये तिष्ठन्ति भवन्तु तेऽपि गमने कामं प्रकामोद्यमाः।
एका केवलमेव साधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम ॥२६॥
(उत्थाय आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा।) एष दुरात्मनो भद्रभटप्रभृतीनाहरामि।
(आत्मगतम्।) दुरात्मन् राक्षस, क्वेदानीं गमिष्यसि। एषोऽहमचिराद् भवन्तम्—
स्वच्छन्दमेकचरमुज्ज्वलदानशक्ति—
मुत्सेकिना मदबलेन विगाहमानम्।
बुद्ध्या निगृह्य वृषलस्य कृते क्रियाया—
मारण्यकं गजमिव प्रगुणीकरोमि ॥२७॥
(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)
[इति मुद्रालाभो नाम प्रथमोऽङ्कः।]

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—ये इति—ये किमपि हृदये प्रधार्य याताः ते पूर्वम् एव गताः, ये तिष्ठन्ति तेऽपि कामं गमने प्रकामोद्यमाः भवन्तु। साधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा केवलम् एका एव मम बुद्धिस्तु मा गात् ॥२६॥

व्याख्या— ये भागुरायणादयः किमपि (मदिष्टमनिष्टं वा) हृदये प्रधार्यम-नसि कृत्वा याताः-(मलयकेतोः समीपे) गताः, ते पूर्वमेव (हृदये प्रधारणकाले एव) गताः, ये-जनाः (अत्र) तिष्ठन्ति तेऽपि कामं-यथेच्छंगमने-मलयकेतुसमीपगतौ प्रकामोद्यमाः—विपुलोत्साहवन्तः भवन्तु। साधनविधौ-प्रयोजनसम्पादने सेनाशतेभ्योऽधिका = सेनाशतेभ्यः-बहुसेनाभ्यः अधिका-बहुला नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा = नन्दानाम् उन्मूलने दृष्टः वीर्यस्य-शक्तेः महिमा—माहात्म्यं यस्याः तादृशी केवलम् एका-अद्वितीया मम बुद्धिस्तु मा गात्—न गच्छतु ॥२६॥

अन्वयः—स्वच्छन्दमिति—उज्जवलदानशक्तिम् एकचरं स्वच्छन्दम् उत्सेकिना मदबलेन विगाह्मानम् आरण्यकं गजमिव बुद्धया निगृह्य वृषलस्य कृते क्रियायां प्रगुणीकरोमि ।।२७।।

व्याख्या—उज्ज्वलदानशक्तिम्—उज्ज्वला-उत्कृष्टा दानशक्तिः-वितरणशक्तिः (गजपक्षे) मदजलक्षरणसामर्थ्यञ्च यस्य तथाविधम्, एकचरम्=एकः-निःसहायः (गजपक्षे) यूथहीनश्च सन् चरतीति यथोक्तं स्वच्छन्द-निरंकुशम् (उभयत्र समानम्) उत्सेकिना-दुरभिमानवता मदबलेन--दर्पप्रभावेन (गजपक्षे) दानवारिप्रभावेण च विगाहमानम्--अस्मदपकाराय चेष्टमानम् (गजपक्षे) विचरतञ्च आरण्यकं-वन्यं गजमिव (भवन्तम्) बुद्धया निगृह्य-वशीकृत्य (वृषलस्य--चन्द्रगुप्तस्य कृते--निमित्तं क्रियायां--वृषलसाचिव्यकर्मणि (गजपक्षे) भारवहनकर्मणि च प्रगुणीकरोमि-वशीकरोमि (गजपक्षे) सुदृढरज्जुबद्धञ्च करोमि ।।२७।।

।।इति मुद्राराक्षसे प्रथमोऽङ्कः ।।

हिन्दी रूपान्तर

चाणक्य—(मन ही मन ।) सब प्रकार से मार्ग कल्याणकारी हों । (स्पष्टतः ।) वत्स, दुःख से बस । देखो --

श्लोक (२६) **अर्थ**—जो (भागुरायणादि) कुछ भी (हमारा इष्ट या अनिष्ट) हृदय में धारण करके (मलयकेतु के पास) गये हैं, वे पहले ही (हृदय में सोचने के साथ ही) चले गये, जो (यहाँ) ठहरे हुये हैं, वे भी यथेष्ट जाने के विषय में अत्यधिक उत्साहशील होवें (अर्थात् वे भी चले जावें, मुझे उनकी भी चिन्ता नहीं है) । प्रयोजन को सिद्ध करने में सैकड़ों सेनाओं से अधिक नन्दों को विनिष्ट करने में देख लिया गया है पराक्रम का महात्म्य जिसका ऐसी केवल अद्वितीय (एका) मेरी बुद्धि न जावे । २६।।

(उठकर आकाश में लक्ष्य बाँधकर) यह (मैं) दुष्ट आत्मा वाले भद्रभट प्रभृतियों को पकड़ता हूँ । (मन ही मन ।) दुष्टात्मन् राक्षस, अब कहाँ जाओगे ? यह मैं शीघ्र (ही) तमको—

श्लोक (२७) **अर्थ**—(यह मैं) प्रशस्त दानशक्ति वाले (गजपक्ष) प्रशस्त मद को प्रवाहित करने की शक्ति वाले, आत्मीयजनों को छोड़कर अकेले विचरण करने वाले (उभयत्र समानम्), स्वच्छन्द (गजपक्ष में) निरंकुश, दुरभिमानी दर्प के प्रभाव से (गजपक्ष में) मदजल के प्रभाव से हमारे अपकार की चेष्टा करने वाले (विगाहमान) (गजपक्ष में) भ्रमण करते हुए जंगली हाथी के समान बुद्धि के बल से पकड़ कर चन्द्रगुप्त के लिये अमात्य-कर्म में (गजपक्ष में) परिवहन करने के कर्म में लगाता हूँ ।।२७।।

(इसप्रकार सभी निकल जाते हैं ।)

***गूढ़ार्थ—किमपि प्रधार्य**—हमारे विरोध को मन में सोचकर—यह इसका वाह्य अर्थ है । **गूढ़ार्थ है**—हमारे कार्य को ही सिद्ध करने के लिये ।

टिप्पणी

(१) **प्रधार्य हृदये**—हृदय में कुछ गूढ़ उद्देश्य लेकर। चाणक्य यह चाहता है कि उसका शिष्य तो यह समझे कि हमारा विरोध करने के लिये गये हैं किन्तु उसका आशय यह है कि हमारे कार्य को सोचकर गये हैं।

(२) **मा गात्**—"**माङि लुङ्**" पा० ३/३/१७५। से लुङ् और "**न माङ् योगे**" पा० ६/४/७४ से अट् के आगम का निषेध हो गया है।

(३) **एव आहरामि**—मैं उन सभी को कैद करने के लिये कोई कदम उठाने जा रहा हूँ। ऐसा केवल अपने शिष्य को भ्रान्त करने के लिये कहा है।

(४) **दुरात्मन् राक्षस, क्वेदानीं गमिष्यसि**—हे राक्षस, इस समय तुम मेरे गुप्तचरों से सर्वथा घिर गये हो। तुम इनमें से किसी व्यक्ति पर विश्वास करके अपने कार्य को सम्पन्न करोगे। इनमें से कोई भी तुम्हारे कार्य को सिद्ध करने वाला नहीं है, सभी मेरे ही प्रयोजन को सिद्ध करने वाले हैं, क्योंकि मेरे गुप्तचर हैं। अथवा ऐसी भी व्याख्या की जा सकती है कि तुम अब कहाँ जाओगे ? हमारे गुप्तचर तुम्हारे पीछे लगे हुये हैं। अतः जहाँ कही भी जाओगे वहीं वे तुमको पकड़ लेंगे। अतः इस अवस्था में तुम्हारा कहीं अन्यत्र भागकर जाना भी आसान नहीं है।

(५) **स्वच्छन्दम्**—निरंकुश अर्थात् अपने पक्ष को छोड़कर जो तुम विजातीय दूसरे पक्ष में गये हो—इससे प्रतीत होता है कि तुम्हारे ऊपर कोई नियन्त्रण करने वाला नहीं है।

(६) **एकचरम्**—यहाँ तो हम सभी नन्दवंश से सम्बन्धित आत्मीय व्यक्ति इकट्ठे हैं और तुम मलयकेतु के पास सर्वात्मना अकेले रह रहे हो।

(७) **उत्सेकिना**—उत्सेकः अस्ति अस्य। दुरभिमानी अर्थात् नष्ट हो सकता है किन्तु चन्द्रगुप्त के साथ किसी प्रकार से सन्धि नहीं कर सकता।

(८) **विगाहमानम्** - वि + गाह + शानच् कर्त्ता के रूप में है।

(९) २७वें श्लोक का आशय यह है कि जिस प्रकार वन में विचरण करने वाले मस्त हाथी को शनैः-शनैः गड्ढे में गिराकर पुनः रस्सी आदि के द्वारा भार ढोने के कार्य में लगा लेते हैं, उसीप्रकार तुमको भी अत्यन्त विषम परिस्थिति में डालकर अगतिक- तया तुमको स्वयं चन्द्रगुप्त के मन्त्रीपद को स्वीकार कराके अपने वश में कर लूंगा। इसके अन्दर आये हुये विशेषण राक्षस और जङ्गली हाथी दोनों ओर ही लगते हैं।

मुद्रा-प्राप्ति नामक प्रथम अङ्क समाप्त।

विराधगुप्तः—प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमगुणाः न परित्यजन्ति ॥२/१७॥

विघ्नों के भय से नीच मनुष्यों के द्वारा कोई काम प्रारम्भ ही नहीं किया जाता है, मध्यम पुरुष प्रारम्भ करके विघ्नों से नष्ट किये जाते हुये बीच में रुक जाते हैं । किन्तु उत्तम गुणों वाले पुरुष विघ्नों से पौनःपुन्येन पीड़ित किये जाते हुये भी प्रारम्भ किये हुये कार्य को नहीं छोड़ते हैं ।

द्वितीय अङ्क के पात्र

(१) आहितुण्डिक—सपेरे के वेश में राक्षस का गुप्तचर है । इसका नाम जीर्णविष है । वास्तविक नाम विराधगुप्त है ।

(२) राक्षस— स्वर्गीय सम्राट नन्द और उसके पुत्रों—जिनको चाणक्य ने नष्ट किया था—का और सर्वार्थसिद्धि का अमात्य मलयकेतु के साथ सन्धि करके चन्द्रगुप्त को राज्यभ्रष्ट करने का प्रयत्न करने वाला, चन्दनदास के प्राणों की रक्षा के लिये चन्द्रगुप्त के अमात्यत्व को स्वीकार करने वाला ।

(३) कञ्चुकी— मलयकेतु का कञ्चुकी जाजलि है ।

(४) पुरुष— प्रियंवदक राक्षस का सेवक ।

(५) शकटदास— राक्षस का निजी सचिव और मित्र ।

(६) सिद्धार्थक— प्रथम अङ्क में आ चुका है ।

द्वितीय अङ्क की कथावस्तु की रूपरेखा—

समय—फाल्गुन मास की अमावस्या, पूर्वाह्न।

स्थान—मलयकेतु की राजधानी।

दृश्य दो हैं—(१) मलयकेतु के प्रदेश में राक्षस के सामने एक गली।

(२) राक्षस के घर का एक कमरा।

जिस प्रकार प्रथम अङ्क में चाणक्य की राजनीति पर प्रकाश पड़ता है, उसी-प्रकार इस अङ्क में राक्षस की राजनीति पर प्रकाश पड़ता है। किन्तु इसके साथ ही चाणक्य की कूटनीति भी इसके उद्देश्य की ओर फलोन्मुख होती हुई दृष्टिगोचर होती है।

इस अङ्क के अन्दर राक्षस अपने शयनगार में बैठा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति उससे मिलने के लिये आता है और इस प्रकार नाटकीय कथावस्तु का विस्तार होता है।

इस अङ्क को हम स्थूलरूप से सात भागों में बाँट सकते हैं। यथा—

(१) आहितुण्डिक, (२) राक्षस का स्वगत, (३) कञ्चुकी और राक्षस, (४) आहितुण्डिक और राक्षस, (५) सिद्धार्थक के साथ शकटदास और राक्षस, (६) राक्षस और विराधगुप्त, (७) उपसंहार।

(१) **आहितुण्डिक**—अङ्क के प्रारम्भ होने के साथ ही रंगमञ्च पर जीर्णविष नामक आहितुण्डिक को देखते है। यह सपेरे के वेष में राक्षस का गुप्तचर है। इसका वास्तविक नाम विराधगुप्त है, जो राक्षस से मिलने की प्रतीक्षा में है।

(२) **राक्षस का स्वगत**—राक्षस चिन्तित है, उसकी चिन्ता का विषय है अपने दिवंगत नन्द स्वामियों को प्रसन्न करना। उन्हीं को प्रसन्न करने के लिये उसने मलयकेतु का आश्रय लिया है। वह मन ही मन अपनी राजनीति पर एक विहंगम दृष्टि डाल रहा है, जिसका सारांश इस प्रकार है—

(क) उसने अपने परिवार को अपने मित्र चन्दनदास के घर छोड़ दिया है।

(ख) चन्द्रगुप्त को मारने के लिये, विष देने के लिये और शत्रुओं में भेद डालने के लिये उसने शकटदास को नियुक्त कर दिया है।

(ग) जीवसिद्धि को शत्रुओं के समाचार जानने के लिये नियुक्त किया है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि जीवसिद्धि को अपना मित्र समझना राक्षस की एक प्रबल भ्रान्ति है। वस्तुतः यह चाणक्य का गुप्तचर है और इसका वास्तविक नाम इन्दुशर्मा है।

(३) कञ्चुकी और राक्षस—मलयकेतु के कञ्चुकी का नाम जाजलि है। उसने इसके हाथ राक्षस के लिये अपने शरीर से उतार कर कुछ आभूषण भेजे हैं। कञ्चुकी इन आभूषणों को राक्षस को पहना कर वापिस चला जाता है।

(४) आहितुण्डिक और राक्षस—अङ्क के प्रारम्भ में रंगमञ्च पर राक्षस से मिलने की प्रतीक्षा में दिखाई देने वाला आहितुण्डिक—

पीत्वा निरवशेषं कुसुमरसमात्मनः कुशलतया।
यदुद्गिरिति भ्रमरः अन्येषां करोति तत्कार्यम् ॥२/११॥

—इस गाथा के द्वारा अपने गुप्तचर होने की सूचना देता है। राक्षस इस सपेरे के वेष में विराधगुप्त से कुसुमपुर के समाचार विस्तार से सुनता है। संक्षेप में समाचार इसप्रकार हैं—

(क) चाणक्य की बुद्धि से सञ्चालित चन्द्रगुप्त और पर्वतेश्वर की सेनाओं के द्वारा कुसुमपुर के घेर लिये जाने पर सर्वार्थसिद्धि सुरंग से निकलकर तपोवन में चला गया। आप भी (अर्थात् राक्षस) सुरंग से यह सोचकर कि बाहर से पुनः नन्दराज्य को वापिस लाने का प्रयत्न करूंगा—बाहर निकल आये।

(ख) विषकन्या द्वारा पर्वतेश्वर की मृत्यु हो गई और तदुपरान्त कुमार मलयकेतु भी कुसुमपुर से भाग गये।

(ग) चाणक्य ने पर्वतक के भाई वैरोचक को उसके भाई का आधा राज्य दे देने का विश्वास दिला दिया।

(घ) चाणक्य ने एक दिन नन्दभवन में चन्द्रगुप्त के प्रवेश की तिथि निश्चित कर दी।

(ङ) शिल्पियों ने चाणक्य को यह सूचना दी है कि महाराज, सूत्रधार दारुवर्मा ने पहले से ही चन्द्रगुप्त के नन्दभवन में प्रवेश का अनुमान करने पूर्वीय द्वार को सजा दिया है। सम्प्रति अन्दर की सजावट करनी शेष है।

(च) यथासमय आधी रात्रि को पर्वतेश्वर के भाई वैराचक को चन्द्रगुप्त के साथ एक ही आसन पर बिठाकर चाणक्य ने राज्य का आधा भाग उसे दे दिया।

(छ) वैरोचक का राज्याभिषेक हो जाने के उपरान्त चन्द्रगुप्त के नन्दभवन में प्रवेश करने के समय चाणक्य ने चन्द्रगुप्त की हथिनी चन्द्रलेखा पर चन्द्रगुप्त के स्थान पर वैरोचक को बिठा दिया। परिणामतः वैरोचक को ही चन्द्रगुप्त समझते हुये आपके गुप्तचर सूत्रधार दारुवर्मा ने उसके ऊपर गिरने के लिये यन्त्रनिर्मित तोरण तैयार किया और आपके द्वारा नियुक्त चन्द्रगुप्त के महावत बर्बरक ने भी वैरोचक को चन्द्रगुप्त समझते हुये उसको मारने के लिये अपनी छुरी हाथ में पकड़ ली।

(ज) इसप्रकार नन्दभवन में प्रवेश होने पर लक्ष्यभ्रष्ट हुये यन्त्रतोरण से बर्बरक मारा गया। तदनन्तर दारुवर्मा ने अपनी मृत्यु निश्चित समझकर यन्त्र चलाने की लोहे की कील को लेकर चन्द्रगुप्त की भ्रान्ति से वैरोचक को मार दिया। इसके

बाद क्रोधित वैरोचक के पीछे चलने वाले पदाति समूह ने पत्थरों से मार-मार कर दारुवर्मा को मार दिया। इसप्रकार वैरोचक, बर्बरक और दारुवर्मा इन तीनों की मृत्यु हो गई।

(झ) राक्षस ने चन्द्रगुप्त को मारने के लिये वैद्य अभयदत्त को नियुक्त किया था परन्तु चाणक्य की बुद्धिमानी से, उसने जो विषमिश्रित औषधि चन्द्रगुप्त को मारने के लिये तैयार की थी, उसी से वह स्वयं मारा गया।

(ञ) चाणक्य ने राक्षस के गुप्तचर चन्द्रगुप्त के शयनकक्ष के अधिकारी प्रमोदक को "तुम्हारे पास इतना विपुल धन कहाँ से आया"— इसका असंगत उत्तर देने पर मरवा दिया।

(ट) बीभत्स आदिकों को भी, जिनको राक्षस ने दीवार में सुरंग बनाकर रह कर चन्द्रगुप्त को मारने के लिये नियुक्त किया था, चाणक्य ने उस घर में आग लगवाकर मरवा दिया।

(ठ) "इसने राक्षस द्वारा प्रयुक्त विषकन्या से पर्वतेश्वर को मारा है"—इस अपराध की घोषणा करके चाणक्य ने क्षपणक जीवसिद्धि को नगर से बाहर निकलवा दिया। शकटदास ने चन्द्रगुप्त को मारने के लिये दारुवर्मा आदि को नियुक्त किया था, इस अपराध पर उसको प्राणदण्ड की सजा दे दी गई तथा पौनः पुन्येन मांगने पर भी आपके परिवार को सुपुर्द न करने पर चन्दनदास को दुष्ट चाणक्य ने सम्पूर्ण सम्पत्ति जब्त करके पुत्र और पत्नी सहित जेल में डाल दिया। [इन सबकी चर्चा प्रथम अङ्क में आ चुकी है।]

इसी बीच सिद्धार्थक और शकटदास राक्षस के पास आते हैं।

(५) **सिद्धार्थक के साथ शकटदास और राक्षस**—राक्षस विराधगुप्त से कुसुमपुर के वृत्तान्त सुन रहा है और जिस समय उसने यह समाचार दिया कि शकटदास को फांसी का दण्ड दिया गया है उसी समय शकटदास सिद्धार्थक के साथ वहाँ उपस्थित हो जाता है। वह किसप्रकार फांसी के तख्ते से सुरक्षित लौट आया यह अब स्पष्ट होता है।

(क) शकटदास राक्षस को बताता है कि जैसे ही मुझे फांसी दी जाने वाली थी ठीक उसी समय मेरे प्रिय मित्र सिद्धार्थक ने आकर जल्लादों को भगा दिया और मुझे फांसी के तख्ते से छुड़ा लाया जिससे मैं आपके पास तक आ सका हूँ।

(ख) राक्षस सिद्धार्थक शकटदास के प्राणों की रक्षा करने के उपकार के बदले में अपने शरीर से उतार कर आभूषण देता है। ये वे ही आभूषण हैं जो इसी अङ्क के प्रारम्भ में मलयकेतु ने अपने कञ्चुकी जाजलि से राक्षस के पास भिजवाये थे।

(ग) सिद्धार्थक ने भक्तिपूर्वक उस पारितोषिक को ले लिया और यह प्रार्थना की कि मैं यहाँ पहली बार ही आया हूँ, अतः इस आभूषण को कहाँ रखूँगा? मैं चाहता हूँ कि आप मेरी इस मुद्रा से इसको मुद्रित करके अपने पास ही रख लें। मुझे

जब भी आवश्यकता होगी आपसे ले लूंगा। यह वही राक्षस-नामांकित मुद्रा है जिसको निपुणक ने चन्दनदास के घर से लाकर प्रथम अङ्क में चाणक्य को दी थी।

(घ) राक्षस पहले तो अपनी उस मुद्रा को उसके पास देखकर आश्चर्य करता है किन्तु बाद में उसे उससे ले लेता है और शकटदास को यह कहकर दे देता है कि लो इस मुद्रा से तुम राजकार्य चलाओ।

(ङ) सिद्धार्थक यह कहकर कि चाणक्य का अहित करके मैं अब कुसुमपुर लौटकर नहीं जा सकता हूँ, राक्षस के पास ही नौकरी कर लेता है।

शकटदास और सिद्धार्थक चले जाते हैं।

(६) **राक्षस और विराधगुप्त**—राक्षस और विराधगुप्त की जिस बातचीत की शृङ्खला सिद्धार्थक और शकटदास के आने से भंग हो गई थी—वह फिर शुरू होती है। विराधगुप्त राक्षस को सूचना देता है कि—(क) जब से मलयकेतु भागा है, तब से चन्द्रगुप्त चाणक्य पर क्रोधित है और चाणक्य भी अब चन्द्रगुप्त की आज्ञाओं को पहले की तरह नहीं मानता है। इसप्रकार उन दोनों में मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया है।

(ख) राक्षस विराधगुप्त को इसी आहितुण्डिक के वेष में पुनः कुसुमपुर वैतालिक वेष में रहने वाले अपने मित्र स्तनकलश के पास सन्देश देकर भेजता है कि तुम जाकर उससे कहना कि जब-जब चाणक्य चन्द्रगुप्त की आज्ञाओं का उल्लंघन करे तभी तभी तुम अपनी स्तुतियों से उसको चाणक्य के विरोध में भड़काने का प्रयत्न करना और जो कोई भी गुप्त सन्देश हो उसे करभक के हाथ शीघ्र ही भेजना। इसप्रकार यहाँ पर राक्षस ने चन्द्रगुप्त और चाणक्य में भेद डालने की नीति का आयोजन किया है।

(७) **उपसंहार**—(क) इस अङ्क के समाप्ति पर राक्षस के पास शकटदास का सन्देश आया है कि ये तीन आभूषण बेचे जा रहे हैं। यदि आपकी अनुमति हो तो इनको मोल ले लिया जावे और उसकी स्वीकृति से वे आभूषण मोल ले लिये जाते हैं। ये वे आभूषण हैं जिनको पर्वतेश्वर धारण किया करता था और जिनको प्रथम अङ्क में चन्द्रगुप्त ने श्राद्ध के समय विश्वावसु आदि तीन भाइयों को दिया था। इसप्रकार चाणक्य ने उन आभूषणों को राक्षस के हाथ बिकवा दिया है।

(ख) राक्षस ने करभक को कुसुमपुर समाचार जानने के लिये भेज दिया। इस अङ्क की समाप्ति राक्षस की इस आशा के साथ होती है कि सम्भवतः चाणक्य से चन्द्रगुप्त अलग किया जा सके। इसप्रकार राक्षस की नीति पर प्रकाश डालने वाला और चाणक्य की नीति को अग्रसर करने वाला यह अङ्क समाप्त होता है।

———

द्वितीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशत्याहितुण्डिकः ।]

आहितुण्डिकः—

जाणन्ति तन्तजुत्तिं जहट्ठिअं मण्डलं अहिलिहन्ति ।
जे मन्तरक्खणपरा ते सप्पणराहिवे उवअरन्ति ॥१॥

जानन्ति तन्त्रयुक्तिं यथास्थितं मण्डलमभिलिखन्ति ।
ये मन्त्ररक्षणपरास्ते सर्पनराधिपावुपचरन्ति ॥

———

संस्कृत-व्याख्या

आहितुण्डिकः = सर्पक्रीडनकोपजीवी ।

अन्वयः— जानन्तीति — ये तन्त्रयुक्तिं यथास्थितं जानन्ति मण्डलम् अभिलिखन्ति । (ये) मन्त्ररक्षणपराः ते सर्पनराधिपावुपचरन्ति ॥१॥

श्लोक (१) प्रथमोऽर्थः—(१) सर्पपक्षे — ये जनाः तन्त्रयुक्तिम् = तन्त्रे — विषौषध-विशेषे युक्तिं—प्रयोगं यथास्थितं—यथायथं जानन्ति, मण्डल—माहेन्द्रादिदेवतायन्त्रं (भूमौ) अभिलिखन्ति—रेखाकारेण लिखन्ति (ये च) मन्त्ररक्षणपराः = मन्त्रैः—गारुडादमन्त्रैः रक्षणे-आत्मरक्षणे पराः—अप्रमत्ताः (गारुडादिमन्त्रधारका इत्यर्थः) ते जनाः सर्पनराधिपौ उपचरन्ति—व्यवहारन्ति (नान्ये) ॥१॥

द्वितीयोऽर्थः—(२) राजपक्षे—ये—जनाः तन्त्रयुक्तिं = तन्त्रे—स्वराष्ट्रचिन्तायां युक्तिं—सिद्धान्तोक्तन्यायं यथास्थितम् = यथायथं जानन्ति, मण्डलं—राष्ट्रं अथवा द्वादशराजमण्डलम् अभिलिखन्ति = चिन्तयन्ति (ये च) मन्त्ररक्षणपराः = मन्त्रस्य—मन्त्रणाकार्यस्य रक्षणे—गोपने पराः—आसक्ताः (मन्त्रणागोपनशीलाः इत्यर्थः) ते—जनाः सर्पनराधिपौ उपचरन्ति—व्यवहरन्ति (तमुपजीव्य जीवितं शक्नुवन्ति, नान्ये) ॥१॥

हिन्दी रूपान्तर

प्रथम दृश्य । स्थान — राक्षस के घर के सामने की गली ।

[तदनन्तर आहितुण्डिक — सपेरा प्रवेश करता है ।]

आहितुण्डिक —

श्लोक (१) प्रथम अर्थ — सर्पपक्ष में (जो मनुष्य) विषौषधविशेष के प्रयोग को यथावत् (यथास्थितम्) जानते हैं, माहेन्द्रादि देवताओं के मण्डल को (भूमि पर) रेखाकार रूप से चित्रित करते हैं (और) जो (गारुडादि) मन्त्रों के द्वारा (अपनी) रक्षा करने में तत्पर है, वे (मनुष्य) सर्प और राजा दोनों के साथ व्यवहार कर सकते हैं (दूसरे व्यक्ति नहीं) ॥१॥

द्वितीय अर्थ — राजपक्ष में — (जो मनुष्य) अपने राष्ट्र के चिन्तन में यथावत् (यथास्थितम्) सिद्धान्तोक्तन्याय को जानते हैं, राष्ट्र अथवा बारह प्रकार के राजमण्डल के विषय में सोचते हैं (अभिलिखन्ति), (और जो अपनी) मन्त्रणाओं को गुप्त रखने में तत्पर हैं वे (मनुष्य ही) सर्प और राजा दोनों के साथ व्यवहार कर सकते हैं ।.१॥

टिप्पणी

(१) इस द्वितीय अङ्क में राक्षस ने चन्द्रगुप्त की लक्ष्मी को अपने वश में करने के लिये क्या-क्या उपाय किये हैं—उन सबका वर्णन है । इसके विपरीत प्रथम अङ्क में चाणक्य की राजनीति पर प्रकाश डाला गया था ।

(२) आहितुण्डिक:—अहि:-सर्पः तस्य तुण्डः—मुखं तेन दीव्यति इति आहितुण्डिक: = सपेरा । यह राक्षस का गुप्तचर विराधगुप्त है । "तेन दीव्यतिखनतिजयतिजितम्" पा० ४/४/२ इति ठक् ।

(३) यह प्रथम श्लोक द्व्यर्थक है । प्रथम अर्थ सर्पपक्ष में और दूसरा राजा के पक्ष में लगता है । इसका यह आशय है कि राज्यतन्त्र के विषय में अत्यन्त जागरूक रहना चाहिये अन्यथा विनाश निश्चित है ।

मण्डलम् - यह एक मन्त्रों से अभिमन्त्रित घेरा होता है जिसको प्रत्येक सपेरा अपने सर्पों का खेल दिखाने के समय सर्पों के चारों ओर खींच देता है । इसका उद्देश्य केवल सर्पों को उस घेरे से बाहर न जाने देना है । राजा के पक्ष में "मण्डलम्" का अर्थ होगा बारह प्रकार का राजमण्डल । आजकल भी नरेन्द्रमण्डल या मन्त्रीमण्डल इसप्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है ।

(५) मण्डलमभिलिखन्ति = "अभिरभागे" पा० १/४/९१ से अभि के योग में द्वितीया है ।

(६) मन्त्र—गारुडादि मन्त्र और मन्त्रणायें । मन्त्र का अर्थ मन्त्र [illegible] के ही कारण मन्त्रिन् शब्द बना है । मन्त्रियों के आधीन होकर राज्य करने वाले राजाओं की तुलना सपेरे के प्रभाव में विद्यमान सर्पों से की गई है ।

(आकाशे ।) अज्ज, किं तुमं भणासि—'को तुमं' त्ति । अज्ज, अहं खु आहितुण्डिओ जिण्णविसो णाम । किं भणासि—'अहं वि अहिणा खेल्दिुं इच्छामि' त्ति । अह कदरं उण अज्जो वित्तिं उवजीवदि । किं भणासि—'राअउलसेवओम्हि' त्ति । णं खेलदि एव्व अज्जो अहिणा । कहं विअ । अमन्तोसहिकुसलो वालग्गाही, मत्तमतङ्गआरोहि लद्धाहिआरो जिदकासो राअसेवओ त्ति एदे तिण्णि वि अवस्सं विणासमणुहोन्ति । कहं दिट्ठमेत्तो अदिक्कन्तो एसो । (पुनराकाशे ।) अज्ज, किं तुमं भणासि 'किं एदेसु पेडालसमुग्गएसु' त्ति । अज्ज, जीविआए संपादआ सप्पा । 'किं भणासि—'पेक्खिदुमिच्छामि' त्ति । प्पसीददु अज्जो । अट्ठाणं खु एदम् । ता जइ कोदूहलं, एहि एदस्सिं आवासे दंसेमि । किं भणासि—'एदं खु भट्टिणो अमच्चरक्खसस्स गेहम् । णत्थि अम्हारिसाणं इह प्पवेसो' त्ति । तेण हि गच्छदु अज्जो मम उणो जीविआएप्पसादेण अत्थि एत्थप्पवेसो । कथं एसो वि अतिक्कन्तो । 'आर्य, किं त्वं भणसि—'कस्त्वम्' इति । आर्य, अहं खलु आहितुण्डिको जीर्णविषो नाम । किं भणसि—'अहमपि अहिना खेलितुमिच्छामि' इति । अथ कतरां पुनरार्यो वृत्तिमुपजीवति । किं भणसि 'राजकुलसेवकोऽस्मि' इति । ननु खेलति एव आर्योऽहिना । कथमिव । अमन्त्रौषधिकुशलो व्यालग्राही मत्तमतङ्गजारोही, लब्धाधिकारो जितकाशी राजसेवक इत्येते त्रयोऽप्यवश्यं विनाशमनुभवन्ति । कथं दृष्टमात्रोऽतिक्रान्त एषः । आर्य, किं त्वं भणसि—'किमेतेषु पुटकसमुद्गकेषु' इति । आर्य, जीविकायाः संपादका सर्पाः । किं भणसि—'प्रेक्षितुमिच्छामि' इति । प्रसीदत्वार्यः । अस्थानं खलु एतत् । तद्यदि कौतूहलं एहि एतस्मिन्नावासे दर्शयामि । किं भणसि—इदं खलु भर्तुरमात्यराक्षसस्य गृहम् । नास्त्यस्मादृशानामिह प्रवेशः' इति । तेन हि गच्छत्वार्यः मम पुनर्जीविकायाः प्रसादेन अस्तीह प्रवेशः । कथमेषोऽपि अतिक्रान्तः ।

संस्कृत व्याख्या

अहिना = सर्पेण । कतराम् = काम् । वृत्तिम् = जीविकाम् । उपजीवति = समालम्बते । अमन्त्रौषधिकुशलः = मन्त्रे गारुडादिके औषधौ-ईश्वरमूलकादौ च न कुशलः-न निपुणः (अज्ञः इत्यर्थः) । व्यालग्राही = सर्पग्रहणनिरतः । मत्तमतङ्गजारोही = मत्तमतङ्गजस्य-मत्तहस्तिनः आरोही । लब्धाधिकारः = प्राप्तनियोगः । जितकाशी = जितेन-जयेन काशते-उल्लसति यस्तादृशः, जयोद्धत इत्यर्थः । विनाशम्-मृत्युम् । अतिक्रान्तः = अन्तर्हितः । पुटकसमुद्गकेषु = मञ्जूषासम्पुटेषु । अस्थानम् = अयुक्तम् ।

हिन्दी रूपान्तर

(आकाश में ।) आर्य, तुम क्या कह रहे हो-(कि) "तुम कौन हो ?" आर्य, मैं जीर्णविष नाम का सपेरा हूँ । क्या कह रहे हो, "मैं भी सर्पों के साथ खेलना चाहता हूँ" । अच्छा, आर्य किस जीविका को धारण किये हुये हो ? क्या कह रहे हो, "राजकुल का सेवक हूँ" । तब तो (ननु) आर्य सर्प के साथ खेल ही रहे हैं । कैसे ? मन्त्र (गारुडादिक) और औषधि (ईश्वरमूलादि औषधि) के विषय में अनभिज्ञ सर्प को

पकड़ने वाला (सपेरा), मदमस्त हाथी पर चढ़ने वाला, अधिकार को पाकर विजय से उद्धत राजसेवक—ये तीनों ही अवश्य विनाश को प्राप्त होते हैं। न मालूम क्यों (कथं) यह (तो, देखते ही चला गया। (पुनः आकाश में।) आर्य, तुम क्या कह रहे हो? इन ढकी हुई पिटारियों में क्या है? आर्य, जीविका को चलाने वाले सर्प हैं। क्या कहते हो—'देखना चाहता हूँ?" आर्य, प्रसन्न होइयेगा। (यह दिखाने के लिये) उचित स्थान नहीं है। अतः (तत्) यदि (तुमको देखने की) इच्छा है, (तो) आओ, इस घर में दिखाता हूँ। क्या कहते हो? यह (हमारे) स्वामी अमात्य राक्षस का घर है। हम जैसों का यहाँ प्रवेश नही है। तो (तेन) आर्य जाइये। मेरा तो जीविका की कृपा से यहाँ प्रवेश है। अरे (कथम्) यह भी चला गया।

टिप्पणी

(१) आकाशे—यह 'आकाशभाषित' कहलाता है। यह एक नाटकीय प्रकार है। यह पात्रों की संख्या कम करने की एक विधि है।

(२) जीर्णविषः—सपेरे का नाम है। जीर्णं विषमस्मिन् सः—जिसने विष पर अधिकार कर रक्खा है। इस पर विष का कोई प्रभाव नहीं हो सकता है।

(स्वगतम्। संस्कृतमाश्रित्य।) अहो आश्चर्यम्। चाणक्यमतिपरिगृहीतं चन्द्रगुप्तमवलोक्य विफलमिव राक्षसप्रयत्नमवगच्छामि। राक्षसमतिपरिगृहीतं मलयकेतुमवलोक्य चलितमिवाधिराज्याच्चन्द्रगुप्तमवगच्छामि। कुतः।

कौटिल्यधीरज्जुनिबद्धमूर्तिं
मन्ये स्थिरां मौर्यनृपस्य लक्ष्मीम्।
उपायहस्तैरपि राक्षसेन
निकृष्यमाणामिव लक्षयामि ॥२॥

संस्कृत-व्याख्या

चाणक्यमतिपरिगृहीतम् = चाणक्यस्य मत्या-बुद्ध्या परिगृहीतम्–परिचालितम्। अवगच्छामि = सम्भावयामि।

अन्वयः–कौटिल्यधीरज्जुनिबद्धमूर्तिं मौर्यनृपस्य लक्ष्मीं स्थिरां मन्ये। अपि राक्षसेन उपायहस्तैः निकृष्यमाणामिव लक्षयामि ॥२॥

व्याख्या—कौटिल्यधीरज्जुनिबद्धमूर्तिम् = कौटिल्यस्य–चाणक्यस्य धीः—बुद्धिः एव रज्जुः तया निबद्धा मूर्तिः—देहः यस्याः तादृशीं मौर्यनृपस्य—राज्ञः चन्द्रगुप्तस्य लक्ष्मीं—राज्यश्रियं स्थिरां—निश्चलां मन्ये—उत्प्रेक्षे। अपि—तथा राक्षसेन उपायहस्तैः = उपायाः—सामादयः एव हस्ताः—कराः तैः निकृष्यमाणाम्–आकृष्यमाणमिव लक्ष्यामि—सम्भावयामि ॥२॥

हिन्दी रूपान्तर

(मन ही मन। संस्कृत का आश्रय लेकर।) अहो, आश्चर्य है। चाणक्य की बुद्धि से सञ्चालित चन्द्रगुप्त को देखकर राक्षस के प्रयत्न को मैं व्यर्थ-सा समझता हूँ। (और) राक्षस की बुद्धि से सञ्चालित मलयकेतु को देखकर चन्द्रगुप्त को साम्राज्य से च्युत हुआ-सा समझता हूँ। क्योंकि।

श्लोक (२) अर्थ—चाणक्य की बुद्धि रूपी रस्सी से बँधे हुये शरीर वाली मौर्य राजा (चन्द्रगुप्त) की राज्यश्री को (मैं) निश्चल समझता हूँ। तथा (अपि) राक्षस के द्वारा (सामादि चार) उपायों रूपी हाथों से (राज्यश्री को) मानों खींची जाती हुई देखता हूँ ॥२॥

टिप्पणी

(१) **संस्कृतमाश्रित्य**—स्वयं में उत्तम पात्र होने के कारण यह '**स्वगतम्**' संस्कृत में है। प्राकृत उसकी भाषा नहीं है, परन्तु क्योंकि उसने आहितुण्डिक का वेष धारण कर रक्खा है, अतः प्राकृत का प्रयोग किया है। दशरूपककार का कहना है कि—'**कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः**' दशरूपक, प्रकाश २·६६.

(२) **अधिराज्यात्**—अधिष्ठितो राजा अधिराजः="**राजाहःसखिभ्यष्टच्**" पा० ४/४/९१ इति समासान्त टच् प्रत्यय। तस्य भावः कर्म वा इति अधिराज+ष्यञ्—अधिराज्यं तस्मात्।

(३) **चाणक्यधीः**=चाणक्य की बुद्धि एक है जबकि राक्षस के हाथ चार हैं—अतः संशय है। साथ ही रज्जु टूट भी सकती है और नहीं भी।

(४) श्लोक २ में चाणक्य की बुद्धि में रज्जु का और सामादि चार उपायों में हाथों का आरोप किया है। इस श्लोक में वही बात वर्णित की गई है जो कि इससे पूर्व गद्य में कही जा चुकी है। इसको मल्लिनाथ ने '**भङ्ग्यन्तर कथन**' की संज्ञा दी है।

न दैवमनयोर्बुद्धिशालिनोः सुसचिवयोर्विरोधे संशयितेव नन्दकुललक्ष्मीः ;

विरुद्धयोर्भृशमिह मन्त्रिमुख्ययो-
र्महावने वनगजयोरिवान्तरे।
अनिश्चयाद् गजवशयेव भीतया
गतागतैर्ध्रुवमिव खिद्यते श्रिया ॥३॥

तद्यावदमात्यराक्षसं पश्यामि। (इति परिक्रम्य स्थितः।)

संस्कृत-व्याख्या

संशयिता इव=सन्देहाकुलेव।

अन्वय—**विरुद्धयोरिति**:—महावने वनगजयोरिव भृशं विरुद्धयोः मन्त्रिमुख्ययोः अन्तरे इह अनिश्चयात् भीतया गजवशयेव श्रिया गतागतैः ध्रुवं खिद्यते इव ॥३॥

व्याख्या—महावने—महारण्ये अन्यत्र आहवे वनगजयोरिव—वन्यहस्तिनोरिव भृशम्—अतिमात्र विरुद्धयोः—विरोधमाचरतोः मन्त्रिमुख्ययोः—अमात्यवरयोः (चाणक्यराक्षसयोः) अन्तरे—मध्ये (स्थितया) इह अस्मिन् (जयपराजयरूपे व्यापारे) अनिश्चयात्=निश्चयाभावात् भीतया—त्रस्तया गजवशया—करिण्या इव श्रिया—राज्यलक्ष्म्या गतागतैः-(मलयकेतोः मौर्ये गतिः पुनः मौर्यात् मलयकेतौ आगतिरित्येवम्) गमनागमनैः ध्रुवं—निश्चितं खिद्यते इव-खेदमनुभवति इव ॥३॥

हिन्दी रूपान्तर

अतः (तत्) इसप्रकार इन दोनों बुद्धिशाली योग्य मन्त्रियों (चाणक्य और राक्षस) में परस्पर विरोध होने पर नन्दकुल की राज्यश्री मानों सन्देह में पड़ी हुई है।

श्लोक (३) अर्थ—विशाल वन में अन्यत्र महायुद्ध में जंगली हाथियों के समान अत्यधिक विरोधी मन्त्रिप्रवरों (चाणक्य और राक्षस) के मध्य में (स्थित) इस (जय पराजय) में अनिश्चय के कारण (अर्थात् इन दोनों में से किसकी विजय होगी इसका निश्चय न किया जा सकने के कारण) डरी हुई हथिनी (गजवशया) के समान राज्यश्री जाने-आने से (अर्थात् मलयकेतु के पास से मौर्य के पास जाने से तथा पुनः मौर्य के पास से मलयकेतु के पास आने से) निश्चित रूप से मानों दुःखी हो रही है ॥३॥

तो जब तक अमात्य राक्षस को देखता हूँ। (इसप्रकार घूम कर बैठ जाता है।)

टिप्पणी

(१) संशयितेव—राज्यलक्ष्मी यह निश्चय नहीं कर पा रही है कि चाणक्य के पास रहे या फिर राक्षस के पास लौट जावे। संशयिता—सम् + शी + अच् भावे, संशयः जातः अस्याः इति संशय + इतच्।

(२) श्लोक ३ में चाणक्य और राक्षस—इन दोनों मन्त्रियों की तुलना जंगल के हाथी से की है और मौर्य कुल की लक्ष्मी की तुलना हथिनी से की है। आशय यह है कि जिसप्रकार हथिनी के लिये युद्ध करते हुये दो मत्त हाथियों के बीच में स्थित हथिनी उन दोनों में से किसी की विजय का निश्चय न कर पा सकने के कारण भयभीत होती हुई खिन्नता अनुभव करती है, उसीप्रकार चाणक्य और राक्षस के मध्य स्थित मौर्यकुल की राज्यलक्ष्मी अत्यन्त ही खिन्न हो रही है।

(ततः प्रविशत्यासनस्थः पुरुषेणानुगम्यमानः सचिन्तो राक्षसः।)

राक्षसः—(सबाष्पम्।) कष्टं भोः कष्टम्।

वृष्णीनामिव नीतिविक्रमगुणव्यापारशान्तद्विषां
नन्दानां विपुले कुलेऽकरुणया नीते नियत्या क्षयम्।
चिन्तावेशसमाकुलेन मनसा रात्रिन्दिवं जाग्रतः
सैवेयं मम चित्रकर्मरचना भित्तिं विना वर्तते ॥४॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—वृष्णीनामिति—वृष्णीनामिव नीतिविक्रमगुणव्यापारशान्तद्विषां नन्दानां विपुले कुले अकरुणया नियत्या क्षयं नीते चिन्तावेशसमाकुलेन मनसा रात्रिदिवं जाग्रतः मम सा एव इयं चित्रकर्मरचना भित्तिं विना वर्तते ॥४॥

व्याख्या—वृष्णीनाम्—यदूनाम् इव नीतिविक्रमगुणव्यापारशान्तद्विषाम् = नीतिः—दण्डनीतिः विक्रमः—शौर्यं तावेव गुणौ तयोर्व्यापारेण—प्रयोगेण शान्ताः—शमिताः द्विषः—शत्रवः यैः तादृशानां नन्दानां विपुले-विशाले कुले अकरुणया—दारुणेन नियत्या-दैवेन क्षयं-विनाशं नीते—गमिते सति चिन्तावेशसमाकुलेन

=चिन्ताप्रसक्तिव्याकुलेन मनसा रात्रिन्दिवं-अहर्निशं जाग्रत:-जागरुकस्य मम सा एव (नन्देषु जीवत्सु यादृशी तादृश्येव) इयं चित्रकर्मरचना-विचित्रपौरुषव्यापारः अथवा चित्रकर्मण:—आलेखनक्रियाया: रचना—योजना भित्ति विना-आश्रयं विना अन्यत्र कुड्यं विना वर्तते ॥४॥

हिन्दी रूपान्तर

द्वितीय दृश्य

स्थान—राक्षस के घर का एक भाग।

(तदनन्तर आसन पर बैठा हुआ पुरुष से अनुसरण किया जाता हुआ चिन्तामग्न राक्षस प्रवेश करता है।)

राक्षस—(अश्रुओं के साथ।) दुःख है आह! बड़ा दुःख है।

श्लोक (४) अर्थ—यदुवंशियों की तरह दण्डनीति और पराक्रम रूपी गुणों के प्रयोग से शत्रुओं को विनष्ट करने वाले नन्दों के विशाल कुल के निष्ठुरभाग्य के द्वारा विनाश को प्राप्त करा दिये जाने पर, चिन्ताओं के आवेश से उद्विग्न मन से रात-दिन जागरूक (जाग्रत:) मेरी वह ही (अर्थात् नन्दों के जीवित होने पर जैसी थी, वैसी ही) यह आश्चर्यजनक (चित्र) पौरुषव्यापार अन्यत्र आलेख्य की रचना (चित्रकर्म-रचना) स्वामीरूपी आश्रय (भित्ति) के विना अन्यत्र भित्ति के बिना है ॥४॥

टिप्पणी

(१) **वृष्णीनाम्**—यदुवंश में वृष्णि नामक एक क्षत्रिय राजा था। लक्षणा के द्वारा वृष्णि के वंशजों के लिये भी वृष्णि का प्रयोग हुआ है। इसीलिये बहुवचन का प्रयोग हुआ है। यह वृष्णि शब्द क्षत्रियवाचक है, जनपदवाचक नहीं।

(२) **नन्दानाम्**—पिता और आठ पुत्र—सभी नन्द कहलाते थे। इसीलिये बहुवचन है।

(३) **चिन्तावेशसमाकुलेन मनसा**—"**इत्थंभूतलक्षणे**" पा० २/३/२१ से तृतीया।

(४) **रात्रिन्दिवम्**--रात्रौ च दिवा च—"**अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुहर्क्सामवाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्ठीवपदष्ठीवनक्तन्दिवरात्रिन्दिवाहर्दिवसरजसनिःश्रेयसपुरुषायुषद्व्यायुषत्र्यायुषर्ग्यजुषजातोक्षमहोक्षवृद्धोक्षोपशुनगोष्ठश्वा:**" पा० ५/४/७७ से निपातनात् सिद्ध है। निपातात् रात्रि=रात्रिम्। "**विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि**" पा० २/४/१३ से अद्रव्यवाची विरुद्धार्थकों का द्वन्द्व एकवत् होकर "**स नपुंसकम्**" पा० २/४/१७ से नपुंसकलिङ्ग "**ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य**" पा० १/२/४७ से ह्रस्व, दिवा=दिव=रात्रिन्दिवम्।

(५) श्लोक ४ में राक्षस कहना चाहता है कि मेरी चिन्ता निरन्तर बनी रहने वाली है किन्तु उसका आधार कोई नहीं है अर्थात् चिन्ता से अनेक प्रकार की कल्पनाओं का आविर्भाव होता है किन्तु अपने किसी प्रकृत स्थान को प्राप्त नहीं होती

है अर्थात् उनका सम्पूर्ण क्रिया-व्यापार बिना किसी उद्देश्य के है। किन्तु इसी अपने क्रियाकलाप को वह ५ वें श्लोक मे युक्तियुक्त ठहराता है, जिसके कारण वह नन्दवंश के स्वामियों के लिये कुछ कर सके।

अथवा

नेदं विस्मृतभक्तिना न विषयव्यासङ्गमूढात्मना
प्राणप्रच्युतिभीरुणा न च मया नात्मप्रतिष्ठार्थिना।
अत्यर्थं परदास्यमेत्य निपुणं नीतौ मनो दीयते
देवः स्वर्गगतोऽपि शात्रववधेनाराधितः स्यादिति ॥५॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः— नेदमिति —परदास्यमेत्य नीतौ मनः अत्यर्थं निपुणं दीयते, इदं विस्मृतभक्तिना न, विषयव्यासङ्गमूढात्मना न, प्राणप्रच्युतिभीरुणा न, न च मया आत्मप्रतिष्ठार्थिना, स्वर्गगतः अपि देवः शात्रववधेन आराधितः स्यात् इति (नीतौ मनो दीयते)॥५॥

व्याख्या—परदास्यम् = परस्य—नन्देतरस्य (मलयकेतोः) दास्यं-पराधीनताम् एत्य—स्वीकृत्य (मया) नीतौ—नयव्यवहारे (यत्) मनः अत्यर्थम्—अतीव निपुणं—परमप्रयत्नेन दीयते,—व्याप्रियते, इदं नीतौ मनोदानं विस्मृतभक्तिना = विस्मृता भक्तिः—स्वामिभक्तिः येन तादृशेन सता न, विषयव्यासङ्गमूढात्मना = विषयेषु-भोगेषु यो व्यासङ्गः—आसक्तिः तेन मूढः—विवेकविकलः आत्मा यस्य तादृशेन सता न, प्राणप्रच्युतिभीरुणा = प्राणप्रच्युतिः—प्राणनाशः ततो भीरुणा = शङ्कितेन न, न च मया आत्मप्रतिष्ठार्थिना—आत्मयशोवाञ्छया (मनो दीयते) (अपितु) स्वर्गगतः अपि देवः—नन्दः शात्रववधेन—शत्रुनाशेन आराधितः—सेवितः स्यात् इति-अस्मादेव कारणात् (मनो दीयते)॥५॥

हिन्दी रूपान्तर

अथवा

श्लोक (५) अर्थ – दूसरे (नन्द से भिन्न मलयकेतु) की पराधीनता को स्वीकार करके राजनीति में (मेरे द्वारा जो अपना) मन अत्यधिक प्रयत्नपूर्वक (निपुणम्) लगाया जा रहा है (वह) यह राजनीति में (मन को लगाना) भक्ति को विस्मृत करने वाले (मेरे) द्वारा नहीं दिया जा रहा है, विषयों के उपभोग की आसक्ति से मोहित आत्मा वाले मेरे द्वारा (राजनीति में मन) नहीं (लगाया जा रहा है) प्राणनाश से डरने वाले (मेरे द्वारा राजनीति में मन) नहीं (लगाया जा रहा है) और नहीं अपनी प्रतिष्ठा की कामना वाले मेरे द्वारा (राजनीति में मन लगाया जा रहा है), (अपितु) स्वर्ग गये हुये भी महाराज नन्द (अपने) शत्रुओं के विनाश से

(सम्भवतः) सेवा किये जा सकें—यह सोचकर ही मैं राजनीति में मन लगा रहा हूँ ॥५॥

टिप्पणी

(१) **नेवं विस्मृतभक्तिना**—यह ठीक है कि मैंने मलयकेतु का आश्रय ले लिया है किन्तु मेरी नन्द में दृढ़ भक्ति है।

(२) कोई यह न समझ ले कि मेरी विषयों के प्रति प्रगाढ़ अभिरुचि है। अतः नन्द के प्रति दृढ़ भक्ति होते हुये भी विषयों का उपभोग करने के लिये मैंने मलयकेतु का आश्रय ले लिया है। इसके लिये कहा है **न विषयव्यासङ्गमूढात्मना**।

(३) पुनः कोई यह शङ्का कर सकता है कि तुम भक्त भी हो, विषयों के प्रति अनासक्त हो, तब तो सबसे अच्छा यह होता कि तुम अपने स्वामी के साथ ही मर जाते। यह न मरना इस बात का द्योतक है कि तुम अपने प्राणों के विनाश से डरते हो? इसका समाधान किया है—**प्राणप्रच्युतिभीरुणा न**।

(४) तो क्या संसार में चाणक्य को जीतकर पुनः अमात्य पद प्राप्त करूं। इस यश की कामना से मलयकेतु का आश्रय लिया है। इसका उत्तर दिया है—**नात्मप्रतिष्ठार्थिना**।

(५) यदि उपर्युक्त कारणों में से कोई कारण नहीं है तो फिर क्यों मलयकेतु का आश्रय लिया है? इस प्रश्न का समाधान ५ वें श्लोक की अन्तिम पंक्ति में है। राक्षस कहता है कि **सम्भवतः मैं स्वर्गस्थ अपने स्वामी नन्दों को शत्रुओं को मारकर प्रसन्न कर सकूं**—इसीलिये मलयकेतु का मैंने आश्रय लिया है।

(आकाशमवलोकयन् सास्रम्।) भगवति कमलालये, भृशमगुणज्ञासि। कुतः।

आनन्दहेतुमपि देवमपास्य नन्दं
सक्तासि किं कथय वैरिणि मौर्यपुत्रे।
दानाम्बुराजिरिव गन्धगजस्य नाशे
तत्रैव किं न चपले प्रलयं गतासि ॥६॥

संस्कृत-व्याख्या

कमलालये = लक्ष्मि।

अन्वयः—आनन्दहेतुमिति—आनन्दहेतुमपि देव नन्दम् अपास्य कथय वैरिणि मौर्यपुत्रे किं सक्तासि। चपले, गन्धगजस्य नाशे दानाम्बुराजिरिव तत्रैव किं प्रलयं न गतासि॥

व्याख्या—आनन्दहेतुं - सुखकारणम् अपि देवं—राजानं नन्दम् अपास्य-विहाय कथय-ब्रूहि (एतम्) वैरिणि रिपौ मौर्यपुत्रे किं—कथं सक्तासि—अनुरागिणी भवसि? चपले-हे चंचलस्वभावे लक्ष्मि, गन्धगजस्य-गन्धहस्तिनः नाशे-मृते सति (तदीया) दानाम्बुराजिरिव-मदजलधार इव तत्रैव-नन्दे (तेन सह इत्यर्थः) किं-कथं प्रलयं-विलयं न गता असि ॥६॥

हिन्दी रूपान्तर

(आकाश की ओर देखता हुआ अश्रुओं के साथ ।) हे भगवति लक्ष्मि, अत्यधिक गुणों को न जानने वाली हो । क्योंकि ।

श्लोक (६) अर्थ - आनन्द के कारण (होते हुये) भी महाराज नन्द को छोड़कर (हे राज्यलक्ष्मी ! मुझे) बताओ (कि तुम) शत्रु मौर्यपुत्र (चन्द्रगुप्त) में क्यों (किम्) आसक्त हो गई हो । हे स्वैरविहारिणी लक्ष्मी, गन्धगज के नष्ट हो जाने पर (उसकी) मदजल की पंक्ति के समान नन्द के साथ ही (तत्रैव) क्यों मृत्यु को (प्रलयम्) प्राप्त नहीं हो गई ॥६॥

टिप्पणी

(१) **कमलालये**—कमला=लक्ष्मी । क्षीरसागर के मन्थन के अवसर पर जिन चौदह रत्नों की प्राप्ति हुई थी, उनमें से एक लक्ष्मी भी है । इस लक्ष्मी की उत्पत्ति का आधार कमल है । क्योंकि कमल की उत्पत्ति उथले पङ्किल जोहड़ में होती है, अतः कवि ने लक्ष्मी की उत्पत्ति भी निम्न है, ऐसा कहा है ।

(२) **आनन्दहेतुम्**—क्योंकि नन्द आनन्द के कारण है, अतः उसका परित्याग करना सम्भव नहीं है । किन्तु फिर भी तुमने इसको छोड़ दिया । अतः **'भृशमगुणज्ञासि ।'**

(३) **गन्धगजः**—गन्धप्रधानः गजः । मध्यमपदलोपी समास ।

गन्धगज की परिभाषा—यस्य गन्धं समाघ्राय न तिष्ठन्ति प्रतिद्विपाः ।
स वै गन्धगजो नाम नृपतेर्विजयावहः ॥

(४) **चपले**—चपले की तुलना श्रद्धालु पत्नी दानाम्बुराजि से की है, जो गन्धगज के नष्ट हो जाने पर उसके साथ ही नष्ट हो जाती है ।

(५) छठे श्लोक का आशय यह है कि नन्द के समान गुणशाली पति को छोड़कर गुणों को न जानने वाले किसी परपुरुष का आश्रय लेना तुम्हारे लिये अनुचित है । असत्पुरुष का आश्रय लेने की अपेक्षा तो मर जाना अधिक अच्छा है ।

अपि च अनभिजाते,

पृथिव्यां किं दग्धाः प्रथितकुलजा भूमिपतयः
पतिं पापे मौर्यं यदसि कुलहीनं वृतवती ।
प्रकृत्या वा काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला
पुरन्ध्रीणां प्रज्ञा पुरुषगुणविज्ञानविमुखी ॥७॥

संस्कृत-व्याख्या

अनभिजाते—असदवंशजे, अकुलीने इति यावत् ।

अन्वयः—पृथिव्यामिति—पापे किं पृथिव्यां प्रथितकुजलाः भूमिपतयः दग्धाः यत् कुलहीनं मौर्यं पतिं व्रतवती असि । वा पुरन्ध्रीणां काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला प्रज्ञा प्रकृत्या पुरुषगुणविज्ञानविमुखी ॥७॥

व्याख्या—पापे-पापाचरणे लक्ष्मि, किं पृथिव्यां-जगति प्रथितकुलजाः-विख्यातकुलोद्भवाः भूमिपतयः-राजानः (चाणक्यक्रोधाग्नौ) दग्धाः-भस्मीभूताः (नैवेत्यर्थः), यत्-यस्मात् कुलहीनम्-अकुलीनं मौर्यं पतिं वृतवती असि। वा-अथवा पुरन्ध्रीणां-स्त्रीणां काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला-काशः प्रभवो यस्य तादृशं यत् कुसुमं-काशपुष्पमित्यर्थः तस्य प्रान्तः-अग्रं तद्वत् चपला-क्षणस्थायिनीत्यर्थः प्रज्ञा-बुद्धिः प्रकृत्या-स्वभावेन पुरुषगुणाविज्ञानविमुखी=पुरुषस्य गुणविज्ञाने-गुणानां विशेषतो विवेचने विमुखी-निरपेक्षा (भवति) ॥७॥

हिन्दी रूपान्तर

और भी अकुलीने—

श्लोक (७) अर्थ—हे पापशीले, क्या (इस) पृथिवी पर विख्यात वंश में उत्पन्न होने वाले राजागण (चाणक्य की क्रोधाग्नि में) भस्म हो गये जो (तूने) कुलहीन मौर्य (चन्द्रगुप्त) को पतिरूपेण (पतिम्) वरण किया है। अथवा स्त्रियों की काश से उत्पन्न होने वाले पुष्प के अग्रभाग के समान चञ्चल बुद्धि स्वभाव से (ही) पुरुषों के गुणों को पहिचानने में विमुख होती है ॥७॥

टिप्पणी

(१) **अनभिजात और कुलहीन**—इन दोनों में अन्तर करना चाहिये। अनभिजात लक्ष्मी और कुलहीन मौर्य चन्द्रगुप्त है, किन्तु लक्ष्मी के लिये अनभिजात कहना केवल मात्र आक्रोश है, वास्तविकता नहीं।

(२) **मौर्यम्**—यह यहाँ द्रष्टव्य है कि कवि ने सम्पूर्ण नाटक में कहीं पर भी चन्द्रगुप्त को उस नाम से अभिहित नहीं किया है, जो उसके पिता से सम्बन्धित है।

(३) सप्तम श्लोक की अन्तिम पंक्ति का आशय यह है कि स्त्रियाँ जिसका आश्रय लेती हैं या जिसको छोड़ती हैं—उन दोनों में से किसी के भी गुणों को नहीं जानती है। वे गुणशाली व्यक्ति को छोड़ देती है और गुणहीन का भी आश्रय ले लेती हैं।

अपि च अविनीते, तदहमाश्रयोन्मूलनेनैव त्वामकामां करोमि। (विचिन्त्य।) मया तावत्सुहृत्तमस्य चन्दनदासस्य गृहे गृहजनं निक्षिप्य नगरान्निर्गच्छता स्थानामस्माभिः सहैककार्याणां देवपादोपजीविनां नोद्यमः शिथिलीभविष्यति। तत्र-चन्द्रगुप्तशरीरमभिद्रोग्धुमस्मत्प्रयुक्तानां तीक्ष्णरसदायिनामुपसंग्रहार्थं परकृत्योपजापार्थं च महता कोशसंचयेन स्थापितः शकटदासः। प्रतिक्षणमरातिवृत्तान्तोपलब्धये तत्संहतिभेदनाय च व्यापारिता सुहृदो जीवसिद्धिप्रभृतयः।

संस्कृत-व्याख्या

अविनीते—विनयविहीने। आश्रयोन्मूलनेन=आश्रयस्य-अवलम्बनस्य उन्मूलनेननाशेन, चन्द्रगुप्तमुन्मील्येत्यर्थः। अकामां-विफलमनोरथाम्। न्याय्यम्=युक्तम्।

कुसुमपुराभियोगं प्रति = कुसुमपुरस्य अभियोगम्–आक्रमणं प्रति। एककार्याणाम् = तुल्यप्रयोजनानाम्। देवपादोपजीविनाम् = देवपादानां–राज्ञः नन्दस्य ये उपजीविनः–सेवकाः तेषाम्। तीक्ष्णरसदायिनाम् = विषदायिनाम्। उपसंग्रहार्थम् = सञ्चयार्थम्। परकृत्योपजापार्थम् = परस्य-शत्रोश्शत्रुविषयस्य वा ये कृत्याः-क्रुद्ध-भीत लुब्ध-मानिवर्गा कृत्याः पक्षीया इति यावत् तेषां यः उपजापः–भेदनं तदर्थम्। कोशसञ्चयेन = धनराशिना। तत्संहतिभेदनाय = तेषाम्-अरातीनां संहतिः–सम्मेलनं तस्याः भेदनं–भङ्ग तस्मै। व्यापारिताः = नियुक्ताः।

हिन्दी रूपान्तर

और भी विनयशून्ये, इसलिये मैं आश्रय को समूल नष्ट करने के द्वारा ही तुमको (अपनी) इच्छा के प्रति निराश (अकामाम) करता हूँ। (सोचकर।) (१) मैंने परम मित्र चन्दनदास के घर में (अपने) परिवार को रखकर नगर से निकलते हुये उचित काम किया है। क्योंकि कुसुमपुर पर आक्रमण के प्रति राक्षस उदासीन नहीं है, ऐसा सोचकर (इति) वही (कुसुमपुर में ही) रहने वाले हमारे साथ समान प्रयोजन वाले (एककार्याणाम्) महाराज नन्द का आश्रय लेकर जीवित रहने वाले व्यक्तियों का (अर्थात् सेवकों का) उद्यम शिथिल नहीं होगा। (२) चन्द्रगुप्त के शरीर पर आघात पहुंचाने के लिये, हमारे द्वारा नियुक्त विष का प्रयोग करने वालों का संग्रह करने के लिये और शत्रुओं की अपने पक्ष में मिलाये जाने वाली प्रजा के (कृत्य) भेदन करने के लिये विशाल कोषराशि के साथ शकटदास को नियुक्त कर दिया है। (३) प्रतिक्षण शत्रुओं के समाचार को जानने के लिये और उनके संगठन को छिन्न-भिन्न करने के लिये जीवसिद्धि इत्यादि मित्रों को (मैंने) नियुक्त किया हुआ है।

टिप्पणी

(१) यहाँ से प्रारम्भ होने वाले गद्य भाग में राक्षस ने अपनी राजनीति पर प्रकाश डाला है कि उसने चन्द्रगुप्त को नष्ट करने के लिये क्या-क्या उपाय किये हैं? "मया तावत्……दैवमदृश्यमानम्" तक राक्षस के उपाय और अपाय का वर्णन है।

(२) **सुहृत्तमस्य**—अतिशयेन सुहृत् सुहृत्तमः "**अतिशायने तमबिष्ठनौ**" पा० ५/३/५५ इति तमप्, तस्य।

(३) **अनुदासीनः**—उद् + आस् + शानच—"**ईदासः**" पा० ७/२/ ३ से आस धातु से परे आन को ईत् आदेश और पुनः नञ समास है।

(४) **चन्द्रगुप्तशरीरमभिद्रोग्धुम्**—"**क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म**" पा० १/४/३८ इति द्वितीया।

(५) **परकृत्योपजापार्थम्**—"**कृत्य**" का अर्थ है वे असन्तुष्ट प्रजायें जो शत्रु की प्रेरणा पाकर फूट जाती हैं। "**उपजाप**" का अर्थ है भेद। अतः शत्रु की फूटने योग्य = कृत्य, प्रजाओं का भेदन करने के लिये।

(६) तत्संहतिभेदनाय—प्रथम अङ्क में इसप्रकार का वर्णन आ चुका है कि भद्रभटादि सभी प्रमुख व्यक्ति चाणक्य और चन्द्रगुप्त को छोड़कर मलयकेतु से आ मिले हैं। राक्षस समझता है कि यह सब कुछ उसकी अपनी राजनीति का फल है, जिसके लिये उसने जीवसिद्धि को नियुक्त किया है। परन्तु यह इसका भ्रम है, वह मूर्खों के स्वर्ग में रह रहा है। जीवसिद्धि चाणक्य का गुप्तचर है और उसका बालकपन का मित्र है। राक्षस का स्वभाव बड़ा ही सरल है। जो कोई भी व्यक्ति उसके सम्पर्क में आता है, वह उसका विश्वास कर लेता है।

तत्किमत्र बहुना।

इष्टात्मजः सपदि सान्वय एव देवः
शार्दूलपोतमिव यं परिपोष्य नष्टः।
तस्यैव बुद्धिविशिखेन भिनद्मि मर्म
वर्मीभवेद्यदि न दैवमदृश्यमानम् ॥८॥

संस्कृत व्याख्या

अन्वयः—इष्टात्मज इति—इष्टात्मजः देवः यं शार्दूलपोतमिव परिपोष्य सपदि सान्वयः एव नष्टः। तस्य एव मर्म बुद्धिविशिखेन भिनद्मि यदि अदृश्यमानं दैवं न वर्मीभवेत् ॥८॥

व्याख्या—इष्टात्मजः=इष्टाः-प्रियाः आत्मजाः यस्य सः, प्रियसुतः इत्यर्थः देवः—नन्दः यं—चन्द्रगुप्तं शार्दूलपोतमिव-व्याघ्रशावकमिव परिपोष्य-परिपाल्य सपदि-सद्यः सान्वयः-सवंशः एव नष्टः-विनाश गतः। तस्य—मौर्यस्य एव मर्म—सन्धिस्थानं बुद्धिविशिखेन-प्रज्ञारूपशरेण भिनद्मि—विदारयामि यदि (एतत्) अदृश्यमानम्-अनालक्ष्यं दैवं—भाग्यं न वर्मीभवेत्—कवचरूपं न स्यात् (रक्षक न भवेदित्यर्थः) ॥८॥

हिन्दी रूपान्तर

इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ।

श्लोक (८) अर्थ—प्रिय सन्तति वाले महाराज नन्द व्याघ्र के शावक के समान जिस (चन्द्रगुप्त) का पालन-पोषण करके शीघ्र ही वंश सहित नष्ट हो गये। उस (मौर्य चन्द्रगुप्त) के ही मर्मस्थल को (मैं) बुद्धि रूपी बाण से भेदन करूंगा यदि दिखलाई न देने वाला भाग्य (दैवम्) कवच न हो जावे ॥८॥

टिप्पणी

(१) **शार्दूलपोतमिव**—जिसप्रकार व्याघ्र अपने पुत्र का पालन करके अपने पुत्र के द्वारा ही खाया हुआ नष्ट हो जाता है, उसीप्रकार नन्द भी अपने द्वारा परिपालित मौर्य से विनष्ट हो गया।

(२) **मर्म** - जहाँ प्रहार करने पर निश्चित रूप से मृत्यु हो जाती है, उस स्थान को 'मर्म' कहते हैं। चन्द्रगुप्त का मर्मस्थल चाणक्य है।

(३) **वर्मीभवेत्**—अवर्म वर्म सम्पद्यमानं भवेत् इति अभूततद्भावे च्विः।

(४) **वर्मीभवेद्यदि न दैवमदृश्यमानम्**—अर्थात् यदि अदृष्ट भी दिखाई देने वाला हो तो उसका भी प्रतिकार किया जा सकता है।

(ततः प्रविशति कञ्चुकी ।)

कञ्चुकी—

कामं नन्दमिव प्रमथ्य जरया चाणक्यनीत्या यथा
धर्मो मौर्य इव क्रमेण नगरे नीतः प्रतिष्ठां मयि ।
तं संप्रत्युपचीयमानमनु मे लब्धान्तरः सेवया
लोभो राक्षसवज्जयाय यतते जेतुं न शक्नोति च ॥९॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—काममिति—चाणक्यनीत्या यथा जरया नन्दमिव कामं प्रमथ्य क्रमेण नगरे मौर्यं इव धर्मः मयि प्रतिष्ठां नीतः। सम्प्रति सेवया उपचीयमानं तम् अनु लब्धान्तरः राक्षसवत् मे लोभः उपचीयमानं तम् जयाय यतते च जेतुं न शक्नोति ॥९॥

व्याख्या—चाणक्यनीत्या—कौटिल्यनयेन यथा–इव जरया–वार्द्धकेन नन्दम् इव कामं–विषयाभिलाषं प्रमथ्य-उपमर्द्य क्रमेण–क्रमशः नगरे–कुसुमपुरे मौर्य इव–चन्द्रगुप्त इव धर्मः मयि–मदन्तःकरणे प्रतिष्ठां नीतः–प्रतिष्ठापिता। सम्प्रति-अधुना सेवया–राज–कुलसेवया उपचीयमानम्–वर्धिष्णुम् तम्–मौर्य अनु-लक्ष्यीकृत्य लब्धान्तरः-प्राप्तावसरः राक्षसवत्-अमात्यराक्षस इव (लब्धावसरः) मे-मम लोभः-विषयाभिलाषः उपचीयमानम्—वर्धिष्णुम् तम्, धर्मम् जयाय यतते च पुनः जेतुम् न शक्नोति-न समर्थो भवति ॥९॥

हिन्दी रूपान्तर

(इसके बाद कञ्चुकी प्रवेश करता है।)

कञ्चुकी–श्लोक (९) अर्थ—चाणक्य की नीति के समान (यथा) वृद्धावस्था ने राजा नन्द के समान विषय-वासना को नष्ट करके शनैः शनैः (कुसुमपुर नामक) नगर में चन्द्रगुप्त के समान धर्म को मेरे अन्तःकरण में (मयि) प्रतिष्ठित कर दिया। सम्प्रति (मलयकेतु की) शुश्रूषा के कारण बढ़ते हुए उस (चन्द्रगुप्त) को लक्ष्य करके अवसर पाकर राक्षस के समान (समय पाकर) मेरा लोभ बढ़ने हुये (उपचीयमानम्) उस (धर्म) को (तम्) जीतने के लिये प्रयत्न करता है, किन्तु (च) जीतने में समर्थ हो नहीं पाता है ॥९॥

टिप्पणी

(१) **कञ्चुकी**—अन्तःपुर के द्वार का रक्षक पुरुष। यह मलयकेतु का कञ्चुकी है। इसका नाम जाजलि है। इसका लक्षण इस प्रकार है:—

अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः ।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥ —दर्पण

(२) श्लोक ९ में साम्य इसप्रकार स्थापित किया गया है—
जरा = चाणक्यनीति, लोभ = राक्षस, काम = नन्दवंश, धर्म = चन्द्रगुप्त ।

(३) **प्रमथ्य—प्र + मन्थ (विलोडने) + ल्यप् ।**

(४) जरया--जरसा, 'जराया: जरसन्यतरस्याम्' पा० ७/२/१०१ से जरा को जरस् विकल्प से हो जाता है।

(५) उपचीयमानं तमनु—"लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' पा० १/४/९० से कर्मप्रवचनीय अनु के योग में द्वितीया।

(६) जयाय--जेतुमित्यर्थः। 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' पा० २/३/१५ इति चतुर्थी।

(७) श्लोक ९ का सारांश यह है कि लोभ, काम के नष्ट होने पर हृदय में प्रतिष्ठित धर्म को उसीप्रकार नहीं दबा सकता जिसप्रकार राक्षस नन्द के नष्ट हो जाने पर प्रतिष्ठित चन्द्रगुप्त को दबाना चाहते हुए भी नहीं दबा पाता है।
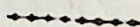
(परिक्रम्योपसृत्य च।) इदममात्यराक्षसस्य गृहम्। प्रविशामि। (प्रविश्यावलोक्य च।) स्वस्ति भवते।

राक्षसः—आर्य, अभिवादये। प्रियंवदक, आसनमानीयताम्।

पुरुषः—एदं आसणम्। उवविसदु अज्जो। इदमासनम्। उपविशतु आर्यः।

कञ्चुकी—(उपविश्य।) कुमारो मलयकेतुरमात्यं विज्ञापयति। चिरात्प्रभृत्यार्यः परित्यक्तोचितसंस्कार इति पीड्यते मे हृदयम्। यद्यपि सहसा स्वामिगुणाः न शक्यन्ते विस्मर्तुं तथापि मद्विज्ञापनां मानयितुमर्हत्यार्यः। (इत्याभरणानि प्रदर्श्य।) इमान्याभरणानि कुमारेण स्वशरीरादवतार्य प्रेषितानि धारयितुमर्हत्यमात्यः।

संस्कृत-व्याख्या

परित्यक्तोचितसंस्कारः=परित्यक्तः—वर्जितः उचितः—योग्यः संस्कारः—कार्यस्य प्रसाधनं येन सः। विज्ञापनाम्=प्रार्थनाम्। मानयितुम्—स्वीकर्तुम्।

हिन्दी रूपान्तर

(घूमकर और पास जाकर।) यह अमात्य राक्षस का घर है। प्रवेश करता हूँ। (प्रवेश करके और देखकर।) आपका कल्याण हो।

राक्षस—आर्य, अभिवादन करता हूँ। प्रियंवदक, आसन लाओ।

पुरुष—यह आसन है। आर्य बैठिये।

कञ्चुकी—(बैठकर।) कुमार मलयकेतु अमात्य से निवेदन कर रहे हैं। चिरकाल से आर्य ने उचित साज-सज्जा (संस्कारः) छोड़ दी है, यह सोचकर (इति) मेरा हृदय दुःखी होता है। यद्यपि स्वामी के गुण सहसा भुलाये नहीं जा सकते हैं तथापि मेरी प्रार्थना को आर्य स्वीकार करने योग्य हैं। (ऐसा कहकर आभूषणों को दिखाकर।) ये आभूषण कुमार (मलयकेतु) ने अपने शरीर से उतार कर भेजे हैं। अमात्य (इनको) धारण करने योग्य हैं।

टिप्पणी

(१) स्वस्ति भवते—'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषट्योगाच्च' पा० २/३/१६ से चतुर्थी ।

राक्षसः—आर्य जाजले, विज्ञाप्यतामस्मद्वचनात्कुमारः। विस्मृता एव भवद्गुणपक्षपातेन स्वामिगुणाः । किन्तु ।

न तावन्निर्वीर्यैः परपरिभवाक्रान्तिकृपणै—
वंहाम्यङ्गैरेभिः प्रतनुमपि संस्काररचनाम् ।
न यावन्निःशेषक्षपितरिपुचक्रस्य निहितं
सुगाङ्गे हेमाङ्कं नृवर तव सिंहासनमिदम् ॥१०॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—न तावदिति—नृवर, परपरिभवाक्रान्तिकृपणैः निर्वीर्यैः एभिः अंगैः तावत् प्रतनुमपि संस्काररचनाम् न वहामि । यावत् निःशेषक्षपितरिपुचक्रस्य तव हेमाङ्कम् इदं सिंहासनं सुगाङ्गे न निहितम् ॥१०॥

व्याख्या—नृवर—हे नरश्रेष्ठ परपरिभवाक्रान्तिकृपणैः=परेषां—शत्रूणां परिभवस्य–तिरस्कारस्य आक्रान्त्या–आक्रमणेन कृपणैः—दीनैः (अतएव) निर्वीर्यैः–पराक्रमरहितैः एभि अंगैः- अवयवैः तावत्—तावत्कालम् प्रतनुमपि - स्वल्पमःपि संस्काररचनाम्—भूषणविन्यासम् न वहामि—धारयामि । यावत्-यावत्कालं निःशेष–क्षपितरिपुचक्रस्य=निःशशे यथा स्यात् तथा क्षपितं–नाशितं रिपुचक्र—शत्रुसमूहो यस्य तादृशस्य तव हेमाङ्कं–स्वर्णालंकृतम् इदम् सिंहासनम् सुगाङ्गे-सुगाङ्गनामकनगरप्रसादे न निहितम्—स्थापितम् (भवेत्) ॥१०॥

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—आर्य जाजले, मेरी ओर से कुमार (मलयकेतु) को कहियेगा । आपके गुणों के पक्षपाती मैंने (स्वामी) नन्द के गुण भुला ही दिये हैं । किन्तु ।

श्लोक (१०) अर्थ—हे मनुष्यों में श्रेष्ठ (मलयकेतु), शत्रुओं के तिरस्कार के आघात से दीन (अतएव) निस्तेज इन अपने अंगों से तब तक यत्किञ्चिदपि आभूषणों के विन्यास को धारण नहीं करूंगा जब तक (यावत्) सर्वात्मना विनष्ट शत्रु समूह वाले तुम्हारा सुवर्ण से सुसज्जित यह सिंहासन सुगाङ्ग नामक राजप्रासाद में रखा नहीं जावेगा ॥१०॥

टिप्पणी

(१) **जाजले**—जाजलिन् एक ऋषि है, । जाजलिनः अपत्यं पुमान् इति जाजलिन् + अण्='नस्तद्धिते' पा० ६/४/१४४ से इन् का लोप जाजलः जाजलस्य गोत्रापत्यं पुमान् इति जाजल+इञ्=जाजलिः, सम्बोधने जाजले ।

(२) **सुगाङ्गे**—पाटलिपुत्र में सुगाङ्ग राजमहल का नाम है । यहां से गङ्गा का दृश्य बड़ा सुहावना प्रतीत होता होगा, इसलिये इसका नाम सुगाङ्ग रखा होगा।

(३) **इदम्**—यह बताता है कि सिंहासन राक्षस के सामने रखा हुआ है ।

(४) दसवें श्लोक की प्रथम दो पंक्तियों का आशय यह है कि राक्षस यह कहना चाहता है कि मैंने अपने स्वामी नन्द के गुणों के स्मरण से आभूषण नहीं छोड़े हैं अपितु शत्रु हंसते हैं कि मैं शत्रुओं को परास्त करने में समर्थ नहीं हूँ, इसलिये छोड़े हैं।

कञ्चुकी:—अमात्ये नेतरि सुभलमेतत्कुमारस्य। तत्प्रतिमान्यतां कुमारस्य प्रथमः प्रणयः।

राक्षसः—आर्य, कुमार इवानतिक्रमणीयवचनो भवानपि। तदनुष्ठीयते कुमारस्याज्ञा।

कञ्चुकी:—(नाट्येन भूषणानि परिधाप्य।) स्वस्ति भवते। साधयाम्यहम्।

राक्षसः—आर्य, अभिवादये।

(कञ्चुकी निष्क्रान्तः।)

राक्षसः—प्रियंवदक, ज्ञायतां कोऽस्मद्दर्शनार्थी द्वारि तिष्ठतीति।

पुरुषः—जं अमच्चो आणवेदि त्ति। (परिक्रम्य आहितुण्डिकं दृष्ट्वा।) अज्ज, को तुमम्। यदमात्य आज्ञापयतीति। आर्य, कस्त्वम्।

आहितुण्डिकः—भद्द, अहं खु आहितुण्डिओ जिण्णविसो णाम। इच्छामि अमच्चस्स पुरदो सप्पेहिं खेलिदुम्। भद्र, अहं खल्वाहितुण्डिको जीर्णविषो नाम। इच्छाम्यमात्यस्य पुरतः सर्पैः खेलितुम्।

पुरुषः—चिट्ठ जाव अमच्चस्स णिवेदेमि। (राक्षसमुपसृत्य।) (अमच्च, एसो खु सप्पजीवी इच्छदि सप्पं दंसेदुम्। तिष्ठ यावदमात्यस्य निवेदयामि। अमात्य, एष खलु सर्पजीवो इच्छति सर्पं दर्शयितुम्।

संस्कृत-व्याख्या

प्रतिमान्यताम्—स्वीक्रियताम्। प्रणयः=प्रार्थना। अनतिक्रमणीयवचनः=अनतिक्रमणीयम्—अनुल्लंघनीयं वचनं यस्य तादृशः, अनुल्लंघनीयशासनः। साधयामि=गच्छामि। अस्मद्दर्शनार्थी मद्दर्शनाभिलाषकः।

हिन्दी रूपान्तर

कञ्चुकी—अमात्य के नेता होने पर कुमार (मलयकेतु) के लिये यह सुलभ है। अतः कुमार (मलयकेतु की प्रथम प्रार्थना स्वीकार की जानी चाहिये।

राक्षस—आर्य, कुमार के समान आप भी अनुल्लंघनीय वचन वाले हैं। अतः कुमार की आज्ञा की जाती है।

कञ्चुकी—(नाटकीय ढंग से आभूषणों को पहनाकर।) आपका कल्याण हो। मैं जाता हूँ।

राक्षस—आर्य, मैं अभिवादन करता हूँ।

(कञ्चुकी निकल गया।)

राक्षस—प्रियंवदक, पता करो हमसे मिलने के लिये द्वार पर कौन प्रतीक्षा कर रहा है।

पुरुष—जो अमात्य आज्ञा देते हैं। (घूमकर सपेरे को देखकर।) आर्य, आप कौन हैं?

आहितुण्डिक—भद्र, मैं जीर्णविष नाम वाला सपेरा हूँ। मैं अमात्य के सामने सर्पों के साथ खेलना चाहता हूँ।

पुरुष—ठहरो, जब तक मैं अमात्य को सूचना देता हूँ। (राक्षस के पास जाकर।) अमात्य यह सर्पजीवी (आपको) सर्पों को दिखाना चाहता है।

टिप्पणी

(१) परिधाप्य—परि + धा + णिच् + ल्यप्।

(२) साधयामि नाटक में "गच्छामि" के स्थान पर "साधयामि" का प्रयोग होता है। "प्रायेण ण्यन्तकः साधिर्गमेः स्थाने प्रयुज्यते।" साध् + णिच् + मिप् = साधयामि।

(३) यहाँ पर जो आभूषण कञ्चुकी अमात्य राक्षस को पहना कर गया है, ये ही आभूषण आगे चलकर सिद्धार्थक को राक्षस प्रसन्न होकर पारितोषिक के रूप में देगा और षष्ठ अङ्क में इन्हीं आभूषणों का प्रयोग किया जावेगा।

(४) ज्ञायतां कोऽस्मद्दर्शनार्थी—राक्षस पाटलिपुत्र से किसी नवीन समाचार की आशा कर रहा है।

राक्षसः—(वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा आत्मगतम्।) कथं प्रथममेव सर्पदर्शनम्। (प्रकाशम्।) प्रियंवदक, न नः कौतूहलं सर्पेषु। तत्परितोष्य विसर्जयैनम्।

प्रियंवदकः—तथा। (इत्युपसृत्य।) अज्ज, एसो खु दे दंसणकज्जेण अमच्चो पसादं करेदि। ण उण सप्पदंसणेण। आर्य, एष खलु ते दर्शनकार्येणामात्यः प्रसादं करोति। न पुनः सर्पदर्शनेन।

आहितुण्डिकः—भद्दमुह, विण्णवेहि अमच्चं ण केवलं अहं सप्पजीवी, पाउडकवी खु अहम्। ता जइ मे दंसणेण अमच्चो पसादं ण करेदि ता एदं पत्तअं वाचेदु त्ति भद्रमुख, विज्ञापयामात्यं न केवलमहं सर्पजीवी, प्राकृतकविः खल्वहम्। तस्माद्यदि मे दर्शनेनामात्यः प्रसादं न करोति तदा एतत्पत्रकं वाचयत्विति।

प्रियंवदकः—(पत्रं गृहीत्वा राक्षसमुपसृत्य।) अज्ज, एसो खु अमच्चं विण्णवेदि ण केवलं अहं सप्पजीवी। पाउडकवी खु अहम्। ता जइ मे अमच्चो दंसणेण पसादं ण करेदि तदो एदं वि दाव पत्तअं वाचेदु त्ति। आर्य, एष खल्वमात्यं विज्ञापयति न केवलमहं सर्पजीवी। प्राकृतकविः खल्वहम्। तस्माद्यदि मे अमात्यो दर्शनेन प्रसादं न करोपि तदा एतदपि तावत्पत्रकं वाचयत्विति।

संस्कृत-व्याख्या

वामाक्षिस्पन्दनम् = वामस्य—दक्षिणेतरस्य अक्ष्णः—नेत्रस्य स्पन्दनम्—ईषत्कम्पनम्। कौतूहलम् = औत्कण्ठ्यम्। परितोष्य = संतुष्टं कृत्वा। प्रसादम् = पारितो-

षिकम् । प्राकृतकविः—स्वतःसिद्धज्ञानवान्, प्राकृतभाषाभिज्ञः; प्राकृतभाषायां काव्यकर्त्ता वा ।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—(वाम नेत्र के स्पन्दन को लक्ष्य करके मन ही मन ।) ओह ! (कथम्) पहले ही सर्पदर्शन । (स्पष्टतः ।) प्रियंवदक, हमारी सर्पों के विषय में उत्कण्ठा नहीं है। अतः इसको सन्तुष्ट करके विदा कर दो ।

प्रियंवदक—जो आज्ञा । (पास जाकर ।) आर्य यह तुम्हारे (सर्पों को) दिखाने रूप कार्य से अमात्य पारितोषिक दे रहे हैं । सर्पों को देखकर नहीं ।

आहितुण्डिक—भद्रमुख, अमात्य से निवेदन करो (कि) मैं केवल सर्पजीवी नहीं हूँ, मैं सामान्य कवि (प्राकृतकवि) अथवा प्राकृत भाषा का कवि भी (खलु) हूँ । अतः यदि दर्शनों द्वारा अमात्य मुझ पर कृपा नहीं करते हैं तब यह पत्र (ही) पढ़ लें ।

प्रियंवदक—(पत्र लेकर राक्षस के पास जाकर ।) आर्य, यह अमात्य से विवेदन कर रहा है (कि) मैं केवल सर्पजीवी नहीं हूँ । मैं प्राकृतकवि भी हूँ । तो यदि अमात्य मुझ पर दर्शन से कृपा नहीं करते हैं तो (कम से कम) यह पत्र तो पढ़ ही लें ।

***गूढार्थ-प्राकृतकविः**—प्रजाओं की गतिविधि को जानने के लिये जिसको तुमने नियुक्त किया है, मैं वह हूँ, यह आशय इससे ध्वनित होता है । केवल सर्पोपजीवी ही नहीं हूँ अपितु आपका गुप्तचर हूँ । मुझे अपने दर्शनों की अनुमति दीजिये ।

टिप्पणी

(१) **वामाक्षिस्पन्दनम्**—बाईं आँख का फड़कना पुरुषों के लिये अशुभ माना गया है जबकि स्त्रियों के लिये शुभ । इसीप्रकार दाईं आँख का फड़कना पुरुषों के लिये शुभ माना गया है और स्त्रियों के लिये अशुभ ।

(२) **कथं प्रथममेव सर्पदर्शनम्**—'प्रथमम्' यह बताता है कि समय प्रातःकाल का है । इसका तात्पर्य है कि सर्पदर्शन अपशकुन है । इससे यह सिद्ध होता है कि राक्षस शकुन और अपशकुन को मानता है । इसके विपरीत चाणक्य इन विषयों के प्रति उदासीन है । राक्षस के दिन का प्रारम्भ का अपशकुन से होता है ।

(३) **परितोष्य**—परि + तुष् + णिच् + ल्यप् ।

राक्षसः—(पत्रं गृहीत्वा वाचयति ।)

पाऊण निरवसेस कुसुमरसं अत्तणो कुसुलदाए ।
जं उग्गिरेइ भमरो अण्णाणं कुणइ तं कज्जं ॥११॥

पीत्वा निरवशेषं कुसुमरसमात्मनः कुशलतया ।
यदुद्गिरति भ्रमर, अन्येषां करोति तत्कार्यम् ॥

(विचिन्त्य स्वगतम् ।) अये, कुसुमपुरवृत्तान्तज्ञो भवत्प्रणिधिरिति गाथार्थः । कार्यव्यग्रत्वान्मनसः प्रभूतत्वाच्च प्रणिधीनां विस्मृतम् । इदानीं

स्मृतिरुपलब्धा । व्यक्तमाहितुण्डिकच्छद्मना विराधगुप्तेनानेन भवितव्यम् । (प्रकाशम् ।) प्रियंवदक, प्रवेशयैनम् । सुकविरेषः । श्रोतव्यमस्मात्सुभाषितम् ।

प्रियंवदकः—तथा । (इत्याहितुण्डिकमुपसृत्य ।) उपसप्पदु अज्जो । उपसर्पतु आर्यः ।

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—**पीत्वेति**—आत्मनः कुशलतया निरवशेषं कुसुमरसं पीत्वा भ्रमरः यद् उद्गिरति तत् अन्येषां कार्यं करोति ॥११॥

व्याख्या—आत्मनः कुशलतया—नैपुण्येन निरवशेषं—समग्रम् कुसुमरसं = कुसुमस्य पुष्पस्य रसं—मधु पीत्वा भ्रमरः—मधुकरः यद् उद्गिरति—बहिर्निःसारयति तत्—उद्गीर्णमानं मधु अन्येषां (मनुष्याणाम्) कार्यं—कर्म करोति—निष्पादयति ॥११॥

पक्षान्तरे—आत्मनः कुशलतया नैपुण्येन निरवशेषं—समग्रम् कुसुमपुरम्—कुसुमपुरस्य वृत्तान्तम् पीत्वा—ज्ञात्वा भ्रमरः-चरः यद् उद्गिरति—कथयति तत्—कथ्यमानं चरवाक्यम् अन्येषाम्—दूतप्रेषकाणाम् कार्यं—सन्धिविग्रहादिकं कर्म करोति—साधयति ॥११॥

गाथार्थः = गाथायाः—गीतिकायाः अर्थः—तात्पर्यम् । आहितुण्डिकच्छद्मना—व्यालोपजीविव्याजेन ।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—(पत्र को लेकर पढ़ता है ।)

श्लोक (११) अर्थ—अपने कौशल से सम्पूर्ण पुष्प के रस को पीकर भ्रमर जो (मधु) बाहर निकालता है, वह दूसरों का कार्य सम्पन्न करता है ।

पक्षान्तरे—दूत (भ्रमरः) अपनी कुशलता के कारण सम्पूर्ण कुसुमपुर के वृत्तान्त को (कुसुमरसम्) जानकर (पीत्वा) जो कहता है (उद्गिरति) उससे दूसरों का (दूत नियुक्त करने वालों का) प्रयोजन (कार्यम्) सम्पन्न करता है ॥११॥

(सोचकर मन ही मन ।) अये, कुसुमपुर के वृत्तान्त को जानने वाला आप का गुप्तचर हूँ—यह आर्या गीतिका का आशय है । मन के कार्य में व्यग्र होने से और गुप्तचरों के अधिक होने से भूल गया । सम्प्रति स्मरण हो आया है । स्पष्ट ही सपेरे के व्याज से इसको विराधगुप्त होना चाहिये । (स्पष्टतः ।) प्रियंवदक, इसको प्रविष्ट कराओ । वह सुन्दर कवि है । इससे सुंदर कविता सुननी चाहिये ।

प्रियंवदक—जो आज्ञा । (ऐसा कहकर सपेरे के पास जाकर ।) आर्य चलिये ।

टिप्पणी

(१) ११ वें श्लोक के अनुसार भ्रमर और दूत में यह समानता है कि भ्रमर भी इधर उधर चक्कर काटा करता है और दूत भी सर्वत्र विचरण किया करता है । भ्रमर पुष्पों के रस का पान करता है और दूसरों के लिये उपयोगी मधु

को उद्‌गीर्ण करता है। इसीप्रकार गुप्त दूत ने भी कुसुमपुर के सम्पूर्ण समाचारों को इकट्‌ठा किया है और राक्षस के कार्य के लिये इनको वर्णन करूँगा।

(२) "अये कुसुमपुरवृत्तान्तज्ञः...... ....इत्यादि" इससे पूर्व ही 'द्वारि कश्तिष्ठति' से राक्षस इस बात की तो आशा कर ही रहा था कोई नवीन समाचार सुनने को मिलना चाहिये और यहाँ पर उसके सोचे हुये के अनुसार ही कुसुमपुर का समाचार लेकर दूत उपस्थित है।

(३) **कुसुमपुरवृत्तान्तज्ञः**—"आतोऽनुपसर्गे कः" पा० ३/२/३ इति ज्ञा धातु से क प्रत्यय है।

(४) **कार्यव्यग्रत्वात्**—यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि कार्य में व्यग्र होने के कारण राक्षस भूल जाता है कि उसने किस दूत को किस कार्य में नियुक्त किया था, किन्तु इसके विपरीत कार्य में व्यग्र होने के कारण चाणक्य अपने शिष्य पर क्रोधित हो उठता है।

आहितुण्डिकः—(नाट्येनोपसृत्य विलोक्य च स्वगतम्। संस्कृतमाश्रित्य।) अयममात्यराक्षसः। स एषः

वामां बाहुलतां निवेश्य शिथिलं कण्ठे निवृत्तानना
स्कन्धे दक्षिणया बलान्निहितयाप्यङ्के पतन्त्या मुहुः।
गाढालिङ्गनसङ्गपीडितमुखं यस्योद्यमाशङ्किनी
मौर्यस्योरसि नाधुनापि कुरुते वामेतरं श्रीः स्तनम् ॥१२॥

(प्रकाशम्।) जेदु अमच्चो। जयतु अमात्यः।

राक्षसः—(विलोक्य। अये विराध (इत्यर्धोक्ते।) ननु विरूढश्मश्रुः। प्रियंवदक, भुजङ्गैरिदानीं विनोदयितव्यम्। तद्विश्रम्यतामितः परिजनेन। त्वमपि स्वाधिकारमशून्यं कुरु।

प्रियंवदकः—तथा। (इति सपरिवारो निष्क्रान्तः।)

राक्षसः—सखे विराधगुप्त, इदमासनम्। आस्यताम्।

(विराधगुप्तो नाट्येनोपविष्टः।)

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—वामामिति—यस्य उद्यमशङ्किनी श्रीः वामां बाहुलतां कण्ठे शिथिलं निवेश्य निवृत्तानना बलात् स्कन्धे निहितया अपि मुहुः अङ्के पतन्त्या दक्षिणया गाढालिङ्गनसङ्गपीडितमुखं वामेतरं स्तनम् अधुनापि मौर्यस्य उरसि न कुरुते ॥१२॥

व्याख्या—यस्य—राक्षसस्य उद्यमाशङ्किनी—उद्योगभीता श्रीः—लक्ष्मीः वामां-दक्षिणेतराम् बाहुलतां—भुजवल्लीम् (चन्द्रगुप्तस्य) कण्ठे शिथिलं (न तु गाढम्) निवेश्य-आसज्य (तथा राक्षसस्य भयेनैव) निवृत्तानना—परावृत्तमुखा सती (चन्द्रगुप्तेन स्वयमेव स्वस्य दक्षिणे) स्कन्धे बलात्—प्रसह्य निहितया—अर्पितया अपि मुहुः—पुनः-पुनः अङ्के—क्रोडे पतन्त्या—स्खलन्त्या दक्षिणया—वामेतरया (बाहुलतया)

गाढालिङ्गनसङ्गपीडितमुखम् = गाढालिङ्गनं—दृढालिङ्गनं तस्य सङ्गेन—आसक्त्या पीडितं मुखं यस्य तादृशम्, चिपिटीकृतचूचुकम् इत्यर्थः वामेतरं—दक्षिणं स्तनम् अद्यापि—अधुनापि मौर्यस्य—चन्द्रगुप्तस्य उरसि—वक्षसि न कुरुते—न स्थापयति ॥१२॥

विरूढश्मश्रूः = विरूढानि—प्रजातानि श्मश्रूणि यस्य तथाविधः । स्वाधिकारम् अशून्यं कुरु = परप्रवेशनमदत्वा द्वारि अवहितस्तिष्ठेत्यर्थः, स्वस्य—आत्मनः अधिकारः—नियोगः तम् अशून्यं कुरु—प्रतिपालय । सपरिवारः = सपरिजनः ।

हिन्दी रूपान्तर

आहितुण्डिक—(नाटकीय ढंग से समीप जाकर और देखकर मन ही मन । संस्कृत का आश्रय लेकर ।) यह अमात्य राक्षस है । वह यह

श्लोक (१२) अर्थ—जिस (राक्षस) के उद्योग से भयभीत (आशङ्किनी) राज्यलक्ष्मी बाईं भुजलता को (चन्द्रगुप्त के) गले में शिथिलभाव से डालकर (तथा राक्षस के भय से ही) फेरे हुये मुखवाली (राज्यश्री) (चन्द्रगुप्त के द्वारा अपने आप अपने दायें) स्कन्ध पर बलात् रखी हुई भी पौनःपुन्येन गोद में गिरती हुई दक्षिण (भुजलता) के द्वारा प्रगाढ़ आलिङ्गन की आसक्ति से दबा दिया गया है अग्रभाग जिसका ऐसे दायें स्तन को अब भी चन्द्रगुप्त के वक्षःस्थल पर नहीं रखती है ॥१२॥

(स्पष्टतः ।) अमात्य की विजय हो ।

राक्षस—देखकर । अरे, विराध (ऐसा आधा कहने पर ।) बढ़ी हुई दाढ़ी-मूँछ वाले हो । प्रियंवदक, सम्प्रति सर्पों से मनोविनोद करना है । अतः यहाँ से भृत्यवर्ग (जाकर) आराम करे । तुम भी अपने कर्त्तव्य को पूर्ण करो ।

प्रियंवदक—जो आज्ञा । (ऐसा कहकर भृत्यवर्ग के साथ निकल गया ।)

राक्षस—मित्र विराधगुप्त, यह आसन है । बैठो ।

(विराधगुप्त नाटकीय ढंग से बैठ जाता है ।)

टिप्पणी

(१) **बाहुलताम्**—पतली होने के कारण, लम्बी होने के कारण और वेष्टन की योग्यता के कारण बाहु में लता का आरोप किया है ।

(२) **अये, विराध—(इत्यर्धोक्ते) ननु विरूढश्मश्रुः**—राक्षस विराधगुप्त को देखकर सहसा ही उसको उसके नाम से सम्बोधन करना चाहता है, परन्तु विराध—ऐसा आधा कह चुकने पर उसको प्रियंवदक की उपस्थिति का ध्यान आता है । अतः उससे छिपाने के लिये अन्यथा करके वाक्य को पूरा करता है । पूरा वाक्य होगा—विराधविरूढश्मश्रुः = अर्थ होगा, **विकृतो राधो—वेषः तद्रूपाणि विरूढानि श्मश्रूणि यस्य** ।

(३) **भुजङ्गैरिदानीं विनोदयितव्यम्**—इससे पूर्व राक्षस कह चुका है कि इससे सुभाषित सुनना है । सम्प्रति प्रियंवदक से कह रहा है कि सर्पों के खेल से मनोविनोद करना है । एक राजनीतिज्ञ के लिये यह शोभा नहीं देता ।

राक्षसः—(निर्वण्य ।) अये, देवपादपद्मोपजीविनोऽवस्थेयम् । (इति रोदिति ।)

विराधगुप्तः—अलममात्य, शोकेन । नातिचिरादमात्योऽस्मान् पुरातनीमवस्थामारोपयिष्यति ।

राक्षसः—सखे, वर्णय कुसुमपुरवृत्तान्तम् ।

विराधगुप्तः—अमात्य, विस्तीर्णः खलु कुसुमपुरवृत्तान्तः । तत्कुतःप्रभृति वर्णयामि ।

राक्षसः—सखे, चन्द्रगुप्तस्यैव तावन्नगरप्रवेशात्प्रभृति अस्मत्प्रयुक्तैस्तीक्ष्णरसदादिभिः किमनुष्ठितमित्यादितः श्रोतुमिच्छामि ।

विराधगुप्तः—एष कथयामि । अस्ति तावच्छकयवनकिरातकाम्बोजपारसीकबाह्लीकप्रभृतिभिश्चाणक्यमतिपरिगृहीतैश्चन्द्रगुप्तपर्वतेश्वरबलैरुदधिभिरिव प्रलयोच्चलितसलिलैः समन्तादुपरुद्धं कुसुमपुरम् ।

संस्कृत-व्याख्या

निर्वर्ण्य=दृष्ट्वा । पुरातनीं=प्राचीनाम् । आरोपयिष्यति=आरोहयिष्यति । कुतः प्रभृति=कस्मादारभ्य । प्रलयोच्चलितसलिलैः=प्रलये-प्रलयकाले उच्चलितम् सलिलं-तोयं येषां तैः । उदधिभिः=समुद्रैः । उपरुद्धम्=वेष्टितम् ।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—(देखकर ।) अये, महाराज नन्द के चरण-कमलों के आश्रित की यह अवस्था है । (ऐसा कहकर रोता है ।)

विराधगुप्त—अमात्य, शोक से बस । शीघ्र ही अमात्य हमको (अपनी) प्राचीन अवस्था को प्राप्त करा देंगे ।

राक्षस—सखे, कुसुमपुर के समाचारों का वर्णन करो ।

विराधगुप्त—अमात्य, कुसुमपुर का समाचार विस्तृत है । इसलिये कहाँ से लेकर वर्णन करूँ ?

राक्षस—सखे, चन्द्रगुप्त के ही नगर में ही प्रवेश करने से लेकर हमारे द्वारा नियुक्त विष देने वाले आदमियों ने क्या किया—यह सब (इति) में प्रारम्भ से सुनना चाहता हूँ ।

विराधगुप्त—यह कहता हूँ । चाणक्य की बुद्धि से सञ्चालित शक-यवन-किरात-काम्बोज-पारसीक और बाह्लीक इत्यादि चन्द्रगुप्त और पर्वतेश्वर की सेनाओं ने प्रलयकाल में हिलते हुये जल वाले समुद्रों के समान चारों तरफ से कुसुमपुर को घेर लिया था (अस्ति) ।

टिप्पणी

(१) इति रोदिति—इस रोने से राक्षस की भावुकता प्रतीत होती है, जबकि इसके विपरीत चाणक्य सहनशील कर्मयोगी है ।

(२) अवस्था—यह बताती है कि उसने अपने शरीर का संस्करण छोड़ दिया है ।

(३) आरोपयिष्यति—आरोहयिष्यति । "रुहः पोऽन्यतरस्याम्" पा० ७/३/४३ इति हकारस्य पकारः ।

(४) कुतःप्रभृति—"प्रभृति" के योग में पञ्चमी है ।

(५) शक—यवन-किरात-काम्बोज-पारसीक-वाह्लीक—ये राजाओं के नाम नहीं हैं, अपितु जातियाँ हैं । काम्बोज और पारसीक घोड़ों की श्रेष्ठ जाति के लिये प्रसिद्ध हैं ।

राक्षसः—(शस्त्रमाकृष्य ससम्भ्रमम् ।) अयि, मयि स्थिते कः कुसुमपुरमुपरोत्स्यति । प्रवीरक प्रवीरक, क्षिप्रमिदानीम् ।

प्राकारं परितः शरासनधरैः क्षिप्रं परिक्रम्यतां
द्वारेषु द्विरदैः प्रतिद्विपघटाभेदक्षमैः स्थीयताम् ।
त्यक्त्वा मृत्युभयं प्रहर्तुमनसः शत्रोर्बले दुर्बले
ते निर्यान्तु मया सहैकमनसो येषामभीष्टं यशः ॥१३॥

संस्कृत-व्याख्या

उपरोत्स्यति = वेष्टयिष्यति ।

अन्वयः—प्राकारमिति—शरासनधरैः प्राकारं परितः क्षिप्रं परिक्रम्यताम्, प्रतिद्विपघटोभेदक्षमैः द्विरदैः द्वारेषु स्थीयताम् । येषां यशः अभीष्टम् ते मृत्युभयं त्यक्त्वा शत्रोः दुर्बले बले एकमनसः प्रहर्तुमनसः मया सह निर्यान्तु ॥१३॥

व्याख्या—शरासनधरैः = शराः अस्यन्ते—क्षिप्यन्ते अनेनेति शरासनः-धनुः तद्धरैः, धानुष्कैः प्राकारं परितः—समन्तात् क्षिप्रं—शीघ्रम् परिक्रम्यताम्—परिभ्रम्यताम्, प्रतिद्विपघटाभेदक्षमैः = प्रतिपक्षाः ये द्विपाः—गजाः तेषाम् घटायाः-समूहस्य भेदे—विघटने क्षमैः = समर्थैः द्विरदैः—हस्तिभिः द्वारेषु-तोरणेषु स्थीयताम् । येषां—वीराणाम् यशः-कीर्तिः अभीष्टम् -अभिलषितम् ते-वीराः मृत्युभयं—मरणभीतिम् त्यक्त्वा—मुक्त्वा शत्रोः—विपक्षस्य दुर्बले (स्वपक्षात्)–हीनबले बले-सैन्ये एकमनसः–अभिन्नमतयः (अतएव) प्रहर्तुमनसः = प्रहर्तुं मनो येषां तादृशाः, युयुत्सवः सन्तः मया सह निर्यान्तु—बहिरागच्छन्तु ॥१३॥

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—(शस्त्र खींचकर घबड़ाहट के साथ ।) अरे, मेरे रहते हुये कौन कुसुमपुर को घेरेगा । प्रवीरक प्रवीरक, सम्प्रति शीघ्र ।

श्लोक (१३) अर्थ–धनुर्धारी योद्धा (दुर्ग के) प्राचीर के चारों ओर शीघ्र चक्कर काटें, शत्रुओं के हाथियों के समूह को छिन्न-भिन्न करने में समर्थ हाथी (कुसुमपुर के) दरवाजों पर स्थित हो जावें । जिन (वीरों) को (अपना) यश अभीष्ट है (अर्थात् जिनको वीरगति अभीष्ट है) वे मृत्यु के भय को छोड़कर शत्रु की दुर्बल सेना पर एक मन वाले (होकर) प्रहार करने की इच्छा वाले मेरे साथ बाहर आ जावें ॥१३॥

टिप्पणी

(१) प्रवीरक– यह सैनिक का नाम है । राक्षस के पास घेरे के समय रहा करता था ।

(२) प्राकारं परितः-- "अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि" (वार्तिक) से परितः के योग में द्वितीया।

(३) शत्रोः दुर्बले बले --शत्रु की सेना को दुर्बल कहना केवल अपने सैनिकों को प्रोत्साहन देने के लिये है। वस्तुतः सेना दुर्बल नहीं है।
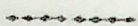
विराधगुप्तः—अमात्य, अलमावेगेन। वृत्तमिदं वर्णते।

राक्षसः--(निःश्वस्य।) कष्टं वृत्तमिदम्। मया पुनर्ज्ञातं स एवायं काल इति। (शस्त्रमुत्सृज्य।) हा देव नन्द, स्मरामि ते राक्षसं प्रति प्रसादातिशयम्। त्वमत्र सङ्ग्रामकाले।

यत्रैषा मेघनीला चरति गजघटा राक्षसस्तत्र याया-
देतत्पारिप्लवाम्भःप्लुति तुरगबलं वार्यतां राक्षसेन।
पत्तीनां राक्षसोऽन्तं नयतु बलमिति प्रेषयन्मह्यमाज्ञा-
मज्ञासीः प्रीतियोगात्स्थितमिव नगरे राक्षसानां सहस्रम् ॥१४॥

संस्कृत-व्याख्या तत्स्तत

व्याख्या---प्रसादातिशयम्---अतिशयप्रीतिम्।

अन्वयः—यत्रेति—यत्र एषा मेघनीला गजघटा चरति तत्र राक्षसः यायात्, पारिप्लवाम्भःप्लुति एतत् तुरगबलम् राक्षसेन वार्यताम्। पत्तीनां बलं राक्षसः अन्तं नयतु इति मह्यम् आज्ञां प्रेषयन् प्रीतियोगात् नगरे राक्षसानां सहस्रम् इव स्थितम् अज्ञासीः ॥१४॥

व्याख्या—यत्र = रणप्रदेशे एषा मेघनीला-- मेघवत् नीला---श्यामला गजघटा—हस्तिवृन्दं चरति तत्र राक्षसः यायात्-- गच्छेत्, पारिप्लवाम्भःप्लुति = पारिप्लवं—चञ्चलं यत् अम्भः—जलम् तस्य प्लुतिः---उत्प्लवनमिव प्लुतिर्यस्य तादृशम् एतत् तुरगबलम्---अश्वसैन्यं राक्षसेन वार्यताम्—प्रतिबन्ध्यताम्। पत्तीनाम्-पदातीनां बलम् = सैन्यम् राक्षसः अन्तं—नाशं नयतु—प्रापयतु इति-एवंप्रकारेण मह्यम्—मां प्रति इत्यर्थः आज्ञां प्रेषयन् (हे देव!) प्रीतियोगात्— स्नेहवशात् नगरे—कुसुमपुरे राक्षसानां सहस्रम् इव स्थितम् (माम्) अज्ञासीः---उत्प्रेक्षते स्म ॥१४॥

हिन्दी रूपान्तर

विराधगुप्त—अमात्य, आवेग से बस। यह (केवल) समाचार वर्णन किया जा रहा है।

राक्षस—(उच्छ्वास लेकर।) यह समाचार कष्टकारी है। मैंने तो (पुनः) समझा (कि) यह वही समय है। (शस्त्र छोड़कर।) हे महाराज नन्द, तुम्हारी राक्षस के प्रति प्रगाढ़ प्रीति को स्मरण करता हूँ। तुम इस युद्ध के अवसर पर

श्लोक (१४) अर्थ—जहाँ (युद्ध में) यह मेघ के समान नीलवर्ण वाली हाथियों की सेना आक्रमण कर रही है (चरति) (उसका मर्दन करने के लिये) उस स्थान पर राक्षस जावे, वायु से चञ्चल सागर के जल की द्रुतगति के समान गति वाली यह घोड़ों की सेना राक्षस के द्वारा निवारण की जावे। पदाति सैनिकों की सेना को

राक्षस विनष्ट कर दे। इसप्रकार मुझे आज्ञा भेजते हुये प्रेम के कारण कुसुमपुर में हजारों राक्षसों के समान स्थित (मुझको) माना करते थे ॥१४॥

टिप्पणी

(१) त्वमत्र संग्रामकाले—इसका तात्पर्य है कि घेरे के समय नन्द जीवित था।

(२) १४ वें श्लोक में चतुरंगिणी सेना के तीन हस्ति, अश्व और पदाति अंगों का वर्णन है। रथ का वर्णन नहीं है क्योंकि उन दिनों रथ का कोई उपयोग नहीं रह गया था।
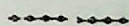
विराधगुप्तः—ततः समन्तादुपरुद्धं कुसुमपुरमवलोक्य बहुदिवसप्रवृत्तमतिमहदुपरोधवैशसमुपरि पौराणां परिवर्तमानमसहमाने तस्यामप्यवस्थायां पौरजनापेक्षया सुरङ्गामेत्यापक्रान्ते तपोवनाय देवे सर्वार्थसिद्धौ स्वामिविरहात्प्रशिथिलीकृतप्रयत्नेषु युष्मद्बलेषु जयघोषणाव्याघातादिसाहसानुमितेष्वन्तर्नगरवासिषु, पुनरपि नन्दराज्यप्रत्यानयनाय सुरङ्गया बहिरपगतेषु युष्मासु, चन्द्रगुप्तनिधनाय युष्मत्प्रयुक्तया विषकन्यया घातिते तपस्विनि पर्वतेश्वरे।

संस्कृत-व्याख्या

उपरुद्धम् = आक्रान्तम्। बहुदिवसप्रवृत्तम् = दीर्घकालव्यापी। अतिमहदुपरोधवैशसम् = अतिमहत्-महाघोरम् उपरोधस्य—निरोधस्य वैशसम्—क्रूरताम्। परिवर्तमानम् = नित्यनूतनम्। पौरजनापेक्षया = नगरवासिनामनुमत्या। सुरङ्गाम्—सन्धिम्, भूमध्यगतप्रच्छन्नपथम् इति यावत्। प्रशिथिलीकृतप्रयत्नेषु = मन्दीकृतोद्योगेषु। जयघोषणाव्याघातादिसाहसानुमितेषु = जयस्य या घोषणा-डिण्डिमाघातपूर्वकविज्ञापनम् (मौर्यस्य) तस्याः व्याघातः-अकरणम् आदिर्येषां तैः साहसैः सैन्यकृतकार्यैः अनुमितेषु (नन्दानुरक्ता एते इति)। घातिते = विनाशिते। तपस्विनि = वराके, निरपराधे इत्यर्थः।

हिन्दी रूपान्तर

विराधगुप्त—तदनन्तर चारों ओर से कुसुमपुर को घिरा हुआ देखकर नागरिकों के ऊपर बहुत दिनों से चलने वाली नित नूतन (परिवर्तमानम्) अत्यन्त महान् घेरे से उत्पन्न होने वाली क्रूरता को सहन न करते हुये होने पर, उस परिस्थिति में भी नागरिकों की अनुमति से (अपेक्षया) (अर्थात् जनता पर अधिक अत्याचार न हों इसलिये) सुरङ्ग का आश्रय लेकर महाराज सर्वार्थसिद्धि के तपोवन के लिये भाग जाने पर, स्वामी के अभाव के कारण (चाणक्य के द्वारा की जाने वाली) विजय की घोषणाओं में (किये जाने वाले) व्याघात आदि साहसिक कर्मों के द्वारा (राजा नन्द के प्रति अनुरक्ति का) अनुमान कर ली जाने वाली नगर के अन्दर रहने वाली आपकी सेनाओं के प्रयत्नों के शिथिल कर देने पर, पुनरपि नन्द के राज्य को लौटा लाने के लिये सुरङ्ग के द्वारा आपके बाहर चले जाने पर चन्द्रगुप्त को मारने के लिये आपके द्वारा प्रयुक्त विषकन्या के द्वारा दीन (तपस्विनि) पर्वतेश्वर के मार दिये जाने पर।

टिप्पणी

(१) **तपोवनाय**—तपोवनं गन्तुमिति कर्मणि चतुर्थी—"**क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः**" पा० २/३/१४।

(२) सर्वार्थसिद्धि नन्द का ज्ञाति था। उस समय वृद्ध था। नन्द के मरने के उपरान्त राक्षस ने इसको राजा बनाकर शहर की रक्षा करनी शुरू कर दी थी।

(३) **साहस—सहसा कृतम्**—जो काम सोच विचार कर न किया जावे।

राक्षसः—सखे, पश्याश्चर्यम्।

कर्णेनेव विषाङ्गनैकपुरुषव्यापादिनी रक्षिता
हन्तुं शक्तिरिवार्जुनं बलवती या चन्द्रगुप्तं मया।
सा विष्णोरिव विष्णुगुप्तहतकस्यात्यन्तिकश्रेयसे
हैडिम्बेयमिवेत्य पर्वतनृपं तद्वध्यमेवावधीत् ॥१५॥

विराधगुप्तः—अमात्य, दैवस्यात्र कामचारः। किं क्रियताम्।

राक्षसः—ततस्ततः।

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—कर्णेनेति—कर्णेन इव मया अर्जुनम् इव चन्द्रगुप्तं हन्तुं बलवती एकपुरुषव्यापादिनी शक्ति (इव) या विषाङ्गना रक्षिता सा विष्णोरिव विष्णुगुप्तहतकस्य आत्यन्तिकश्रेयसे तद्वध्यम् हैडिम्बेयमिव तद्वध्यम् पर्वतनृपम् एव एत्य अवधीत् ॥१५॥

व्याख्या—कर्णेनेव—राधेयेनेव मया—राक्षसेन अर्जुनमिव चन्द्रगुप्तं हन्तुं बलवतीसामर्थ्यशालिनी, अमोघा इत्यर्थः एकपुरुषव्यापादिनी—एकपुरुषघातिनी शक्तिः (इव) या विषाङ्गना—विषकन्या रक्षिता—स्थापिता, सा—विषकन्या विष्णोरिव—कृष्णस्येव विष्णुगुप्तहतकस्य-चाणक्य हतकस्य आत्यन्तिक श्रेयसे-समधिककल्याणाय तद्वध्यम् = तेन-श्रीकृष्णेन वध्यम् हैडिम्बेयमिव-घटोत्कचमिव तद्वध्यम् = तेन—चाणक्येन बध्यम् पर्वतनृपम्—पर्वतकम् एवं एत्य—प्राप्य अवधीत्—घातितवती ॥१५॥

कामचारः=इच्छा, विडम्बनेत्यर्थः।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—सखे, आश्चर्य (तो) देखो।

श्लोक (१५) अर्थ—कर्ण के समान मैंने अर्जुन के समान चन्द्रगुप्त को मारने के लिये शक्तिशाली अर्थात् अमोघ (बलवती) केवल एक ही पुरुष को मारने वाली (इन्द्र के द्वारा दी हुई) शक्ति के समान जो विषकन्या रखी हुई थी उस (विषकन्या) ने श्रीकृष्णजी के समान दुष्ट चाणक्य के अत्यधिक कल्याण के लिये श्रीकृष्ण के द्वारा बध्य (तद्बध्यम्) हिडिम्बापुत्र (घटोत्कच) के समान पक्षान्तरे चाणक्य द्वारा बध्य (तद्वध्यम्) पर्वतेश्वर राजा को ही प्राप्त करके मार दिया ॥१५॥

विराधगुप्त—अमात्य, इस विषय में (पर्वतेश्वर के वध के विषय में) भाग्य की विडम्बना (कामचारः) है, क्या किया जावे।

राक्षस—उसके बाद ।

टिप्पणी

(१) १५ वें श्लोक में सादृश्य इसप्रकार है :—

कर्ण = राक्षस । अर्जुन = चन्द्रगुप्त, कर्ण, का शत्रु अर्जुन था और राक्षस का शत्रु चन्द्रगुप्त है । शक्ति = विषांगना, दोनों बलवती हैं, दोनों एक पुरुषव्यापादिनी हैं—दोनों को एक ही उद्देश्य के लिये सुरक्षित रखा गया था । श्रीकृष्ण = चाणक्य, दोनों राजनीतिज्ञ हैं और युद्ध का संचालन करने वाले हैं। घटोत्कच = पर्वतक ।

(२) **एकपुरुषव्यापादिनी**—एक पुरुष को मारने के पश्चात् यह शक्तिरहित हो जाती थी ।

(३) **हैडिम्बेयम्**—हिडिम्बा राक्षसी थी, जिसके साथ भीमसेन ने विवाह किया था । इसके पुत्र का नाम घटोत्कच था । हिडिम्बायाः अपत्यं पुमान् इति हिडिम्बा + ठक् ।

(४) **तद्वध्यम्**—तेन बध्यः अथवा तस्य बध्यः कुसुमपुर का घेरा डालने के अवसर पर पर्वतक ने चाणक्य और चन्द्रगुप्त को सहायता दी थी । उस सहायता के बदले में पर्वतक को चन्द्रगुप्त के राज्य में से आधा राज्य मिलना था । इसलिये चाणक्य इससे छुटकारा चाहता था । अतः वह चाणक्य का वध्य था । घटोत्कच राक्षस होने के कारण श्रीकृष्ण जी का वध्य था ।

विराधगुप्तः—ततः पितृवधत्रासादपक्रान्ते कुमारे मलयकेतौ, विश्वासिते पर्वतकभ्रातरि वैरोचके, प्रकाशिते च चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशे, चाणक्यहतकेन आहूयाभिहिताः सर्व एव कुसुमपुरनिवासिनः सूत्रधाराः यथा सांवत्सरिकादेशादर्धरात्रसमये चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशो भविष्यति । ततः पूर्वद्वारात्प्रभृति संस्क्रियतां राजभवनमिति । ततः सूत्रधारैरभिहितम्—'आर्य, प्रथममेव देवस्य चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशमुपलभ्य सूत्रधारेण दारुवर्मणा कनकतोरणन्यासादिभिः संस्कारविशेषैः संस्कृतं प्रथमराजभवनद्वारम् । अस्माभिरिदानीमभ्यन्तरे संस्कारः आधेयः' इति । ततश्चाणक्यबटुना अनादिष्टेनैव सूत्रधारेण दारुवर्मणा संस्कृत राजभवनद्वारमिति परितुष्टेनेव सुचिरं दारुवर्मणो दाक्ष्यं प्रशस्याभिहितम्—'अचिरादस्य दाक्ष्यस्यानुरूपं फलमधिगमिष्यसि दारुवर्मन् ।'

संस्कृत-व्याख्या

अपक्रान्ते = पलायिते । विश्वासिते = आश्वासिते । प्रकाशिते = प्रख्यापिते । सूत्रधाराः = शिल्पिनः । सांवत्सरिकादेशात् = दैवज्ञवाक्यात् । संस्क्रियताम् = संस्कारयुक्तं विधीयताम् । उपलभ्य = ज्ञात्वा । कनकतोरणन्यासादिभि = :कनकस्य-सुवर्णस्य तोरणं—बहिर्द्वारं तस्य न्यासः—सन्निवेशः सः आदिर्येषां तैः । अभ्यन्तरे = अन्तराले । आधेयः = सम्पादनीयः । दाक्ष्यम् = नैपुण्यम् । प्रशस्य—प्रशंसां कृत्वा । अनुरूपम् = सदृशम् ।

हिन्दी रूपान्तर

विराधगुप्त—उसके पश्चात् पिता की मृत्यु के भय से कुमार मलयकेतु के भाग जाने पर, पर्वतक के भाई वैरोचक को विश्वास दिला दिये जाने पर, और

चन्द्रगुप्त के नन्द के राजभवन में प्रविष्ट होने की घोषणा कर देने पर (प्रकाशिते), दुष्ट चाणक्य ने सभी कुसुमपुर के निवासी शिल्पियों को बुलाकर कहा कि (यथा) ज्योतिषी के आदेश से आधी रात्रि के समय चन्द्रगुप्त का नन्द के राजभवन में प्रवेश होगा। इसलिये (ततः) पूर्वीय द्वार से लेकर (पूर्वद्वारात् प्रभृति) राजभवन को सुसज्जित कर दो। उसके बाद शिल्पियों ने कहा, 'आर्य, पहले ही महाराज चन्द्रगुप्त के नन्द के राजभवन में प्रवेश को जानकर शिल्पी दारुवर्मा ने सुवर्ण निर्मित तोरण-विन्यास आदि विशिष्ट सज्जाओं से पूर्वीय राजभवन के द्वार को (प्रथमराजभवन-द्वारम्) सुसज्जित कर दिया है। सम्प्रति हमने अन्दर के हिस्से में सजावट करनी है'। तदनन्तर दुष्ट चाणक्य के बिना कहे हुये ही शिल्पी दारुवर्मा ने राजभवन के (प्रमुख) द्वार को सुसज्जित कर दिया अतः (इति) मानों सन्तुष्ट हुये ने बड़ी देर तक दारुवर्मा की दक्षता की प्रशंसा करके कहा—'हे दारुवर्मन्, शीघ्र ही इस दक्षता के अनुरूप फल को प्राप्त करोगे'।

गूढ़ार्थ—(१) **संस्कारविशेषैः**—'विशिष्ट सज्जाओं से' बाह्यार्थ है, गूढार्थ है, चन्द्रगुप्त के ऊपर तोरण को गिराने आदि परिश्रमों से।

(२) **अभ्यन्तरे संस्कार आधेयः**—बाह्यार्थ है—अन्दर के हिस्से में सजावट करनी है, इसका गूढार्थ है—तीक्ष्ण विष को देना और शयनागार में सोते हुये चन्द्रगुप्त को मारना आदि।

(३) **अनुरूपं फलम्**—वधरूपफलम्—इसका गूढार्थ है।

टिप्पणी

(१) **विश्वासिते**—विश्वास दिला दिये जाने पर कि तुमको ही आधा राज्य दूंगा। पर्वतक का भाई वैरोचक उस समय वहीं था। चाणक्य ने उसके हृदय में यह सन्देह पैदा कर दिया था कि राक्षस ने ही पर्वतक को मारा है।

(२) **सांवत्सरिकः**—संवत्सरं वेत्ति इति संवत्सर+ठञ् = 'कालाट्ठञ्' पा० ४/३/११, ज्योतिषी। पारिभाषिक शब्द है।

(२) **अर्धरात्रसमये**—अर्धं रात्रेः इति 'अहः सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः' पा० ५/४/८७ इति समासान्त अच् 'रात्राह्नाहाः पुंसि' पा० २/४/२९ इति पुंल्लिंग अर्धरात्रः स एव समयः, कालाधिकरणे सप्तमी।

(४) **पूर्वद्वारात्प्रभृति**—पूर्वीय द्वार से लेकर। पूर्वीय द्वार से प्रवेश शुभ माना गया है। 'प्रभृति' के योग में पञ्चमी है।

(५) आधेयः—आ+धा+यत्।

(६) **परितुष्टेनेव**—यहाँ उत्प्रेक्षा है! वस्तुतः वह प्रसन्न नहीं है, किन्तु वह दिखाई दे रहा है कि सन्तुष्ट है।

राक्षसः—(सोद्वेगम्।) सखे, कुतश्चाणक्यबटोः परितोषः। अफलनिष्फलं वा दारुवर्मणः प्रयत्नमवगच्छामि। यदनेन बुद्धिमोहादथवा राजभक्तिप्रकर्षान्नियोगकालमप्रतीक्षमाणेन जनितश्चाणक्यबटोश्चेतसि बलवान्विकल्पः। ततस्ततः।

विराधगुप्तः—ततश्चाणक्यहतकेनानुकूललग्नवशादर्धरात्रसमये चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशो भविष्यतीति शिल्पिनः पौरांश्च गृहीतार्थान् कृत्वा तस्मिन्नेव क्षणे पर्वतेश्वरभ्रातरं वैरोचकमेकासने चन्द्रगुप्तेन सहोपवेश्य कृतः पृथ्वीराज्यविभागः।

संस्कृत-व्याख्या

परितोषः = सन्तोषः। अफलम् = अविद्यमानं फलमस्मिन्, निष्फलम्। अवगच्छामि = जानामि। बुद्धिमोहात् = मतिभ्रमात्। राजभक्तिप्रकर्षात् = राज्ञि—सर्वार्थसिद्धौ भक्तिप्रकर्षः—अनुरागातिशयः तस्मात्। नियोगकालम् = आदेश—समयम्। अप्रतीक्षमाणेन = प्रतीक्षामकुर्वता। बलवान् = सुदृढः। विकल्पः = संशयः। गृहीतार्थान् = गृहीतः— अवगतः अर्थः = विषयः यैस्तान्।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—(उद्वेग के साथ।) सखे, दुष्ट चाणक्य को सन्तोष कहाँ से? (मैं तो) दारुवर्मा के प्रयत्न को निष्फल अथवा अनिष्ट फल वाला समझता हूँ, जो बुद्धि के अज्ञान से अथवा (सवार्थसिद्धि) राजा के प्रति भक्ति के आधिक्य के कारण आदेश के समय की प्रतीक्षा न करते हुये इसने दुष्ट चाणक्य के चित्त में महान् संशय उत्पन्न कर दिया। उसके पश्चात्।

विराधगुप्त—उसके पश्चात् दुष्ट चाणक्य के अनुकूल लग्न के कारण आधी रात्रि के समय चन्द्रगुप्त का नन्द के राजभवन में प्रवेश होगा, ऐसा शिल्पियों और नागरिकों को सूचित (गृहीतार्थान्) करके उसी क्षण पर्वतेश्वर के भाई वैरोचक को एक आसन पर चन्द्रगुप्त के साथ बैठाकर राज्य की पृथिवी का विभाग कर दिया।

टिप्पणी

(१) **चाणक्यबटोः**—बटु ब्राह्मण के बालक को कहते हैं। यहाँ गाली के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि यहाँ यह एक प्रौढ़ के लिये आया है।

(२) **विकल्पः**—सन्देह।

राक्षसः—किं वातिसृष्टः पर्वतकभ्रात्रे वैरोचकाय पूर्वप्रतिश्रुतो राज्यार्धविभागः।

विराधगुप्तः—अथ किम्।

राक्षसः—(**स्वगतम्**।) नियमतिधूर्तेन चाणक्यबटुना तस्यापि तपस्विनः कमप्युपांशुवधमाकलय्य पर्वतेश्वरविनाशेन जनितमयशः प्रमाष्टुंमेषा लोकप्रसिद्धिरुपचिता। (**प्रकाशम्**।) ततस्ततः।

संस्कृत-व्याख्या

अतिसृष्टः = दत्तः। पूर्वप्रतिश्रुतः = प्राक्प्रतिज्ञातः। उपांशुवधम् = रहस्यहननम्। आकलय्य = अवधार्य। प्रमाष्टुंम् = प्रक्षालनाय। लोकप्रसिद्धिः – लोकेषु प्रसिद्धिः—प्रख्यापना। उपचिता = अभिवर्धिता।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—क्या पर्वतक के भाई वैरोचक को पहले प्रतिज्ञा किये हुये राज्य का आधा भाग दे दिया ?

विराधगुप्त—और क्या ?

राक्षस—(मन ही मन ।) निश्चित रूप से अत्यन्त धूर्त दुष्ट चाणक्य ने उस बेचारे के भी किसी एकान्त वध का विचार करके पर्वतेश्वर की मृत्यु से उत्पन्न अपयश को धोने के लिये यह लोक में प्रसिद्धि फैला दी है। (स्पष्टतः।) उसके बाद।

टिप्पणी

(१) **आकलय्य**—आ + कल् + णिच् + ल्यप् ।

(२) **उपचिता**—अभिवर्धिता = फैला दी। आशय यह है कि राज्य का आधा हिस्सा वैरोचक को दे दिया। यह अफवाह चाणक्य ने जनता में कुछ इस प्रकार से फैलाई है कि जिससे यह पता लगे कि पर्वतक की हत्या के पीछे उसका कोई गुप्त उद्देश्य नहीं है। क्योंकि यदि कोई गुप्त उद्देश्य ही होता तो फिर उसके भाई वैरोचक को आधा राज्य का हिस्सा ही क्यों देता। परन्तु इसके विपरीत राक्षस को अभी तक यह नहीं मालूम है कि जनता में इस प्रकार की अफवाह है कि वह स्वयं पर्वतक को मारने वाला है।

विराधगुप्तः—ततः प्रथममेव प्रकाशिते रात्रौ चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवन-प्रवेशे कृताभिषेके किल वैरोचके विमलमुक्तामणिपरिक्षेपविरचितचित्रपट-मयवारबाणप्रच्छादितशरीरे मणिमयमुकुटनिबिडनियमितरुचिरतरमौली-सुरभिकुसुमदामवैकक्ष्यावभासितविपुलवक्षःस्थले परिचिततमैरप्यनभिज्ञाय-मानाकृतौ चाणक्यहतकादेशाच्चन्द्रगुप्तोपवाह्यां चन्द्रलेखां नामक गजवशामारुह्य चन्द्रगुप्तानुयायिना राजलोकेनानुगम्यमाने देवस्य नन्दस्य भवन प्रविशति वैरोचके, युष्मत्प्रयुक्तेन दारुवर्मणा सूत्रधारेण चन्द्रगुप्तोऽयमिति मत्वा तस्योपरि पातनाय सज्जीकृतं यन्त्रतोरणम् । अत्रान्तरे बहिर्निगृहीतवाहनेषु स्थितेषु चन्द्रगुप्तानुयायिषु नृपेषु युष्मत्प्रप्रयुक्तेनैव चन्द्रगुप्तनिषादिना बर्बरकेण कनक-दण्डिकान्तर्निहितामसिपुत्रिकामाक्रष्टुकामेनावलम्बिता करेण कनकशृङ्खलावल-म्बिनीकनकदण्डिका ।

राक्षसः—उभयोरप्यस्थाने यत्नः ।

संस्कृत-व्याख्या

प्रकाशिते = प्रचारिते । विमलमुक्तामणिपरिक्षेपविरचितचित्रपटमयवारबाण-प्रच्छादितशरीरे = विमलानां मुक्तामणीनां यः परिक्षेपः—मण्डलाकारेण विन्यासः तेन विरचितः—निर्मितः यः चित्रः—नानावर्णः पटः तन्मयो यो वारबाणः—वर्म तेन प्रच्छादितं शरीरं यस्य तादृशे, मणिमयमुकुटनिबिडनियमितरुचिरतरमौली = मणिमयेन मुकुटेन निबिडं यथा स्यात्तथा नियमिताः अतएव रुचिरतराः मौलयः-संयताः कचाः यस्य

तादृशे सति, सुरभिकुसुमदामवैकक्ष्यावभासितविपुलवक्षःस्थले = सुरभि—सुगन्धि यत् कुसुमदाम—पुष्पमाल्यं तस्य वैकक्ष्यम्—उपवीतत्वेन निधानं तेन अवभासितं—शोभितं विपुलं वक्षःस्थलं यस्य तादृशे। परिचिततमैरप्यनभिज्ञायमानाकृतौ = परिचिततमैरपि अनभिज्ञायमाना—अपरिगृह्यमाणा आकृतिः—आकारः यस्य तादृशे। चाणक्यहतकादेशात् = चाणक्यहतकस्य आदेशात्—निदेशात्। चन्द्रगुप्तोपवाह्याम् = चन्द्रगुप्त उपवाह्यः—वहनीयः यस्याः ताम्, चन्द्रगुप्तवाहिनीमित्यर्थः। चन्द्रलेखां नाम गजवशाम् = गजस्य वशा—स्त्री ताम्, हस्तिनीम् इत्यर्थः आरुह्य चन्द्रगुप्तानुयायिना = चन्द्रगुप्तस्य अनुयायिना—अनुगामिना राजलोकेन—नृपजनेन अनुगम्यमाने वैरोचके देवस्य नन्दस्य भवनं प्रविशति। यन्त्रतोरणम् = यन्त्ररूपं तोरणम्, तोरणरूपेण निर्मितं यन्त्रमित्यर्थः। निगृहीतवाहनेषु = निगृहीतानि—नियन्त्रितानि वाहनानि-अश्वादयः येषां तथाविधेषु। [illegible]निषादिना = मौर्यहस्तिपकेन। कनकदण्डिकान्तर्निहिताम् = कनकदण्डिकायाः अन्तः—मध्ये निहिताम्—स्थापिताम्। असिपुत्रिकाम् = छुरिकाम्। [illegible] = बहिर्निःसारणेच्छुना। कनकदण्डिका = स्वर्णयष्टिः।

हिन्दी रूपान्तर

विराधगुप्त—तदनन्तर पहले ही चन्द्रगुप्त के नन्द के राजभवन में प्रविष्ट होने वाली रात्रि के प्रचारित कर देने पर (प्रकाशते), मिथ्या (किल) वैरोचक का अभिषेक कर देने पर, शुभ्र मुक्तामणियों के मण्डलाकार विन्यास से विरचित नाना-वर्ण वाले (चित्र) वस्त्रों वाले कवच से आच्छादित शरीर के होने पर, सुगन्धित पुष्पमाला के यज्ञोपवीत के रूप में धारण करने से सुशोभित विशाल वक्षःस्थल के होने पर, अत्यन्त परिचित व्यक्तियों के द्वारा भी न पहचानी जाती हुई आकृति के होने पर दुष्ट चाणक्य की आज्ञा से चन्द्रगुप्त से चढ़ने योग्य चन्द्रलेखा नाम की हथिनी पर चढ़कर चन्द्रगुप्त का अनुसरण करने वाले राजसमूह के द्वारा अनुसरण किये जाते हुये वैरोचक के महाराज नन्द के राजभवन में प्रवेश करने पर, आपके द्वारा नियुक्त शिल्पी दारुवर्मा ने 'यह चन्द्रगुप्त है' ऐसा मानकर उसके ऊपर गिराने के लिये यन्त्रनिर्मित तोरण तैयार किया। इसी बीच में रोक लिये गये वाहनों वाले चन्द्रगुप्त के अनुयायी राजाओं के बाहर रुक जाने पर, आपके द्वारा नियुक्त किये हुये ही, सोने की म्यान के अन्दर रक्खी गई छुरी को खींचने की इच्छा वाले, चन्द्रगुप्त के महावत वर्वरक ने सोने के सूत्र से लटकती हुई मूंठ को हाथ से पकड़ लिया।

राक्षस—दोनों का ही अनुचित स्थान पर प्रयत्न है।

टिप्पणी

(१) **किल इत्यलोके**—झूठ-मूठ, मिथ्या।

(२) **विमलमुक्तामणि''' इत्यादि**—यह सारा वर्णन केवल यह दिखाने के लिये है कि कोई भी उसको सामान्य रूप से वैरोचक के रूप में नहीं पहिचान पायेगा। इसीलिये तो कहा है कि '**परिचिततमैरपि अनभिज्ञायमानाकृतौ**' अर्थात् परिचित से

परिचित व्यक्ति भी उसको नहीं पहिचान सकता है। इसी से दारुवर्मा भी नहीं पहिचान पाया।

(३) वारबाण: - कवच, वारयति बाणान् इति।

(४) वैकक्ष्यम्—उपवीतत्वेन निधानम्। कन्धों के नीचे से निकालकर यज्ञोपवीत को धारण करने का विधान है। यज्ञोपवीत को धारण कराये जाने वाले संस्कार का नाम 'उपनयन' है।

(५) चन्द्रगुप्तानुयायिना राजलोकेनानुगम्यमाने—ऐसा चाणक्य ने केवल चन्द्रगुप्त का भ्रम उत्पन्न करने के लिये किया है और दारुवर्मा को चन्द्रगुप्त का भ्रम हो गया।

(६) बर्बरक—चन्द्रगुप्त का महावत है। यह राक्षस का अपना व्यक्ति है, इसको चन्द्रगुप्त का गुप्त वध करने के लिये नियुक्त कर रखा था।

(७) अस्थाने—अनुचित स्थान पर। क्योंकि इन दोनों के प्रयत्न का उचित स्थान तो चन्द्रगुप्त था, वैरोचक और बर्बरक नहीं।

विराधगुप्तः—अथ घनाभिघातमुत्प्रेक्षमाणा गजवधूरतिजवनतया गत्यन्तरमारूढवती। प्रथमगत्यनुरोधप्रत्याकलितमुक्तेन प्रभ्रष्टलक्ष्यं पतता यंत्रतोरणेनाकृष्टकृपाणीव्यग्रपाणिरनासादयन्नेव चन्द्रगुप्ताशया वैरोचकं हतस्तपस्वी बर्बरकः। ततो दारुवर्मणा यंत्रतोरणनिपातनादात्मवधमाकलय्य पूर्वमेवोत्तुङ्गतोरणस्थलमारूढेन यन्त्रघट्टनबीजं लोहकीलकमादाय हस्तिनीगत एव हतस्तपस्वी वैरोचकः।

संस्कृत-व्याख्या

अथ-अनन्तरं गजवधूः - हस्तिनी अतिजवनतया—अतिद्रुतधावनाद्धेतोः (स्थितेऽपि इतरेषु द्रुतमेव धावति इति हेतोः धावनवारणाय) घनाभिघातम् = घनं गुरुकम् अभिघातं—दाण्डकाप्रहारम् उत्प्रेक्षमाणा—शङ्कमाना सती (द्रुतं धावामि इति प्रहर्तुमुद्यतोऽयम् शनैश्चेत् नैव प्रहरेत् इति मन्यमाना) गत्यन्तरम्—भिन्नगतिम्, मन्दगमनमित्यर्थः आरूढवती—अवलम्बितवती। प्रथमगत्यनुरोधप्रत्याकलितमुक्तेन = प्रथमा या गतिः-द्रुतगतिरित्यर्थः, तदनुरोधेन प्रत्याकलितं मुक्तञ्च तेन। प्रभ्रष्टलक्ष्यम् = प्रभ्रष्टम्—अतिक्रान्तम् लक्ष्यं तत्र तद् यथा स्यात्तथा। आकृष्टकृपाणीव्यग्रपाणिः = आकृष्टा—निष्कासिता या कृपाणी - छुरिका तस्यां व्यग्र—व्यापृतः पाणिः यस्य तथाविधः। आकलय्य = तर्कयित्वा। उत्तुङ्गतोरणस्थलम् = उच्चैस्तरबहिर्द्वारस्थानम्। यन्त्रघट्टनबीजम् = यन्त्रस्य यत् घट्टनम्—चालनं तस्य बीजं—हेतुभूतम्।

हिन्दी रूपान्तर

विराधगुप्त—इसके बाद हथिनी अत्यन्त तीव्र दौड़ने के कारण (क्योंकि सभी रुक चुके थे) महान् प्रहार की आशङ्का करती हुई भिन्न गति को अर्थात् मन्दगति को (गत्यन्तरम्) प्राप्त हो गई। पहले की (तीव्र) गति के अनुसार पकड़कर छोड़े हुये लक्ष्यभ्रष्ट होकर गिरते हुए यन्त्रयुक्त तोरण से खींची जाती हुई छुरी (कृपाणी) में व्यस्त हाथ वाला चन्द्रगुप्त की आशा से वैरोचक को न प्राप्त करता हुआ ही बेचारा बर्बरक मारा गया। उसके पश्चात् पहले ही ऊँचे तोरण के स्थल पर चढ़े हुये दारुवर्मा ने यन्त्रयुक्त तोरण के गिराने से अपने वध की सम्भावना करके यन्त्र

को चलाने की कारणभूत लोहे की कील को लेकर हथिनी पर ही बैठे हुये बेचारे वैरोचक को मार दिया ।

टिप्पणी

(१) **उत्प्रेक्षमाणा** — इसका शाब्दिक अर्थ है ऊपर देखती हुई अर्थात् आशंका करती हुई ।

(२) **गत्यन्तरम्** —अन्या गतिः अर्थात् हस्तिनी ने भिन्न गति को स्वीकार कर लिया । सामान्यरूप से सम्पूर्ण गद्य भाग की सङ्गति के लिये "गत्यन्तरम्" का अर्थ मन्दगति करना ही उचित है । यदि इस भिन्न गति का तात्पर्य "तीव्रगति" लेंगे तब तो यन्त्रतोरण हस्तिनी के पीछे गिरेगा और महावत को मारने में असमर्थ रहेगा, अतः मन्दगति अर्थ किया गया है ।

(३) **प्रथमगत्यनुरोध**—लक्ष्यभ्रष्ट इसलिये हो गया क्योंकि दारुवर्मा ने अपने यन्त्रतोरण को हस्तिनी की अपनी पूर्वगति के अनुसार गिरने के लिये ठीक कर रक्खा था, परन्तु हस्तिनी की गति मन्द हो गई । परिणामतः यन्त्रतोरण ने वैरोचक को न मार कर वर्वरक को ही मार दिया ।

राक्षसः—कष्टम् अनर्थद्वयमापतितम् । न हतश्चन्द्रगुप्तो हतौ वैरोचक-वर्वरकौ दैवेन । अथ सूत्रधारो दारुवर्मा कथम् ।

विराधगुप्तः—वैरोचकपुरःसरेण पदातिलोकेनैव लोष्टघातं हतः ।

राक्षसः—(सास्रम् ।) कष्टम् । अहो वत्सलेन सुहृदा दारुवर्मणा वियुक्ताः स्मः । अथ तत्रत्येन भिषजा अभयदत्तेन किमनुष्ठितम् ।

विराधगुप्तः—सर्वमनुष्ठितम् ।

राक्षसः—(सहर्षम् ।) किं हतो दुरात्मा चन्द्रगुप्तः ।

विराधगुप्तः—अमात्य, दैवान्न हतः ।

राक्षसः—(सविषादम् ।) तत्किमिदानीं कथयसि सर्वमनुष्ठितमिति ।

संस्कृत व्याख्या

अनर्थद्वयम् = अनिष्टद्वयम् । आपतितम् = सम्प्राप्तम् । पदातिलोकेन = चरण-गमनेन समूहेन । लोष्टघातम् = लोष्टैर्हत्वा । हतः = नाशितः । वत्सलेन = प्रीतिमता । भिषजा = वैद्येन ।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—बड़े कष्ट की बात है । दोनों ही अनर्थ (वर्वरक और वैरोचक की मृत्यु) आ खड़े हुये । चन्द्रगुप्त (तो) मारा नहीं गया (किन्तु) भाग्य ने वैरोचक और वर्वरक को मार दिया । अच्छा, (अथ) शिल्पी दारुवर्मा का क्या हाल है (कथम्) ?

विराधगुप्त—वैरोचक के पीछे चलने वाले पदातिसमूह ने ही पत्थर मार-मार कर मार दिया ।

राक्षस (अश्रुओं के साथ ।) बड़े कष्ट की बात है । अहो, प्रिय मित्र दारुवर्मा से हम वियुक्त हो गये हैं । अच्छा, वहीं रहने वाले वैद्य अभयदत्त ने क्या किया ?

विराधगुप्तः—सब कुछ किया।

राक्षस—(प्रसन्नता के साथ।) क्या दुष्टात्मा चन्द्रगुप्त मारा गया।

विराधगुप्तः—अमात्य, भाग्य से नहीं मारा गया।

राक्षस—(दुःख के साथ।) तो सम्प्रति (यह) क्यों कहते हो (कि) सब कुछ किया।

टिप्पणी

(१) अनर्थद्वयम्—दो अनर्थ अर्थात् वर्वरक और वैरोचक दोनों की मृत्यु।

(२) वैरोचकपुरःसरेण—पुरः-अग्रे सरति-गच्छति इति पुरस् = सृ + ट कर्तरि। वैरोचकः पुरःसरः यस्य तेन।

(३) लोष्टघातं हतः—लोष्टैर्हत्वा। लोष्ट + हन् + णमुल् = "करणे हनः" पा० ३/४/३७ इति हन्तेर्णमुल्। "कषादिषु यथा विध्यनुप्रयोगः" पा० ३/४/४६ के अनुसार हन् धातु का दो बार प्रयोग हुआ है।

विराधगुप्तः—अमात्य, कल्पितमनेन योगचूर्णमिश्रितमौषधं चन्द्रगुप्ताय। तत्प्रत्यक्षीकुर्वता चाणक्यहतकेन कनकभाजने वर्णान्तरमुपलभ्याभिहितश्चन्द्रगुप्तः—'वृषल, सविषमिदमौषधं न पातव्यम्' इति।

राक्षसः—शठः खल्वसौ बटुः। अथ स वैद्यः कथम्।

विराधगुप्तः—तदेवौषधं पायितो मृतश्च।

राक्षसः—(सविषादम्।) अहो महान्विज्ञानराशिरुपरतः। अथ तस्य शयनाधिकृतस्य प्रमोदकस्य किं वृत्तम्।

विराधगुप्तः—यदितरेषाम्।

राक्षसः—(सोद्वेगम्।) कथमिव।

संस्कृत-व्याख्या

योगचूर्णमिश्रितं = योगचूर्णेन मिश्रितं संयुक्तम्। प्रत्यक्षीकुर्वता = निरीक्षमाणेन। कनकभाजने = स्वर्णपात्रे। वर्णान्तरम् अन्यं वर्णम्। उपलभ्य = ज्ञात्वा। विज्ञानराशिः = वैज्ञानिकः। उपरतः = मृतः। शयनाधिकृतस्य = शयने-शयनागारे अधिकृतस्य-नियुक्तस्य, शयनगृहसंस्कारादिना राजप्रलोभनेऽधिकृतस्येत्यर्थः।

हिन्दी रूपान्तर

विराधगुप्त—अमात्य, इस (अभयदत्त) ने योगचूर्ण से मिश्रित औषधि चन्द्रगुप्त के लिये तैयार की। उसका निरीक्षण करते हुये दुष्ट चाणक्य ने सोने के पात्र में परिवर्तित रङ्ग को पाकर चन्द्रगुप्त से कहा—'हे चन्द्रगुप्त, विष से मिश्रित यह औषधि नहीं पीनी चाहिये।

राक्षस—वह ब्राह्मण वस्तुतः (खलु) दुष्ट है। अच्छा, उस वैद्य का क्या हाल है (कथम्)।

विराधगुप्त—उसी औषधि को पिला दिया गया और (वह) मर गया।

राक्षस (दुःख के साथ।) दुःख है (अहो) एक महान् विज्ञान की राशि अर्थात् वैज्ञानिक (विज्ञानराशिः) मर गया। अच्छा, उसके शयनकक्ष के अधिकारी प्रमोदक का क्या समाचार है ?

विराधगुप्त—जो दूसरों का (हुआ)।

राक्षस—(घबराहट के साथ।) कैसे ?

टिप्पणी

(१) **योगचूर्णमिश्रितम्**--जो बिना संदेह के मार डालता है उसे योग कहते हैं। **योगश्चासौ चूर्णश्च**—चूर्ण, जो किसी भी प्रकार की हानि न पहुंचाने वाला प्रतीत होता है परन्तु मार डालता है। **तेन मिश्रितम्**।

(२) **पायितः** = पा + णिच् + क्त कर्मणि।

(३) **उपरतः** = उप + रम् + क्त कर्तरि।

(४) **शयनाधिकृतस्य** शीङ् + ल्युट्—अधिकरणे शयनम्। शयने अधिकृतः तस्य।

(५) **प्रमोदकस्य**—प्रमोदक का। राक्षस का गुप्तचर है, यह चन्द्रगुप्त के शयनकक्ष का अधिकारी था।

(६) **इतरेषाम्**—दूसरों का अर्थात् वैरोचक, ववंरक और अभयदत्त का।

विराधगुप्तः—स खलु मूर्खस्तं युष्माभिरतिसृष्टं महान्तमर्थराशिमवाप्य महता व्ययेनोपभोक्तुमारब्धवान्। ततः कुतोऽयं भूयान्धनागम इति पृच्छयमानो यदा वाक्यभेदान्बहूनगमत्तदा चाणक्यहतकेन विचित्रवधेन व्यापादितः।

राक्षसः—(सोद्वेगम्।) कथमत्रापि दैवेनोपहता वयम्। अथ शयितस्य चन्द्रगुप्तस्य शरीरे प्रहर्तुमस्मत्प्रयुक्तानां राजगृहस्यान्तर्भित्तिसुरङ्गामेत्य प्रथममेव निवसतां बीभत्सकादीनां को वृत्तान्तः।

विराधगुप्तः—अमात्य, दारुणो वृत्तान्तः।

संस्कृत-व्याख्या

अतिसृष्टम् = दत्तम्। अर्थराशिम् = धनसमूहम्। अवाप्य = प्राप्य। धनागमः = अर्थाधिगमः। वाक्यभेदान् = परस्परविरोधीनि वचनानि इत्यर्थः। उपहताः = विनाशिताः। शयितस्य = निद्रितस्य। दारुणः = कठिनः।

हिन्दी रूपान्तर

विराधगुप्त—उस मूर्ख ने आपके द्वारा दी जाती हुई उस महान् धनराशि को प्राप्त करके महान् व्यय के द्वारा उपभोग करना शुरू कर दिया। उसके पश्चात् यह विशाल धन कहाँ से आया, ऐसा पूछा जाता हुआ जब अत्यधिक परस्पर विरोधी वाक्यों को पाया तब दुष्ट चाणक्य ने विचित्रवध के द्वारा मरवा दिया।

राक्षस—(घबराहट के साथ।) क्या इस विषय में भी भाग्य के द्वारा हम मारे गये। अच्छा, सोते हुये चन्द्रगुप्त के शरीर पर प्रहार करने के लिये हमारे द्वारा

नियुक्त राजभवन के अन्दर की दीवार की सुरङ्ग का आश्रय लेकर पहले ही (वहाँ) रहने वाले बीभत्स आदियों का क्या समाचार है ।

विराधगुप्त—अमात्य, कठोर समाचार है ।

टिप्पणी

(१) **बहून् वाक्यभेदानगमत्**—अर्थात् विभिन्न समयों में विभिन्न उत्तर दिये।

(२) **विचित्रवधेनः**—विशेषेण चित्रः विचित्रः वधः अर्थात् क्रूरमृत्यु से, यथा—हाथी के पैर से बाँध देना इत्यादि ।

राक्षसः—(सावेगम् ।) कथं दारुणो वृत्तान्तः । न खलु विदितास्ते तत्र निवसन्तश्चाणक्यहतकेन ।

विराधगुप्तः—अमात्य, अथ किम् । प्राक् चन्द्रगुप्तप्रवेशाच्छयनगृहं प्रविष्टमात्रेणैव निपुणमवलोकयता दुरात्मना चाणक्यहतकेन कस्माच्चिद्भित्तिच्छिद्राद्गृहीतभक्तावयवां निष्क्रामतीं पिपीलिकापंक्तिमवलोक्य पुरुषगर्भमेतद् गृहमिति गृहीतार्थेन दाहितं तच्छयनगृहम् । तस्मिंश्च दह्यमाने धूमावरुद्धदृष्टयः प्रथमपिहितनिर्गमनमार्गमनधिगम्य द्वारं सर्व एव बीभत्सादयो ज्वलनमुपगम्य तत्रैव नष्टाः ।

संस्कृत-व्याख्या

गृहीतभक्तावयवाम् = गृहीताः भक्तानाम् = अन्नानाम् अवयवाः = कणाः यया ताम्, अन्नकणवाहिनीम् इत्यर्थः । निष्क्रामन्तीम् = निर्गच्छन्तीम् । पुरुषगर्भम् = पुरुषाः गर्भे यस्य तादृशम्, पुरुषयुक्तम् । गृहीतार्थेन = गृहीतः—विज्ञातः अर्थः-तत्त्वं येन तादृशेन । दाहितम् = भस्मसात्कृतम् । धूमावरुद्धदृष्टयः = धूमेन अवरुद्धा दृष्टिः चक्षुः येषां तथाविधाः । प्रथमपिहितनिर्गमनमार्गम् = प्रथमं-पूर्वमेव पिहितः-निरुद्धः यः निर्गमनमार्गः—निष्क्रमणपथः तम् । अनधिगम्य = अप्राप्य । ज्वलनम् = अग्निम् । उपगम्य = प्राप्य ।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—(आवेग के साथ ।) कैसा कठोर समाचार है । वहाँ रहते हुये वे दुष्ट चाणक्य के द्वारा जाने तो नहीं गये ।

विराधगुप्त अमात्य, और क्या ? चन्द्रगुप्त के प्रवेश करने से पूर्व शयनागार में प्रविष्ट होते ही ध्यानपूर्वक देखते हुये दुष्टात्मा दुष्ट चाणक्य ने किसी दीवार के छिद्र से अन्न के कणों को लिये हुये बाहर निकलती हुई चींटियों की पंक्ति को देखकर पुरुषों से युक्त यह घर है—ऐसा समझते हुये ने (गृहीतार्थेन) उस शयनगृह को जलवा दिया । उस (शयनगृह) के जलने पर धूम से अवरुद्ध दृष्टि वाले पहले बन्द किये हुये निकलने के मार्ग वाले द्वार को न प्राप्त करके सभी बीभत्सादि जलने को प्राप्त करके (अर्थात् जलकर) वहीं नष्ट हो गये ।

टिप्पणी

(१) **प्रथमपिहितनिर्गमनमार्गम्**—चाणक्य ने बाहर निकलने के मार्ग को पहले ही बन्द करवा दिया था ।

राक्षसः—(सास्रम् ।) कष्टं भोः, कष्टम् । सखे, पश्य दैवसंपदं दुरात्मनश्चन्द्रगुप्तहतकस्य । कुतः ।

कन्या तस्य वधाय या विषमयी गूढं प्रयुक्ता मया
दैवातपर्वतकस्तया स निहतो यस्तस्य राज्यार्धहृत् ।
ये शस्त्रेषु रसेषु च प्रणिहितास्तैरेव ते घातिता
मौर्यस्यैव फलन्ति पश्य विविधश्रेयांसि मन्नीतयः ॥१६॥

संस्कृत-व्याख्या

दैवसम्पदम् = भाग्यसम्पत्तिम् ।

अन्वयः—कन्येति—मया तस्य वधाय या विषमयी कन्या गूढं प्रयुक्ता तया दैवात् सः पर्वतकः निहतः यः तस्य राज्यार्धहृत् । ये शस्त्रेषु रसेषु च प्रणिहिताः ते तैरेव घातिताः, पश्य, मन्नीतयः मौर्यस्यैव विविधश्रेयांसि फलन्ति ॥१६॥

व्याख्या—मया तस्य-चन्द्रगुप्तस्य वधाय-हननाय या विषमयी कन्या गूढम्—अन्यैरनुपलक्षितं प्रयुक्ता-प्रेषिता तया विषकन्यया दैवात्-दुर्भाग्यवशात् सः पर्वतकः—मलयकेतोः पिता निहतः-व्यापादितः यः तस्य-चन्द्रगुप्तस्य राज्यार्धहृत्-अर्धराज्यभाक् (आसीत्) । ये दारुवर्मादयः शस्त्रेषु-अस्त्रप्रयोगविषयेषु रसेषु च-विषेषु च प्रणिहिताः—व्यापारिताः (मया) ते तैः-शस्त्रविषादिभिः एव घातिताः-विनाशिताः, पश्य-विभावय मन्नीतयः-मदीयाः प्रयोगाः मौर्यस्य एव (न तु मम) विविधश्रेयांसि-प्रभूतानि मङ्गलानि फलन्ति-जनयन्ति ॥१६॥

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—(अश्रुओं के साथ ।) कष्ट है, भो ! कष्ट है । हे मित्र दुष्टात्मा दुष्ट चन्द्रगुप्त की भाग्यसम्पत्ति को देखो । क्योंकि ।

श्लोक (१६) अर्थ—मैंने उस (चन्द्रगुप्त) के वध के लिये जो विषमयी कन्या प्रच्छन्न रूप से (गूढम्) प्रयुक्त की थी उससे दुर्भाग्यवश वह प्रसिद्ध (सः) प्रवंतक मारा गया, जो उस (चन्द्रगुप्त) के आधे राज्य का भागी था । जो (मनुष्य मेरे द्वारा) शस्त्र का प्रयोग करने के विषय में और विष का प्रयोग करने के विषय में नियुक्त किये गये थे, वे (मनुष्य अर्थात् वर्वरक, दारुवमंन्, अभयदत्त, प्रमोदक और बीभत्सक) उन्हीं से (अर्थात् शस्त्रों से और विष से) मारे गये । (हे मित्र !) देखो, (मौर्य को नष्ट करने के लिये प्रयुक्त) मेरी नीतियाँ मौर्य के लिये ही (मेरे लिये नहीं) अनेक प्रकार के कल्याणों को प्रतिपादित करती हैं ।

टिप्पणी

(१) **दैवसम्पदम्**—सम + पद् + क्विप्, भावे सम्पद् = समृद्धि, दैवस्य सम्पद ताम् ।

(२) **विषमयी**—विष + मयट् ।

(३) **रसेषु**—विषेषु = यहाँ रस शब्द विष अर्थ का वाचक है ।

(४) **प्रणिहिताः**—प्र + नि + धा + क्त कर्मणि **नेर्गदनदपतपदघुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशाम्यतिचिनोतिदेग्धिषु च**" पा० ८/४/१७ इति णत्वम् = प्रणिहिताः ।

(५) तैरेव—उन्हीं से अर्थात् शस्त्रों और रसों से।

(६) ते घातिताः—"ते" का तात्पर्य—वर्वरक-दारुवर्मा-अभयदत्त-प्रमोदक और वीभत्सक-से है। इनमें से वर्वरक तो दारुवर्मा के द्वारा यन्त्रतोरण से मारा गया था। दारुवर्मा को मौर्य चन्द्रगुप्त के अनुयायी पदाति समूह ने पत्थर मार-मार कर मार दिया था, जो वैरोचक को चन्द्रगुप्त समझ रहे थे। शेष चाणक्य के हाथों मारे गये थे। घातिताः—हन् + णिच् + क्त कर्मणि।

(७) मौर्यस्यैव फलन्ति पश्य विविधश्रेयांसि मन्नीतयः—राक्षस के कहने का आशय यह है कि बीज तो मैं बोता हूँ और उसके फल का उपभोग शत्रु करते है। इसमें इसके अतिरिक्त और कुछ नही है कि मेरा दुर्भाग्य है और शत्रुओं का सौभाग्य है।

विराधगुप्तः—अमात्य, तथापि खलु प्रारब्धमपरित्याज्यमेव। पश्य।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥१७॥

संस्कृत-व्याख्या

प्रारब्धम् = प्रक्रान्तम्। अपरित्याज्यम् = परित्यक्तुमयोग्यम्।

अन्वयः—प्रारम्यत इति—विघ्नभयेन नीचैः न खलु प्रारभ्यते, मध्याः प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति। उत्तमगुणाः विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारब्धं न परित्यजन्ति ॥१७॥

व्याख्या—विघ्नभयेन-विपत्तिशङ्कया नीचैः-क्षुद्रैः (जनैः) न खलु-नैव प्रारभ्यते-कार्यं प्रस्तूयते, मध्याः-मध्यमाः, प्रारभ्य विघ्नविहिता = विघ्नैः विहताः-बाधिताः सन्तः विरमन्ति-प्रारब्धं त्यजन्तीत्यर्थः। उत्तमगुणाः = उत्तमाः गुणाः येषां ते, महापुरुषाः विघ्नैः-अन्तरायैः पुनः पुनः-बारं बारम् अपि प्रतिहन्यमानाः-बाध्यमानाः प्रारब्धम् उपक्रान्तं न परित्यजन्ति। १७॥

हिन्दी रूपान्तर

विराधगुप्त—अमात्य, पुनरपि प्रारम्भ किये हुये (कार्य) को नहीं छोड़ना चाहिये। देखिये।

श्लोक (१७) अर्थ-विघ्नों के भय से, नीच (मनुष्यों) द्वारा (कोई काम) प्रारम्भ (ही) नहीं किया जाता है, मध्यम (पुरुष) प्रारम्भ करके विघ्नों से नष्ट किये जाते हुये (बीच में) रुक जाते हैं। किन्तु उत्तम गुणों वाले (पुरुष) विघ्नों से पौनःपुन्येन पीड़ित किये जाते हुये भी प्रारम्भ किये हुये (कार्य) को नहीं छोड़ते ॥१७॥

टिप्पणी

(१) अपरित्याज्यम्-परित्यक्तुमयोग्यम्। परि + त्यज् + ण्यत् = परित्याज्यम् "ण्यत्प्रकरणे त्यजेरुपसंख्यानम्" इति भाष्यवचनात् जकारस्य कुत्वाभावः न, परित्याज्यम् = अपरित्याज्यम्।

२ विरमन्ति—"व्याङ्परिभ्यो रमः" पा० १/३/८३ परस्मैपदम् ।

(३) उक्त श्लोक धनञ्जय कृत "दशरूपकम्" में भर्तृहरि के नाम से उद्धृत है । १८ वां श्लोक भर्तृहरि-प्रणीत **नीतिशतकम्** में उपलब्ध होता है । ये दोनों ही श्लोक संस्कृत-साहित्य में सुप्रसिद्ध हैं ।

अपि च—

किं शेषस्य भरव्यथा न वपुषि क्ष्मां न क्षिपत्येष यत्
किं वा नास्ति परिश्रमो दिनपतेरास्ते न यन्निश्चलः ।
किंत्वङ्गीकृतमुत्सृजन्कृपणवच्छ्लाघ्यो जनो लज्जते
निर्व्यूढं प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतद्धि गोत्रव्रतम् ॥१८॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—किं शेषस्येति—शेषस्य वपुषि किम् भरव्यथा न यत् क्ष्माम् एषः न क्षिपति वा किम् दिनपतेः परिश्रमः नास्ति यत् निश्चलः न आस्ते । किन्तु श्लाघ्यो जनः अङ्गीकृतम् कृपणवत् उत्सृजन् लज्जते हि प्रतिपन्नवस्तुषु निर्व्यूढम् एतत् सताम् गोत्रव्रतम् ॥१८॥

व्याख्या—शेषस्य-अनन्तनागस्य वपुषि–शरीरे किं भरव्यथा-भूभारवहनजनित-क्लेशः न (भवति) यत्-यस्मात्-क्ष्मां-पृथिवीं न क्षिपति-न त्यजति (अपितु भवत्येव), वा-अथवा किं दिनपतेः-सूर्यस्य परिश्रमः नास्ति यत् निश्चलः क्रियाशून्यः न आस्ते-न तिष्ठति (अपितु अस्त्येव) । किन्तु-परन्तु श्लाघ्यः-प्रशंनीयचरितो जनः (शेष इव सूर्य इव) अङ्गीकृतं-स्वीकृतं कृपणवत्-कापुरुष इव उत्सृजन्-परित्यजन् लज्जते–जिह्रेति हि-यतः प्रतिपन्नवस्तुषु–अङ्गीकृतविषयेषु निर्व्यूढं-निर्वाहः (यथापूर्वं समापनम्) एतत् सतां-साधूनाम् गोत्रव्रतम् कुलधर्मः ॥१८॥

हिन्दी रूपान्तर

और भी ।

श्लोक (१८) **अर्थ**—शेषनाग के शरीर में क्या (पृथिवी के) भार को (वहन करने से उत्पन्न) पीड़ा नहीं होती है, जिससे यह (शेषनाग) पृथ्वी को (अपने सिर से) नहीं फैंक देता है (अर्थात् होती ही है), अथवा क्या सूर्य को थकान (का अनुभव) नहीं होता है, जिससे गतिशून्य होकर नहीं बैठ जाता (अर्थात् होती है) । किन्तु (शेषनाग के समान अथवा सूर्य के समान) प्रशंसनीय मनुष्य स्वीकार किये हुये (कार्य) को कायर मनुष्य के समान (कृपणवत्) छोड़ता हुआ लज्जित होता है क्योंकि (ही) स्वीकार किये हुयें कार्यों के विषय में निर्वाह करना (निर्व्यूढम्), यह सज्जनों का कुलधर्म है ॥१८॥

टिप्पणी

(१) **शेषस्य**—पाताल में रहने वाले सर्पों का अधिपति है । पौराणिकों के अनुसार इसके सिर पर पृथिवी टिकी हुई है ।

(२) **परिश्रमो दिनपतेः**—यहाँ सूर्य की वास्तविक गति का वर्णन है । यद्यपि हम जानते हैं कि सूर्य केवल गति करता हुआ प्रतीत होता है । इस सूर्य की गति का कारण पृथिवी की गति है ।

(३) उत्सर्जन्—उद् + सृज् + शतृ ।
(४) निर्व्यूढम्—निर्वाहः, भावे क्त प्रत्ययः । निर् + वि + वह् + क्त ।

राक्षसः—सखे, प्रारब्धमपरित्याज्यमिति प्रत्यक्षमेवैतद्भवताम् । ततस्ततः।

विराधगुप्तः-ततःप्रभृति चन्द्रगुप्तशरीरे सहस्रगुणमप्रमत्तश्चाणक्यहतक एभ्य एतदीदृशं भवतीत्यन्विष्य निगृहीतवान्पुरनिवासिनो युष्मदीयानाप्तपुरुषान्।

राक्षसः—(सोद्वेगम् ।) कथय कथय के के निगृहीताः ।

विराधगुप्तः—प्रथमं तावत्क्षपणको जीवसिद्धिः सनिकारं नगरान्निर्वासितः ।

राक्षसः—(स्वगतम् ।) एतावत्सह्यम् । न निष्परिग्रहं स्थानभ्रंशः पीडयिष्यति । (प्रकाशम् ।) वयस्य, कमपराधमुद्दिश्य निर्वासितः

विराधगुप्तः—एष राक्षसप्रयुक्तया विषकन्यया पर्वतेश्वरं व्यापादितवानिति ।

राक्षसः—(स्वगतम् ।) साधु कौटिल्य साधु ।

परिहृतमयशः पातितमस्मासु च घातितोऽर्धराज्यहरः ।
एकमपि नीतिबीजं बहुफलतामेति यस्य तव ॥१६॥

संस्कृत-व्याख्या

सहस्रगुणम्=सहस्रं गुणाः यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा । अप्रमत्तः=सावधानः । आप्तपुरुषान्=विश्वस्तजनान् । सनिकारं=सतिरस्कारम् । सह्यम्=सहनीयम । निष्परिग्रहम्=परिवारशून्यम् । स्थानभ्रंशः=गृहत्यागः । पीडयिष्यति=दुःखाकरिष्यन्ति ।

अन्वयः—परिहृतमिति—अर्धराज्यहरः घातितः, अयशः परिहृतम्, अस्मासु च पातितम् । यस्य तव एकमपि नीतिबीजम् बहुफलताम् एति ॥१६॥

व्याख्याः—अर्धराज्यहरः-अर्धराज्यं यः हरति तादृशः (पर्वतेश्वरः) घातितः-व्यापादितः, (पर्वतेश्वरवधजनितम्) अयशः परिहृतम्-दूरीकृतम्, (तद् अयशः) अस्मासु च पातितम् आरोपितम् । यस्य तव एकमपि नीतिबीजम् (क्षपणकनिर्वासनरूपम्) बहुफलताम्-बहूनि फलानि यस्य तथाविधत्वम् (पूर्वोक्तफलत्रयाधायकतामित्यर्थः) एति-प्राप्नोति ॥१६॥

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस- मित्र, प्रारम्भ किये हुये (कार्य) को नहीं छोड़ना चाहिये वह (इति) तो आपके प्रत्यक्ष ही है । उसके पश्चात् ।

विराधगुप्त—तब से लेकर चन्द्रगुप्त के शरीर (की रक्षा) के विषय में हजार गुने सावधान दुष्ट चाणक्य ने "इन (व्यक्तियों) से यह (कार्य) ऐसा होता है"

ऐसा मानकर (इति) कुसुमपुर में रहने वाले आपने विश्वस्त पुरुषों को खोजकर कैद कर लिया।

राक्षस—(घबराहट के साथ।) बताओ, बताओ कौन-कौन कैद कर लिये गये?

विराधगुप्त—सबसे पहले तो क्षपणक जीवसिद्धि अपमान के साथ नगर से निर्वासित कर दिया गया।

राक्षस—(मन ही मन।) इतना तो सह्य है। परिवार रहित (निष्परिग्रहम्) स्थान से भ्रष्ट हुआ दुःखित नहीं होगा! (स्पष्टतः।) मित्र, किस अपराध को लक्ष्य करके निर्वासित कर दिया।

विराधगुप्त—इसने राक्षस द्वारा प्रयुक्त विषकन्या के द्वारा पर्वतेश्वर को मरवा दिया।

राक्षस—(मन ही मन।) बहुत अच्छा चाणक्य, बहुत अच्छा।

श्लोक (१९) अर्थ—आधे राज्य का अपहरण करने वाला (पर्वतेश्वर) मार दिया, (उससे उत्पन्न) अपकीर्ति को (जीवसिद्धि को निकालकर) दूर कर दिया और (वह कलङ्क) हमारे ऊपर आरोपित कर दिया, जिससे तुम्हारा एक भी नीति रूपी बीज अनेक प्रकार के फलों को प्राप्त होता है ॥१९॥

टिप्पणी

(१) प्रत्यक्षमेवैतत्—राक्षस विराधगुप्त से कह रहा है कि यह तो तुम प्रत्यक्ष ही देख रहे हो कि जिस कार्य को मैंने अपने हाथ में लिया है, उसको छोड़ नहीं रहा हूँ। प्रत्यक्षम्—अक्षाणि प्रतिगतम् प्रत्यक्षम्।

(२) युष्मदीयान्—युष्माकम् इमे इति युष्मद्+छ।

(३) सह्यम्—"शकिसहोश्च" पा० ३/१/९९ इति यत्।

(४) न निष्परिग्रहं स्थानभ्रंशः पीडयिष्यति—राक्षस सोचता है कि जीवसिद्धि का अपना कोई परिवार नहीं है, वह संन्यासी है। उसको यदि निर्वासन का दण्ड दे दिया तो कोई बात नहीं क्योंकि संन्यासी व्यक्ति को तो वैसे भी एक स्थान पर अधिक दिन नहीं रहना चाहिये। अतः इतना तक तो सहा जा सकता है। यहाँ "परिग्रह" से तात्पर्य पत्नी, परिवार और सम्पत्ति से है।

(५) बहुफलताम्—अनेक प्रकार के फलों को। ये अनेक प्रकार के फल तीन हैं—(१) अर्धराज्यहरः घातितः (२) अयशः परिहृतम् और (३) अयशः अस्मासु पातितम्।

(प्रकाशम्।) ततस्ततः।

विराधगुप्तः—ततश्चन्द्रगुप्तशरीरमभिद्रोग्धुमनेन व्यापारिता दारुवर्मादय इति नगरे प्रख्याप्य शकटदासः शूलमारोपितः।

राक्षसः—(सास्रम्।) हा सखे, शकटदास, अयुक्तरूपस्तवायमीदृशो मृत्युः। अथवा स्वाम्यर्थमुपरतो न शोच्यस्त्वम्। वयमेवात्र शोच्या ये नन्दकुलविनाशेऽपि जीवितुमिच्छामः।

विराधगुप्तः—अमात्य, स्वाम्यर्थ एव साधयितव्य इति प्रयतसे।

राक्षसः—सखे;

अस्माभिरमुमेवार्थमालम्ब्य न जिजीविषाम् ।
परलोकगतो देवः कृतघ्नैर्नानुगम्यते ।।२०।।

संस्कृत-व्याख्या

अभिद्रोग्धुम्=अभिजिघांसितुम् । व्यापारिताः=नियोजिताः । प्रख्याप्य=उद्घोष्य । अयुक्तरूपः=अतिशयेन अयुक्तः । उपरतः=मृतः । साधयितव्यः=सम्पादयितव्यः ।

अन्वयः—अस्माभिरिति—अमुम् अर्थम् एव अवलम्ब्य जिजीविषाम् न (अवलम्ब्य) कृतघ्नैः अस्माभिः परलोकगतः देवः न अनुगम्यते ।।२०।।

व्याख्या—अमुं-भवदुक्तम् (स्वाम्यर्थसाधनरूपम्) अर्थं-स्वामिकार्यम् एव अवलम्ब्य-आश्रित्य जिजीविषाम्-जीवनेच्छाम् (अवलम्ब्य) न, कृतघ्नैः-अकृतज्ञैः अस्माभिः परलोकगतः-लोकान्तरं गतः देवः-स्वामी नन्दः न अनुगम्यते-न अनुस्रियते ।।२०।।

हिन्दी रूपान्तर

(स्पष्टतः ।) उसके पश्चात् ।

विराधगुप्त—इसके बाद चन्द्रगुप्त के शरीर को विनष्ट करने के लिये इस (शकटदास) ने दारुवर्मा आदियों को नियुक्त किया—ऐसी नगर में घोषणा करके शकटदास को शूली पर चढ़ा दिया ।

राक्षस—(अश्रुओं सहित ।) हे मित्र, शकटदास, तुम्हारे लिये यह इसप्रकार की मृत्यु सर्वथा अनुचित है । अथवा स्वामी के लिये मृत्यु को प्राप्त हुये तुम शोक करने योग्य नहीं हो । हम ही इस विषय में शोक करने योग्य हैं, जो नन्दवंश के नष्ट हो जाने पर भी जीना चाहते हैं ।

विराधगुप्त—अमात्य, "स्वामी का प्रयोजन सिद्ध करना चाहिये" इसीलिये ही प्रयत्न किया जा रहा है ।

राक्षस—हे मित्र,

श्लोक (२०) अर्थ—उस (अर्थात् तुम्हारे द्वारा कहे हुये स्वामी के) कार्य का ही आश्रय लेकर जीने की इच्छा का (आश्रय लेकर) नहीं—अकृतज्ञ हमारे द्वारा स्वर्ग में गये हुये स्वामी नन्द अनुसरण नहीं किये जाते हैं । [कहने का आशय यह है कि जीवित रहकर स्वामी के प्रयोजन को सिद्ध करूं, इसलिये जी रहा हूँ, इसलिये नहीं कि मुझे जीवन प्रिय है ।] ।।२०।।

टिप्पणी

(१) शकटदासः शूलमारोपितः—विराधगुप्त शकटदास के छूट जाने से अनभिज्ञ है क्योंकि उसने पहले ही कुसुमपुर छोड़ दिया है ।

(२) अयुक्तरूपः—सर्वथा अनुचित है । "प्रशंसायां रूपप्" पा० ५/३/६६ अतिशयेन अयुक्तः इति अयुक्त + रूपप् ।

(३) जिजीविषाम्—जीवितुमिच्छा इति जीव + सन् + अ भावे जिजीविषा, ताम् ।

(४) कृतघ्नैः—कृतं घ्नन्ति इति व्युत्पत्या "मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम" (वार्तिक) इति क प्रत्ययः, कृत + हन् + क = कृतघ्नाः तैः ।
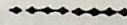
कथ्यतामपरस्यापि सुहृद्व्यसनस्य श्रवणे सज्जोऽस्मि ।

विराधगुप्तः—एतदुपलभ्य चन्दनदासेनापवाहितममात्यकलत्रम् ।

राक्षसः—क्रूरस्य चाणक्यबटोर्विरुद्धमयुक्तमनुष्ठितं तेन ।

विराधगुप्तः—अमात्य, नन्वयुक्ततरः सुहृद्द्रोहः ।

राक्षसः—ततस्ततः ।

विराधगुप्तः—ततो याच्यमानेन न समर्पितममात्यकलत्रं यदा तदाऽतिकुपि-तेन चाणक्यबटुना—

राक्षसः—(सोद्वेगम् ।) न खलु व्यापादितः ।

विराधगुप्तः—न हि । गृहीतगृहसारः सपुत्रकलत्रो बन्धनागारे निक्षिप्तः ।

राक्षसः—तत्किं परितुष्टः कथयसि अपवाहितं राक्षसकलत्रमिति । ननु वक्तव्यं संयमितः सपुत्रकलत्रो राक्षस इति ।

(प्रविश्य ।)

पुरुषः—जेदु अमच्चो एसो क्खु सअडदासो पडिआरभूमिं उवट्ठिदो । जयतु अमात्यः । एष खलु शकटदासः प्रतिहारभूमिमुपस्थितः ।

राक्षसः—भद्र, अपि सत्यम् ।

पुरुषः—किं अलिअं अमच्चपादेसु विणिवेदेमि । किमलोकममात्यपादेषु विनिवेदयामि ।

राक्षसः—सखे विराधगुप्त, कथमेतत् ।

विराधगुप्तः—अमात्य, स्यादेतदेवं यतो भव्यं रक्षति भवितव्यता ।

संस्कृत-व्याख्या

सुहृद्व्यसनस्य = मित्रदुःखस्य । सज्जोऽस्मि = तत्परोऽस्मि । एतदुपलभ्य = एतद्-शूलारोपणार्थं ग्रहणम् उपलभ्य—ज्ञात्वा । अपवाहितम् = स्थानान्तरं प्रापितम् । गृहीतगृहसारः—आदत्तगृहस्थितसकलधनः । बन्धनागारे = कारागृहे । प्रतिहारभूमिम् = द्वारदेशम् । अलीकम् = मिथ्या । भव्यं = सौभाग्यशालिनम् । भवितव्यता = भाग्यम् ।

हिन्दी रूपान्तर

कहो दूसरे भी मित्र की आपत्ति को सुनने के लिये तैयार हूँ ।

विराधगुप्त—ऐसा (शूली पर चढ़ाने के लिये पकड़ा जाना) जानकर चन्दन-दास ने आपके परिवार को हटा दिया ।

राक्षस—क्रूर दुष्ट चाणक्य के विरुद्ध उसने (यह) अनुचित (कार्य) किया ।

विराधगुप्त—अमात्य मित्रद्रोह तो और भी बुरा होता।

राक्षस—उसके पश्चात्।

विराधगुप्त—तदनन्तर माँगे जाते हुये (उस चन्दनदास) ने जब अमात्य परिवार समर्पित नहीं किया तब अत्यन्त कुपित दुष्ट चाणक्य ने—

राक्षस—(घबराहट के साथ।) मार तो नहीं दिया।

विराधगुप्त—नहीं। ले ली गई हुई घर की सम्पूर्ण सम्पत्ति वाला पुत्र और पत्नी सहित कारागार में डाल दिया।

राक्षस—तो क्यों सन्तुष्ट हुये कर रहे हो (कि) राक्षस का परिवार दूर कर दिया। वस्तुतः यह कहना चाहिये (कि) पुत्र और पत्नी सहित राक्षस को कैद कर लिया।

(प्रवेश करके।)

पुरुष—आपकी विजय हो। यह शकटदास द्वार पर उपस्थित है।

राक्षस—भद्र, क्या (यह) सत्य है ?

पुरुष—क्या अमात्य के चरणों में मिथ्या निवेदन करूँगा ?

राक्षस—मित्र विराधगुप्त, यह कैसे ?

विराधगुप्त—अमात्य सम्भवतः यह ऐसा हो, क्योंकि भवितव्यता (भाग्य) भव्य (सौभाग्यशाली) की रक्षा करती है।

टिप्पणी

(१) **कथ्यतामपरस्यापि**—यहाँ राक्षस की धीरता और महान् विघ्न होने पर भी अकातरता प्रकट होती है।

(२) **अपवाहितम्**—अप + वह् + णिच् + क्त कर्मणि।

(३) **सुहृद्द्रोहः**—शोभनं हृदयमस्य इति सुहृत् "**सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः**" पा० ५/४/१५०, तस्मै द्रोहः। यह द्रोह इसप्रकार का है कि राक्षस की पत्नी को चाणक्य के हाथों में सौंप देना, जिससे उनको दण्ड मिल सके। कहा भी—

मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य स्त्रीघ्नस्य पिशुनस्य च।
चतुर्णां वयमेतेषां निष्कृतिं नैव शुश्रुमः॥ (व्यास)

(४) **ननु वक्तव्यम**—वस्तुतः राक्षसः यह कहना चाहता है कि मैं अपने में और चन्दनदास में कोई अन्तर नहीं समझता हूँ। इसलिये यदि उसको कैद कर लिया गया तो मैं समझता हूँ कि मैं भी पकड़ लिया गया हूँ।

(५) **शकटदास**—प्रियंवदक राक्षस का पुराना नौकर था, जो शकटदास से खूब परिचित है, इसलिये वह नाम्ना उसके आने की सूचना देता है।

(६) **स्यात्**—सम्भावनायां लिङ्।

(७) **भव्यम्**—भवति इति भू + यत् "**भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा**" पा० ३/४/६८ से निपातनात् कर्त्ता में सिद्ध है।

(८) **भवितव्यता**—भाग्य, भू + तव्यत्—भवितव्यम् तस्य भावः = भविष्य में जीवन में जो कुछ भी अनिवार्य रूप से घटित होना होता है, उसे भवितव्यता कहा गया है।

राक्षसः—प्रियंवदक, किमद्यापि चिरयसि । क्षिप्रं प्रवेशयैनम् ।

पुरुषः—तथा । (इति निष्क्रान्तः ।)

(प्रविष्टः सिद्धार्थकः शकटदासश्च ।)

शकटदासः—(स्वगतम् ।)

दृष्ट्वा मौर्यमिव प्रतिष्ठितपदं शूलं धरित्र्याः स्थले
तल्लक्ष्मीमिव चेतनाप्रमथिनी मूर्धावबद्धस्रजम् ।
श्रुत्वा स्वाम्यपरोपरौद्रविषमानाघाततूर्यस्वना-
न्न ध्वस्तं प्रथमाभिघातकठिनं यत्तन्मदीयं मनः ।।२१।।

संस्कृत-व्याख्या

चिरयसि = विलम्बसे ।

अन्वयः—दृष्ट्वेति—प्रतिष्ठितपदं मौर्यमिव प्रतिष्ठितपदं शूलं धरित्र्याः स्थले दृष्ट्वा तल्लक्ष्मीमिव चेतनाप्रमथिनीं मूर्धावबद्धस्रजम् (दृष्ट्वा), स्वाम्यपरोपरौद्रविषमान् आघाततूर्यस्वनान् श्रुत्वा, यत् मदीयं मनः प्रथमाभिघातकठिनं तत् न ध्वस्तम् ।।२१।।

व्याख्या—प्रतिष्ठितपदं—लब्धप्रतिष्ठं मौर्यं—चन्द्रगुप्तमिव प्रतिष्ठितपदं—स्थापितमूलं शूलं धरित्र्याः स्थले—भूमौ दृष्ट्वा, तल्लक्ष्मीमिव = तस्य-चन्द्रगुप्तस्य लक्ष्मीं—श्रियमिव चेतनाप्रमथिनीम् = चेतनायाः-सञ्ज्ञायाः प्रमथिनीं—विलोपिनीम् मूर्धावबद्धस्रजम्—मूर्ध्नि-शिरसि अवबद्धस्रजम् - पिनद्धस्रजम् (दृष्ट्वा), स्वाम्यपरोपरौद्रविषमान् = स्वामिनां—नन्दानाम् अपरोपः—राज्यभ्रंशः तद्वत् रौद्रविषमान् — असह्यान् आघाततूर्यस्वनान् = आघातस्य-विनाशस्य तूर्यस्वनः पटहध्वनयः तान् श्रुत्वा-आकर्ण्य यत्—यस्मात् मदीयं मनः—चित्तं प्रथमाभिघातकठिनम् = प्रथमाभिघातेन—पूर्वानुभूतानर्थपरम्परासहनेन कठिनम् (अभूत्) तत्— तस्मात् न. ध्वस्तम्—भग्नम् ।।२१।।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—प्रियंवदक, क्यों अब भी देर कर रहे हो ? इसको (शकटदास) शीघ्र प्रविष्ट कराओ ।

पुरुष—जो आज्ञा । (ऐसा कहकर निकल गया ।)

(सिद्धार्थक और शकटदास प्रविष्ट होते हैं ।)

शकटदास—(मन ही मन ।)

श्लोक (२१) अर्थ—स्थिर चरणों वाले (प्रतिष्ठितपदम्) मौर्य के समान बद्धमूल (प्रतिष्ठितपदम्) शूली को पृथिवी पर देखकर, उस (मौर्य) की लक्ष्मी के समान चेतना को विनष्ट कर देने वाली सिर पर बँधी हुई माला को (देखकर), स्वामी (नन्दों) के राज्यभ्रंश के समान (अपरोप) असह्य (रौद्रविषमान्) विनाश के वाद्यों की ध्वनियों को सुनकर क्योंकि (यत्) मेरा हृदय (मनः) पूर्व अनुभव की हुई अनर्थ परम्पराओं को सहने के कारण कठिन हो गया था, इसलिये (तत्) ध्वस्त नहीं हुआ ।।२१।।

टिप्पणी

(१) **चिरयसि**—चिरं करोषि इति चिर् + णिच् (नामधातु) + सिप।

(२) **प्रतिष्ठितपदम्**—उभय पदों के साथ लगेगा—प्रतिष्ठितपद मौर्यम् इव और प्रतिष्ठितपदं शूलम्। अर्थ होगा—(१) स्थिर चरणों वाले मौर्य के समान, (२) बद्धमूल शूली को।

(३) **मूर्धावबद्धस्त्रजम्**—जिसको फांसी देनी होती थी, उसके सिर पर माला बांध दी जाती थी।

(४) **अपरोप**—नन्द का राज्य से भ्रष्ट होना, **रौद्रविषम**—भयानक अतएव असह्य। **रौद्र** और **विषम** इन दोनों शब्दों में अन्तर इसप्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। **रौद्र** का तात्पर्य है - हृदय में उत्पन्न होने वाली अनुभूति और **विषम** का तात्पर्य है—वह बाह्य वास्तविक परिस्थिति जिसका मुकाबला करना है।

(५) **आघाततूर्यस्वनान्**—आ सम्यक् हननम् इति आ + हन् + घञ् भावे आघातः तस्य तूर्यः तेषां स्वनान्।

(६) **ध्वस्तप्र**—ध्वंस् + क्त।

(७) **प्रथमाभिघात**—पूर्व अनुभव की हुई अनर्थ परम्परायें हैं : (१) मौर्य प्रतिष्ठा, (२) मौर्यलक्ष्मी स्थिरता और (३) स्वामिनाश।

(८) २१ वें श्लोक का सारांश यह है कि शकटदास कहना चाहता है कि जो कुछ मैंने देखा और जो कुछ मैंने सुना, उसे देख और सुनकर जो मेरा हृदय फट नहीं गया उसका मूल कारण यह था कि मैंने इससे भी अधिक दुःखों को सहा है, और इन दुःखों को सहते-सहते मेरा हृदय अत्यन्त कठोर हो चुका है।

(उपसृत्यावलोक्य च सहर्षम्।) अयममात्यराक्षसस्तिष्ठति। य एषः—

अक्षीणभक्तिः क्षीणेऽपि नन्दे स्वाम्यर्थमुद्वहन्।
पृथिव्यां स्वामिभक्तानां प्रमाणे परमे स्थितः ॥२२॥

(उपसृत्य।) जयत्वमात्यः।

राक्षसः—(विलोक्य सहर्षम्) सखे शकटदास, दिष्ट्या कौटिल्यगोचरगतोऽपि त्वं दृष्टोऽसि। तत्परिष्वजस्व माम्।

(शकटदासस्तथा करोति।)

राक्षसः—(चिरं परिष्वज्य।) इदमासनमास्यताम्।

(शकटदासो नाट्येनोपविष्टः।)

राक्षसः—सखे शकटदास अथ कोऽयं मे ईदृशस्य हृदयानन्दस्य हेतुः।

शकटदासः—(सिद्धार्थकं निर्दिश्य) अनेन प्रियसुहृदा सिद्धार्थकेन घातकान्विद्राव्य वध्यस्थानादपहृतोऽस्मि।

राक्षसः—(सहर्षम्।) भद्र सिद्धार्थक, किं पर्याप्तमिदमस्य प्रियस्य। तथापि गृह्यताम्। (स्वगात्रादवतार्य भूषणानि प्रयच्छति।)

संस्कृत-व्याख्या

अन्वय:—क्षीणभक्तिरिति—नन्दे क्षीणेऽपि अक्षीणभक्तिः स्वाम्यर्थमुद्वहन् पृथिव्यां स्वामिभक्तानाम् परमे प्रमाणे स्थितः ॥२२॥

व्याख्या—नन्दे क्षीणेऽपि—मृतेऽपि (स्वयम्) अक्षीणभक्तिः = अक्षीणम्-अपरिहीनं भक्तिः यस्य तादृशः स्वाम्यर्थम्—स्वामिकार्यम् उद्वहन्—धारयन् पृथिव्याम्—जगति स्वामिभक्तानाम्— स्वामिभक्तिपरायणानाम् परमे—अनुपमे प्रमाणे—दृष्टान्ते (प्रथमकोटौ इत्यर्थः) स्थितः—विद्यमानः (अस्ति) ॥२२॥

दिष्टया = भाग्येन । कौटिल्यगोचरगतः = चाणक्यहस्तपतितः । परिष्वजस्व- आलिङ्ग । घातकान् = हिंसकान् । विद्राव्य = अपवाह्य । पर्याप्तम = समुचितम् । अवतार्य = उन्मुच्य ।

हिन्दी रूपान्तर

(पास जाकर और देखकर हर्ष के साथ।) ये अमात्य राक्षस बैठे हैं । जो यह—

श्लोक (२२) अर्थ—नन्द के मर जाने पर भी (अपने आप में) अक्षीण भक्ति वाला स्वामी नन्द के कार्य को धारण करता हुआ पृथिवी पर स्वामीभक्तों में अनुपम दृष्टान्त के रूप मे (अर्थात् प्रथम कोटि में) स्थित है ॥२२॥

(पास जाकर।) अमात्य की विजय हो।

राक्षस—(देखकर हर्ष के साथ।) मित्र शकटदास, सौभाग्य से चाणक्य के हाथ में गये हुये भी तुम देखे गये हो। अतः मेरा आलिङ्गन करो।

(शकटदास वैसा करता है।)

राक्षस—(देर तक आलिङ्गन करके।) यह आसन है, बैठिये।

(शकटदास नाटकीय ढंग से बैठ जाता है।)

राक्षस—मित्र शकटदास, इसप्रकार के मेरे हृदय के (आन्तरिक) आह्लाद का कारण कौन है ?

शकटदास—(सिद्धार्थक को लक्ष्य करके।) इस प्रिय मित्र सिद्धार्थक के द्वारा जल्लादों को भगाकर वध्यस्थान से दूर ले जाया गया हूँ।

राक्षस—(प्रसन्नता के साथ।) भद्र सिद्धार्थक, क्या यह इस प्रिय कार्य के लिये (जो तुमने किया है) उचित (पर्याप्तम्) है। तब भी स्वीकार करो। (अपने शरीर से उतार कर आभूषणों को देता है।)

टिप्पणी

(१) **अक्षीणभक्तिः**—क्षि + क्त = क्षीणः। न क्षीणम् अक्षीणम् । सामान्ये नपुंसकम् । तादृशं भक्तिः यस्य तादृशः ।

(२) **प्रमाणे**—प्रमीयते अनेन इति प्र + मा + ल्युट् करण में प्रमाणम् ।

(३) **परिष्वजस्व**—परि + स्वञ्ज + लोट् स्व—"उपसर्गात् सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम्" पा० ८/३/६५ इति षत्वम् ।

(४) **विद्राव्य**—वि + द्रु + णिच् + ल्यप् ।

(५) किं पर्याप्तम्—इसका अर्थ औचित्य है, प्रभुता नहीं। इसलिये यह "अलम्" के अर्थ में नहीं है। परिणामतः इसके योग में षष्ठी आई है, चतुर्थी नहीं। "किं पर्याप्तम्" का अर्थ होगा कि मैं यह स्वीकार करता हूँ कि तुमने जो यह कार्य किया है, उस कार्य के अनुरूप यह नहीं है।

(६) स्वगात्रादवतार्य भूषणानि प्रयच्छति—चाणक्य का कार्य सिद्ध होता है। ये ही वे आभूषण हैं, जिनको मलयकेतु ने अपने शरीर से उतार कर राक्षस के पास कञ्चुकी के द्वारा भेजे हैं।

सिद्धार्थकः—(गृहीत्वा पादयोर्निपत्य, स्वगतम्।) अयं खलु अज्जोवदेसो। होदु। तह करिस्सम्। (प्रकाशम्।) अमच्च, एत्थ पढमपविट्ठस्स णत्थि कोवि परिचिदो जत्थ एदं अमच्चस्स पसादं णिक्खिविअ णिव्वुदो भविस्सम्। ता इच्छामि अहं इमाए मुद्दाए मुद्दिदं अमच्चस्स एव्व भण्डाआरे ठाविदुम्। जदा मे पओअणं तदा गेह्लिस्सम। अयं खलु आर्योपदेशः। भवतु। तथा करिष्यामि। अमात्य, अत्र प्रथमप्रविष्टस्य नास्ति कोऽपि परिचितः यत्रेममभात्यस्य प्रसादं निक्षिप्य निर्वृतो भवामि। तस्मादिच्छाम्यहमेतया मुद्रया मुद्रितममात्यस्यैव भाण्डागारे स्थापयितुम्। यदा मे प्रयोजनं तदा ग्रहीष्यामि।

राक्षसः—भद्र, को दोषः। शकटदास, एवं क्रियताम्।

शकटदास—यदाज्ञाऽऽपयत्यमात्यः। (मुद्रां विलोक्य जनान्तिकम्।) अमात्य, भवन्नामाङ्कितेयं मुद्रा।

राक्षसः—(विलोक्यात्मगतम्।) सत्यं नगरान्निष्क्रामतो मम हस्ताद्ब्राह्मण्या उत्कण्ठाविनोदार्थं गृहीता। तत्कथमस्य हस्तमुपागता। (प्रकाशम्।) भद्र सिद्धार्थक, कुतस्त्वयेयमधिगता।

संस्कृत-व्याख्या

आर्योपदेशः = आर्यस्य—चाणक्यस्य उपदेशः—आदेशः। प्रसादम् = अनुग्रहम्। निक्षिप्य = संस्थाप्य। निर्वृतः = निश्चिन्तः। भाण्डागारे = कोषगृहे। निष्क्रामतः = बहिर्गच्छतः। ब्राह्मण्या = मत्पत्न्या। उत्कण्ठाविनोदार्थम् = मनोविनोदाय। उपागता = प्राप्ता। अधिगता = प्राप्ता।

हिन्दी रूपान्तर

सिद्धार्थक —(लेकर चरणों में गिरकर, मन ही मन।) यह आर्य चाणक्य की आज्ञा है। अच्छा। वैसा करूँगा। (स्पष्टतः।) अमात्य, पहले प्रविष्ट हुये (मेरा) का यहाँ पर कोई भी परिचित नहीं है। जहाँ इस अमात्य की कृपा को रखकर निश्चिन्त होऊँ। अतः मैं इस मुद्रा से अंकित अमात्य के ही कोषागार में रखना चाहता हूँ। जब मुझे आवश्यकता होगी तब ले लूँगा।

गूढार्थ —यदा मे प्रयोजनं तदा ग्रहीष्यामि—इस कहने का गूढ़ आशय यह है कि तुम्हारी परस्पर लड़ाई करवाने के लिये जब मैं शिविर से बाहर जाऊँगा तब ले लूँगा।

राक्षस—भद्र, क्या हानि है ? शकटदास, ऐसा (ही) करो ।

शकटदास—अमात्य जो आज्ञा देते हैं, (मुद्रा को देखकर जनान्तिक ।) अमात्य, आपके नाम से अङ्कित यह मुद्रा है ।

राक्षस - (देखकर मन ही मन ।) वास्तव में (सत्यम्) नगर से बाहर निकलते हुये मेरे हाथ से ब्राह्मणी (राक्षस पत्नी) ने स्मृति के रूप में (उत्कण्ठाविनोदार्थम्) ले ली थी । तो इसके हाथ में कैसे आ गई ? (स्पष्टतः ।) भद्र सिद्धार्थक, तुमने यह कहाँ से प्राप्त की ?

टिप्पणी

(१) आर्योपदेशः—आर्य चाणक्य की आज्ञा । इसका सम्बन्ध प्रथम अङ्क में विद्यमान "तस्माच्च सुहृत्प्राणपरितुष्टात्" से लेकर "कर्णे एवमिव" यहाँ तक इस पूर्वोक्त आर्य चाणक्य की आज्ञा से है ।

(२) प्रथमप्रविष्टस्य - क्योंकि मैं इस स्थान पर पहले पहल आया हूँ । इससे पूर्व यहाँ कभी नहीं आया ?

(३) प्रसादम्—कृपा । प्र + सद् + घञ् भावे प्रसादः । प्रसाद में दी हुई वस्तु भी प्रसाद कहलाती है ।

(४) निर्वृतः—निश्चिन्त । निर् + वृ + क्त कर्तरि निर्वृतः ।

(५) एतया मुद्रया मुद्रितम्—चाणक्य के आदेशानुसार यह सब कुछ हो रहा है । ऐसा कहने में सिद्धार्थक का एकमात्र यही उद्देश्य है कि राक्षस का मुद्रा की ओर ध्यान आकृष्ट हो जावे ।

(६) जनान्तिकम्—अन्तिक = पास । जनानाम् अन्तिकम् तद् यथा तथा । यह एक बात करने का प्रकार है, जिसमें समीपस्थ व्यक्ति सुन नहीं पाते और अपने व्यक्ति के कान में कहा जाता है ।

(७) उत्कण्ठाविनोदार्थम्—यह स्त्रियों का स्वभाव होता है कि वे अपने प्रिय से पृथक् होने पर कुछ न कुछ ऐसी वस्तु स्मृति के लिये ले लेना चाहती हैं जिससे उनका वियोग में मन बहल सके । यहाँ पर राक्षस की पत्नी ने अंगूठी ली है । शकुन्तला ने भी दुष्यन्त से स्मृति के रूप में अंगूठी ली थी ।

सिद्धार्थकः—अत्थि कुसुमपुरे मणिआरसेट्ठी चन्दनदासो णाम । तस्स गेहदुआर-पडिसरे पडिदा मए आसादिदा । अस्ति कुसुमपुरे मणिकारश्रेष्ठी चन्दनदासो नाम । तस्य गेहद्वारपरिसरे पतिता मया आसादिता ।

राक्षसः—युज्यते ।

सिद्धार्थकः—अमच्च, एत्थ किं जुज्जइ । अमात्य, अत्र किं युज्यते ।

राक्षसः—भद्र, यन्महाधनानां गृहे पतितस्यैवंविधस्योपलब्धिरिति ।

शकटदासः—सखे सिद्धार्थक, अमात्यनामांकितेयं मुद्रा । तदितो बहुतरेणार्थेन भवन्तममात्यस्तोषयिष्यति । दीयतामेषा ।

सिद्धार्थकः—अज्ज, णं पसादो एसो जं इमाए मुद्दाए अमच्चो परिग्गहं करेदित्ति। (इति मुद्रामपर्यति।) आर्य, ननु प्रसाद एषः यदस्या मुद्राया अमात्यः परिग्रहं करोतीति।

संस्कृत-व्याख्या

गेहद्वारपरिसरे = गेहद्वारस्य—गृहद्वारस्य परिसरे—प्रान्तभूमौ। उपलब्धिः = प्राप्तिः। इतः = मुद्रामूल्यात्। तोषयिष्यति = आनन्दयिष्यसि। परिग्रहं करोति = स्वीकरोति।

हिन्दी रूपान्तर

सिद्धार्थक—कुसुमपुर में चन्दनदास नाम का सेठ जौहरी है। उसके घर के दरवाजे की प्रान्तभूमि पर पड़ी हुई मैंने पाई।

राक्षस—ठीक है।

सिद्धार्थक—अमात्य, इस विषय में क्या ठीक है?

राक्षस—भद्र, (यही) कि धनियों के घर मे गिरी हुई इस प्रकार की (वस्तुओं की) प्राप्ति (ठीक है)।

शकटदास—मित्र सिद्धार्थक यह मुद्रा अमात्य के नाम से अङ्कित है। इसलिये अमात्य इस (मुद्रा के मूल्य) से अधिक धन से तुमको सन्तुष्ट कर देंगे। यह दे दो।

सिद्धार्थक—आर्य, यह तो (आपकी) कृपा है कि अमात्य इस मुद्रा को स्वीकार कर रहे हैं। (ऐसा कहकर मुद्रा को अर्पित करता है।)

गूढार्थ—अमात्यः परिग्रहं करोति—इसका गूढ़ार्थ यह है कि जिस प्रयोजन के लिये यह मुद्रा लाया हूँ वह पूर्ण हो गया।

टिप्पणी

(१) **गेहद्वारपरिसरे**—परिसरन्ति—गच्छन्ति अस्मिन् अनेन वा इति परि+सृ+अ = करणे अधिकरणे वा परिसर—प्रान्तभूमि। गेहद्वारस्य परिसरः तत्र।

(२) **युज्यते**—ठीक है, राक्षस समझ रहा है कि ठीक है क्योंकि चन्दनदास के घर मेरी पत्नी है, अतः उसके घर की देहली पर इस मुद्रिका का गिरना सम्भव हो सकता है। इसी को दृष्टि में रखकर उसने कहा है "युज्यते"। परन्तु सिद्धार्थक सब कुछ जानते हुये भी अनजान सा बनकर पूछ उठता है "किमत्र युज्यते"।

(३) **अमात्य, अत्र किं युज्यते**—सिद्धार्थक राक्षस के मित्र और परिवार के व्यक्तियों के विषय में कुछ अधिक सूचना जानना चाहता है। यह भी सम्भव हो सकता है कि सिद्धार्थक यह समझता है कि राक्षस को यह सूचना तो मिल ही चुकी होगी कि चन्दनदास के घर की तलाशी ली जा चुकी होगी। अतः सम्भवतः राक्षस उसको भी गुप्तचर समझे, इसीलिये राक्षस से उसने ऐसा प्रश्न किया है। यद्यपि उसे सब कुछ पता है।

(४) **यन्महाधनानां.........उपलब्धिरिति**—राक्षस ने अपने व्यक्ति को और अपने परिवार को छिपाने के लिये ही ऐसा कहा है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि चन्दनदास कितना भी धनी क्यों न हो पर राक्षस के नाम से अंकित मुद्रा कैसे उसके पास हो सकती है? तो क्या यह मान लिया जावे कि राक्षस सिद्धार्थक को यह बताना चाहता है कि विपत्ति में पड़कर उसने उसको बेच दिया था। अस्तु, कुछ भी हो राक्षस यह नहीं चाहता कि सिद्धार्थक को वास्तविक बात का पता लगे। यह राक्षस का कोई उचित समाधान नहीं है।

(५) **तदितो बहुतरेणार्थेन** किन्तु हम देखते हैं कि मुद्रा देने के बदले में सिद्धार्थक को किसी प्रकार का कोई धन नहीं दिया गया है, और न ही सिद्धार्थक लौटा देने के लिये किसीप्रकार के धन की आशा ही करता है।

(६) **ननु प्रसाद एषः**—सिद्धार्थक ने मुद्रा को वापिस कर दिया है जिसकी उसने अनुमति चाणक्य से पहले ही ले ली होगी। चाणक्य सम्भवतः निम्न कारणों से मुद्रा को लौटाने के लिये तैयार हो गया। (१) मुद्रा को लौटा देने से राक्षस को यह तो कम से कम बिश्वास हो ही जावेगा कि सिद्धार्थक उसका कुछ बुरा करने नहीं जा रहा है: परिणामतः वह राक्षस के विश्वास के योग्य हो जावेगा। (२) इसलिये भी चाणक्य ने मुद्रा को लौटा देना उचित समझा होगा कि आगे चलकर जब सिद्धार्थक राक्षस की अंगूठी से मुद्रित पत्र और अलंकरण-पेटिका ले जायेगा उस समय राक्षस के लिये 'पत्र उसका नहीं है'—यह मना करना कठिन हो जायेगा क्योंकि उस पर उसकी मुद्रा है और वह यह भी नहीं कह सकता कि मुद्रा शत्रुओं के हाथ में पड़ गई है। (३) राक्षस के नाम की मुद्रा को देखते हुये मलयकेतु किसी भी प्रकार के राक्षस के कथन पर विश्वास नहीं करेगा।

राक्षसः—सखे शकटदास, अनयैव मुद्रया स्वाधिकारे व्यवहर्तव्यं भवता।

शकटदासः—यदाज्ञापयत्यमात्यः।

सिद्धार्थकः—अमच्च, विण्णवेमि। अमात्य, विज्ञापयामि।

राक्षसः—ब्रूहि विश्रब्धम्।

सिद्धार्थकः—जाणादि एव्व अमच्चो जह चाणक्कबडुकस्स विप्पिअं कदुअ णत्थि पुणो पाडलिउत्ते पवेसो त्ति इच्छामि अहं अमच्चचलणे एव्व सुस्सूसिदुम्। जानात्येवामात्यो यथा चाणक्यबटुकस्य विप्रियं कृत्वा नास्ति पुनः पाटलिपुत्रे प्रवेश इति इच्छाम्यहं अमात्यस्य चरणावेव शुश्रूषितुम्।

राक्षसः— भद्र, प्रियं नः। किन्तु त्वदभिप्रायापरिज्ञानान्तरितोऽयमस्मदनुनयः। तदेवं क्रियताम्।

सिद्धार्थकः—(सहर्षम्।) अनुगिहीदोम्हि। अनुगृहीतोऽस्मि।

राक्षसः—शकटदास, विश्रामय सिद्धार्थकम् ।

शकटदासः—तथा । (इति सिद्धार्थकेन सह निष्क्रान्तः ।)

संस्कृत-व्याख्या

स्वाधिकारे = आत्मनिदेशे । व्यवहर्तव्यम्—व्यवहारः कर्तव्यः । विप्रियम् = अप्रियम् । त्वदभिप्रायापरिज्ञानान्तरितः = तव यः अभिप्रायः-आशय. तस्य अपरिज्ञानेन अन्तरितः—विलम्बितः ।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—मित्र शकटदास, इस ही मुद्रा से तुम्हारे द्वारा अपने कर्त्तव्यकर्म के विषय में व्यवहार किया जाना चाहिये ।

शकटदास—अमात्य जो आज्ञा देते हैं ।

सिद्धार्थक—अमात्य, प्रार्थना करना चाहता हूँ ।

राक्षस – निश्चिन्त होकर कहो ।

सिद्धार्थक—अमात्य जानते ही हैं कि दुष्ट चाणक्य का अप्रिय करके पाटलिपुत्र में पुनः (मेरा) प्रवेश नहीं है.अतः (इति) मैं अमात्य के चरणों की ही सेवा करना चाहता हूँ ।

राक्षस—भद्र, हमारे लिये प्रिय है । किन्तु तुम्हारी इच्छा के न जानने के कारण विलम्ब से किया हुआ यह हमारा अनुनय है, तो ऐसा करो ।

सिद्धार्थक—(प्रसन्नता के स थ ।) कृतज्ञ हूँ ।

राक्षस—शकटदास. सिद्धार्थक को विश्राम कराओ ।

शकटदास—जो आज्ञा । (ऐसा कहकर सिद्धार्थक के साथ निकल गया ।)

टिप्पणी

(१) स्वाधिकारे—अपने कर्तव्य-कर्म के विषय में । शकटदास राक्षस का Private Secretary है । अधिक्रियते अस्मिन् इति अधि + कृ + घञ् अधिकारः ।

(२) व्यवहर्तव्यम्—वि + अव + हृ + तव्य भावे व्यवहर्तव्यम् । शकटदास का यही काम आगे चलकर राक्षस के विनाश का कारण होगा ।

(३) पाटलिपुत्रे—कुसुमपुर का पुराना नाम है । मगध की राजधानी है ।

(४) त्वदभिप्रायापरिज्ञानान्तरितः—तुम्हारी इच्छा के न जानने के कारण विलम्ब से किया हुआ अर्थात् तुम्हारे कहने से पूर्व ही हमको तुमसे इसप्रकार की प्रार्थना करनी चाहिये थी, किन्तु इसमें विलम्ब इसलिये हो गया क्योंकि हम तुम्हारी इच्छा से अनभिज्ञ थे ।

राक्षसः—सखे विराधगुप्त, वर्णय वृत्तशेषम् । अपि क्षमन्तेऽस्मदुपजापं चन्द्रगुप्तप्रकृतयः ।

विराधगुप्तः—अमात्य, बाढं क्षमन्ते यथाप्रकाशमनुगच्छन्त्येव ।

राक्षसः—सखे, किं तत्र प्रकाशम् ।

विराधगुप्तः—अमात्य, इदं तत्र प्रकाशम् । मलयकेतोरपक्रमणात्प्रभृति कुपितश्चन्द्रगुप्तश्चाणक्यस्योपरीति । चाणक्योऽप्यतिजितकाशितयाऽसहमानश्चन्द्रगुप्तं तैस्तैराज्ञाभङ्गैश्चन्द्रगुप्तस्य चेतः पीडामुपचिनोति । इत्थमपि ममानुभवः ।

संस्कृत-व्याख्या

वृत्तशेषम् = अविशिष्टं वृत्तान्तम् । अपि क्षमन्ते = सहन्ते किम् ? अस्मदुपजापम् = अस्माभिः कृतं परस्परभेदम् । चन्द्रगुप्तप्रकृतयः = मौर्यप्रजाः । यथाप्रकाशम् = यादृशं तत्र प्रचारं गतम् । अनुगच्छन्ति = अनुसरन्ति । अतिजितकाशितया = अतिशयेन जितकाशी तस्य भावः अतिजितकाशिता तया = अतिगर्विततया उपचिनोति = जनयति ।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—मित्र विराधगुप्त, अवशिष्ट समाचार का वर्णन करो । क्या हमारे द्वारा किये हुये भेद को चन्द्रगुप्त की प्रजायें सहन करती हैं ।

विराधगुप्त—अमात्य, हाँ सहन करती हैं (और) प्रकाश में आने के अनुसार अनुसरण भी करती हैं ।

राक्षस—मित्र, वहाँ क्या प्रकाश में आया हुआ है ?

विराधगुप्त—अमात्य, वहाँ यह प्रकाश में आया हुआ है कि मलयकेतु के भागने से लेकर चन्द्रगुप्त चाणक्य के ऊपर क्रोधित है । चाणक्य भी अत्यन्त विजय से गर्वित होने के कारण चन्द्रगुप्त को सहन न करता हुआ उन-उन आज्ञाओं के उल्लंघन से चन्द्रगुप्त के चित्त की पीड़ा को उत्पन्न करता है । ऐसा भी मेरा अनुभव है ।

टिप्पणी

(१) अनुगच्छन्त्येव—चन्द्रगुप्त की प्रजायें भद्रभट आदि मलयकेतु की उपेक्षा करने से यह समझने लगे हैं कि दुष्ट चाणक्य कृतघ्न है और इसका विश्वास नहीं करना चाहिये । इसीलिये वे चाणक्य को छोड़कर चल गये । इसी कथानक की ओर पंचम अंक में संकेत "प्राक्परिगृहीतोपजापैः" इन शब्दों से किया है । यहाँ 'एव' का अर्थ 'अपि' है ।

(२) किं तत्र प्रकाशम्—"तत्र" का तात्पर्य कुसुमपुर से है ।

राक्षसः (सहर्षम् ।) सखे विराधगुप्त, गच्छ त्वमनेनैवाहितुण्डिकच्छद्मना पुनः कुसुमपुरम् । तत्र मे प्रियसुहृद्वैतालिकव्यञ्जनः स्तनकलशो नाम प्रतिवसति । स त्वया मद्वचनाद्वाच्यः यथा चाणक्येन क्रियमाणेष्वाज्ञाभङ्गेषु चन्द्रगुप्तः समुत्तेजनसमर्थैः श्लोकैरुपश्लोकयितव्यः, कार्यं चातिनिभृतं करभकहस्तेन संदेष्टव्यमिति ।

विराधगुप्तः—यदाज्ञापयत्यमात्यः । (इति निष्क्रान्तः ।)

पुरुषः—(प्रविश्य) अमच्च, एसो क्खु सअडदासो विण्णवेदि । एदे क्खु तिण्णि अलंकारसंजोआ विक्कीअन्दि । ता पच्चक्खीकरेदु अमच्चो । अमात्य, एष खलु शकटदासो विज्ञापयति एते खलु त्रयोऽलंकारसंयोगा विक्रीयन्ते । तत्प्रत्यक्षीकरोत्वमात्य इति ।

राक्षसः—(विलोक्य ।) अहो महार्हाण्याभरणानि । भद्र, उच्यतामस्मद्वचनाच्छकटदासः परितोष्य विक्रेतारं गृह्यतामिति ।

पुरुषः—तथा । (इति निष्क्रान्तः ।)

संस्कृत-व्याख्या

वैतालिकव्यञ्जनः=वैतालिकवेषः । समुत्तेजनसमर्थैः=समुत्तेजने समर्थाः—योग्याः तैः । उपश्लोकयितव्यः=उपस्तोतव्यः । सन्देष्टव्यम्=प्रेषयितव्यम् । अलङ्कारसंयोगाः=सम्यक् घटिता अलङ्काराः । प्रत्यक्षीकरोतु=पश्यतु । महार्हाणि=बहुमूल्यानि । परितोष्य=प्रसाद्य ।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—(प्रसन्नता के साथ ।) मित्र विराधगुप्त तुम इसी आहितुण्डिक के व्याज से पुनः कुसुमपुर में जाओ । वहाँ वैतालिक वेष वाला स्तनकलश नाम का मेरा प्रिय मित्र रहता है । उसको तुम मेरी ओर से कहना कि चाणक्य के द्वारा आज्ञाओं के उल्लंघन किये जाने पर उत्तेजित करने में समर्थ श्लोकों के द्वारा चन्द्रगुप्त की स्तुति की जानी चाहिये, और (अपने) कार्य को गुप्त रूप से करभक के हाथ से कहला भेजना चाहिये ।

विराधगुप्त—अमात्य जो आज्ञा देते हैं । ऐसा कहकर निकल गया ।

पुरुष—(प्रवेश करके ।) अमात्य, यह शकटदास निवेदन कर रहा है (कि) ये सम्यक् निर्मित तीन अलङ्कार बेचे जा रहे हैं । अमात्य (इनको) देख लीजियेगा ।

राक्षस—(देखकर ।) अहो, बहुमूल्य आभूषण हैं । भद्र, हमारी ओर से शकटदास से कहना (कि) बेचने वाले को सन्तुष्ट करके (इन आभूषणों को) ले लो ।

पुरुष—जो आज्ञा । (ऐसा कहकर निकल गया ।)

टिप्पणी

(१) **वैतालिकव्यञ्जनः**—वैतालिकस्येव व्यञ्जनं यस्य । कृत्रिम चारण । वस्तुतः यह चारण नहीं है किन्तु उसने सम्प्रति चारण का वेष धारण कर रखा है । ये चारण हृदय के उल्लास के अनुरूप कविताओं का पाठ किया करते हैं और सोते हुये राजाओं को स्तुतिकारक पद्यों को गाकर जगाते हैं और यदि आवश्यकता आ जाये तो राजाओं को अपने कर्त्तव्य-कर्म में दृढ़ भी करते हैं ।

(२) **समुत्तेजनसमर्थैः**—सम् + उत् + तिज् + णिच् + ल्युट् भावे समुत्तेजनस्त्र समर्थाः तैः ।

(३) **उपश्लोकयितव्यः**—श्लोकैरुपस्तोतव्यः इति उप + श्लोक + णिच् (नामधातु) + तव्य, कर्मणि ।

(४) **एते खलु त्रयोऽलङ्कारसंयोगा विक्रीयन्ते**—इन अलङ्कारों को बेचने वाले चाणक्य के गुप्तचर हैं । इन तीनों अलङ्कारों को पर्वतक धारण किया करता था । चाणक्य की इच्छा से इस समय ये तीनों अलङ्कार राक्षस के पास बेचे जा रहे हैं । इन्हीं अलङ्कारों में से एक अलङ्कार को धारण करके राक्षस मलयकेतु के पास

जायेगा। यह सारी योजना चाणक्य की मलयकेतु और राक्षस में भेद डालने की है। आगे चलकर पुनः इसका वर्णन आयेगा।

(५) **महार्हाणि** अर्ह्यंते—पूज्यते इति अर्ह् + घञ् कर्मणि अर्हः, महान् अर्हः एषाम्—ये चन्द्रगुप्त ने विश्वावसु आदि तीन भाइयों को दान में दिये थे।

(६ **परितोष्य विक्रेतारम्** : उन तीनों भाइयों में से केवल विश्वावसु को चाणक्य ने राक्षस को आभूषण बेचने के लिये नियुक्त किया था

(७) **गृह्यन्ताम्**—राक्षस किसी पर सन्देह नहीं करता है, यह बात चाणक्य समझ गया और इसका उसने लाभ उठाया है, परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि राक्षस पर्वतक का घनिष्ठ मित्र होता हुआ भी उन अलङ्कारों को पहिचान नहीं पाया। साथ ही राक्षस को यह सन्देह नहीं हुआ कि इतने बहुमूल्य आभूषण इसप्रकार बेचे जा रहे हैं।

(८) **अलङ्कारसंयोगाः**—(१) अलंक्रियते एभिः इति अलम् + कृ + घञ् करणे अलङ्काराः। सम्यक् योजनमिति सम् + युज भावे संयोगः। अलङ्काराणां संयोगाः = संयुक्ताः अलङ्काराः-अच्छी प्रकार निर्मित अलङ्कार। (२) Sets of ornaments—"संयुज्य धार्यन्ते।"

राक्षसः - यावदहमपि कुसुमपुराय करभकं प्रेषयामि। (उत्थाय) अपि नाम दुरात्मनश्चाणक्याच्चन्द्रगुप्तो भिद्येत। अथवा सिद्धमेव नः समीहितं पश्यामि। कुतः।

मौर्यस्तेजसि सर्वभूतलभुजामाज्ञापको वर्तते
चाणक्योऽपि मदाश्रयादयमभूद्राजेति जातस्मयः।
राज्यप्राप्तिकृतार्थमेकमपरं तीर्णप्रतिज्ञार्णवं
सौहार्दात्कृतकृत्यतैव नियतं लब्धान्तरा भेत्स्यति ॥२३॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

[इति भूषणविक्रयो नाम द्वितीयोऽङ्कः।]

संस्कृत-व्याख्या

कुसुमपुराय = कुसुमपुरमभिलक्ष्य।

अन्वयः—**मौर्य इति**—मौर्यः सर्वभूतलभुजाम् आज्ञापकः तेजसि वर्तते, चाणक्योऽपि मदाश्रयात् अयम् राजा अभूत् इति जातस्मयः। राज्यप्राप्तिकृतार्थम् एकम् तीर्णप्रतिज्ञार्णवम् अपरम् (च) लब्धान्तरा कृतकृत्यता एव नियतम् सौहार्दात् भेत्स्यति ॥२३॥

व्याख्या—**मौर्यः**—चन्द्रगुप्तः सर्वभूतलभुजाम् - सर्वेषां भूतलभुजाम्—राजाम् आज्ञापकः-शासिता (सन्) तेजसि—प्रतापे वर्तते—तिष्ठति, चाणक्यः अपि मदाश्रयात् = ममैव आश्रयेण, मामाश्रित्य इत्यर्थः अयम्—एषः चन्द्रगुप्तः राजा अभूत् इति जातस्मयः—सञ्जातगर्वः (आस्ते)। राज्यप्राप्तिकृतार्थम् = राज्यसम

प्राप्त्या—लाभेन कृतार्थम्—सिद्धकामम् एकम्—चन्द्रगुप्तम् तीर्णप्रतिज्ञार्णवम्=तीर्णः प्रतिज्ञारूपः अर्णवः—सागरो येन तादृशम् अपरं=चाणक्यम् (च) लब्धान्तरा=प्राप्तावसरा कृतकृत्यता—निरपेक्षता एव नियतं=निश्चितम् (उभौ) सौहार्दात्=मित्रभावात् भेत्स्यति—पृथक् करिष्यति ॥२३॥

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस – इसी बीच में (यावत्) मैं भी कुसुमपुर के लिये करभक को भेजता हूँ। (उठकर।) सम्भवतः (अपि नाम) दुष्टात्मा चाणक्य से चन्द्रगुप्त पृथक् किया जा सके। अथवा (मैं) अपने अभीसिप्त को सिद्ध हुआ ही देखता हूँ। क्योंकि—

श्लोक (२३) अर्थ—चन्द्रगुप्त सभी राजाओं को आज्ञा देने वाला (होता हुआ) तेजस्विता में है, चाणक्य भी मेरे आश्रय से यह (चन्द्रगुप्त) राजा हुआ है अतः उत्पन्न गर्व वाला है। राज्य की प्राप्ति के कारण सफल एक को (अर्थात् मौर्य चन्द्रगुप्त को) (और) प्रतिज्ञा रूपी समुद्र को पार कर लेने वाले दूसरे को (अर्थात् चाणक्य को) अवसर पाकर निरपेक्षता ही निश्चितरूपेण (दोनों को) सुहृद्भाव से पृथक् कर देगी ॥२३॥

(सभी निकल जाते हैं।)

टिप्पणी

(१) **कुसुमपुराय**—कर्मणि चतुर्थी—"क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" पा० २/३/१४।

(२) **अपि नाम........चन्द्रगुप्तो भिद्येत**—"ततःप्रभृति चन्द्रगुप्तशरीरे सहस्रगुणमप्रमत्तश्चाणक्यः" यह सुनकर राक्षस चन्द्रगुप्त के वध के विषय में निराश हो गया था परन्तु "आशा बलवती राजन् शल्यो जेष्यति पाण्डवान्" इस न्याय के अनुसार स्तनकलश के द्वारा मौर्य चन्द्रगुप्त और चाणक्य के परस्पर विरोध से अपनी अभीष्ट सिद्धि की आशा कर रहा है इसीलिये कहा है—"अपि नाम" इति।

(३) **भिद्येत**—सम्भावनायां लिङ्।

(४) **समीहितम्**—सम्+ईह्+क्त भावे अर्थात् चाणक्य और चन्द्रगुप्त में भेद।

(५) **सौहार्दात्**—शोभनं हृदयमस्य इति सुहृत्—"सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः" पा० ५/४/१५०। सुहृदो भावः इति सुहृत्+अण्—"हायनान्तयुवादिभ्य अण्" पा० ५/१/१३० इति अण् "हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च" पा० ७/३/१९ इति उभयपदवृद्धिः सौहार्दं। अपादाने पञ्चमी।

(६) **कृतकृत्यता**—निरपेक्षता। दोनों (चाणक्य और चन्द्रगुप्त) यह समझते हैं कि हमको किसी दूसरे की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि दोनों को ही अपनी-अपनी अभीष्ट की सिद्धि हो चुकी है।

[भूषण विक्रय नामक द्वितीय अङ्क समाप्त]

चन्द्रगुप्तः—

इह विरचयन् साध्वीं शिष्यः क्रियां न निवार्यते
त्यजति तु यदा मार्गं मोहात् तदा गुरुरङ्कुशः ।
विनयरुचयस्तस्मात् सन्तः सदैव निरङ्कुशाः
परतरमतः स्वातन्त्र्येभ्यो वयं हि पराङ्मुखाः ॥३.६॥

इस संसार में सदाचारमयी क्रिया को करता हुआ शिष्य गुरु के द्वारा निवारण नहीं किया जाता है, किन्तु जब अज्ञानवश सदाचार के मार्ग को छोड़ता है तब गुरु नियामक होता है । इसलिये गुरुकृत शिक्षण में रुचि वाले सद् आचरण करने वाले सदैव स्वतन्त्र हैं, इससे अधिक किसी भी प्रकार के स्वतन्त्र व्यवहारों से हम पराङ्मुख हैं ।

तृतीय अङ्क के पात्र

१–कञ्चुकी = वैहीनरि—	चन्द्रगुप्त का कञ्चुकी ।
२–राजा = चन्द्रगुप्त = चन्द्र = मौर्य = वृषल—	चाणक्य का शिष्य, पाटलिपुत्र का नवयुवक राजा और मौर्य-साम्राज्य का संस्थापक ।
३–प्रतिहारी = शोणोत्तरा—	चन्द्रगुप्त की द्वार-रक्षिका ।
४–चाणक्य—	प्रथम अङ्क में आ चुका है ।
५–प्रथम वैतालिक—	यह चन्द्रगुप्त का अपना व्यक्ति है ।
६–द्वितीय वैतालिक = स्तनकलश—	यह राक्षस का गुप्तचर है, जिसको चाणक्य और चन्द्रगुप्त में भेद डालने के लिये नियुक्त किया है ।

तृतीय अङ्क को कथावस्तु की रूपरेखा—

इस अङ्क के अन्दर चन्द्रगुप्त और चाणक्य का कृतक कलह वर्णित है। यह कृतक कलह भी प्रथम अंक में लिखे गये कूटपत्र के समान चाणक्य की कूटनीति का प्रमुख आधार है। यह अङ्क तीन दृश्यों में विभक्त है। प्रथम और तृतीय दृश्य का स्थान पाटलिपुत्र का राजभवन है और द्वितीय दृश्य की घटना चाणक्य के घर में घटित हुई है। इस अङ्क की घटित घटना का समय कार्तिकी पूर्णिमा की रात्रि का पूर्व भाग है। इस अङ्क को हम ५ भागों में विभक्त कर सकते हैं, यथा।—(१) कञ्चुकी वैहीनरि का प्रवेश, (२) कञ्चुकी और चन्द्रगुप्त, (३) कञ्चुकी और चाणक्य का संवाद, (४) चाणक्य और चन्द्रगुप्त का कृतज्ञ कलह और (५) उपसहार।

(१) **कञ्चुकी वैहीनरि का प्रवेश**—इससे निम्न सूचनायें मिलती हैं:—

(i) राजा चन्द्रगुप्त ने कौमुदी-महोत्सव मनाये जाने की नगर मे घोषणा कर दी है और वह चाहता है कि उस उत्सव के अनुरूप सारा नगर साज सज्जा से सुशोभित हो और नागरिक इसको उत्साहपूर्वक मनायें।

(ii) चाणक्य ने कौमुदी-महोत्सव को मनाये जाने का निषेध कर दिया है और इस निषेधाज्ञा का चन्द्रगुप्त को ज्ञान नहीं है।

(iii) राजा चन्द्रगुप्त अपने सुगाङ्ग नामक राजमहल की छत से नगर की शोभा देखने के लिये आना चाहता है।

(२) **कञ्चुकी और चन्द्रगुप्त**—चन्द्रगुप्त के **स्वगतम्** से सूचना मिलती है कि आर्य चाणक्य का आदेश है कि कृतक कलह करके कुछ समय तक स्वतन्त्र रूप से राज्य करो। यह कौमुदी-महोत्सव का निषेध इसी कृतक कलह की पूर्व भूमिका है। शरद काल है, कार्तिकी पूर्णिमा है। ऐसे सुमधुर समय में राजा देखता है कि नगर में किसीप्रकार की चहल-पहल नहीं है, किसी प्रकार की शोभा नहीं है; कौमुदी-महोत्सव को मनाये जाने का कहीं कोई निशान नहीं है। कञ्चुकी से उसे पता चलता है कि चाणक्य ने उसको मनाये जाने का निषेध कर दिया है। यह क्रोध में भर कर आर्य चाणक्य को बुलाकर लाने का आदेश देता है।

(३) **चाणय और कञ्चुकी**—चाणक्य अपने घर पर है। वह चिन्तित है कि राक्षस को किसप्रकार वश में किया जावे। उसने राक्षस को वश मे करने के लिये निम्न योजना कार्यान्वित कर दी है:—

(i) भागुरायणादि गुप्तचरों से मलयकेतु घिरा हुआ है।

(ii) सिद्धार्थकादि गुप्तचर राक्षस और मलयकेतु में भेद डालने का प्रयत्न कर रहे हैं।

और अब चाणक्य सोचता है कि मैं चन्द्रगुप्त के साथ बनावटी लड़ाई करके राक्षस को अपनी बुद्धि के अनुसार मलयकेतु में पृथक् कर दूंगा। इसी बीच कञ्चुकी

चाणक्य के पास पहुंचता है और निवेदन करता है कि आपको चन्द्रगुप्त शीघ्र ही देखना चाहते हैं। चाणक्य पूछता है कि क्या चन्द्रगुप्त को मेरे कौमुदी-महोत्सव के निषेध का मालूम पड़ गया है और कञ्चुकी के 'हाँ' कहने के साथ ही चाणक्य की क्रोध-ज्वाला भड़क उठती है। वह एकदम चन्द्रगुप्त से मिलने के लिये कञ्चुकी के साथ सुगाङ्ग राजभवन के लिये चल देता है।

(४) **चाणक्य और चन्द्रगुप्त**—यह स्थिति इस अंक की केन्द्र बिन्दु है। इसी में चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों की लड़ाई होती है और चन्द्रगुप्त चाणक्य को उसके मन्त्री पद से हटा कर स्वय कार्यभार संभाल लेता है। चाणक्य जिस समय राजभवन में पहुंचता है, चन्द्रगुप्त अपने सिंहासन पर बैठा दिखाई पड़ता है। चाणक्य को देखने के साथ ही चन्द्रगुप्त प्रणाम करता है और चाणक्य उसको सार्वभौम सम्राट् होने का आशीर्वाद देता है।

राजा—आपकी निष्प्रयोजन प्रवृत्ति नहीं होती है, अतः मैं यह जानना चाहता हूँ कि कौमुदी-महोत्सव को क्यों रोक दिया?

चाणक्य—यह विषय हम मन्त्रियों से सम्बन्धित है. सचिवायत्तसिद्धि होने के कारण तुमको इससे कुछ प्रयोजन नहीं है। इसी बीच में वैतालिक राजा की स्तुति करते हैं। इनमें से प्रथम तो राजा का अपना वैतालिक है किन्तु दूसरा राक्षस का प्रिय मित्र वैतालिक वेष में स्तनकलश है, जिसकी चर्चा द्वितीय अंक की समाप्ति में आ चुकी है। राक्षस ने इसको चन्द्रगुप्त और चाणक्य मे भेद डालने के लिये नियुक्त किया हुआ है। चाणक्य राक्षस की इस दुरभिसन्धि को ताड़ लेता है और चन्द्रगुप्त ने अपने कञ्चुकी वैहीनरि को जो इन दोनों को पारितोषिक के रूप में अतुल धनराशि देने का आदेश दिया है. इसको रोक देता है।

राजा—इसप्रकार तो पग-पग पर रोके जाते हुये मेरे लिये यह राज्य, राज्य न होकर एक बन्धन होगा।

चाणक्य—यदि इस प्रतिबन्ध को सहन नहीं कर सकते हो तो अपना काम अपने आप देखो।

राजा—तो हम अपने काम को अपने आप देखेंगे।

चाणक्य—ठीक है, मैं भी अपने श्रोत्रिय सम्बन्धी कार्य में व्यस्त रहूँगा।

चन्द्रगुप्त क्रोध में आकर चाणक्य के त्यागपत्र को स्वीकार कर लेता है। इतनी चर्चा होने के बाद भी राजा ने निम्न प्रश्न अपने सन्तोष के लिये पूछे हैं, जिनका चाणक्य ने विस्तार से उत्तर दिया है—

(१) कौमुदी-महोत्सव को रोकने का क्या प्रयोजन है?

(२) मैं, गजाध्यक्ष भद्रभट, अश्वाध्यक्ष पुरुषदत्त, डिंगरात, बलदेवगुप्त, राजसेन, सेनापति सिंहबल का अनुज भागुरायण, लोहिताक्ष और विजयवर्मा-इनकी विरक्ति का कारण जानना चाहता हूँ। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि ये सब चन्द्रगुप्त के पक्ष को छोड़कर मलयकेतु के पास चले गये हैं। इन सबका जाना

चाणक्य की कूटनीति योजना का अंग है। इनके भागकर जाने की चर्चा प्रथम अङ्क की समाप्ति पर आ चुकी है।

(३) और जब इनकी विरक्ति के कारणों का पता चल गया तो प्रतिकार क्यों नहीं किया ? प्रतिकार न किये जाने का प्रयोजन सुनना चाहता हूँ।

(४) इस सारे अनर्थ की जड़ मलयकेतु के भागने की उपेक्षा क्यों कर दी।

(५) कुसुमपुर में ही रहते हुये राक्षस की उपेक्षा क्यों कर दी ? उसको कैद क्यों नहीं कर लिया ? उसको भागने का अवसर क्यों दिया ? इन प्रश्नों का उत्तर चाणक्य ने दिया है। उससे चन्द्रगुप्त सन्तुष्ट नहीं हुआ और कहता है कि ठीक है, विवाद में हम आपकी बुद्धि को नहीं पा सकते है किन्तु मुझे तो आपसे अधिक प्रशंसा का पात्र राक्षस ही लगता है क्योंकि जब तक इच्छा हुई, कुसुमपुर में रहा। हमारी योजनाओं के अन्दर उसने विघ्न उत्पन्न किया और इससे बढ़कर और क्या होगा कि हमने राक्षस की नीति से मोहित होकर अपने ही व्यक्तियों पर विश्वास करना छोड़ दिया। इसप्रकार कठोर व्यंग्य को और राक्षस की प्रशंसा को सुनकर चाणक्य आग बबूला हो जाता है और कहता है कि मुझे तो ऐसा लगा कि जिसप्रकार मैंने नन्दों को उखाड़ कर तुमको राज्य-सिंहासन पर बिठा दिया है। उसीप्रकार राक्षस ने तुमको विनष्ट कर तुम्हारे स्थान पर मलयकेतु को सिंहासन पर बिठा दिया। चन्द्रगुप्त, क्या अब भी श्मशान में जलती हुई नन्दों की चिताओं को नहीं देखते हो ? मुझे भाग्य पर कोई श्रद्धा नहीं है। क्यों मुझे क्रोध दिलाते हो। मेरा यह दायाँ हाथ पुनः अपनी शिखा को छूने के लिये चञ्चल हो रहा है। मेरा यह दाहिना पैर पुनः प्रतिज्ञा करने के लिये मचल रहा है, अधिक क्या कहूँ—यदि तुम मुझसे श्रेष्ठ राक्षस को समझते हो तो लो यह शस्त्र अमात्य राक्षस को दे दो और शस्त्र को पृथ्वी पर पटक कर चला जाता है।

(६) उपसंहार—राजा चन्द्रगुप्त मन ही मन सोचता है कि मैंने तो आर्य चाणक्य की आज्ञा से ही यह लड़ाई की थी किन्तु आर्य के क्रोध को देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे सचमुच ही क्रोधित हो गये हैं। अस्तु, राजा अपने कञ्चुकी वैहीनरि को आदेश देता है कि—राज्य में यह घोषणा कर दो कि आज से लेकर चाणक्य को अपने मन्त्रिपद से हटाकर चन्द्रगुप्त स्वय ही सम्पूर्ण राज्य को करेगा। कञ्चुकी मन ही मन सोचता है कि चाणक्य का अधिकार छीन लिया गया है। राजा के यह पूछने पर कि क्या सोच रहे हो ? कञ्चुकी उत्तर देता है कि—"दिष्टया देव इदानीं देवः संवृत्तः।" चन्द्रगुप्त सोचता है कि जब इस कञ्चुकी ने ही हमारी लड़ाई को वास्तविक समझ लिया तो सम्भवतः औरों के भी ऐसा समझ लेने पर आर्य चाणक्य अपने उद्देश्य में सफल हो जावें।

इसप्रकार इस कृतक-कलह के साथ तृतीय अङ्क समाप्त होता है।

तृतीयोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशति कञ्चुकी ।)

कञ्चुकी:—(सनिर्वेदम् ।)

रूपादीन्विषयान्निरूप्य करणैर्यैरात्मलाभस्त्वया
लब्धस्तेष्वपि चक्षुरादिषु हताः स्वार्थावबोधक्रियाः ।
अङ्गानि प्रसभं त्यजन्ति पटुतामाज्ञाविधेयानि ते
न्यस्तं मूर्ध्नि पदं तवैव जरया तृष्णे मुधा ताम्यसि ॥१॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—रूपादीनिति— तृष्णे, यैः (चक्षुरादिभिः) करणैः रूपादीन् विषयान् निरूप्य त्वया आत्मलाभः लब्धः तेषु चक्षुरादिषु अपि स्वार्थावबोधक्रियाः हताः। ते आज्ञाविधेयानि अङ्गानि प्रसभं पटुतां त्यजन्ति, जरया तवैव मूर्ध्नि पदं न्यस्तं मुधा ताम्यसि ॥१॥

व्याख्याः—(हे) तृष्णे, (मदीयैः) यैः करणैः— ज्ञानेन्द्रियैः रूपादीन्—रूप—प्रभृतीन् (रूप—रस—गन्ध—स्पर्श—शब्दान्) विषयान्—इन्द्रियग्राह्यान् पदार्थान् निरूप्य-अवधार्य त्वया आत्मलाभः— स्वास्तित्वम् लब्धः—अधिगतः, तेषु चक्षुरादिषु— चक्षुःप्रभृतिषु इन्द्रियेष्वपि स्वार्थावबोधक्रियाः—स्वस्वविषयग्रहणरूपव्यापाराः हताः— नष्टाः । ते— तव आज्ञाविधेयानि—आदेशानुवर्तिनी अङ्गानि— हस्तपादादीनि कर्मेन्द्रियाणि प्रसभं— हठात् पटुतां—स्वकार्यक्षमताम् त्यजन्ति- जहति, (अतः) जरया —वार्धकेन तव मूर्ध्नि—शिरसि पदं —चरणं न्यस्तं—दत्तम, मुधा—वृथा ताम्यसि— माद्यसि ॥१॥

हिन्दी रूपान्तर

प्रथम दृश्य

स्थान—कुसुमपुर में चन्द्रगुप्त का प्रासाद ।

(तदनन्तर कञ्चुकी प्रवेश करता है ।)

कञ्चुकी—(निर्वेद के साथ ।)

श्लोक (१) अर्थ— हे तृष्णे, जिन (मेरी) चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों से (करणैः) रूपादि (आदि शब्द से रस— गन्ध—स्पर्श और शब्द का ग्रहण होता है) विषयों को

ग्रहण करके (निरूप्य) तुमने अपने अस्तित्व को प्राप्त किया है। उन चक्षुरादियों में भी अपने-अपने विषय (रूपादि) के ज्ञान को प्राप्त करने की क्रिया नष्ट हो गई। तुम्हारी आज्ञा का पालन करने वाली (हस्तपादादि) कर्मेन्द्रियाँ (अङ्गानि) हठात् (प्रसभम्) अपने कार्य की क्षमता को छोड़ रही हैं, (अतः) वृद्धावस्था ने तुम्हारे सिर पर ही पैर रक्खा (तुम) व्यर्थ में चञ्चल हो रही हो ॥१॥

टिप्पणी

(१) तृतीय अङ्क के प्रारम्भ में होने का समय शरद् है—"**अहो शरत्समयसंभृतशोभानां दिशमतिरमणीयता।**"

(२) **सनिर्वेदम्**—निर् + विद् + घञ् भावे निर्वेदः, तेन सह।

(३) **जरया जरसा**—"**जराया जरसन्यतरस्याम्**" पा० ७/२/१०१।

(४) **मुधा**--व्यर्थ, अव्यय है।

(५) प्रथम श्लोक में आये करण और अङ्ग शब्द क्रमशः ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों को सूचित करते हैं। **करणैः**—क्रियते एभिः इति कृ + ल्युट् करणे करणानि =ज्ञानेन्द्रियाँ। यहाँ करण में तृतीया है। यहाँ कञ्चुकी ने वृद्धावस्था के द्वारा उत्पन्न होने वाली अपने अङ्गों की विफलता को तृष्णा के अन्दर आरोपित किया है। उसके कहने का आशय यह कि इस वृद्धावस्था में आकर भी मैं व्यर्थ में ही तृष्णा के द्वारा चञ्चल हो रहा हूँ। इसी को भर्तृहरि ने इन शब्दों में कहा है—"**गात्राणि शिथिलायन्ते, तृष्णैका तरुणायते।**"

(परिक्रम्याकाशे।) भो भोः सुगाङ्गप्रासादाधिकृताः पुरुषाः, सुगृहीतनामा देवश्चन्द्रगुप्तो वः समाज्ञापयति—प्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवरमणीयं कुसुमपुरमवलोकयितुमिच्छामि। तत्संस्क्रियन्तामस्मद्दर्शनयोग्याः सुगाङ्गप्रासादोपरिभूमयः" इति। (पुनराकाशे) किं ब्रूथ "आर्य, किमविदित एवायं देवस्य कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधः" इति। आः दैवोपहताः, किमनेन वः सद्यः प्राणहरेण कथोपोद्घातेन।

संस्कृत-व्याख्या

परिक्रम्य=सञ्चर्य। **सुगाङ्गप्रासादाधिकृताः**=सुगाङ्गाख्यः प्रासादः तत्र अधिकृताः--नियुक्ताः। **प्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवरमणीयम्**=प्रवृत्तः-प्रारब्धः यः कौमुदीमहोत्सवः तेन रमणीयम्—मनोज्ञम्। **संस्क्रियन्ताम्**=अलंक्रियन्ताम्। **अस्मद्दर्शनयोग्याः**=मदवलोकनीयाः। **सुगाङ्गप्रासादोपरिभूमयः**=सुगाङ्गप्रासादस्य उपरि स्थिताः भूमयः–प्रदेशाः। **दैवोपहताः**=दैवेन—भाग्येन उपहताः—विनष्टाः। **कथोपोद्घातेन**=कथाप्रसङ्गेन।

हिन्दी रूपान्तर

(घूमकर आकाश में।) हे हे सुगाङ्ग नामक महल पर नियुक्त पुरुषो, प्रातः स्मरणीय (सुगृहीतनामा) महाराज चन्द्रगुप्त तुमको आज्ञा देते हैं—"प्रारम्भ किये

हुये कौमुदी महोत्सव से रमणीक कुसुमपुर को देखना चाहता हूँ। इसलिये मेरे देखने योग्य सुगाङ्ग महल के ऊपर के प्रदेश सुसज्जित कर दो।" (पुनः आकाश में।) क्या कहते हो ? "आर्य, क्या महाराज को यह (चाणक्य द्वारा किया हुआ) कौमुदी महोत्सव का प्रतिषेध अज्ञात ही है।" आः भाग्य के मारे हुओ, इस शीघ्र ही प्राणों का अपहरण करने वाली कथा की चर्चा से तुमको क्या ?

टिप्पणी

(१) **सुगृहीतनामा**=प्रातःस्मरणीय। "स सुगृहीतनामा स्यात् यः प्रातरनुचिन्त्यते।"

(२) **कौमुदी का लक्षणः**—(अ) आश्विने पौर्णमास्यान्तु चरेज्जागरणं निशि।
कौमुदी सा समाख्याता कार्यालोकविभूतये॥ वाचस्पत्यम्।

यह आश्विन पूर्णिमा के लिये है।

(ब) 'कु' शब्देन मही ज्ञेया मुद हर्षे ततो द्वयम्।
धातुज्ञैर्नियमैश्चैव तेन सा **कौमुदी** स्मृता॥

यह कार्तिकी पूर्णिमा के लिये है।

(३) कौमुदी आश्विनो पूर्णिमाव्रतम्। अथवा कार्तिक्यां चन्द्रमण्डलपूज्या कौमुदीव्रतम्।

कार्तिकी एकादशी।

शरद् ऋतु में आश्विन और कार्तिक दोनों ही महीने आते हैं, किन्तु इनमें कार्तिक की प्रमुखता मानी गई है।

शेते विष्णु सदाषाढे भाद्रे च परिवर्तते।
कार्तिके परिबुध्येत, शुक्लपक्षे हरेर्दिने॥

विष्णु जी आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद और आश्विन—इन चार महीने सोते हैं और कार्तिक की शुक्ला एकादशी को जागते हैं।

(३) **कौमुदीमहोत्सवः**—कु=पृथिवी। कौ—पृथिव्यां मोदते इति कु+मुद+क=कर्तरि कुमुदम्। तस्येयम् इति कुमुद+अण् स्त्रियाम् कौमुदी। कुमुद रात्रि-कमल होता है। कौमुदीमहोत्सव शरद् पूर्णिमा के दिन मनाया जाता है। कार्तिक का एक नाम कौमुदी भी है। आश्विन और कार्तिक की पूर्णिमा को कौमुदी कहते हैं।

(४) **सद्यःप्राणहरेण**—प्राणान् हरतीति प्राण+हृ+अच् कर्तरि प्राणहरः। सद्यः प्राणहरः तेन।

शीघ्रमिदानीम्—

आलिङ्गन्तु गृहीतधूपसुरभीन्स्तम्भान्पिनद्धस्रजः
संपूर्णेन्दुमयूखसंहतिरुचां सच्चामराणां श्रियः।
सिंहाङ्कासनधारणाच्च सुचिरं संजातमूर्च्छामिव।
क्षिप्रं चन्दनवारिणा सकुसुमः सेकोऽनुगृह्णातु गाम्॥२॥

अन्वयः—आलिङ्गन्त्विति—सम्पूर्णेन्दुमयूखसंहतिरुचाम् सच्चामराणां श्रियः पिनद्धस्रजः गृहीतधूपसुरभीन् स्तम्भान् आलिङ्गन्तु । सकुसुमः च चन्दनवारिणा सेकः सुचिरं सिंहाङ्कासनधारणात् सञ्जातमूर्च्छामिव गाम् क्षिप्रम् अनुगृह्णातु ॥२॥

व्याख्या—सम्पूर्णेन्दुमयूखसंहतिरुचाम् = सम्पूर्णः-कलासमग्रः यः इन्दुः = चन्द्रः (पूर्णचन्द्र इत्यर्थः) तस्य ये मयूखाः—किरणाः येषां या संहतिः—राशि तस्याः रुक्—कान्तिरिव कान्तिः येषां तादृशानाम् सच्चामराणाम्—प्रशस्तबालव्यजनानाम् श्रियः-शोभाः पिनद्धस्रजः = पिनद्धाः-बद्धाः स्रजः—मालिकाः येषु तान् (माल्यवेष्टितान् इत्यर्थः) गृहीतधूपसुरभीन् = गृहीताः-सेविताः ये धूपाः तैः सुरभीन् (धूपसौरभान्वितान्) (प्रासादस्य) स्तम्भान् आलिङ्गन्तु आश्रयन्तु । सकुसुमः—पुष्पसहितश्च चन्दनवारिणाम-लयजसंपृक्तसलिलेन सेकः—सेचनं सूचिरं—बहोःकालात् सिंहाङ्कासनधारणात् = सिंहाङ्कासनस्य—सिंहचिह्नितस्य राजासनस्य धारणात्—वहनात् सञ्जातमूर्च्छामिव = सञ्जातासमुत्पन्ना मूर्च्छा यस्याः तादृशीम् इव गाम्—भूमिम् क्षिप्रं—शीघ्रम् अनुगृह्णातु सम्भावयतु ॥२॥

हिन्दी रूपान्तर

सम्प्रति शीघ्र—

श्लोक (२) अर्थ—पूर्णिमा चन्द्रमा की किरणों के समूह की कान्ति के समान कान्ति वाले श्रेष्ठ चामरों की कान्तियाँ बाँधी हुई मालाओं वाले धूप की सुगन्ध से युक्त खम्भों का आलिङ्गन करें (अर्थात् खम्भे धूपित, सुरभित, माल्यवेष्टित एवं चामरवीजित हो जावें ।) और पुष्पों से युक्त चन्दन के पानी से छिड़काव (सिञ्चन) चिरकाल तक सिंहासन को धारण करने के कारण मानो उत्पन्न मूर्च्छा वाली पृथ्वी को शीघ्र ही अनुगृहीत करें (अर्थात् चन्दनचर्चित जल से भूमि पर छिड़काव करके उसके ऊपर आसन बिछा दो ।) ॥२॥

टिप्पणी

(१) **सिंहाङ्कासनधारणात्**—यह चन्द्रगुप्त का सिंहासन है । इसका भार पृथिवी के लिये भारस्वरूप माना गया है, जिसके लिये पुष्पों से सुवासित चन्दन का जल चिकित्सा के रूप में कहा गया है, गाम् = गाय और पृथ्वी को । अथ च सिंहेन स्वक्रोडरूपासने धारणात् सञ्जातमूर्च्छां सिंहभयाच्च और मूर्च्छितामिव गां-भूमिम् अर्थात् जिसप्रकार सिंह के क्रोड़ में पड़ी हुई अतएव मूर्च्छित कोई गाय जलादि के सेक से आश्वस्त की जाती है, उसीप्रकार अत्यन्त भारी सिंहासन को धारण करने से थकी हुई भूमि को चन्दन के पानी से आश्वस्त करो ।

(२) द्वितीय श्लोक का आशय यह है कि खम्भे धूपित, सुरभित, माल्यवेष्टित एवं चामरवीजित हो जावें अर्थात् पहले खम्भों को धूपित कर दो, पुनः पुष्पमाला और चामर लटका दो तथा चन्दनवासित जल से भूमि को छिड़क कर उसके ऊपर आसन बिछा दो ।

✦✦✦✦✦✦✦✦

किं ब्रूथ—'आर्य, इदमनुष्ठीयते देवस्य शासनम्' इति । भद्राः, त्वरध्वम् अयमागत एव देवश्चन्द्रगुप्तः । य एषः—

सुविश्रब्धैरङ्गैः पथिषु विषमेष्वप्यचलता
चिरं धुर्येणोढा गुरुरपि भुवो यास्य गुरुणा ।
धुरं तामेवोच्चैर्नववयसि वोढुं व्यवसितो
मनस्वी दम्यत्वात्स्खलति च न दुःखं वहति च ॥३॥

संस्कृत-व्याख्या

शासनम्=आज्ञा । त्वरध्वम्=शीघ्रतां कुरुध्वम् । आगत एव=सम्प्राप्त एव ।

अन्वयः—सुविश्रब्धैरिति—सुविश्रब्धैः अङ्गैः विषमेषु पथिषु अपि अचलता धुर्येण अस्य गुरुणा या भुवः गुरुरपि चिरम् ऊढा । ताम् एव उच्चैः धुरम् नववयसि वोढुं व्यवसितः मनस्वी दम्यत्वात् स्खलति न च दुःखं वहति च ॥३॥

व्याख्या—१. चन्द्रगुप्तपक्षे २. वृषभपक्षे-सुविश्रब्धैः-सुप्रयुक्ततया कार्यक्षमैः (वृषभपक्षे) सुदृढैश्च अङ्गैः-स्वाम्यमात्यादिभिः (वृषभपक्षे) अवयवैः विषमेषु—गहनेषु (अन्यत्र) उच्चावचेषु पथिषु–राजतन्त्रेषु (अन्यत्र) मार्गेषु अपि अचलता—अस्खलता धुर्येण—राज्यभारनिर्वहणक्षमेण (अन्यत्र) वृषभेण अस्य—चन्द्रगुप्तस्य गुरुणा–तातेन नन्देन या भुवः-पृथिव्याः गुरुरपि—दुर्वहः अपि (धूः) चिरम्—बहुकालपर्यन्तम् ऊढा–धृता । ताम् एव उच्चैः—महतीम् धुरम्—भारम् नववयसि—यौवने वोढुम्—धारयितुम् व्यवसितः—उद्यतः मनस्वी—प्रशस्तमनाः (महोत्साह इत्यर्थः) दम्यत्वात्-अनतिप्रौढत्वात् असमाप्तशिक्षत्वाच्च स्खलति–किंचित् खिद्यते (अन्यत्र) भ्रश्यति (मनस्वित्वात्) न च दुःखं–क्लेशं वहति-प्राप्नोति च ॥३॥

हिन्दी रूपान्तर

क्या कहते हो—'आर्य, महाराज की इस आज्ञा का पालन किया जाता है।" भद्रपुरुषो, शीघ्रता करो । ये महाराज चन्द्रगुप्त आ ही गये हैं । जो यह—

श्लोक (३) अर्थ—(१) चन्द्रगुप्त के पक्ष में, (२) वृषभ के पक्ष में—सुप्रयुक्त होने के कारण कार्य करने में समर्थ अन्यत्र सुदृढ़, (सुविश्रब्धैः) राज्य के सात अङ्गों से (स्वामी, अमात्य, कोष, राष्ट्र, दुर्ग, सेना और सुहृद्) अन्यत्र अवयवों से विषम राज्य-तन्त्र के विषय में अन्यत्र विषम उच्चावच भागों में (समतल भागों का तो कहना ही क्या) भी स्खलित न होते हुये राज्यभार को वहन करने में समर्थ, अन्यत्र वृषभ ने (धुर्येण) इसके पिता नन्द ने जो पृथ्वी का महान् भार चिरकाल तक वहन किया था; उस ही महान् (उच्चैः) भार को नवीन अवस्था में धारण करने के लिये उद्यत उत्साही (मनस्वी) चन्द्रगुप्त प्रौढ होने के कारण एवं शिक्षा की समाप्ति न होने के कारण (दम्यत्वात्) स्खलित होता है (अर्थात् गलती करता है) अन्यत्र फिसलता है किन्तु दुःख को धारण नहीं करता है ॥३॥

टिप्पणी

(१) उक्त श्लोक में नन्द शिक्षित वृषभ के समान है, अतएव धुर्य है। चन्द्रगुप्त उस वृषभ के समान है, जिसको अभी शिक्षा दी जा रही है, अतएव दम्य है।

(२) तृतीय श्लोक द्व्यर्थक है (१) चन्द्रगुप्त के पक्ष में, (२) वृषभ के पक्ष में। राजा के राज्य के प्रति उत्तरदायित्व की तुलना जुये को धारण किये हुये बैल से की गई है। इस श्लोक में कवि यह कहना चाहता है कि अनुभव की कमी होने के कारण चन्द्रगुप्त को असुविधा तो होती है, परन्तु किसीप्रकार का दुःख अनुभव नहीं करता है। इस श्लोक में निम्न शब्द द्व्यर्थक हैं—(१) सुविश्रब्धैः, (२) अङ्गैः, (३) विषमेषु पथिषु, (४) धुर्येण, (५) स्खलति।

(३) **धुर्येण**—धुरि साधु इति धुरि + यत् = धुर्यः तेन।

(४) **व्यवसितः**—वि + अव + सो + क्त कर्तरि।

(५) **मनस्वी**—प्रशस्तं मनः अस्य इति मनस् + विनि मत्वर्थे। चन्द्रगुप्त के स्खलित न होने में मनस्विता कारण है। यद्यपि वह अभी नवीन अवस्था में ही विद्यमान है।

(६) **दम्यत्वात्**—अनतिप्रौढत्वात्, असमाप्तशिक्षत्वात्—इसीलिये गलती करता है।
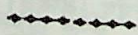
(नेपथ्ये।)

इत इतो देवः।

(ततः प्रविशति राजा प्रतीहारी च।)

राजा—(स्वगतम्।) राज्यं हि नाम राजधर्मानुवृत्तिपरस्य नृपतेर्महदप्रीतिस्थानम्। कुतः।

परार्थानुष्ठाने रहयति नृपं स्वार्थपरता
परित्यक्तस्वार्थो नियतमयथार्थः क्षितिपतिः।
परार्थश्चेत्स्वार्थादभिमततरो हन्त परवान्
परायत्तः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्ति पुरुषः ॥४॥

संस्कृत-व्याख्या

राजधर्मानुवृत्तिपरस्य = राज्ञो धर्मः राजधर्मः तस्य अनुवृत्तिः—अनुसरणं सा परम् अस्य। अप्रीतिस्थानम् = क्लेशावहमित्यर्थः।

अन्वयः—परार्थानुष्ठान इति—परार्थानुष्ठाने स्वार्थपरता नृपं रहयति परित्यक्तस्वार्थः नियतम् अयथार्थः क्षितिपतिः। चेत् परार्थः स्वार्थात् अभिमततरः हन्त परवान् परायत्तः पुरुषः प्रीतेः रसम् कथमिव वेत्ति ॥४॥

व्याख्या—परार्थानुष्ठाने = परस्य-आत्मेतरस्य पुरुषस्य यः अर्थः—प्रयोजनं तस्य अनुष्ठाने-साधनकर्मणि स्वार्थपरता—स्वकार्यसाधनप्रवृत्तिः (स्वच्छन्दविहारादि-

विषयभोगः) नृपं रहयति—त्यजति, परित्यक्तस्वार्थः=परित्यक्तः उत्सृष्टः स्वार्थः—आत्मप्रयोजनं येन तादृशः (राजा) नियतं—निश्चितम् अयथार्थः=अयथा-मिथ्या अर्थ—अभिधेयः यस्य तादृशः (अयथार्थनामा इत्यर्थः) क्षितिपतिः-पृथिवीपतिः (भवति)। चेत् परार्थः—परकार्यम् स्वार्थात्—स्वकार्यात् अभिमततरः—प्रियतरः (तर्हि) हन्त—कष्टम्, परवान्—पराधीनः (भवेत्), परायत्तः—:—पराधीनः पुरुषः प्रीतेः—सुखस्य रसम्—आस्वादं कथमिव-केन प्रकारेण वेत्ति—जानाति ॥४॥

हिन्दी रूपान्तर

(नेपथ्य में।)

महाराज इधर (आइये) इधर।

(उसके बाद राजा और प्रतीहारी प्रवेश करते हैं।)

राजा—(मन ही मन।) यह राज्य राजा के कर्तव्यों के पालन करने में तत्पर राजा के लिये महान् दुःख का स्थान है। क्योंकि।

श्लोक (४) अर्थ—दूसरों के प्रयोजन को सिद्ध करने में (अर्थात् प्रजा का सतत ध्यान रखने पर) स्वार्थपरता अर्थात् स्वच्छन्दता (विहारादि विषयों का उपभोग) राजा को छोड़ देता है। अपने स्वार्थ को छोड़ देने वाला निश्चित रूप से अवास्तविक राजा है (क्योंकि उसका अपना सुखों का उपभोग सर्वथा समाप्त हो जाता है) और यदि अपने स्वार्थ से दूसरे का अर्थात् प्रजा का हित अधिक अभीष्ट है (तो) बड़े दुःख का विषय है (हन्त) कि यह (राजा) दूसरे के आधीन। पराधीन मनुष्य है सुख के आनन्द को किसप्रकार से जान सकता है ॥४॥

टिप्पणी

(१) **नियतमयथार्थः क्षितिपतिः**—क्षितिपतित्वमेव जहाति, क्योंकि उसका नाम क्षितिपति तभी तक है, जब तक कि वह प्रजा का पालन करता है।

(२) **परवान्**—राजा अपने विषयोपभोग के लिये स्वतन्त्र नहीं है। **इसलिये यह कहना चाहिये कि दूसरों की भलाई करने के लिये अपने कर्तव्य के प्रति परतन्त्र है।** एक पराधीन व्यक्ति स्वयं सुखों का उपभोग किसप्रकार कर सकता है?

अपि च। दुराराध्या हि राजलक्ष्मीरात्मवद्भिरपि राजभिः। कुतः।

तीक्ष्णादुद्विजते मृदौ परिभवत्रासान्न संतिष्ठते
मूर्खं द्वेष्टि न गच्छति प्रणयितामत्यन्तविद्वत्स्वपि।
शूरेभ्योऽप्यधिकं बिभेत्युपहसत्येकान्तभीरूनहो
श्रीर्लब्धप्रसरेव वेशवनिता दुःखोपचर्या भृशम् ॥५॥

संस्कृत-व्याख्या

दुराराध्या=दुःखेन आराध्या—सेव्या। आत्मवद्भिः—**समाहितचित्तैः, वशीकृतेन्द्रियैः इति यावत्।**

अन्वयः—तीक्ष्णादिति—तीक्ष्णात् उद्विजते, मृदौ परिभवत्रासात् न संतिष्ठते

मूर्ख द्वेष्टि, अत्यन्तविद्वत्स्वपि प्रणयितां न गच्छति । शूरेभ्योऽप्यधिकं बिभेति; एकान्त-भीरून् उपहसति, अहो लब्धप्रसरा वेशवनिता इव श्रीः भृशं दुःखोपचर्या ॥५॥

व्याख्या—तीक्ष्णात्—उग्रात् (नृपात्) उद्विजते—उद्विग्ना भवति (प्रजा-विप्लवेन आश्रयो मे नश्येत्), मृदौ-शान्तस्वभावे परिभवत्रासात्—अन्यकृतावमाननभ-यात् न सन्तिष्ठते—न सम्यक् स्थैर्यमापद्यते, मूर्खम्—अज्ञम् (नृपम्) (अविवेकिनम् इत्यर्थः) द्वेष्टि, अत्यन्तविद्वत्स्वपि—विशिष्टविद्यावत्स्वपि प्रणयिताम्—प्रीतिम् न गच्छति—न लभते। शूरेभ्यः—वीरेभ्यः अपि अधिकं बिभेति (कदा समरे म्रियेत), एकान्तभीरून्—अतिभयशीलान् उपहसति—तिरस्करोति, अहो—आश्चर्यम्, लब्ध-प्रसरा—प्राप्तप्रागल्भ्या वेशवनिता-वेश्या इव श्रीः-लक्ष्मीः भृशम्—अत्यर्थं दुःखोपचर्या-दुःखेन सेव्या ॥५॥

हिन्दी रूपान्तर

और भी। समाहित चित्त वाले राजाओं से भी राज्यलक्ष्मी कठिनता से आराधना की जाने वाली है। क्योंकि।

श्लोक (५) अर्थ—तीक्ष्ण दण्ड देने वाले (राजा) से उद्विग्न रहती है (कि कहीं प्रजा में विद्रोह न हो जावे, जिससे मेरा आश्रय ही नष्ट हो जावे), कोमल प्रवृत्ति वाले राजा में तिरस्कार के डर से (कि कहीं कोई बलवान् राजा मेरा तिरस्कार न कर दे) सम्यक्रूपेण नहीं ठहरती है। मूर्ख से द्वेष करती है, अत्यन्त विद्वान् राजाओं से भी प्रीति को नहीं प्राप्त होती है। शूरवीर राजाओं से भी अत्यधिक डरती है (कि न मालूम कब युद्ध में मारा जावे), सर्वात्मना (एकान्त) कायर राजाओं का उपहास करती है, आश्चर्य है (अहो) कि प्रगल्भता को प्राप्त हुई (लब्धप्रसरा) वेश्या के समान राज्य-लक्ष्मी अत्यधिक दुःख से सेवा के योग्य है ॥५॥

टिप्पणी

(१) **दुराराध्या**—आ + राध् + णिच् (स्वार्थे) ण्यत् कर्मणि आराध्या। दुःखेन आराध्या = दुराराध्या।

(२) **सन्तिष्ठते**—"**समवप्रविभ्यः स्थः**" पा० १/३/२२ इति आत्मनेपदम्। सम् + स्था। सम्, अव, प्र, वि उपसर्ग पूर्वक स्था धातु आत्मनेपदी हो जाती है।

(३) **अत्यन्तविद्वत्स्वपि**—उनका सर्वात्मना विद्या में ही अनुरक्त रहना लक्ष्मी के लिये विरक्ति का कारण है।

(४) पंचम श्लोक में स्थिति की कठिनता का प्रतिपादन किया गया है कि राजा न तो अधिक तीक्ष्ण हो सकता है और न ही मृदु। क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में लक्ष्मी उसके पास नहीं ठहरती है। राजा का अपमान लक्ष्मी का अपना अपमान है। इसलिये लक्ष्मी को स्थिर करने के लिये राजा को विशेष रूप से प्रयत्नशील होना चाहिये।

अन्यच्च। कृतककलहं कृत्वा स्वतन्त्रेण किंचित्कालान्तरं व्यवहर्तव्यमि-त्यार्यादेशः। स च कथमपि मया पातकमिवाभ्युपगतः अथवा शश्वदार्योपदेश-संस्क्रियमाणमतयः सदैव स्वतन्त्रता वयम्। कुतः।

इह विरचयन्साध्वीं शिष्यः क्रियां न निवार्यते
त्यजति तु यदा मार्गं मोहात्तदा गुरुरङ्कुशः ।
विनयरुचयस्तस्मात्सन्तः सदैव निरङ्कुशाः
परतरमतः स्वातन्त्र्येभ्यो वयं हि पराङ्मुखाः ॥६॥

संस्कृत-व्याख्या

कृतककलहम् = कृत्रिमविवादम् । कालान्तर = कालस्य अन्तरम्–अवकाशः । व्यवहर्तव्यम् = वर्तितव्यम् । अभ्युपगतः = अङ्गीकृतः । शश्वत् = सर्वदा । आर्योपदेश-संस्क्रियमाणमतयः = आर्यस्य उपदेशेन संस्क्रियमाणा-शिक्ष्यमाणा मतिर्येषाम् ते ।

अन्वयः— इह **विरचयन्निति**—इह साध्वीं क्रियां विरचयन् शिष्यः न निवार्यते, तु यदा मोहात् मार्गं त्यजति तदा गुरुः अंकुशः । तस्मात् विनयरुचयः सन्तः सदैव निरंकुशाः अतः परतरम् स्वातन्त्र्येभ्यः वयम् हि पराङ्मुखाः ॥६॥

व्याख्या—इह-अस्मिन् जगति साध्वीं क्रियाम्-सत्कार्यम् विरचयन्–कुर्वन् शिष्यः (गुरुणा) न निवार्यते–न नियम्यते (अपितु अनुमोद्यत इत्यर्थः), तु—किन्तु यदा मोहात्—अज्ञानात् मार्गम्—(सदाचाररूपम्) पन्थानम् त्यजति तदा गुरुः अंकुशः—नियामकः (भवति) । तस्मात् विनयरुचयः = विनये-गुरुकृतशिक्षणे रुचिर्येषां ते सन्तः–सदाचाराः सदैव निरंकुशाः—निरोधशून्याः (स्वतन्त्रा एव इति यावत्), अतः—अस्मात् परतरम्—अधिकम् स्वातन्त्र्येभ्यः—स्वाधीनताभ्यः वयम् हि—निश्चितम् पराङ्मुखाः ॥६॥

हिन्दी रूपान्तर

और भी । बनावटी लड़ाई करके कुछ काल तक स्वतन्त्ररूपेण व्यवहार करना चाहिये—ऐसा आर्य (चाणक्य) का आदेश है । और वह (आदेश) पाप के समान मैंने यथाकथञ्चित् स्वीकार कर लिया । अथवा हमेशा आर्य (चाणक्य) के उपदेश से संस्कार की जाती हुई बुद्धि वाले हम सर्वदैव स्वतन्त्र हैं । क्योंकि ।

श्लोक (६) अर्थ—इस संसार में सदाचारमयी क्रिया को करता हुआ शिष्य (गुरु के द्वारा) निवारण नहीं किया जाता है (अपितु अनुमोदन किया जाता है), किन्तु जब अज्ञानवश (सदाचार के मार्ग को छोड़ता है, तब गुरु नियामक (अंकुश) होता है। इसलिये गुरुकृतशिक्षण (विनय) में रुचि वाले सद् आचरण करने वाले (सन्तः) (हम शिष्य) सदैव स्वतन्त्र हैं । इससे अधिक (अतः परतरम्) (किसी भी प्रकार के) स्वतन्त्र व्यवहारों से हम पराङ्मुख हैं ॥६॥

टिप्पणी

(१) **व्यवहर्तव्यम्**—वि + अव + हृ + तव्य भावे = व्यवहर्तव्यम् ।
(२) **संस्क्रियमाण**—'संपरिभ्यां करोतौ भूषणे' पा० ६/१/१३७ इति सुट् ।
(३) **स्वातन्त्र्येभ्यः**—स्वतन्त्रस्य भावाः इति स्वतन्त्र + ष्यञ् = स्वातन्त्र्याणि तेभ्यः । "ध्रुवमपायेऽपादानम्" पा० १/४/२४ इति पंचमी । चन्द्रगुप्त कहना यह

चाहता है कि "स्वतन्त्रेण किञ्चित्कालान्तरं व्यवहर्तव्यम्" इस आदिष्ट स्वतन्त्रता से अधिक हम किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं चाहते हैं।

(४) पराङ्मुखाः = परा अञ्चति इति परा + अञ्च + क्विप् कर्तरि पराक्। पराक् मुखमेषाम्।

(५) छठे श्लोक का आशय यह है कि तृतीय पंक्ति में वर्णित स्वतन्त्रता से अधिक स्वतन्त्रता हम नहीं चाहते हैं। अथवा आर्य के अनुरोध से यह स्वतन्त्रता तो येन केन प्रकारेण मैंने स्वीकार कर ली, इससे अधिक (अत. परतरम्) स्वतन्त्र व्यवहारों से हम सदा पराङ्मुख हैं अर्थात् इसके बाद हम कभी भी स्वतन्त्रता नहीं चाहते हैं। आर्य के आधीन रहकर ही सदा व्यवहार करना चाहते हैं। सबसे प्रथम तो चन्द्रगुप्त यह सोचता है कि चाणक्य से पृथक् रहकर स्वतन्त्र रूप से व्यापार करना पाप है, परन्तु पुनः 'अथवा' कहकर और छठे श्लोक के अन्दर वह अपने मन को समझा लेना चाहता है कि वह कोई पाप करने नहीं जा रहा और तृतीय पंक्ति में वर्णन के अनुसार व्यवहार करने से वह स्वयं में स्वतन्त्र ही है।

(प्रकाशम्।) आर्य वैहीनरे, सुगाङ्गमार्गमादेशय।

कञ्चुकी—इत इतो देवः। (नाट्येन परिक्रम्य।) अयं सुगाङ्गप्रासादः। शनैरारोहतु देवः।

राजा—(नाट्येनारुह्य, दिशोऽवलोक्य।) अहो शरत्समयसंभृतशोभानां दिशामतिरमणीयता। कुतः।

शनैः श्यानीभूताः सितजलधरच्छेदपुलिनाः
समन्तादाकीर्णाः कलविरुतिभिः सारसकुलैः।
चिताश्चित्राकारैर्निशि विकचनक्षत्रकुमुदै-
र्नभस्तः स्यन्दन्ते सरित इव दीर्घा दश दिशः॥७॥

संस्कृत-व्याख्या

शरत्समयसंभृतशोभानाम् = शरदेव समयः तेन संभृता—उपचिता शोभा यासां तासाम्। अतिरमणीयता = अतिसौन्दर्यम्।

अन्वयः—शनैरिति—शनैः श्यानीभूताः सितजलधरच्छेदपुलिनाः कलविरुतिभिः सारसकुलैः समन्तात् आकीर्णाः। निशि चित्राकारैः विकचनक्षत्रकुमुदैः चिताः दीर्घाः दशः सरित इव नभस्तः स्यन्दन्ते॥७॥

व्याख्या—(१) **शरद्पक्षे**—शनैः—क्रमेण श्यानीभूताः—कृशीभूताः (विरलतया प्रतीयमानाः) सितजलधरच्छेदपुलिनाः = सिताः—धवलाः जलधरच्छेदाः—मेघखण्डाः पुलिनानि इव—सैकतानीव सन्ति यासां ताः कलविरुतिभिः—मधुराव्यक्तनिनादैः सारसकुलैः—सारसपक्षिसमूहैः समन्तात्—सर्वतः आकीर्णाः—व्याप्ताः। निशि—

रजन्याम् चित्राकारैः—विचित्राकृतिभिः विकचनक्षत्रकुमुदैः=विकचानि—प्रफुल्लानि नक्षत्राणि कुमुदानीव—कुमुदपुष्पाणीव तैः चिताः—व्याप्ताः दीर्घाः—आयताः दश-दिशः सरित इव—नद्यः इव नभस्तः—आकाशात् स्यन्दन्ते—प्रादुर्भवन्ति ।

(२) सरित्पक्षे—शनैः—क्रमेण श्यानीभूताः—कृशीभूताः सितजलधरच्छेद-पुलिनाः=सितजलधरच्छेदमिव पुलिनं—सैकतं यासाम् ताः कलविरुतिभिः—मधुराव्य-क्तध्वनिभिः सारसकुलैः—सारसपक्षिसमूहैः आकीर्णाः—व्याप्ताः । निशि—रात्रौ चित्रा-कारैः—विचित्ररूपैः विकचनक्षत्रकुमुदैः=नक्षत्राणि इव विकचानि—प्रफुल्लानि कुमुदानि—कुमुदपुष्पाणि तैः चिताः—व्याप्ताः सरितः—नद्यः दीर्घाः—आयताः दश-दिशः इव नभस्तः=श्रावणमासात् स्यन्दन्ते=निःसरन्ति ॥७॥

हिन्दी रूपान्तर

(स्पष्टतः ।) आर्य वैहीनरे, सुगाङ्ग महल का मार्ग बताओ ।

कञ्चुकी—महाराज इधर-इधर (आइये) । (अभिनय के साथ घूमकर ।) यह सुगाङ्ग महल है । शनैः शनैः चढ़िये महाराज । ।

राजा—(अभिनय के साथ चढ़कर, दिशाओं को देखकर ।) अहो शरद् समय के कारण बढ़ी हुई शोभा वाली दिशाओं की अत्यधिक सुन्दरता है । क्योंकि ।

श्लोक (७) अर्थ— (१) **शरद् पक्ष में**—क्रमशः विरलरूप से प्रतीत होती हुई (श्यानीभूताः) पुलिन प्रदेश के समान हैं शुभ्र मेघखण्ड जिनमें ऐसी, अव्यक्त और मधुर ध्वनि वाले सारस पक्षियों के समूहों से सभी ओर से व्याप्त, रात्रि में विचित्र रूप वाले (चित्राकारैः) खिले हुये कुमुदों के समान नक्षत्रों से युक्त (चिताः) विशाल दसों दिशायें नदियों के समान आकाश से प्रकट होती हुई प्रतीत होती है ।

(२) **नदीपक्ष में**—क्रमशः कृश होती हुई शुभ्र मेघखण्ड के समान है पुलिन प्रदेश जिनके ऐसी, अव्यक्त और मधुर ध्वनि वाले सारस पक्षियों के समूहों से व्याप्त, रात्रि में विचित्र रूप वाले नक्षत्रों के समान खिले हुये कुमुदों से युक्त नदियाँ विशाल दस दिशाओं के समान श्रावण मास से (नभस्तः) प्रवाहित हो रही हैं ॥७॥

टिप्पणी

(१) **वैहीनरे**—विहीनो नरः कामभोगाभ्याम् इति विहीनरः, विहीनरस्य अपत्यम् वैहीनरिः, तत्सम्बुद्धौ ।

(२) **शनैरारोहतु देवः**—क्योंकि रात्रि का समय है, अतः सम्भलकर चलना आवश्यक है ।

(३) **श्यानीभूताः**—कृशीभूताः । श्यै+क्त कर्त्तरि श्यान । अश्यानाः श्यानाः भूताः इति श्यान+च्वि+भू+क्त कर्तरि । "**संयोगादेरातोधातोर्यण्वतः**" पा० ८/२/४३ इति श्यायतेर्निष्ठा नत्वम् ।

(४) 'निशि'—से प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त ने महल पर चढ़कर नगर को रात्रि में देखा है ।

(५) **स्यन्दन्ते**—निःसृता इव दृश्यन्ते । वर्षा ऋतु में दिशायें मेघाच्छादित

आकाश के कारण स्पष्ट नहीं दिखाई देती हैं और किनारों को तोड़कर प्रवाहित होने वाली नदियाँ अपने किनारों से पृथक् दिखाई देती हैं। शरद् ऋतु के अन्दर ये विरल होकर स्पष्ट प्रतीत हो रही हैं।

(६) दीर्घा दश दिशः सरित इव और सरिताः दीर्घा दश दिशाः इव = इस-प्रकार उपमानोपमेयभाव है।

अपि च—

अपामुद्वृत्तानां निजमुपदिशन्त्या स्थितिपदं
दधत्या शालीनामवनतिमुदारे सति फले।
मयूराणामुग्रं विषमिव हरन्त्या मदमहो
कृतः कृत्स्नस्यायं विनय इव लोकस्य शरदा ॥८॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—अपामिति— अहो, उद्वृत्तानाम् अपाम् निजं स्थितिपदम् उपदिशन्त्या, शालीनाम् उदारे फले सति अवनतिम् दधत्या मयूराणाम् उग्रं मदं विषमिव हरन्त्या शरदा कृत्स्नस्य लोकस्य अयम् विनयः इव कृतः ॥८॥

व्याख्या—अहो—आश्चर्यम् उद्वृत्तानां लंघिततीराणाम् अपाम्—जलानां निजं–स्वाभाविकं स्थितिपदं—प्रवाहस्थानम् उपदिशन्त्या—नियोजयन्त्या, शालीनां-धान्यानाम् उदारे—महति फले—शस्ये सति अवनतिम्—नम्रतां दधत्या—कुर्वन्त्या, मयूराणां—शिखिनाम् उग्रं–तीक्ष्णं मदं = गर्वं विषमिव—गरलमिव हरन्त्या—अपनयन्त्या शरदा—शरत्कालेन कृत्स्नस्य—समग्रस्य लोकस्य—जगतः अयम् विनयः इव कृतः—सम्पादितः ॥८॥

हिन्दी रूपान्तर

और भी।

श्लोक (८) अर्थ—आश्चर्य है, (कि) तटों का अतिक्रमण करके प्रवाहित होने वाले जलों को अपने (स्वाभाविक) प्रवाहस्थान को (स्थितिपदम्) बताती हुई, धान्यों (शालीनाम्) के प्रभूत फल होने पर नम्रता को करती हुई, मोरों के असह्य (उग्रम्) मद को विष के समान अपहरण करती हुई शरद् ऋतु ने सम्पूर्ण संसार को मानों यह (साक्षात् दिखाई देने वाला) विनय सिखाया है (कृतः) ॥८॥

टिप्पणी

(१) उद्वृत्तानाम्—उद् + वृत्त + क्त कर्तरि उद्वृत्ताः। उत्क्रान्ताः वृत्तम्, उद्वृत्ताः तेषाम्।

(२) मयूराणां मदम्—वर्षाकाल में मोर हर्षातिरेक से नृत्य करते हैं, शरद् ऋतु आने पर वे शान्त हो जाते हैं।

(३) यह श्लोक ध्वन्यात्मक है। समासोक्ति के द्वारा निम्न तीन बातों की ओर संकेत किया है—

(१) अत्यन्त उच्छृङ्खल मयलकेतु के भविष्यत्काल में होने वाले निग्रह को सूचित किया है।

(ख) राक्षस के विष के समान अत्यन्त उग्र, पराक्रम और नीतिविषयक गर्व के दूर होने की सूचना है।

(ग) साम्राज्य की आकांक्षा करने वाले अत्यन्त उन्नतिशील चन्द्रगुप्त के विनय की ओर संकेत है।

(४) शरद् ऋतु सभी को विनीत होने का उददेश दे रही है। परिणामतः सारा संसार औद्धत भाव को छोड़कर विनीत हो रहा है। जल अचेतन हैं, धान्य अल्पचेतन हैं, मयूर सचेतन हैं--इन सभी के दोषों को दूर कर शरद् ने विनय सिखलाया है। शरद् ऋतु का एक नियमित प्रभाव पड़ रहा है। उन्मार्ग पर जाने वालों को अनुशासन सिखा रही है। धनी सम्प्रदाय को विनम्रता और उद्धत व्यक्ति को सदाचार सिखा रही है।

(५) समासोक्ति के द्वारा ध्वनिरूप में प्रतीत होने वाला अर्थ इसप्रकार होगा।

(क) **उद्वृत्तानामपाम्**—उन्मार्गगामी नन्दानुरक्त प्रजाओं को। (ख) **स्थितिपदम्**-मर्यादा को, सन्मार्ग को। (ग) **उदारे फले सति**--अर्थात् समृद्धि की वृद्धि होने पर। (घ) **शालीनाम्**—ऐश्वर्यशाली प्रजाओं की। (ङ) **मयूराणाम्**—प्रतिपक्षी पुरुषों के। **मदम्**—अवलेप को। (च) **लोकस्य**—प्रकृतिवर्ग को।

समासोक्ति का लक्षण--"समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्" ॥कुवलयानन्द॥

इमामपि।

भर्तुस्तथा कलुषितां बहुवल्लभस्य
मार्गे कथंचिदवतार्य तनूभवन्तीम्।
सर्वात्मना रतिकथाचतुरेव दूती
गङ्गां शरन्नयति सिन्धुपतिं प्रसन्नाम्।

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः---**भर्तुरिति**—शरत् रतिकथाचतुरा दूती इव तथा कलुषिताम् तनूभवन्तीम् सर्वात्मना प्रसन्नाम् गङ्गाम् बहुवल्लभस्य भर्तुः मार्गे कथंचित् अवतार्य सिन्धुपतिं नयति ॥६॥

व्याख्या—(१) **गंगापक्षे**--शरत् रतिकथाचतुरा = रतिकथायां—प्रियवार्तानिवेदने चतुरा—निपुणा दूतीव तथा—तेन प्रकारेण कलुषिताम्--(पङ्काधिक्येन) आविलाम् (अतएव) तनूभवन्तीम्—(वर्षाऽवसानेन) कृशप्रवाहाम् सर्वात्मना—सर्वप्रकारेण प्रसन्नां—स्वच्छां गङ्गाम् बहुवल्लभस्य = बहवः वल्लभाः = प्रियाः यस्य

तथाविधस्य बहुपत्नीकस्य भर्तुः—स्वामिनः समुद्रस्य मार्गे कथञ्चित्—महता कष्टेन अवतार्य—स्थापयित्वा सिन्धुपतिम्—सरित्पतिम् (सागरम् इत्यर्थः) नयति—अभिमुख्येन प्रापयति ।

(२) नायिकापक्षे—शरत्—एतन्नामिका काचिन्नारी रतिकथाचतुरा=रतिकथायां—प्रियवार्तानिवेदने चतुरा-निपुणा दूती इव तथा कलुषिताम्—अप्रसन्नाम् (खण्डितात्वात् ईर्ष्यावतीमित्यर्थः) (अतएव) तनूभवन्तीम्—विरहदुःखेन कृशाङ्गीम् सर्वात्मना प्रसन्नाम्—विगतेर्ष्याम् कृत्वा गङ्गाम्—नायिकाम् बहुवल्लभस्य-अनेक कान्तस्य भर्तुः—पत्युः मार्गे—अभिसारपथे कथञ्चित्—महता कष्टेन अवतार्य-नीत्वा (पतौ उत्कण्ठितां विधायेत्यर्थः) सिन्धुपतिम्=सिन्धुं—समुद्रमिव पतिम् (सिन्धुनामकं पतिम्) नयति—प्रापयति ॥९॥

हिन्दी रूपान्तर

इस (गङ्गा) को भी ।

श्लोक—अर्थ (१) गङ्गापक्ष में-शरद् ऋतु प्रणय की कथाओं में चतुर दूती के समान उसप्रकार से (वर्षाकाल में कीचड़ के कारण) कलुषित (सम्प्रति शरद् काल में वर्षा के व्यतीत हो जाने से) कृश प्रवाह होती हुई पूर्णरूप से (सर्वात्मना) स्वच्छ जल वाली (प्रसन्नाम) गङ्गा को अनेक नदी रूपी पत्नियों वाले (अतएव अनुपसर्पणीय) समुद्र के (भर्तुः) मार्ग में येन केन प्रकारेण उतार कर सागर के पास ले जा रही है ॥९॥

(२) नायिकापक्ष में—शरद् नामक स्त्री प्रणय की कथाओं में चतुर दूती के समान उसप्रकार से ईर्ष्या वाली (अतएव) वियोग के कारण कृश होती हुई गङ्गा नामिका नायिका को सर्वात्मना (प्रसन्नमुखी करके) किसीप्रकार से अनेक पत्नियों वाले स्वामी के अभिसरण मार्ग में करके (अवतार्य) सिन्धु नामक पति के पास ले जा रही है ॥९॥

टिप्पणी

(१) **अवतार्य**—अव=तृ+णिच्+ल्यप् ।

(२) **तनूभवन्तीम्**—अतनः तनुः भवन्ती इति तनु+च्वि+भू+शतृ स्त्रियाम्। **'च्वौ च'** पा० ७/४/२६ इति दीर्घः ।

(३) नवाँ श्लोक भी ध्वन्यात्मक है । **रतिकथाचतुरा दूती इव**—यहाँ दूती के दृष्टान्त के द्वारा इस बात की ओर संकेत किया है कि जिसप्रकार प्रणय की कथाओं में चतुर कोई दूती नायक के अपराध के कारण क्रोधित एवं मानवती परन्तु विरह के कारण कृश नायिका को यथाकथञ्चित् प्रसन्न करके नायक के पास जाने के लिये प्रेरित करती है, उसीप्रकार शरद् ऋतु भी गङ्गा को सिन्धु के पास ले जा रही है। इसमें प्रकृत अर्थ गङ्गापक्ष में और अप्रकृत अर्थ मानिनी नायिका के पक्ष में है । समुद्र और नायक दोनों ही बहुवल्लभ हैं—एक नदियों के कारण और दूसरा अपनी अनेक पत्नियों के कारण । गंगा और नायिका दोनों ही कुलषित हैं—एक वर्षा के कारण, दूसरी खण्डिता होने के कारण, ईर्ष्या के कारण । गङ्गा और नायिका दोनों ही कृश

हैं--एक शरद् ऋतु के आ जाने के कारण और दूसरी वियोग के कारण । गङ्गा को समुद्र से मिलाने वाली शरद् है, जबकि इसके विपरीत नायिक को अपने सिन्धु नामक पति से मिलन कराने वाली दूती है ।

(४) सिन्धुपतिम्—सिन्धुः—नदी (स्त्रीलिङ्ग) । सिन्धूनां पतिः—समुद्र । सिन्धुः—समुद्र (पुंल्लिग) । सिन्धुनामा पतिः, तम् । **संस्कृत साहित्य में सभी नदियों के नाम स्त्रीलिङ्ग हैं । समुद्र, जिसमें सभी नदियाँ जाकर गिरती हैं, काव्य में पतित्वेन वर्णित किया गया है ।**

(५) रूपकातिशयोक्ति के द्वारा नवें श्लोक में निम्न ध्वनि भी निकलती है—

राक्षस की बुद्धि के वश में की हुई होने के कारण कलुषित और सन्देह में पड़ी हुई नन्दकुल की लक्ष्मी को चतुर दूती के समान अत्यन्त गम्भीर चाणक्य-नीति समुद्र के समान अत्यन्त गम्भीर आशय वाले चन्द्रगुप्त के पास सर्वात्मना पहुँचा रही है।

रूपकातिशयोक्ति का लक्षण—"रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यसानतः" ।
कुवलयानन्द ।

(६) सातवें, आठवें और नवें श्लोक में किया गया शरद्-वर्णन इस बात की सूचना देता है कि विजय के लिये प्रस्थान कर देना चाहिये । आगे चलकर चाणक्य कहता है कि 'सोऽयं व्यायामकालो नोत्सवकाल इति ।

(समन्तान्नाट्येनावलोक्य ।) अये, कथमप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवं कुसुमपुरम् । आर्य वैहीनरे, अथास्मद्वचनादाघोषितः कुसुमपुरे कौमुदीमहोत्सवः ।

कञ्चुकी—अथ किम् ।

राजा—तत्किं न गृहीतमस्मद्वचनं पौरैः ।

कञ्चुकी—(कर्णौ पिधाय ।) शान्तं पापं शान्तं पापम् । पृथिव्यामस्खलितपूर्वं देवस्य शासनं कथं पौरेषु स्खलिष्यति ।

राजा—तत्कथमप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवमद्यापि कुसुमपुरम् ।

धूर्तैरन्वीयमानाः स्फुटचतुरकथाकोविदैर्वेशनार्यो
नालंकुर्वन्ति रथ्याः पृथुजघनभराक्रान्तिमन्दैः प्रयातैः ।
अन्योन्यं स्पर्धमाना न च गृहविभवैः स्वामिनो मुक्तशङ्काः
साकं स्त्रीभिर्भजन्ते विधिमभिलषितं पार्वणं पौरमुख्याः ॥१०॥

संस्कृत-व्याख्या

अप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवम्=अप्रवृत्तः=अनारब्धः कौमुदीमहोत्सवः यस्मिन् तत् । आघोषितः=प्रख्यापितः । शासनम्=आज्ञा ।

अन्वयः—धूर्तैरिति—स्फुटचतुरकथाकोविदैः धूर्तैः अन्वीयमानाः वेशनार्यः पृथुजघनभराक्रान्तिमन्दैः प्रयातैः रथ्याः नालंकुर्वन्ति । गृहविभवैः च अन्योन्यं स्पर्ध-

माना: पौरमुख्या: स्वामिन: मुक्तशङ्का: स्त्रीभि: साकम् अभिलषितं पार्वणम् विधिम् न भजन्ते ॥१०॥

व्याख्या—स्फुटचतुरकथाकोविदै:—स्फुटा:—स्पष्टा: (अगूढा इत्यर्थ) चतुरा: कुशला: या कथा:—प्रेमवार्ता: तासु कोविदै:—कुशलै: धूर्तै:—विटै: अन्वीयमाना:—अनुगम्यमाना: वेशनार्य:—वारविलासिन्य: पृथुजघनभराक्रान्तमन्दै:=पृथो:—स्थूलस्य जघनस्य यो भर:—गुरुता तस्य आक्रान्त्या—आरोपणेन मन्दै:—अलसै: प्रयातै:—गतिभि: रथ्या:—राजमार्गान् नालंकुर्वन्ति—न शोभयन्ति । गृहविभवै:—गृहैश्वर्यैश्च अन्योन्यम्—परस्परं स्पर्धमाना:—स्पर्धयान्योन्यमाधिक्येन दर्शयन्त: पौरमुख्या:—पुरवासिनां श्रेष्ठा: स्वामिन:—गृहस्वामिन: मुक्तशङ्का: (राजानुमतत्वात्)—निर्भीका: (सन्त:) स्त्रीभि:—नारीभि: साकं—सह अभिलषितं—चिरवाञ्छितम् पार्वणम्=पर्वणि—कार्तिक्यां पौर्णमास्यां भवम् विधिम्—क्रीडाविधिम् न भजन्ते—न सेवन्ते ॥१०॥

हिन्दी रूपान्तर

(चारों तरफ अभिनय के साथ देखकर ।) अरे, क्या (कथम्) कुसुमपुर में कौमुदीमहोत्सव प्रारम्भ नहीं हुआ है । आर्य, वैहीनरे, क्या (अथ) हमारी आज्ञा से कुसुमपुर में कौमुदीमहोत्सव की घोषणा कर दी थी ।

कञ्चुकी—और क्या ?

राजा—तो क्या नागरिकों ने हमारी आज्ञा को नहीं स्वीकार किया ।

कञ्चुकी—(दोनों कानों को बन्द करके ।) पाप शान्त हो, पाप शान्त हो। पृथिवी पर पहले कभी स्खलित न होने वाली महाराज की आज्ञा नागरिकों में कैसे स्खलित होगी ?

राजा—तो (यह) कैसे आज भी प्रारम्भ नहीं हुआ है कौमुदीमहोत्स व जिसमें ऐसा कुसुमपुर है ।

श्लोक (१०) अर्थ—स्पष्ट और कुशल प्रणय-कथाओं में चतुर धूर्तों से अनुसरण की जाती हुई वेश्यायें विशाल जंघाओं के भार के आरोपण से मन्दगतियों से राजमार्गों को अलंकृत नहीं कर रही हैं । और अपने घर के ऐश्वर्य के द्वारा परस्पर, स्पर्धा करते हुये नागरिकों में श्रेष्ठ गृहस्वामी भयरहित होकर (अपनी) स्त्रियों के साथ चिराकांक्षित शरद-पूर्णिमा के उत्सव को (पार्वणं विधिम्) नहीं मना रहे है ॥१०॥

टिप्पणी

(१) अस्खलितपूर्वम्—स्खल+क्त कर्तरि स्खलित । पूर्वं स्खलितम्—"भूतपूर्वे चरट्" पा० ५/२/५३ से पूर्व शब्द का पर निपात हो गया है । न स्खलितपूर्वम्=अस्खलितपूर्वम् ।

(२) नवम श्लोक का वर्णन करने के उपरान्त चन्द्रगुप्त कञ्चुकी से कहना चाहता है कि शहर में किसी भी प्रकार के उत्सव के मनाने के लक्षण दिखाई नहीं दे रहे हैं अतः निश्चित रूप से मेरी आज्ञा का उल्लंघन हुआ है ।

(३) वेशनार्यः—वेशनारी॰ वेश्या, शहर की सामान्य स्त्री। वेश—वह स्थान है, जहाँ शहर का प्रत्येक व्यक्ति जा सकता है। लक्षण—"साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक्" ॥ दशरूपक, प्रकाश २/११॥ पाटलिपुत्र की इन वेश्याओं का वर्णन कामशास्त्र की कहानियों में और वसुबन्धुरचित वासवदत्ता नामक नाटक में खूब आया है।

(४) पृथुजघन—स्त्रियों का विशाल जंघाओं वाला होना हमेशा श्रेष्ठ माना गया है। यह सम्भवतः उच्च श्रेणी की उन स्त्रियों का चिह्न माना गया है जो कुछ काम नहीं करती हैं, निश्चिन्त होकर रहती हैं और अपने घरों में सुरक्षित रहती हैं, जिनको कहीं से भी किसी प्रकार का भी भय नहीं होता है।

(५) मुक्तशङ्काः—निर्भीकाः क्योंकि राजा नन्द धन छीन लिया करता था, सम्प्रति उनको चन्द्रगुप्त से अपना धन छीने जाने का किसी प्रकार का भय नहीं है। अतः 'मुक्तशङ्काः'। इसलिये भी निर्भीक हैं कि कौमुदीमहोत्सव को मनाने के लिये राजा की ओर से भी अनुमति मिल गई है।

(६) इस कौमुदीमहोत्सव का वात्स्यायन के कामशास्त्र में "कौमुदीजागार" नाम दिया है।
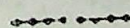
कञ्चुकी—एवमेवैतत्।

राजा—किमेतत्।

कञ्चुकी—देव, इदम्।

राजा—स्फुटं कथय।

कञ्चुकी—प्रतिषिद्धः कौमुदीमहोत्सवः।

राजा—(सक्रोधम्।) आः केन।

कञ्चुकी—देव, नातः परं विज्ञापयितुं शक्यम्।

राजा—न खलु आर्यचाणक्येनापहृतः प्रेक्षकाणामतिशयरमणीयश्चक्षुषो विषयः।

कञ्चुकी—देव, कोऽन्यो जीवितुकामो देवस्य शासनमतिवर्तेत।

राजा—शोणोत्तरे, उपवेष्टुमिच्छामि।

प्रतीहारी—देव, एदं सिंहासणम्। देव, इदं सिंहासनम्।

राजा—(नाट्येनोपविश्य।) आर्य वैहीनरे आर्यचाणक्यं द्रष्टुमिच्छामि।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रान्तः।)

संस्कृत-व्याख्या

अपहृतः = प्रतिषिद्धः। प्रेक्षकाणाम् = दर्शकानाम्। अतिशयरमणीयः = अतिमनोज्ञः। जीवितुकामः = जीवनाभिलाषी। अतिवर्तेत = अतीत्य वर्तेत।

हिन्दी रूपान्तर

कञ्चुकी—ऐसा ही यह है।

राजा—यह क्या है ?

कञ्चुकी—महाराज, यह।

राजा—स्पष्ट कहो।

कञ्चुकी—कौमुदीमहोत्सव रोक दिया गया है।

राजा—(क्रोध के साथ।) आः, किसके द्वारा।

कञ्चुकी—महाराज, इससे अधिक निवेदन करना सम्भव नहीं है।

राजा—(क्या) आर्य चाणक्य ने (तो) दर्शकों की दृष्टि का अत्यन्त रमणीय विषय नहीं रोक दिया।

कञ्चुकी—महाराज, दूसरा (चाणक्य से भिन्न) कौन जीने की इच्छा वाला महाराज की आज्ञा का उल्लङ्घन कर सकता है।

राजा—शोणोत्तरे, पर बैठना चाहता हूँ।

प्रतिहारी—महाराज, यह सिंहासन है।

राजा—(अभिनय के साथ बैठकर।) आर्य वैहीनरे, आर्य चाणक्य को देखना चाहता हूँ।

कञ्चुकी—महाराज जो आज्ञा देते हैं। (ऐसा कहकर निकल गया।)

टिप्पणी

(१) **एवमेतत्**—कञ्चुकी के अन्दर इतना साहस नहीं है कि वह खुल कर चन्द्रगुप्त से कह सके कि चाणक्य ने कौमुदीमहोत्सव को रुकवा दिया है, अतः इसप्रकार का अस्पष्ट उत्तर दिया है।

(२) **विज्ञापयितुम्**—वि + ज्ञा + णिच् + तुमुन्। सामान्यरूप से यह 'आज्ञापयितुम्' का उलटा है। विज्ञापयितुम्' का प्रयोग उस समय होता है जब कि कोई छोटा व्यक्ति अपने से बड़े को कोई बात कह रहा होता है और 'आज्ञापयितुम्' का प्रयोग उस समय होता है जब कि बड़ा व्यक्ति अपने से छोटे को कुछ कहता है।

(३) **जीवितुकामः**—जीवितुं कामः अस्य। यहाँ पर 'जीवितुम्' के मकार का लोप **'लुम्पेदवश्यमः कृत्येतुं काममनसोरपि'** इस कारिका के अनुसार हुआ है।

(४) **उपवेष्टुमिच्छामि**—राजा यह दिखाना चाहता है कि मैं इस कौमुदीमहोत्सव को रोके जाने वाले समाचार से इतना विक्षुब्ध हो गया हूँ कि अब और अधिक खड़ा नहीं रह सकता हूँ।

(ततः प्रविशति आसनस्थः स्वभवनगतः कोपानुविद्धां चिन्तां नाटयंश्चाणक्यः।)

चाणक्यः—कथं स्पर्धते मया सह दुरात्मा राक्षसः।

कृतागाः कौटिल्यो भुजग इव निर्याय नगरा-
द्यथा नन्दान्हत्वा नृपतिमकरोन्मौर्यवृषलम् ।
तथाहं मौर्येन्दोः श्रियमपहरामीति कृतधीः
प्रकर्षं मद्बुद्धेरतिशयितुमेष व्यवसितः । ११।।

संस्कृत-व्याख्या

कोपानुविद्धाम् = कोपेन-क्रोधेन अनुविद्धाम्—रञ्जिताम् ।

अन्वयः—कृतागा इति—कृतागाः कौटिल्यः भुजग इव नगरात् निर्याय यथा नन्दान् हत्वा मौर्यवृषलम् नृपतिमकरोत् तथा अहं मौर्येन्दोः श्रियम् अपहरामि इति कृतधीः एषः मद्बुद्धेः प्रकर्षम् अतिशयितुं व्यवसितः ।।११।।

व्याख्या—कृतागाः = कृतं (नन्दैः) आगः—(अग्रासनाकर्षणरूपः) अपराधः यस्य सः कौटिल्यः—चाणक्यः भुजग इव—सर्प इव नगरात्—कुसुमपुरात् निर्याय—निर्गत्य यथा नन्दान् हत्वा—विनाश्य मौर्यवृषलं—चन्द्रगुप्तं नृपतिम्—राजानम् अकरोत् तथा अहं मौर्येन्दोः—चन्द्रगुप्तस्य श्रियम्—लक्ष्मीम् अपहरामि—अपनयामि इति-अनेन प्रकारेण कृतधीः = कृता—कल्पिता धीः—मतिः येन तादृशः (कृतनिश्चय इत्यर्थः) एषः—राक्षसः मद्बुद्धेः—मदीयायाः मतेः प्रकर्ष—महिमानम् अतिशयितुम्—अतिक्रमितुम् व्यवसितः—प्रवृत्तः (अस्ति) ।।११।।

हिन्दी रूपान्तर

[द्वितीय दृश्य । स्थान-चाणक्य का घर ।]

(उसके बाद अपने घर में विद्यमान आसन पर बैठा हुआ क्रोध से युक्त चिन्ता का अभिनय करता हुआ चाणक्य प्रवेश करता है ।)

चाणक्य—मेरे साथ दुष्टात्मा राक्षस किसप्रकार स्पर्धा करता है ?

श्लोक (११) अर्थ—(नन्दों ने) किया है (प्रमुख आसन से खींचा जाना रूप) अपराध जिसका ऐसे (अर्थात् अपमानित) चाणक्य ने सर्प के समान नगर से बाहर जाकर जिसप्रकार नन्दों को मारकर मौर्य चन्द्रगुप्त को राजा कर दिया, उसीप्रकार मैं (राक्षस) मौर्य चन्द्रगुप्त की (मौर्येन्दोः) लक्ष्मी का अपहरण कर लूंगा—इसप्रकार कृतनिश्चयी यह (राक्षस) मेरी (चाणक्य की) बुद्धि के उत्कर्ष का अतिक्रमण करने के लिये कटिबद्ध (व्यवसितः) है ।।११।।

टिप्पणी

(१) **कोपानुविद्धाम्**—अनु + व्यध + क्त कर्मणि अनुविद्धः । कोपेन अनुविद्धाम्-क्रोधरञ्जिताम् ।

(२) **भुजगः** = भुजेन—कुटिलगत्या गच्छति इति । भुज + गम् + ड कर्तरि । भुजङ्ग और भुजङ्गम खच् प्रत्यय होकर सिद्ध होते हैं । **भुजग इव**—ऐसा विश्वास है कि सर्पों का बदला लेने का स्वभाव होता है । वे उस व्यक्ति से समय पाकर अपना बदला ले लेते हैं जिसने उनको आघात पहुँचाया होता है । यहाँ पर भी इसी बदले की भावना होने के कारण सर्प की उपमा दी है ।

(३) **प्रकर्षम्**—प्र + कृष् + घञ् भावे प्रकर्षः, तम् ।

(४) अतिशयितुम्—अति + शी + तुमुन्—उपसर्ग के कारण सकर्मकत्वम्।
(५) व्यवसित:—वि + अव + सो + क्त कर्तरि।
(६) चाणक्य उक्त श्लोक में यह कहना चाहता है कि राक्षस यह समझता है कि उसकी बुद्धि मेरी बुद्धि से श्रेष्ठ है, परन्तु उसका यह भ्रम है। यह राक्षस केवल ईर्ष्यावश "अशक्तोऽहं गृहारम्भे शक्तोऽहं गृहभञ्जने" इस न्याय के अनुसार मौर्य का अपकार करने के लिये प्रयत्न कर रहा है। आगे चलकर चाणक्य कहता है '**केवलं प्रधानवैरं मदनुकृतेः साधर्म्यमिति।**' तथा जिसप्रकार चाणक्य ने नन्द को मार कर चन्द्रगुप्त को राजसिंहासन पर अधिष्ठित कर दिया उसीप्रकार मैं भी चन्द्रगुप्त को मारकर मलयकेतु को राज्यसिंहासन पर अधिष्ठित कर दूंगा। यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि नन्द का विनाश करने के लिये चाणक्य कुसुमपुर को छोड़कर बाहर चला गया था (नगरात् निर्याय) इसीप्रकार राक्षस भी कुसुमपुर को छोड़ चुका है और चन्द्रगुप्त को विनष्ट करने के लिये प्रयत्नशील है।

(७) उक्त श्लोक की प्रथम दो पंक्तियों के अन्दर दो बातों का वर्णन है। (१) नन्द का विनाश और (२) चन्द्रगुप्त को राजा बनाना। परन्तु अन्तिम दो पंक्तियों के अन्दर केवल चन्द्रगुप्त के विनाश की तो चर्चा है परन्तु मलयकेतु को राज्य पर आरूढ़ करने के विषय में कुछ नहीं है, "तथाहं मौर्येन्दोः श्रियम् अपहरामि"।

(आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा।) राक्षस राक्षस, विरम्यतामस्माद्दुर्व्यसनात्।

उत्सिक्तः कुसचिवदृष्टराज्यभारो
नन्दोऽसौ न भवति चन्द्रगुप्त एषः।
चाणक्यस्त्वमपि च नैव केवलं ते
साधर्म्यं मदनुकृतेः प्रधानवैरम् ॥१२॥

संस्कृत-व्याख्या

दुर्व्यसनात्—दुष्टं व्यसनं तस्मात्, मौर्येन्दोः श्रियोऽपहरणाऽसाध्यव्यापारात्।

अन्वयः—उत्सिक्त इति—उत्सिक्तः कुसचिवदृष्टराज्यभारः असौ नन्दः एषः चन्द्रगुप्तः न भवति। त्वमपि च चाणक्यः नैव, प्रधानवैरं केवलं ते मदनुकृतेः साधर्म्यम् ॥१२॥

व्याख्या—उत्सिक्तः—गर्वितः **कुसचिवदृष्टराज्यभारः**—कुसचिवैः-कुमन्त्रिभिः (भवादृशैः) दृष्टः-सञ्चालितः राज्यभारः यस्य तादृशः असौ नन्दः एषः-अयम् चन्द्रगुप्तः न भवति। त्वमपि च चाणक्यः—कौटिल्यः नैव प्रधानवैरम्—परिदृष्टद्वेषः केवलं ते-तव मदनुकृतेः-मदनुकरणस्य (मत्स्पर्धाविषयकमिति यावत्) साधर्म्यं—समानो धर्मः (न तु बुद्धिप्रकर्षादिः मत्सादृश्ये तव समानो धर्मोऽस्ति) ॥१२॥

हिन्दी रूपान्तर

(आकाश में लक्ष्य बांध कर।) राक्षस राक्षस, इस दुष्ट व्यसन से रुक जाओ।

श्लोक (१२) अर्थ—गर्वित बुरे मन्त्रियों से सञ्चालित राज्यभार वाला वह नन्द यह चन्द्रगुप्त नहीं है और तुम भी चाणक्य नहीं हो, प्रवृद्धद्वेष (प्रधानवैरम्) का होना केवल तुम्हारा मेरे अनुकरण का समान धर्म है (साधर्म्यम्)। (बुद्धिप्रकर्षादि में मेरे साथ तुम्हारी कोई समानता नहीं है।) ॥१२॥

टिप्पणी

(१) दुर्व्यसनात्=व्यस्यते—क्षिप्यते अनेन इति वि+अस्+ल्युट् करणे। दुष्टं व्यसनं तस्मात्। "जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्" (वार्तिक) इति पञ्चमी।

(२) कुसचिवदृष्टराज्यभारः—यहाँ पर कुसचिव ठीक नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि पीछे चाणक्य ने नन्द के मन्त्रियों को निष्क्रान्त, नयशालिन् और सुसचिव कहा है, तथा राक्षस के विषय में भी चाणक्य की अच्छी सम्मति है। (प्रथम अङ्क ३३ श्लोक)।

(३) त्वमपि चाणक्य. नैव—अपना नाम लेकर चाणक्य ने अपने गौरव और माहात्म्य को प्रकट किया है।

(४) उक्त श्लोक में चन्द्रगुप्त और नन्द में, चाणक्य और राक्षस में क्या अन्तर है यह स्पष्ट किया है। नन्द कैसा है इसको स्पष्ट करने के लिये दो विशेषण दिये हैं—(१) उत्सिक्तः और (२) कुसचिवदृष्टराज्यभारः, परन्तु इसके विपरीत चन्द्रगुप्त कैसा है इसको स्पष्ट करने के लिये कोई विशेषण न देकर केवल इतना ही कहा है कि चन्द्रगुप्त नन्द के समान नहीं है अर्थात् चन्द्रगुप्त न तो 'उत्सिक्तः' है और नहीं 'कुसचिवदृष्टराज्यभारः' है। इसीप्रकार चाणक्य और राक्षस में भी महान् अन्तर है। परन्तु हाँ, चाणक्य के साथ राक्षस की एक बात में समानता है और वह समानता है प्रमुख राजा के साथ वैर करना (प्रधानवैरम्)। तथा जिसप्रकार मैंने नन्दों को समूल विनष्ट कर दिया, उसीप्रकार तुम भी मौर्य को समूल नष्ट कर दोगे—केवल इतने मात्र वैर के कारण तुम मेरे साथ स्पर्धा कर रहे हो अन्यथा बुद्धि-प्रकर्षादि में तुम्हारी मेरे साथ क्या स्पर्धा? संक्षेप में चन्द्रगुप्त नन्द से श्रेष्ठ है और तुम (राक्षस) चाणक्य से हीन हो।

(विचिन्त्य।) अथ वा नातिमात्रमत्र वस्तुनि मया मनः खेदयितव्यम्। कुतः।

मद्भृत्यैः किल सोऽपि पर्वतसुतो व्याप्तः प्रविष्टान्तरै-
रुद्युक्ता स्वनियोगसाधनविधौ सिद्धार्थकाद्याः स्पशाः।
कृत्वा संप्रति कैतवेन कलहं मौर्येन्दुना राक्षसं
भेत्स्यामि स्वमतेन भेदकुशलस्त्वेष प्रतीपं द्विषः ॥१३॥

संस्कृत-व्याख्या

अतिमात्रम्—अतिक्रान्ता मात्रा-प्रमाणं यस्मिन्कर्मणि तद्, अत्यधिकम्।

अन्वयः—मद्भृत्यैरिति – प्रविष्टान्तरैः मद्भृत्यैः सः पर्वतसुतोऽपि किल व्याप्तः । सिद्धार्थकाद्याः स्पशाः स्वनियोगसाधनविधौ उद्युक्ताः । सम्प्रति मौर्येन्दुना कैतवेन कलहं कृत्वा भेदकुशलः एष तु द्विषः प्रतीपं राक्षसं स्वमतेन भेत्स्यामि ॥१३॥

व्याख्या—प्रविष्टान्तरैः = प्रविष्टम्—आयत्तीकृतम् अन्तः—अन्तःकरणं यैस्तैः (वशीकृतशत्रुहृदयैः) मद्भृत्यैः—मदनुचरैः भागुरायणादिभिः सः पर्वतसुतः—मलयकेतुरपि किल व्याप्तः—परिवृतः । सिद्धार्थकाद्याः—सिद्धार्थकप्रमुखाः स्पशाः—गूढप्रणिधयः स्वनियोगसाधनविधौ = स्वनियोगस्य निजकर्मणः साधनविधौ-निष्पादनविषये उद्युक्ताः-तत्पराः । सम्प्रति-अधुना मौर्येन्दुना-चन्द्रगुप्तेन कैतवेन—व्याजेन (न तु वस्तुतः) कलहं—विवादं कृत्वा भेदकुशलः = भेदे—पार्थक्ये कुशलः—पटुः (अहम्) एषः—अचिरात् तु द्विषः—शत्रोः मलयकेतोः सकाशात् प्रतीपम् – (अस्मासु) प्रतिकूलचारिणं राक्षसं स्वमतेन—स्वबुद्ध्या भेत्स्यामि-पृथक् करिष्यामि (तयोर्विरोधं सम्पादयिष्यामीत्यर्थः)। ॥१३॥

हिन्दी रूपान्तर

(सोचकर ।) अथवा इस विषय में मुझे मन को अत्यधिक खिन्न नहीं करना चाहिये । क्योंकि ।

श्लोक (१३) अर्थ—शत्रु के हृदय में प्रविष्ट हुये अर्थात् शत्रु के हृदय को अपने वश में करने वाले (प्रविष्टान्तरैः) (भागुरायणादि) मेरे अनुचरों से वह पर्वतक का पुत्र (मलयकेतु) भी घिरा हुआ है । सिद्धार्थकादि गुप्तचर अपने कार्य (भेदनकर्म) को सम्पन्न करने में तत्पर हैं । सम्प्रति चन्द्रगुप्त के साथ बनावटी रूप से (वास्तविक नहीं) लड़ाई करके भेदन करने में कुशल (मैं) यह (शीघ्र ही) शत्रु (मलयकेतु) से प्रतिकूल आचरण करने वाले अर्थात् शत्रु राक्षस को अपनी बुद्धि के अनुसार पृथक् कर दूँगा ॥१३॥

टिप्पणी

(१) **उद्युक्तः**—युज्-समाधौ, दिवादिगण की धातु है, अकर्मक है । उद् + युज् + क्त कर्तरि वर्तमाने ।

(२) **मौर्येन्दुना**—'सह' के योग में तृतीया है ।

(३) **एष भेत्स्यामि**—अर्थात् यह मैं शीघ्र ही लड़ाई करवा दूँगा ।

(४) **स्वमतेन भेत्स्यामि**—अपनी इच्छा के अनुसार पृथक् कर दूँगा । यह भेदकर्म चाणक्य के लिये सुलभ है । कारण स्पष्ट है क्योंकि भागुरायणादि चाणक्य के गुप्तचर हैं, इन्होंने मलयकेतु को अपने वश में रक्खा है । सिद्धार्थकादि भी चाणक्य के गुप्तचर हैं और ये राक्षस के पीछे लगे हुये हैं । इसप्रकार मलयकेतु और राक्षस दोनों ही चाणक्य की पहुँच के भीतर हैं । इसीलिये कहा है 'स्वमतेन भेत्स्यामि' ।

(५) **एषः**—इसका सम्बन्ध भेत्स्यामि के साथ है अर्थात् एष भेत्स्यामि = शीघ्र ही पृथक् कर दूंगा ।

(६) **प्रतीपम्**—प्रतिगता आप अस्मिन् इति प्रति + अप् = अ (समासान्त)

"ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" पा० ५/४/७४ इति समासान्त अच् । प्रति + ईपः = प्रतीपः तम् = वह स्थान जहाँ से धारा मुड़ती है । "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यः अप ईत् ।" पा० ६/३/९७ से अप = ईत् ।

(प्रविश्य ।)

कञ्चुकी — कष्टं खलु सेवा ।

भेतव्यं नृपतेस्ततः सचिवतो राज्ञस्ततो वल्लभा-
दन्येभ्यश्च वसन्ति येऽस्य भवने लब्धप्रसादा विटाः ।
दैन्यादुन्मुखदर्शनापलपनैः पिण्डार्थमायस्यतः
सेवां लाघवकारिणीं कृतधियः स्थाने श्ववृत्तिं विदुः ॥१४॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—भेतव्यमिति— नृपतेः भेतव्यम्, ततः सचिवतः, ततः राज्ञः वल्लभात् अन्येभ्यः च ये लब्धप्रसादाः विटाः अस्य भवने वसन्ति । दैन्यादुन्मुखदर्शनापलपनैः पिण्डार्थम् आयस्यतः लाघवकारिणीं सेवां कृतधियः स्थाने श्ववृत्तिं विदुः ॥१४॥

व्याख्या—(प्रथमम्) नृपतेः—राज्ञः भेतव्यम्—शङ्कितव्यम्, ततः—तदनन्तरम् सचिवतः—प्रधानमन्त्रिणः ततः राज्ञः वल्लभात्-प्रियजनात्, अन्येभ्यः—एतद् व्यतिरिक्ते-भ्यश्च ये लब्धप्रसादाः-प्राप्तानुग्रहाः विटाः—धूर्ताः अस्य—राज्ञः भवने—गृहे वसन्ति-वर्तन्ते (तेभ्यः अपि भेतव्यम्) । दैन्यादुन्मुखदर्शनापलपनैः - दैन्यात्-दीनभावात् (हेतोः) उन्मुखानि-ऊर्ध्वमुखानि दर्शनानि अपलपनानि-मिथ्याभाषणानि **श्वपक्षे** ताडनभीत्या देहसंकोचादीनि च तैः पिण्डार्थम्-उदरभरणार्थम् आयस्यतः-क्लिश्यमानस्य (सेवकस्य) लाघवकारिणीं-नीचत्वविधायिनीं सेवां- शुश्रूषाम् कृतधियः-विद्वांसः स्थाने-युक्तम् (एव) श्ववृत्तिम्-कुक्कुरजीविकां विदुः-जानन्ति ॥१४॥

हिन्दी रूपान्तर

(प्रवेश करके ।)

कञ्चुकी—सेवा (बड़ी) कष्टदायिनी है ।

श्लोक (१४) अर्थ -(सबसे पहले तो) राजा से डरना चाहिये (न मालूम कब क्रोधित हो जावे), उसके बाद मन्त्री से, उसके पश्चात् राजा के प्रिय व्यक्ति से (डरना चाहिये) (कहीं नाराज होकर राजा से शिकायत न कर दे), इनसे भिन्न व्यक्तियों से, जो कृपा-पात्र धूर्त इस (राजा) के घर में रहते हैं - (उनसे डरना चाहिये क्योंकि वे भी राजा से कह कर अप्रिय कर सकते हैं) । दीनता के कारण ऊपर मुख करके देखने और मिथ्या भाषणों से (अपलपन) (श्वपक्षे)—पीटे जाने के डर से शरीर को सिकोड़ने आदियों से ये उदरपूर्ति के लिये (पिण्डार्थम्) कष्ट उठाते हुये (अनुचर) की तुच्छ करने वाली सेवा को विद्वान् (कृतधियः) उचित ही (स्थाने) कुत्ते की वृत्ति कहते हैं ॥१४॥

टिप्पणी

(१) सेवा—अमरसिंह ने कोष में सेवा को श्ववृत्ति का समानार्थक बतलाया है—"सेवा श्ववृत्तिराख्याता"।

(२) उन्मुखदर्शनापलपनैः—उद्गतं मुखं यस्मिन् तत् उन्मुखम्। उन्मुखं यथा तथा दर्शनम्—ऊपर को मुख करके देखना। यह ऊपर को देखना अपने स्वामी के मुख की ओर है। ऐसा ही कुत्ता भी करता है। इस देखने का एकमात्र उद्देश्य यही है कि स्वामी के मुख पर आये हुये भावों को पढ़कर उसके अनुसार आचरण करना। अप + लप् + ल्युट् भावे अपलपन = मिथ्या भाषण। कुत्ते के विषय में यह अपलपन उसका पीटे जाने के भय से शरीर को सिकोड़ना है।

(३) उक्त श्लोक में कञ्चुकी का निर्वेद वर्णित है और यह निर्वेद केवल इसलिये है कि वह चाणक्य और चन्द्रगुप्त की मिथ्या लड़ाई को वास्तविक लड़ाई समझ रहा है। उसका आशय यह है, सेवा बड़ी ही कष्टकारक है क्योंकि उसको राजा और मन्त्री इन दोनों को ही प्रसन्न करना है। स्थिति यह है कि दोनों (चन्द्रगुप्त और चाणक्य) विरोधी उद्देश्य को लेकर काम कर रहे हैं। यदि इनमें से किसी को भी प्रसन्न करता है तो दूसरा नाराज हुआ जाता है। कवि ने सेवा और कुक्कुरवृत्ति को समान बतलाया है, क्योंकि दोनों ही अपने उदर-भरण के लिये अपने स्वामी के प्रति समान आचरण करते हैं। ऐसा क्यों करते हैं? इसका हेतु तीसरी पंक्ति में "दैन्यात्" कह कर दिया है।

(परिक्रम्यावलोक्य च।) इदमार्यचाणक्यगृहम्। यावत्प्रविशामि। (प्रविश्यावलोक्य च।) अहो राजाधिराजमन्त्रिणो विभूतिः। तथाहि।

उपलशकलमेतद्भेदकं गोमयानां
    वटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तूपमेतत्।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि-
    र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम् ॥१५॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—उपलशकलमिति—गोमयानां भेदकम् एतत् उपलशकलम्, वटुभिः उपहृतानाम् बर्हिषाम् एतत् स्तूपम्। शुष्यमाणाभिः आभिः समिद्भिः विनमित—पटलान्तं जीर्णकुड्यं शरणम् अपि दृश्यते ॥१५॥

व्याख्या—(शुष्काणाम्) गोमयानां—करीषाणां भेदकं—विदारकम् एतत्—इदम् उपलशकलं—प्रस्तरखण्डम् (दृश्यते), वटुभिः—शिष्यैः उपहृतानाम्—आनीतानां बर्हिषां-दर्भाणाम् एतत्-स्तूप-महान्. शुष्यमाणाभिः-शुष्यन्तीभिः आभिः समिद्भिः-यज्ञीयकाष्ठैः विनमितपटलान्तं = विनमितः—अतिनमितः पटलान्तः— छदिप्रान्तः यस्य

तादृशं जीर्णकुड्यं = जीर्णकालध्वस्तं कुड्यं-भित्तिः यस्य तादृशम् शरणं—गृहम् अपि दृश्यते—लक्ष्यते ॥१५॥

हिन्दी रूपान्तर

(घूमकर और देखकर।) यह आर्य चाणक्य का घर है। जब तक प्रवेश करता हूँ। (प्रवेश करके और देखकर।) आः, राजाओं के भी राजा के भी मन्त्री का ऐश्वर्य। तथाहि।

श्लोक (१५) अर्थ –(सूखे हुये) उपलों को तोड़ने वाला यह पत्थर का टुकड़ा है, शिष्यों द्वारा लाये हुये कुशाओं का यह ढेर है। (धूप में) सूखती हुई इन समिधाओं (के भार) से ढके हुये छत के प्रान्तभाग वाला जीर्ण दीवारों वाला घर भी दिखाई दे रहा है ॥१५॥

टिप्पणी

(१) उक्त श्लोक में राजाधिराज चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य के जीवन की सादगी का वर्णन है और सादगी प्रस्तरखण्ड और जीर्णकुड्य से वर्णित की गई है।

(२) उपलशकलम् इत्यादि—इससे यह परिलक्षित होता है कि चाणक्य एक महाश्रोत्रिय ब्राह्मण है। उपल भी पूरा नहीं है, उसका टुकड़ा है।

(३) गोमयानाम्—गोः पुरीषम् इति गो + मयट्, तेषाम्।

(४) बटुभिरुपहृतानाम् इत्यादि—इससे यह प्रतीत होता है कि चाणक्य एक महान् आचार्य भी है।

(५) उक्त श्लोक में वर्णित प्रस्तरखण्ड और दर्भों का ढेर—ये दोनों घर के बाहर हैं। इसीलिये कञ्चुकी की दृष्टि सबसे पहले इन्हीं पर गई है।

तत्स्थाने खल्वस्य वृषलोद्यश्चन्द्रगुप्त इति। कुतः।

स्तुवन्ति श्रान्तास्याः क्षितिपतिमभूतैरपि गुणैः
प्रवाचः कार्पण्याद्यदवितथवाचोऽपि पुरुषाः।
प्रभावस्तृष्णायाः स खलु सकलः स्यादितरथा
निरीहाणामीशस्तृणमिव तिरस्कारविषयः ॥१६॥

संस्कृत-व्याख्या

स्थाने = युक्तम्। वृषलोद्यः = वृषलशब्देन वदितुमर्हः।

अन्वयः – स्तुवन्तीति—अवितथवाचः अपि पुरुषाः यत् कार्पण्यात् प्रवाचः श्रान्तास्याः अभूतैरपि गुणैः क्षितिपतिं स्तुवन्ति सः खलु सकलः तृष्णायाः प्रभावः स्यात्, इतरथा निरीहाणाम् ईशः तृणमिव तिरस्कारविषयः ॥१६॥

व्याख्या—अवितथवाचः = न वितथा—मिथ्या वाक्—वाणी येषां तादृशाः, सत्यवचनशीला अपि पुरुषाः यत् कार्पण्यात्-दैन्यात् प्रवाचः-वाचालाः (सन्तः) श्रान्ता-

स्याः=श्रान्तम् आस्यं—मुखं येषां तादृशाः अभूतैः-असत्यैरपि गुणैः क्षितिपतिं-भूपालं स्तुवन्ति स खलु-निश्चितं सकलः-सम्पूर्णः तृष्णायाः-धनाशायाः प्रभावः—महिमा स्यात्, इतरथा-अन्यथा निरीहाणां-धनाशाशून्यानाम् ईशः-राजा तृणम् इव तिरस्कार-विषयः—अनादरास्पदम् (भवति) ॥१६॥

हिन्दी रूपान्तर

इसलिये इस (चाणक्य के द्वारा) चन्द्रगुप्त का वृषल कहा जाना उचित (स्थाने) है। क्योंकि।

श्लोक (१६) अर्थ—सत्य बोलने वाले भी मनुष्य जो (यत्) कृपणता (दीनता) के कारण वाचाल होते हुये (प्रवाचः) थके हुये मुख वाले (अर्थात् जब तक मुख थक नहीं जाता तब तक) अविद्यमान भी गुणों से राजा की स्तुति करते हैं, वह निश्चित रूप से सम्पूर्ण तृष्णा का प्रभाव हो सकता है, अन्यथा निरभिलाष व्यक्तियों के लिये राजा तिनके के समान तिरस्कार का विषय होता है ॥१६॥

टिप्पणी

(१) **वृषलोद्यः**—वृषल कहा जाना। क्योंकि निःस्पृह होने के कारण चाणक्य चन्द्रगुप्त को तृणवत् भृत्य के समान व्यवहार करता है। वृषल+वद्+क्यप्= "**वदः सुपि क्यत् च**" पा० ३/१/१०६ इति क्यप् प्रत्यय। **परन्तु कञ्चुकी को बिना 'देव' के राजा को सम्बोधन नहीं करना चाहिये।**

(२) इस श्लोक में चाणक्य के अलौकिक चरित्र का वर्णन है। इससे प्रथम दो पंक्तियों में वर्णित विषय का कारण दिया है "**कार्पण्यात्**", परन्तु आगे की दो पंक्तियों में कहा है कि यह सब 'तृष्णायाः' प्रभाव है। **इन दोनों प्रयोगों में किसी-प्रकार का विरोध नहीं देखना चाहिये क्योंकि तृष्णा के कारण ही कार्पण्य उत्पन्न होता है।**

(३) **अवितथवाचः**—तथ या तथा=सत्य, विगतं तथा अस्याः वितथा= असत्य, न वितथा=अवितथा=सत्य, तादृशी वागेषाम्, सत्यवचनशीलाः।

(४) उक्त श्लोक में कञ्चुकी ने सर्वसामान्य व्यक्तियों का अपने स्वामियों के साथ कैसा व्यवहार होता है और निरीह महात्माओं का कैसा व्यवहार होता है, इसका प्रतिपादन किया है। **किसी कवि की सूक्ति है—**

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी, तेषां दासायते लोकः॥

(५) **तिरस्कार**—तिरस्+कृ+घञ् भावे तिरस्कार या तिरःकार—"**तिरसोऽन्यतरस्याम्**" पा० ८/३/४२।

(विलोक्य सभयम्।) अये, तदयमार्यचाणक्यस्तिष्ठति।
यो नन्दमौर्यनृपयोः परिभूय लोक-
मस्तोदयावदिशदप्रतिभिन्नकालम्।
पर्यायपातितहिमोष्णमसर्वगामि
धाम्नातिशाययति धाम सहस्रधाम्नः ॥१७॥

(जानुभ्यां भूमौ निपत्य ।) जयत्वार्यः ।

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—य इति—यः लोकं परिभूय नन्दमौर्यनृपयोः अप्रतिभिन्नकालम् अस्तोदयौ अदिशत् । असर्वगामि पर्यायपातितहिमोष्णं सहस्रधाम्नः धाम धाम्ना अतिशाययति ॥१७॥

व्याख्या—यः-चाणक्यः लोकं—नन्दामात्यादिकं परिभूय—स्वमन्त्रशक्त्या मोहयित्वा नन्दमौर्यनृपयोः = नृपस्य नन्दस्य नृपस्य मौर्यस्य च अप्रतिभिन्नकालम्—युगपत् अस्तोदयौ ह्रासवृद्धी अदिशत्—दत्तवान् । (सोऽयं चाणक्यः) असर्वगामि = सर्वं—निखिलं भुवनं न गच्छति—न व्याप्नोति यत् तादृशं पर्यायपातितहिमोष्णम् = पर्यायेण कालक्रमेण (न तु समकालम्) पातितं—नाशितं हिमम् उष्णं वा येन तत् सहस्रधाम्नः-सूर्यस्य धाम—तेजः धाम्ना—(सर्वशत्रुव्यापिना) स्वेन तेजसा अतिशाय—यति अतिक्रामयति ॥१७॥

हिन्दी रूपान्तर

(देखकर भय के साथ ।) अरे, वह यह (तदयम्) चाणक्य बैठे हैं ।

श्लोक (१७) अर्थ - जिस (चाणक्य) ने नन्द और नन्द के अमात्यादिकों को (लोकम्) अपनी मन्त्र शक्ति से मोहित करके नन्द और मौर्य दोनों राजाओं का युगपत् (अप्रतिभिन्नकालम्) अस्त (नन्द का) और उदय (चन्द्रगुप्त का) कर दिया । (वह यह चाणक्य) सर्वत्र न जाने वाले कालक्रम से (पर्याय) नष्ट किया है शीत और गर्मी को जिसने ऐसे सूर्य के तेज को (अपने) तेज से अतिक्रान्त कर रहा है ॥१७।

(दोनों घुटनों से भूमि पर गिर कर ।) आर्य की विजय हो ।

टिप्पणी

(१) **तदयम्**—कर्मधारय समास है, सः अयम्—तदयम् ।

(२) **लोकम्** – संसार, सूर्य के पक्ष में । नन्दामात्यादि, चाणक्य के पक्ष में ।

(३) इस श्लोक का आशय यह है कि सूर्य का तेज अर्धलोकव्यापी है और चाणक्य का तेज सर्वलोकव्यापी है । सूर्य का तेज क्रमशः उष्ण और शीत होता है किन्तु चाणक्य का तेज युगपत् ही नन्द के लिये शीत और मौर्य के लिये उष्ण हो गया । इसप्रकार सूर्य को भी तिरस्कृत करने वाला यह आर्य चाणक्य है ।

चाणक्यः—वैहीनरे, किमागमनप्रयोजनम् ।

कञ्चुकी—आर्य, प्रणतससंभ्रमोच्चलितभूमिपालमौलिमालामाणिक्य-शकलशिखापिशङ्गीकृतपादपद्मयुगलः सुगृहीतनामधेयो देवश्चन्द्रगुप्त आर्यं शिरसा प्रणम्य विज्ञापयति-'अकृतक्रियान्तरायमार्यं द्रष्टुमिच्छामि' इति ।

चाणक्यः—वृषलो मां द्रष्टुमिच्छति । वैहीनरे, न खलु वृषलश्रवणपथं गतोऽयं मत्कृतः कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधः ।

कञ्चुकी—आर्य, अथ किम् ।

चाणक्यः—(सक्रोधम् ।) आः, केन कथितम् ।

कञ्चुकी—(सभयम् ।) प्रसीदत्वार्यः । स्वयमेव सुगाङ्गप्रासादगतेन देवेनावलोकितमप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवं पुरम् ।

चाणक्यः—आः, ज्ञातम् । ततो भवद्भिरन्तरा प्रोत्साह्य कोपितो वृषलः । किमन्यत् ।

(कञ्चुकी भयं नाटयंस्तूष्णीमधोमुखस्तिष्ठति ।)

संस्कृत-व्याख्या

आर्य, प्रणताः - कृतप्रणामाः (अत एव) ससम्भ्रमेण—त्वरया उच्चलितानि-जातकम्पानि यानि भूमिपालानां—राज्ञां मौलिमालासु—चूडापंक्तीषु यानि माणिक्य-शकलानि—रत्नखण्डानि तेषां शिखाभिः—किरणैः पिशङ्गीकृतं—पिङ्गलीकृतं पादपद्मयुगलम्—चरणारविन्दद्वयं यस्य सः सुगृहीतनामधेयः=सुगृहीतं—प्रातः—स्मरणीयं नामधेयं—नाम यस्य सः देवः—महाराजः चन्द्रगुप्तः—मौर्यः आर्यं शिरसा-उत्तमांगेन प्रणम्य—प्रणिपत्य विज्ञापयति—निवेदयति—'अकृतक्रियान्तरायम्= अकृतः—न कृतः क्रियायाः—कर्मणः अन्तरायः—प्रत्यूहो येन तम्, अन्तरायशून्यकर्माणम् आर्यं द्रष्टुं-प्रेक्षितुम् इच्छामि' इति । अप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवम्=अप्रवृत्तः—अनारब्धः कौमुदीमहोत्सवः—शरत्पूर्णचन्द्रमहोत्सवो यस्मिन् तत् । अन्तरा=मध्ये । प्रोत्साह्य= उत्तेजकवचनैः उद्दीप्य ।

हिन्दी रूपान्तर

चाणक्य—वैहीनरे, आने का क्या प्रयोजन है ?

कञ्चुकी—आर्य, प्रणाम करते हुये शीघ्रतावश (अत एव) उत्पन्न कम्पवाले (उच्चलित) राजाओं की चूड़ापंक्ति पर स्थित रत्नखण्डों की किरणों से लाल-पीले होते हुये दोनों चरणकमलों वाले प्रातःस्मरणीय महाराज चन्द्रगुप्त आपको शिर से प्रणाम करके निवेदन कर रहे हैं कि 'यदि किसी कार्य में विघ्न न हो तो (अकृत-क्रियान्तरायम्) आर्य को देखना चाहता हूँ', इति ।

चाणक्य—वृषल मुझको देखना चाहता है । वैहीनरे, (क्या) मेरे द्वारा किया हुआ यह कौमुदीमहोत्सव का निषेध चन्द्रगुप्त के कर्णगोचर नहीं हुआ है ।

कञ्चुकी—आर्य, और क्या ?

चाणक्य—(क्रोध के साथ ।) आः, किसने कहा ?

कञ्चुकी—(भय के साथ ।) आर्य प्रसन्न हों । अपने आप ही सुगाङ्गप्रासाद पर गये हुये महाराज ने नहीं हो रहे कौमुदीमहोत्सव वाले कुसुमपुर को देखा ।

चाणक्य—आः, मालूम पड़ गया । उसके बाद तुमने इसी बीच में (अन्तरा) भड़का कर (प्रोत्साह्य) चन्द्रगुप्त को क्रोधित कर दिया । और क्या ?

(कञ्चुकी भय का अभिनय करता हुआ चुपचाप नीचे मुख किये हुये खड़ा रहता है।)

टिप्पणी

(१) प्रणतससम्भ्रम'''इत्यादि—इस गद्य भाग का आशय यह है कि सभी राजागण शीघ्रता से राजा को प्रणाम करना चाहते हैं। प्रणाम करने की इस शीघ्रता में उनके सिरों पर विद्यमान मुकुटों में लगी हुई मणिमाणिक्यादिकों का समूह हिलता है। प्रणाम करते समय इन मणिमाणिक्यादिकों से निकलने वाली किरणों से राजा चन्द्रगुप्त के दोनो चरणकमल लाल हो जाते हैं।

(२) अकृतक्रियान्तरायम्—यदि किसी कार्य में विघ्न न हो तो। अन्तः= मध्ये अयनम् इति अन्तर+अय्+घञ् भावे अन्तराय=विघ्न। क्रियाया अन्तरायः। अकृतः क्रियान्तरायः येन तम्।

(३) अन्तरा—बीच में, अवसर पाकर।

(४) प्रोत्साह्य—प्र+उद्+सह्+णिच्+ल्यप्।

चाणक्यः—अहो, राजपरिजनस्य चाणक्योपरि प्रद्वेषपक्षपातः। अथ क्व वृषलः।

कञ्चुकी—(भयं नाटयन्।) आर्य, सुगाङ्गगतेन देवेनाहमार्यपादमूलं प्रेषितः।

चाणक्यः—(उत्थाय।) सुगाङ्गमार्गमादेशय।

कञ्चुकी—इत इत आर्यः।

(उभौ परिक्रामतः)

कञ्चुकी—एष सुगाङ्गप्रासादः।

चाणक्यः—(नाट्येनारुह्यावलोक्य च।) अये, सिंहासनमध्यास्ते वृषलः। साधु साधु।

नन्दैर्वियुक्तमनपेक्षितराजराजै—
रध्यासितं च वृषलेन वृषेण राज्ञाम्।
सिंहासनं सदृशपार्थिवसंगतं च
प्रीतिं परां प्रगुणयन्ति गुणा ममैते ॥१८॥

संस्कृत-व्याख्या

आर्यपादमूलम्-भवच्चरणसमीपम्। अध्यास्ते-अधितिष्ठति।

अन्वयः—नन्दैरिति—अनपेक्षितराजराजैः नन्दैः वियुक्तम्, राज्ञां वृषेण च वृषलेन अध्यासितम्। सदृशपार्थिवसंगतं च सिंहासनम्, एते गुणाः मम प्रीतिं परां प्रगुणयन्ति ॥१८॥

व्याख्या—अनपेक्षितराजराजैः=अनपेक्षितः-अनादृतः राजराजः-कुबेरः यैस्तैः, तृणीकृतकुबेरैः नन्दैर्वियुक्तं-विरहितम्, राज्ञां—नृपाणां वृषेण—श्रेष्ठेन च वृषलेन-

चन्द्रगुप्तेन अध्यासितम्-अधिष्ठितम्, सदृशपार्थिवसंगतम् = सदृशेन—आत्मानुरूपेण पार्थिवेन-राज्ञा संगतं-युक्तम् (जातम्), एते गुणा. मम प्रीतिम्-आनन्दं परां प्रगुणयन्ति-वर्द्धयन्ति ॥१८॥

हिन्दी रूपान्तर

चाणक्य—अहो, राजा के परिचरवर्ग का चाणक्य के ऊपर द्वेष के विषय में पक्षपात है। अच्छा (अथ) वृषल कहाँ है।

कञ्चुकी—(भय का अभिनय करते हुये।) आर्य, सुगाङ्ग महल पर विद्यमान महाराज ने मुझको आर्य के चरणों के समीप (मूलम्) भेजा था।

चाणक्य—(उठकर।) सुगाङ्ग महल के मार्ग को बताओ।

कञ्चुकी—आर्य, इधर-इधर (आइये)।

(दोनों घूमते हैं।)

[तृतीय दृश्य। स्थान—राजकीय भवन।]

कञ्चुकी—यह सुगाङ्ग महल है।

चाणक्य—(अभिनय के साथ चढ़कर और देखकर।) अरे, वृषल सिंहासन पर अधिष्ठित है। अच्छा अच्छा।

श्लोक (१८) अर्थ—कुवेर को तिरस्कृत करने वाले नन्दों से वियुक्त और राजाओं में श्रेष्ठ वृषल से अधिष्ठित और अपने अनुरूप राजा से युक्त सिंहासन (हो गया) है-ये तीन (अर्थात् (१) नन्द से वियुक्त, (२) चन्द्रगुप्त से अधिष्ठित (३) योग्य राजा से युक्त) गुण मेरी प्रीति को अत्यधिक बढ़ा रहे हैं ॥१८॥

टिप्पणी

(१) **सिंहासनमध्यास्ते**—'**अधिशीङ्स्थासां कर्म**' पा० १/४/४६ इति द्वितीया। अधि + आस् + ते।

(२) **सशपार्थिवसंगतम्** कुवेर के समान अत्यन्त धनी नन्दों को मारकर उनके स्थान पर किसी अयोग्य को राज्य-सिंहासन पर नहीं बिठा दिया है अपितु उन से भी बढ़कर धीरोदात्तादि गुणों से युक्त चन्द्रगुप्त का अभिषक किया है, अतः सिंहासन योग्य राजा से युक्त हो गया है।

(३) **प्रगुणयन्ति**—प्रदत्तो गुणः अस्मिन्—प्रगुणः। प्रगुणान् कुर्वन्ति इति प्रगुण + णिच् (नाम धातु) + अन्ति।

(उपसृत्य।) विजयतां वृषलः।

राजा—(आसनादुत्थाय।) आर्य, चन्द्रगुप्तः प्रणमति। (इति पादयोः पतति।)

चाणक्यः—(पाणौ गृहीत्वा।) उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वत्स।

आ शैलेन्द्राच्छिलान्तःस्खलितसुरनदीशीकरासारशीता-
तीरान्तान्नैकरागस्फुरितमणिरुचो दक्षिणस्यार्णवस्य।

आगत्यागत्य भीतिप्रणतनृपशतैः शश्वदेव क्रियन्तां
चूडारत्नांशुगर्भास्तव चरणयुगस्याङ्गुलीरन्ध्रभागाः ॥१९॥

संस्कृत-व्याख्या

विजयताम् = सर्वोत्कर्षेण वर्तताम् ।

अन्वयः----आशैलेन्द्रादिति—शिलान्तः-स्खलितसुरनदीशीकरासारशीतात् आशैलेन्द्रात्, नैकरागस्फुरितमणिरुचो दक्षिणस्य अर्णवस्य तीरान्तात् आगत्य आगत्य भीतिप्रणतनृपशतैः तव चरणयुगस्य अंगुलीरन्ध्रभागाः शश्वदेव चूडारत्नांशुगर्भाः क्रियन्ताम् ॥१९॥

व्याख्या—शिलान्तःस्खलितसुरनदीशीकरासारशीतात् = शिलानां--प्रस्तरखण्डानाम् अन्तः—मध्ये स्खलितायाः = (आकाशात्) च्युतायाः सुरनद्याः = गंगायाः शीकराणां = जलकणानां यः आसारः = वर्षणं तेन शीतात् = शीतलात् आशैलेन्द्रात् = आहिमालयात्, नैकरागस्फुरितमणिरुचः = नैकैः = बहुभिः रागैः = वर्णैः स्फुरिता = द्योतमाना मणिरुचः = रत्नभासः यस्मिन् तादृशस्य दक्षिणस्य अर्णवस्य = समुद्रस्य तीरान्तात् = कूलान्तात् आगत्य आगत्य = पुनः पुनः समेत्य भीतिप्रणतनृपशतैः = भीत्या-भयेन प्रणतानां नृपाणां शतैः; तव चरणयुगस्य = पादद्वयस्य अंगुलीरन्ध्रभागाः = अंगुलीनां रन्ध्रभागाः = विवरप्रदेशाः शश्वदेव = सततमेव चूडारत्नांशुगर्भाः = चूडास्थितानां रत्नाम् अंशवः = किरणाः गर्भे = मध्ये येषां तादृशाः क्रियन्तां-विधीयन्ताम् ॥१९॥

हिन्दी रूपान्तर

(पास जाकर ।) वृषल की विजय हो ।

राजा—(आसन से उठकर ।) आर्य, चन्द्रगुप्त प्रणाम करता है । (ऐसा कहकर पैरों में गिरता है ।)

चाणक्य—(अपने दोनों हाथों में लेकर ।) वत्स, उठो उठो ।

श्लोक (१९) अर्थ—शिलाओं के मध्य में (आकाश से) गिरी हुई गङ्गा की जल-बिन्दुओं की निरन्तर वर्षा से शीतल हिमालय से लेकर, अनेक वर्णों में देदीप्यमान मणियों की कान्ति वाले दक्षिण समुद्र के तीर से लेकर, आ आ कर भय से झुके हुये सैंकड़ों राजाओं से तुम्हारे दोनों चरणों की अंगुलियों के छिद्रभाग निरन्तर ही शिरःस्थित रत्नानों से निकलती हुई किरणों से युक्त किये जावें ॥१९॥

टिप्पणी

(१) **विजयताम्**—'**विपराभ्यां जेः**' पा० १/३/१९ इति आत्मनेपदम् ।

(२) इस श्लोक में चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को आशीर्वाद दिया है । उत्तर में हिमालय से और दक्षिण में समुद्र के किनारे से आ आ कर सभी राजागण तुम्हारे चरणों में नमस्कार करें । दक्षिण के समुद्र अपनी मणियों के लिये प्रसिद्ध हैं ।

(३) **आशैलेन्द्रात्** = शैलानाम् इन्द्रः = शैलेन्द्रः तस्मात् । आङ् के योग में पञ्चमी विभक्ति है— "**पञ्चम्यपाङ्परिभिः**" पा० २/३/१०।

(४) नैकराग—न एक: नैक:, नञ् अर्थ वाले न शब्द के साथ सुप्सुपा इति समास:। नैकश्च नैकश्च इति एकशेष:।

(५) क्रियन्ताम्—'आशिषि लिङ्लोटौ'—पा० ३/३/१७३ इति आशी: अर्थ में लोट् लकार है।
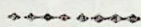
राजा—आर्यप्रसादादनुभूयत एव सर्वम्। तदुपविशत्वार्य:।

(उभौ यथोचितमुपविष्टौ।)

चाणक्य:—वृषल, किमर्थं वयमाहूता:।

राजा—आर्यस्य दर्शनेनात्मानमनुग्राहयितुम्।

चाणक्य:—(सस्मितम्।) अलमनेन प्रश्रयेण। न निष्प्रयोजनमधिकारवन्त: प्रभुभिराहूयन्ते।

राजा—आर्य, कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधस्य किं फलमार्य: पश्यति।

चाणक्य:—(स्मितं कृत्वा।) उपालब्धुं तर्हि वयमाहूता:।

राजा—शान्तं पापं शान्तं पापम्। नहि नहि। विज्ञापयितुम्।

चाणक्य:—यद्येवं तर्हि विज्ञापनीयानामवश्यं शिष्येण स्वैररुचयो न निरोद्धव्या:।

राजा—एवमेवत्। क: संदेह:। किंतु न कदाचिदार्यस्य निष्प्रयोजना प्रवृत्तिरित्यस्ति न: प्रश्नावकाश:।

चाणक्य:—वृषल, सम्यग्गृहीतवानसि न प्रयोजनमन्तरा चाणक्य: स्वप्नेऽपि चेष्टत इति।

राजा—आर्य, अत एव शुश्रूषा मां मुखरयति।

चाणक्य:—वृषल, श्रूयताम्। इह खल्वर्थशास्त्रकारास्त्रिविधां सिद्धिमुपवर्णयन्ति—राजायत्तां सचिवायत्तामुभयायत्तां चेति। तत: सचिवायत्तसिद्धेस्तव किं प्रयोजनान्वेशणेन। यतो वयमेवात्र नियुक्ता वेत्स्याम:।

(राजा सकोपं मुखं परावर्तयति।)

संस्कृत-व्याख्या

अनुग्राहयितुम्=अनुग्रहवन्तं कर्तुम्। प्रश्रयेण=विनयेन। अधिकारवन्त:=अधिकार: अस्ति एषाम्, अधिकृता:=कार्येषु नियुक्ता:। उपालब्धुं=तिरस्कर्तुम्। विज्ञापयितुम् निवेदयितुम्। विज्ञापनीयानाम्=विज्ञापयितुं योग्यानां गुरूणाम्। स्वैररुचय:—स्वैरा: रुचय:—प्रवृत्तय:। प्रश्नावकाश:=पृच्छावसर:। अन्तरा=बिना। शुश्रूषा=श्रोतुम् इच्छा। मुखरयति=वाचालयति, कथनाय प्रवर्तयतीत्यर्थ:। उपवर्णयन्ति=ब्रुवन्ति। राजायत्ताम्=नृपाधीनाम्। सचिवायत्ताम्=अमात्याधीनाम्। उभयायत्ताम्=उभयस्य-राज्ञ: मन्त्रिणश्च आयत्ताम्=आधीनाम्। वेत्स्याम:=तत्तत्कार्यानुगुण्येन वर्तिष्यामहे इत्यर्थ: परावर्तयति-अन्यतो नयति।

हिन्दी रूपान्तर

राजा—आर्य की कृपा से सब कुछ अनुभव किया जा रहा है। आर्य बैठिये।

(दोनों यथायोग्य बैठ गये।)

चाणक्य—वृषल, हम किसलिये बुलाये गये हैं ?

राजा—आर्य के दर्शन से अपने आप को अनुगृहीत करने के लिये।

चाणक्य—(मुस्कराहट के साथ।) इस विनय से बस। राजाओं के द्वारा अधिकार वाले (अधिकारीगण) बिना प्रयोजन के नहीं बुलाये जाते हैं।

राजा—आर्य, कौमुदीमहोत्सव के निषेध का आर्य क्या परिणाम देखते हैं ?

चाणक्य—(मुस्कराकर।) तो हम उलाहना देने के लिये बुलाये गये हैं।

राजा—पाप शान्त हो, पाप शान्त हो। नहीं नहीं। निवेदन करने के लिये (उलाहना देने के लिये नहीं)।

चाणक्य—यदि ऐसा है तो निवेदन करने के योग्य आचार्यों की (विज्ञापनीयानाम्) स्वच्छन्द प्रवृत्तियाँ (स्वैररुचयः) शिष्य के द्वारा अवश्य नहीं रोकी जानी चाहिये।

राजा—यह ऐसा ही है। (इसमें) क्या सन्देह है ? किन्तु आर्य की कभी भी प्रयोजन से रहित प्रवृत्ति नहीं होती है, अतः हमको प्रश्न पूछने का अवसर (प्रश्नावकाशः) है।

चाणक्य—वृषल, ठीक समझा (गृहीतवान्) है, प्रयोजन के बिना चाणक्य स्वप्न में भी चेष्टा नहीं करता है।

राजा—आर्य, इसलिये सुनने की इच्छा मुझको वाचाल बना रही है।

चाणक्य—वृषल, सुनो। इस संसार में अर्थशास्त्रकार तीन प्रकार की सिद्धि का वर्णन करते हैं—(१) राजा के आधीन, (२) मन्त्री के आधीन और (३) दोनों के आधीन। इसलिये (ततः) मन्त्री के आधीन सिद्धि के विषय में तुम्हारा प्रयोजन को खोजने से क्या (लाभ) ? क्योंकि हम ही इस विषय में नियुक्त हुये जानेंगे।

(राजा क्रोध के साथ मुख को घुमा लेता है।)

टिप्पणी

(१) अनुग्राहयितुम्—अनु + ग्रह् + णिच् + तुमुन्।

(२) उपालब्धुम्—उप + आङ् + लभ् + तुमुन्।

(३) विज्ञापयितुम्—वि + ज्ञा + णिच् + तुमुन्।

(४) अन्तरा—अव्यय है। अर्थ बीच में और बिना-दोनों होते हैं, यहाँ 'बिना' अर्थ है।

(५) शुश्रूषा—श्रोतुम् इच्छा इति श्रु + सन् + अ भावे, स्त्रियाम्।

(६) अर्थशास्त्रकाराः—अमरकोश में अर्थशास्त्र और दण्डनीति समानार्थक हैं। अर्थशास्त्र के अन्दर क्रियात्मक जीवन का विज्ञान और राजनीति आते हैं। अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र में भेद है। चन्द्रगुप्त ने जो प्रश्न चाणक्य से पूछा है उसका

तो चाणक्य ने उत्तर दिया नहीं है, परन्तु 'इह खलु' इत्यादि कहकर उसका प्रश्न ही उड़ा दिया है और इसप्रकार चन्द्रगुप्त का सीधा तिरस्कार कर दिया है।

(नेपथ्ये वैतालिकौ पठतः।)

एकः—

आकाशं काशपुष्पच्छविमभिभवता भस्मना शुक्लयन्ती
शीतांशोरंशुजालैर्जलधरमलिनां क्लिश्नती कृत्तिमैभीम्।
कापालीमुद्वहन्ती स्रजमिव धवलां कौमुदीमित्यपूर्वा
हास्यश्रीराजहंसा हरतु तनुरिव क्लेशमैशी शरद्वः ॥२०॥

संस्कृत-व्याख्या

वैतालिकौ = स्तुतिपाठकौ।

अन्वयः—आकाशम् इति—काशपुष्पच्छविम् अभिभवता भस्मना आकाश शुक्लयन्ती, शीतांशोः अंशुजालैः जलधरमलिनाम् ऐभीं कृत्तिं क्लिश्नती। कौमुदीमिव धवलां कापालीं स्रजम् उद्वहन्ती हास्यश्रीराजहंसा अपूर्वा शरद् इव ऐशी तनुः वः क्लेशं हरतु ॥२०॥

व्याख्या—(१) **शिवपक्षे**—(प्रारब्धे ताण्डवे) काशपुष्पच्छविम् = काशपुष्पस्य—काशकुसुमस्य छविं-कान्तिम् अभिभवता—तिरस्कुर्वता (ततोऽपि धवलेनेत्यर्थः) भस्मना—भूत्या आकाशं—नभः शुक्लयन्ती—धवलयन्ती, (चूडायां वर्तमानस्य) शीतांशोः—चन्द्रस्य अंशुजालैः—किरणसमूहैः जलधरमलिनां—मेघश्यामाम् ऐभीं—गजासुर-सम्बन्धिनीं कृत्तिं—चर्म्म क्लिश्नती—विवर्णयन्ती (तन्नैल्यभिभवन्तीत्यर्थः)। (तथा) कौमुदीं-ज्योत्स्नाम् इव धवलां—शुभ्रां कापालीं—नरकपालनिर्मितां स्रजं—मुण्डमालाम् उद्वहन्ती—धारयन्ती हास्यश्रीराजहंसा = हास्यस्य श्रीः—सम्पत् राजहंसी इव यस्यां तनौ तादृशी अपूर्वा—कापि लोकोत्तरगुणाभिरामा शरद् इव ऐशी—शाम्भवं तनुः-वपुः वः-युष्माकं क्लेशं—दुःखं हरतु—अपनयतु ॥२०॥

अन्वयः—(२) **शरत्पक्षे**—भस्म अभिभवन्त्या काशपुष्पच्छव्या (इति विभक्ति-विपरिणामेन अन्वयः) आकाशं शुक्लयन्ती, शीतांशोः अंशुजालैः ऐभीं कृत्तिम् (इव) जलधरमलिनां क्लिश्नती। कापालीं स्रजम् इव धवलां कौमुदीम् उद्वहन्ती, हास्य-श्रीराजहंसा अपूर्वा ऐशी तनुः इव शरद् वः क्लेशं हरतु।

व्याख्या—भस्म अभिभवन्त्या—तिरस्कुर्वन्त्या काशपुष्पच्छव्या—काशकुसुम-शोभया आकाशं—गगनं शुक्लयन्ती—भासयन्ती, शीतांशोः चन्द्रस्य अंशुजालैः—किरणसमूहैः ऐभीं—गजासुरसम्बन्धिनीं कृत्तिमिव—चर्मवत् जलधरमलिनां = जलधरस्य—मेघस्य मलिनां—मलिनतां क्लिश्नती—विनाशयन्ती, कापालीं-नरकपालनिर्मितां स्रजं—मुण्डमालाम् इव धवलां—निर्मलां कौमुदीं—ज्योत्स्नाम् उद्वहन्ती, हास्यश्री-राजहंसा—हास्यश्रीरिव राजहंसा यस्यां तादृशी अपूर्वा—कापि लोकोत्तरगुणाभिरामा

ऐशी तनुरिव शरद् वः—युष्माकं क्लेशं—मलयकेतुराक्षसाभिमोगजनितं कष्टं हरतु—विनाशयतु ॥२०॥

हिन्दी रूपान्तर

(नेपथ्य में दो वैतालिक पढ़ते हैं।)

पहला—

श्लोक (२०) अर्थ—(१) शिवजी के पक्ष में---(ताण्डवनृत्य के प्रारम्भ होने पर) काशपुष्प की कान्ति को तिरस्कृत करने वाली (अर्थात् उससे भी अधिक धवल) भस्म से आकाश को शुभ्र करता हुआ, (सिर पर विद्यमान) चन्द्रमा की किरणों के समूह से मेघ के समान मलिनवर्ण वाली हाथी सम्बन्धिनी खाल को विवर्ण बनाता हुआ, चन्द्रिका के समान शुभ्र नरमुण्डसम्बन्धिनी माला को धारण करता हुआ, राजहंसी के समान अट्टहास की शोभा वाला अद्भुत शरद् ऋतु के समान शिवसम्बन्धी शरीर आपके दुःखों को नष्ट करे।

शरद्पक्ष में—भस्म को तिरस्कृत करने वाली काशपुष्प की कान्ति से आकाश को शुभ्र बनाती हुई, चन्द्रमा की किरणों के समूह से गजसम्बन्धी चर्म के समान मेघों की मलिनता को नष्ट करती हुई, कपालनिर्मित माला के समान निर्मल चन्द्रिका को धारण करती हुई, हास्य की शोभा के समान राजहंसी वाली लोकोत्तर-गुणों से रमणीय (अपूर्वा) शिवजी के शरीर के समान शरद् ऋतु आपके (मलयकेतु और राक्षस के अभियोग से उत्पन्न होने वाले) क्लेश को दूर करे ॥२०॥

टिप्पणी

(१) **वैतालिकौ**—विविधः तालः वितालः तेन चरति इति विताल + ठक् = वैतालिकः, तौ। इनमें से पहला चाणक्य का प्रणिधि है और दूसरा राक्षस का प्रणिधि स्तनकलश है। **संस्कृत के नाटकों में सामान्य रूप से वैतालिक हमेशा दो इकट्ठे आते हैं परन्तु 'मुरारी नाटक' में एक आया है।**

(२) **शुक्लयन्ती**—शुक्लं करोति शुक्ल + णिच् (नामधातु) + शतृ. स्त्रियाम्।

(३) **ऐशीं कृत्तिम्**—यह गजासुर का चर्म है, जिसको शिवजी ताण्डवनृत्य के अवसर पर धारण करते हैं। शिवजी ने इसका वध किया है।

(४) यह श्लोक द्व्यर्थक है। एक अर्थ शिवजी के पक्ष में और दूसरा अर्थ शरद् ऋतु पक्ष में लगता है। शिवजी के शरीर का सादृश्य शरद् ऋतु के साथ इस प्रकार है—

(क) शरद् ऋतु काश पुष्पों से आकाश को शुभ्र करती है और शिवजी का शरीर काश पुष्पों से भी अधिक शुभ्र भस्म से शुभ्र है।

(ख) पानी के न होने के कारण स्वाभाविक रूप से धवल बादलों से शरद सुशोभित होती है, इसके विपरीत शिवजी का शरीर मेघों के समान विशाल नीलवर्ण वाले गजचर्म को धारण कर रहा है, जो गजचर्म शिवजी के शरीर पर विद्यमान चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से शुभ्र हो रहा है।

(ग) शरद ऋतु चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के कारण शुभ्र है और शिवजी का शरीर नरकपालों के कारण शुभ्र है।

(घ) शरद् ऋतु राजहंसों के कारण शुभ्र है और शिवजी का शरीर अट्टहास के समय दाँतों से निकलने वाली किरणों से शुभ्र है।

(ङ) शिवजी सर्वदा अपने शरीर पर भस्म लगाये हुये चित्रित किये जाते हैं।

अपि च।

प्रत्यग्रोन्मेषजिह्मा क्षणमनभिमुखी रत्नदीपप्रभाणा-
मात्मव्यापारगुर्वी जनितजललवा जृम्भितैः साङ्गभङ्गैः।
नागाङ्कं मोक्तुमिच्छोः शयनमुरु फणाचक्रवालोपधानं
निद्राच्छेदाभिताम्रा चिरमवतु हरेर्दृष्टिराकेकरा वः ॥२१॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—प्रत्यग्रोन्मेष इति—फणाचक्रवालोपधानम् उरु नागाङ्कं शयनं मोक्तुम् इच्छोः हरेः प्रत्यग्रोन्मेषजिह्मा क्षणं रत्नदीपप्रभाणाम् अनभिमुखी, साङ्गभङ्गैः जृम्भितैः जनितजललवा आत्मव्यापारगुर्वी निद्राच्छेदाभिताम्रा आकेकरा दृष्टिः वः चिरम् अवतु ॥२१॥

व्याख्या—फणाचक्रवालोपधानम् = फणानां चक्रवालं--मण्डलम् एव उपधानं-शिरोधानं यस्य तादृशम् उरु—महत् नागाङ्कं—शेषपर्यङ्करूपं शयनं—शय्यां मोक्तुं-त्यक्तुम् इच्छोः—कामयमानस्य हरेः-श्रीविष्णोः प्रत्यग्रोन्मेषजिह्मा—प्रत्यग्रेण—अभिनवेन उन्मेषेण—उन्मीलनेन जिह्मा—मन्दा क्षणं रत्नदीपप्रभाणाम्—(शेषशिरःस्थानि) रत्नानि एव दीपाः तेषां प्रभाणां—कान्तीनाम् अनभिमुखी, साङ्गभङ्गैः—अङ्गभङ्गसहितैः जृम्भितैः जनितजललवा-सञ्जाताश्रुकणाः (अतएव) आत्मव्यापारगुर्वी =आत्मव्यापारे—निजकर्मणि (दर्शनक्रियायाम् इत्यर्थः) गुर्वी—मन्थरा निद्राच्छेदाभिताम्रा = निद्राच्छेदेन—स्वापावसानेन अभिताम्रा—अतिरक्ता आकेकरा—अर्धनिमीलिता दृष्टिः—चक्षुः वः—युष्मान् चिरं--बहुकालम् अवतु--रक्षतु ॥२१॥

हिन्दी रूपान्तर

और भी।

श्लोक (२१) अर्थ—फणों के मण्डल के तकियों वाले विशाल शेषपर्यङ्करूप बिस्तर को छोड़ने की इच्छा वाले विष्णुजी की सद्यः उन्मीलन के कारण मन्द, क्षण भर के लिये रत्नों के दीपक की कान्ति के सामने ठहरती हुई, अङ्गड़ाई के साथ (साङ्गभङ्गैः) जम्भाई लेने से उत्पन्न अश्रुबिन्दु वाली (अतएव) अपने व्यापार में अर्थात् (देखने में) असमर्थ, निद्रा टूटने के कारण अत्यन्त लाल आधी बन्द की हुई (आकेकरा) दृष्टि तुम्हारी चिरकाल तक रक्षा करे ॥२१॥

टिप्पणी

(१) आकेकरा—अर्धनिमीलिता। इसका लक्षण इसप्रकार है—

दृष्टिराकेकरा किञ्चित् स्फुटापाङ्गे प्रसारिता।
मीलितार्धपुटा लोके ताराव्यावर्तनोत्तरा ॥

इस आकेकरा दृष्टि का क्षेत्र इस प्रकार लक्षित किया गया है—

"आकेकरा दुरालोके विच्छेदप्रेक्षितेषु च"।

(२) २१ वें श्लोक में श्री विष्णु जी के जागने का वर्णन है यद्यपि श्री विष्णु जी शुक्लपक्ष की कार्तिक एकादशी को सोकर जागे हैं तथापि वैतालिक ने यह श्लोक कौमुदीपूर्णिमा पर चार दिन पश्चात् पढ़ा है।

"शेते विष्णुः सदाऽषाढ़े कार्तिके च विबुध्यते"

(३) २० वां श्लोक चन्द्रगुप्त के वैतालिक ने पढ़े हैं। इसमें से पहले में शिवजी का और दूसरे में विष्णु का वर्णन है। इसके पश्चात् के दो श्लोक (२२ और २३) राक्षस के गुप्तचर वैतालिक वेषधारी स्तनकलश ने चन्द्रगुप्त को भड़काने के लिये पढ़े हैं।

(४) २० वें और २१ वें श्लोक में शरद् ऋतु का वर्णन है—भारतीय वर्ष ६ ऋतुओं में विभक्त है। प्रत्येक ऋतु दो महीने रहती है। आश्विन और कार्तिक (सितम्बर से नवम्बर तक)—ये दो मास शरद् ऋतु के हैं। शरद् ऋतु की तुलना २० वें श्लोक में शिवजी के शरीर से की गई है। शिवजी अपने शरीर पर भस्म रमाते हैं। उत्तरीय वस्त्र के रूप में गजचर्म धारण करते हैं। गले में मनुष्यों के मुण्डों की माला होती है। उनके सिर पर गंगा है और मस्तक पर द्वितीया का चन्द्रमा है उनका हास्य अट्टहास माना गया है। हँसी का रंग भारतीय शास्त्र में श्वेत माना गया है और सभी अच्छी वस्तुयें और पुण्य का रंग शुभ्र माना गया है पाप का रंग काला माना जाता है। २१ वें श्लोक में भी श्री विष्णु के जागरण का वर्णन है। शेषनाग बुद्धिमता का प्रतीक है, यह अनन्त भी कहलाता है। विष्णु जी भी पीताम्बर कहलाते हैं—पीताम्बर का अर्थ है पीत + अम्बर अर्थात् अम्बर = आकाश = खाली स्थान को पीत—पी रखा है। इस प्रकार अनन्त पर शयन करना विष्णु के विषय में यह बताता है कि वे स्थान और समय से परे हैं। संक्षेप में विष्णु जी को एक सामान्य व्यक्ति के समान वर्णन किया हुआ है। वर्णन इस प्रकार है—विष्णु जी की शय्या शेषनाग है। तकिया शेषनाग के फणों का समूह है। विष्णु जी सोकर उठ रहे हैं, अतः उनकी दृष्टि आकेकरा है। सामान्यरूप से सोकर उठने के पश्चात् दृष्टि प्रकाश में ठहरती नहीं है। विष्णु जी की भी दृष्टि शेषनाग के फणों पर विद्यमान मणियों के प्रकाश के सामने ठहर नहीं पा रही है। सोने के पश्चात् विष्णु जी ने जम्भाई भी ली है, जिसके कारण नयनों में अश्रु आ गये हैं। इसके साथ ही जागने पर नयनों के प्रान्त भाग कुछ-कुछ लाल हो जाते हैं। विष्णु जी की दृष्टि भी अभिताम्रा है। इसप्रकार विष्णु जी के जागने का वर्णन है।

द्वितीयः—

सर्वोत्कर्षस्य धात्रा निधय इव कृताः केऽपि कस्यापि हेतो-
र्जेतारः स्वेन धाम्ना मदसलिलमुचां नागयूथेश्वराणाम्।

दंष्ट्राभङ्गं मृगाणामधिपतय इव व्यक्तमानावलेपा
नाज्ञाभङ्गं सहन्ते नृवर नृपतयस्त्वादृशाः सार्वभौमाः ॥२२॥

अपि च ।

भूषणाद्युपभोगेन प्रभुर्भवति न प्रभुः ।
परैरपरिभूताज्ञस्त्वमिव प्रभुरुच्यते ॥२३॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—सत्त्वोत्कर्षस्येति—नृवर, धात्रा सत्त्वोत्कर्षस्य केऽपि कस्यापि हेतो निधय इव कृताः, मदसलिलमुचां नागयूथेश्वराणां स्वेन धाम्ना जेतारः मृगाणाम् अधिपतयः इव दंष्ट्राभङ्गं न सहन्ते (तथैव) व्यक्तमानावलेपाः सार्वभौमाः त्वादृशाः नृपतयः आज्ञाभङ्गं न सहन्ते ॥२२॥

व्याख्या—नृवर—हे नरनाथ, धात्रा-विधिना सत्वोत्कर्षस्य—बलातिशयस्य केऽपि—लोकोत्तरमहिमानः कस्यापि हेतोः—कस्मैश्चिदपि प्रयोजनाय (विपक्षक्षपणायेत्यर्थः) निधयः-आधारा इव कृताः-सृष्टाः, मदसलिलमुचां–मदस्राविणाम् नागयूथेश्वराणां—हस्तियूथपतीनां स्वेन—निजेन धाम्ना—तेजसा जेतारः—जयिनः मृगाणाम् अधिपतयः-सिंहाः इव- यथा दंष्ट्राभङ्ग–दन्तोत्पाटनं न सहन्ते (तथैव) व्यक्तमानावलेपाः= व्यक्तौ–प्रसिद्धौ मानावलेपौ–अभिमानगर्वौ येषां ते सार्वभौमाः-सर्वभूमीश्वराः त्वादृशाः —भवादृशाः नृपतयः—नरेन्द्राः आज्ञाभङ्गम् आज्ञाव्याघातं न सहन्ते ॥२२॥

अन्वयः—भूषणाद्युपभोगेनेति—भूषणाद्युपभोगेने प्रभुः प्रभुः न भवति । परैः अपरिभूताज्ञः त्वम् इव प्रभुः उच्यते ॥२३॥

व्याख्या (केवलम्) भूषणाद्युपभोगेन = भूषणादीनां – रत्नादीनाम् उपभोगेन प्रभुः–राजा प्रभुः–राजा न भवति । परैः-अन्यैः अपरिभूताज्ञः = अपरिभूता–अतिरस्कृता आज्ञा–आदेशः यस्य तादृशः त्वमिव प्रभुः--नृपतिः उच्यते–कथ्यते । [विषयोपभोगः न प्रभुशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्, किन्तु अव्याहताज्ञत्वमेव इति भावः ।] ॥२३॥

हिन्दी रूपान्तर

दूसरा—

श्लोक (२२) **अर्थ**—हे मनुष्यों में श्रेष्ठ, ब्रह्मा ने बल की अधिकता के किन्हीं को भी (अर्थात् लोकोत्तर महिमा वाले) किसी भी कारण से लोकोत्तर प्रयोजन के लिये) मानों खजाने बना दिये हैं, मदजल को प्रवाहित करने वाले हस्तिसमूहों के अधिपतियों को अपने तेज से जीतने वाले मृगों के अधिपति (अर्थात् सिंह) जिसप्रकार अपनी दाढ़ के भङ्ग को नहीं सहन करते हैं (उसीप्रकार) प्रसिद्ध (व्यक्त) स्वाभिमान और गौरवातिशय वाले तुम्हारे सदृश सार्वभौम राजागण (अपनी) आज्ञा के उल्लंघन को नहीं सहन करते हैं ॥२२॥

और भी ।

श्लोक (२३) अर्थ—(केवल) भूषणादि का उपभोग करने से राजा राजा नहीं होता है (किन्तु) दूसरों से अतिरस्कृत आज्ञा वाला तुम्हारे समान राजा कहलाता है। (कहने का आशय यह है कि भूषणादियों का उपभोग राजा होने पर घटित तो होता है परन्तु वह प्रभुता का कारण नहीं है। प्रभुता का कारण तो आज्ञा का उल्लङ्घन न होना ही है।) ॥२३॥

टिप्पणी

(१) २२वाँ और २३वाँ—ये दो श्लोक राक्षस के प्रणिधि स्तनकलश ने पढ़े हैं।

(२) निधय.—निधीयन्ते—स्थाप्यन्ते एषु, "कर्मण्यधिकरणे च" पा० ३/३/९३ से नि उपसर्गपूर्वक धा धातु से नि प्रत्यय है।

(३) कस्यापि हेतोः—"षष्ठी हेतुप्रयोगे" पा० २/६/२६ इति षष्ठी।

(४) मदसलिलमुचां नागयूथेश्वराणां जेतारः—'कर्तृकर्मणोः कृतिः' २/३/३५ से कृत् के योग में कर्म में षष्ठी है।

(५) व्यक्तमानावलेपाः—व्यक्त = वि + अञ्च् + क्त कर्मणि। मन + घञ् भावे मानः। अवलेप = अव + लिप + घञ् भावे। मानश्च अवलेपश्च व्यक्तौ मानावलेपौ येषां ते।

(६) त्वादृशाः—त्वमिव दृश्यन्ते "त्यदादिषु दृशेरनालोचने कञ् च" पा० ३/२/६० इति कञ्।

(७) सार्वभौमा—सर्वभूमेरीश्वराः अथवा सर्वभूमौ विदिताः इति सर्वभूमि + अण्—'अनुशतिकादीनाञ्च' पा० ७/३/२० से उभयपदवृद्धि।

चाणक्यः—(स्वगतम्।) प्रथमं तावद्विशिष्टदेवतास्तुतिरूपेण प्रवृत्तशरद्गुणप्रख्यापनमाशीर्वचनम्। इदमपरं किमिति नावधारयामि। (विचिन्त्य।) आः, ज्ञातम्। राक्षसस्यायं प्रयोगः। दुरात्मन् राक्षस, दृश्यसे भोः जागर्ति खलु कौटिल्यः।

राजा—आर्य वैहीनरे, आभ्यां वैतालिकाभ्यां सुवर्णशतसहस्रं दापय।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इत्युत्थाय परिक्रामति।)

चाणक्यः—(सक्रोधम्।) वैहीनरे, तिष्ठ न गन्तव्यम्। वृषल, किमयमस्थाने महानर्थोत्सर्गः।

राजा—(सकोपम्।) आर्येणैवं सर्वत्र निरुद्धचेष्टाप्रसरस्य मे बन्धनमिव राज्यं न राज्यमिव।

चाणक्यः—वृषल, स्वयमनभियुक्तानां राज्ञामेते दोषाः संभवन्ति। तद्यदि न सहसे ततः स्वयमभियुज्यस्व।

राजा—एते स्वकर्मण्यभियुज्यामहे।

चाणक्यः—प्रियं नः। *वयपि स्वकर्मण्यभियुज्यामहे।

संस्कृत-व्याख्या

प्रवृत्तशरद्गुणप्रख्यापनम् = प्रवृत्तायाः-उपस्थितायाः शरदः गुणानां प्रख्यापनं-कीर्तनं यत्र तादृशम्। अवधारयामि = जानामि। अस्थाने = अनुचिते स्थाने। अर्थोत्सर्गः = अर्थानां-धनानाम् उत्सर्गः-व्ययः। निरुद्धचेष्टाप्रसरस्य = निरुद्धः चेष्टायाः प्रसरः यस्य तादृशस्य। अनभियुक्तानां = स्वातन्त्र्यम् अनवलम्बमानानाम्। अभियुज्यामहे = उद्युक्ता भवामः।

हिन्दी रूपान्तर

चाणक्य—(मन ही मन।) प्रथम वैतालिक द्वारा प्रस्तुत स्तुति (प्रथमम्) तो विशिष्ट देवता (शिव और विष्णु) की स्तुति रूप से प्रस्तुत (प्रवृत्त) शरद् ऋतु के गुणों को प्रकट करने वाला आशीर्वचन है। यह दूसरा क्या है, यह निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ। (सोचकर।) आः, मालूम पड़ गया है। यह राक्षस का प्रयोग है। दुष्ट आत्मा वाले राक्षस, देखे जा रहे हो, अरे चाणक्य जाग रहा है अर्थात् सावधान है।

राजा—आर्य वैहीनरे, इन दोनों वैतालिकों को सौ हजार स्वर्ण मुद्रायें दिलवा दो।

कञ्चुकी—जो महाराज आज्ञा देते हैं। (ऐसा कहकर उठकर घूमता है।)

चाणक्य—(क्रोध के साथ।) वैहीनरे, ठहरो नहीं जाना। वृषल, अनुचित स्थान पर यह महान् धन का त्याग क्यों?

राजा—(क्रोध के साथ।) आर्य के द्वारा सर्वत्र इसप्रकार रोक दी गई गति-विधि वाले मेरे लिये राज्य बन्धन के समान है, राज्य के समान नहीं।

चाणक्य—वृषल, स्वयं स्वतन्त्रता का अवलम्बन न करने वाले राजाओं के ये दोष (अर्थात् गुरुओं के गौरव को सहन न करना) होते हैं। इसलिये यदि सहन नहीं करते हो तो स्वयं स्वतन्त्र रूप से व्यवहार करो।

राजा—ये (हम) अपने कर्म में स्वतन्त्र रूप से व्यवहार करते हैं।

चाणक्य हमारे लिये अच्छा है। हम भी अपने कार्य में लगते हैं।

***गूढार्थ—वयमपि स्वकर्मण्यभियुज्यामहे**—चाणक्य कह रहा है कि अभी तक मैं तुम्हारा काम करता था, इससे मेरे अग्निहोत्रादि काम में क्षति होती थी। अब मैं अपना ही काम करूँगा, तुम्हारा नहीं — यह बाह्य अर्थ है। इसका गूढ़ आशय है कि इस मिथ्या कलह से मैं राक्षस को वश में करने लिये प्रयत्नशील होता हूँ।

टिप्पणी

(१) **प्रथमम्**— इसका अर्थ है कि वैतालिक द्वारा प्रस्तुत स्तुति। इसका अर्थ पहला श्लोक नहीं है।

(२) **इत्युत्थाय परिक्रामति** कञ्चुकी बैठा ही नहीं है क्योंकि पीछे आया है 'उभौ यथोचितमुपविष्टौ', फिर कञ्चुकी के खड़ा होकर घूमने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(३) **अर्थोत्सर्गः**—उद् + सृज् + घञ् भावे उत्सर्गः। अर्थस्य उत्सर्गः।

(४) **अभियुज्यस्व**—अभि उपसर्ग पूर्वक दिवादिगण की युज् धातु से प्रेरणा के अर्थ में लोट् लकार का रूप है।

राजा—यद्येवं तर्हि कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधस्य तावत्प्रयोजनं श्रोतु-मिच्छामि ।

चाणक्यः—वृषल, कौमुदीमहोत्सवानुष्ठानस्य किं प्रयोजनमित्यहमपि श्रोतुमिच्छामि ।

राजा—प्रथमं तावन्ममाज्ञाव्याघातः ।

चाणक्यः—वृषल, ममापि तवाज्ञाव्याघात एव कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधस्य प्रथमं प्रयोजनम् । कुतः ।

अम्भोधीनां तमालप्रभवकिसलयश्यामवेलावनाना-
मापारेभ्यश्चतुर्णां चटुलतिमिकुलक्षोभितान्तर्जलानाम् ।
मालेवाम्लानपुष्पा तव नृपतिशतैरुह्यते या शिरोभिः
सा मय्येव स्खलन्ती कथयति विनयालंकृतं ते प्रभुत्वम् ॥२४॥

संस्कृत-व्याख्या

आज्ञाव्याघातः=आज्ञायाः अव्याघातः । आज्ञाव्याघातः=आज्ञाभङ्गः ।

अन्वयः—अम्भोधीनामिति—तमालप्रभवकिसलयश्यामवेलावनानां चटुलतिमि-कुलक्षोभितान्तर्जलानां चतुर्णाम् अम्भोधीनाम् आपारेभ्यः, नृपतिशतैः या तव (आज्ञा) अम्लानपुष्पा माला इव शिरोभिः उह्यते सा मयि एव स्खलन्ती ते विनयालङ्कृतं प्रभुत्वं कथयति ॥२४॥

व्याख्या—तमालप्रभवकिसलयश्यामवेलावनानां=तमालप्रभवकिसलयैः-तमाल-जातनवपल्लवैः श्यामानि—कृष्णानि वेलावनानि—तीरवनानि येषां तथोक्तानां चटुल-तिमिकुलक्षोभितान्तर्जलानां=चटुलानाम्—इतस्ततः, सञ्चरतां तिमिकुलानां-राज-मत्स्यविशेषाणां कुलैः—समूहैः क्षोभितं—विलोडितम् अन्तर्जलं जलमध्यं येषां तादृशानां चतुर्णाम् अम्भोधीनां-समुद्राणाम् आपारेभ्यः-परतीरेभ्यः आ (आगतैः) नृपतिशतैः-नृपतीनां शतैः या तव (आज्ञा) अम्लानपुष्पा माला इव शिरोभिः उह्यते—धार्यते सा मयि एव (नान्यत्र) स्खलन्ती-व्याहता सती ते-तव विनयालंकृतं=विनयेन—प्रश्रयेण अलंकृतं—भूषितं प्रभुत्वम्—आधिपत्यं कथयति ॥२४॥

हिन्दी रूपान्तर

राजा—यदि ऐसा है तो कौमुदीमहोत्सव को रोके जाने का तो प्रयोजन सुनना चाहता हूँ ।

चाणक्य·वृषल, कौमुदीमहोत्सव को किये जाने का क्या प्रयोजन है—यह मैं भी सुनना चाहता हूँ ।

राजा—(सबसे) पहले तो मेरी आज्ञा का उल्लंघन न होना (आज्ञा+अव्याघातः) ।

चाणक्य—वृषल, मेरा भी तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन करना ही कौमुदी-महोत्सव को रोकने का पहला प्रयोजन है । क्योंकि ।

श्लोक-(२४) **अर्थ**—तमाल वृक्ष से उत्पन्न होने वाले नवीन पल्लवों से कृष्णवर्ण

वाले किनारे के वनों वाले, चञ्चल तिमि मछलियों (मत्स्यविशेष) के समूह से मथित अन्तर्जल वाले चारों समुद्रों के पार से (आये हुये) सैंकड़ों राजाओं के द्वारा जो तुम्हारी (आज्ञा) न कुम्हलाये पुष्पों की माला के समान सिरों से धारण की जाती है, वह (आज्ञा केवल) मेरे में ही (किसी दूसरे में नहीं) स्खलित होती हुई तुम्हारी विनय से सुशोभित प्रभुता को बताती है ॥२४॥

टिप्पणी

(१) **आज्ञाव्याघातः**—वि + आ + हन् + घञ् भावे व्याघातः, न व्याघातः = अव्याघातः । आज्ञायाः अव्याघातः ।

(२) **आपारेभ्यः**—परतीरेभ्यः आ, पारान्प्राप्नुवद्भिः प्रारंगतैरित्यर्थः अभिविधि के अर्थ में आङ् है । "**आङ् मर्यादावचने**" पा० १/४/८१ तथा कर्मप्रवचनीय होने से "**पञ्चम्यपाङ्परिभिः**" पा० २/३/१० से आङ् के योग में पञ्चमी ।

(३) **चाटुलतिमिकुलक्षोभितान्तर्जलानाम्**—इससे समुद्रों की दुस्तरणीयता सूचित की है ।

(४) **तिमिकुल**—"**अस्ति मत्स्यो तिमिर्नाम शतयोजनमायतः**" ।

अथ त्वमपरमपि प्रयोजनं श्रोतुमिच्छसि तदपि कथयामि ।

राजा—कथ्यताम् ।

चाणक्यः—शोणोत्तरे, मद्वचनात्कायस्थमचलं ब्रूहि—"यत्तद्भद्रभटप्रभृतीनामितोऽपरागादपक्रम्य मलयकेतुमाश्रितानां लेख्यपत्रं दीयताम्" इति ।

प्रतिहारी—जं अज्जो आणवेदि त्ति । (निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य ।) अज्ज इमं पत्तअम् । यदायं आज्ञापयतीति । आर्य, इदं पत्रकम् ।

चाणक्यः—(गृहीत्वा ।) वृषल, दृश्यतामिदम् ।

राजा—(*आत्मगतं वांचयति ।) स्वस्ति सुगृहीतनामधेयस्य देवस्य चन्द्रगुप्तस्य सहोत्थायिनां प्रधानपुरुषाणामितोऽपक्रम्य वध्यमलयकेतुमाश्रितानां प्रमाणलेख्यपत्रमिदम् । तत्र प्रथममेव तावद्गजाध्यक्षो भद्रभटः अश्वाध्यक्षः पुरुषदत्तः महाप्रतीहारस्य चन्द्रभानोर्भागिनेयो डिङ्गरातः देवस्य स्वजनसम्बन्धी महाराजो बलदेवगुप्तः देवस्यैव कुमारसेवको राजसेनः सेनापतेः सिंहबलस्य कनीयान्भ्राता भागुरायणो मालवराजपुत्रो लोहिताक्षः क्षत्रगणमुख्यो विजयवर्मेति । एते वयं देवस्य कार्ये अवहिताः स्म इति । (प्रकाशम् ।) आर्य, एतावदेतत्पत्रकम् ।

संस्कृत-व्याख्या

अपरागात् = अननुरागात् । अपक्रम्य = निर्गत्य । लेख्यपत्रं = लिखितपत्रिका । सहोत्थायिनां = सह-सार्धम् उत्तिष्ठन्ति ये तेषाम् । प्रमाणलेख्यपत्रम् = प्रमाणरूपेण लिखितपत्रम् । महाप्रतीहारस्य = प्रधानदौवारिकस्य । भागिनेयः = भगिनीपुत्रः । कुमारसेवकः = कौमारम् आरभ्य सेवते इति कुमारसेवकः । कनीयान् = लघीयान् । क्षत्रगणमुख्यः = क्षत्रगणानां मुख्यः-प्रधानः । अवहिताः = सावधानाः ।

हिन्दी रूपान्तर

यदि (अथ) तुम दूसरा भी प्रयोजन सुनना चाहते हो (तो) वह भी कहता हूँ।

राजा—कहिये।

चाणक्य—शोणोत्तरे, मेरी ओर से अचल नामक कायस्थ से कहना—"जो यहाँ से विरक्ति के कारण भागकर मलयकेतु का आश्रय लेने वाले भद्रभटादियों का लिखा हुआ पत्र है, वह दो" इति।

प्रतिहारी—जो आर्य आज्ञा देते हैं। (निकलकर पुनः प्रवेश करके।) आर्य, यह पत्र है।

चाणक्य—(लेकर।) वृषल, यह देखिये (गोपनीय होने के कारण कहा है)।

राजा—(मन ही मन पढ़ता है।) कल्याण हो प्रातःस्मरणीय महाराज चन्द्रगुप्त के साथ उठने वाले (अर्थात् सहायक) यहाँ से (कुसुमपुर से) भागकर वध के योग्य मलयकेतु का आश्रय लेने वाले प्रमुख व्यक्तियों का यह प्रमाण रूप से लिखा हुआ पत्र है। उनमें से (सबसे) पहले तो (१) हस्तिसेना का सेनापति भद्रभट, (२) घोड़ों की सेना का सेनापति पुरुषदत्त, (३) महाप्रतीहार चन्द्रभानु की भगिनी का पुत्र डिङ्गरात, (४) महाराज का अपना सम्बन्धी महाराज बलदेवगुप्त, (५) महाराज की ही बचपन से सेवा करने वाला (कुमारसेवकः) राजसेन, (६) सेनापति सिंहबल का छोटा भाई भागुरायण, (७) मालवप्रदेश का राजकुमार लोहिताक्ष (और) (८) क्षत्रियगणों का प्रमुख विजयवर्मा है। ये हम सब महाराज के कार्य में सावधान हैं। (स्पष्टतः।) आर्य, इतना (ही) यह पत्र है।

*गूढ़ार्थ—चन्द्रगुप्त ने जो पत्र स्वयं मन ही मन पढ़ा है—वह सब बाह्य अर्थ है—अर्थात् सभी भागकर चले गये हैं। किन्तु इस पत्र को दिखाने से चाणक्य का गूढ़ आशय यह है कि इन सबके प्रयत्न से राक्षस का प्रयत्न शिथिल हो जायेगा।

टिप्पणी

(१) **अपरमपि प्रयोजनम्**—अर्थात् पहला कारण तो दे दिया कि आज्ञा का न मानना हैं। अब यदि दूसरा कारण जानना चाहते हो तो उसे भी सुनो।

(२) **दृश्यतामिदम्**—पत्र क्योंकि गोपनीय है, इसलिये ऐसा कहा है। यह नहीं कहा कि '**स्फुटं वाच्यताम्**' इति। अधिक अच्छा होता कि चाणक्य इस पत्र को पढ़कर सुनाता।

(३) **गजाध्यक्षः**—इसके भागने से राजा की सेना की क्षति की सूचना दी है।

(४) **महाप्रतीहारस्य**—इससे दो बातों की सूचना दी है—(१) नगर के रक्षक की अविश्वसनीयता और (२) आक्रमण किया जाना सुलभ है।

(५) **स्वजनसम्बन्धी**—अपने ही व्यक्ति के विरोध के कारण भावी अनर्थ की सूचना दी है।

(६) **कुमारसेवकः**—देवं कौमारमारभ्य सेवते इति कुमारसेवकः। इसके भाग जाने से गुप्त रहस्यों के प्रकाशित हो जाने की सम्भावना है।

(७) **सेनापतेः कनीयान् भ्राता**—इससे सेनापति के प्रति सन्देह व्यक्त होता है।

(८) **कनीयान्**—अतिशयेन युवा इति युवन् + ईयसुन् "युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्" पा० ५/३/६४ कनीयान् अथवा यवीयान् ।

(९) **क्षत्रगणमुख्यः**—इससे सहायकों की हानि और शत्रुओं के उत्साह की वृद्धि सूचित की है।

(१०) **एते वयम्**—भद्रभटादिकों की उक्ति है। वे कहना चाहते हैं कि आप की आज्ञा से उन-उन कारणों की घोषणा करके चन्द्रगुप्त से विरक्त होकर हम मलयकेतु के पास आ गये हैं और आपके कार्य में अर्थात् राक्षस और मलयकेतु में भेद डालने के कार्य में व्यस्त हैं।

(११) **एतावेदतत्पत्रकम्**—चन्द्रगुप्त के पढ़ने पर 'एतावत्' व्यर्थ है क्योंकि चाणक्य तो सभी कुछ जानता है। ऐसा कहकर चन्द्रगुप्त यह कहना चाहता है कि इस पत्र के दिखाने से क्या लाभ है? मैं तो यह जानना चाहता हूँ कि ये विरक्त क्यों हुये? और क्यों भागकर मलयकेतु के पास गये?

यह सम्पूर्ण दृश्य एक नाटक है क्योंकि चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनों ही समझते हैं कि यह एक नाटक है परन्तु केवल दिखाने के लिये यह पत्र पढ़ा जा रहा है जिससे मालूम पड़ता है कि चाणक्य को तो सब कुछ मालूम है परन्तु चन्द्रगुप्त इन सभी घटनाओं से अनभिज्ञ है।
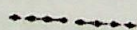
अथैतेषामपरागहेतून्विज्ञातुमिच्छामि ।

चाणक्यः—वृषल, श्रूयताम् । अत्र यावेतौ गजाध्यक्षाश्वाध्यक्षौ भद्रभट-पुरुषदत्तनामानौ तौ खलु स्त्रीमद्यमृगयाशीलौ हस्त्यश्वावेक्षणेऽनभियुक्तौ मयाधिकाराभ्यामवरोप्य स्वजीवनमात्रेणैव स्थापिताविति परपक्षे स्वेन स्वेनाधिकारेण गत्वा मलयकेतुमाश्रितौ । यावेतौ डिङ्गरातबलगुप्तौ तावप्यत्यन्त-लोभाभिभूतौ त्वद्दत्तं जीवनमबहुमन्यमानौ तत्र बहु लभ्यत इत्यपक्रम्य मलयकेतु-माश्रितौ । योऽप्यसौ भवतः कुमारसेवको राजसेन इति सोऽपि तव प्रसादादति-प्रभूतकोशहस्त्यश्वं सहसैव तन्महदैश्वर्यमवाप्य पुनरुच्छेदशङ्कयापक्रम्य मलयकेतु-माश्रितः । योऽयमपरः सेनापतेः सिंहबलस्य कनीयान्भ्राता भागुरायणोऽसावपि तत्र काले पर्वतकेन सह समुत्पन्नसौहार्दस्तत्प्रीत्या च पिता ते चाणक्येन व्यापादित इत्युत्पाद्य रहसि त्रासयित्वा मलयकेतुमपवाहितवान् । ततो भवदपथ्यकारिषु चन्दनदासादिषु निगृहीतेषु स्वदोषाशङ्कयापक्रम्य मलयकेतुमाश्रितः । तेनाप्यसौ मम प्राणरक्षक इति कृतज्ञतामनुवर्तमानेनात्मनोऽनन्तरममात्यपदं ग्राहितः । यौ तौ लोहिताक्षविजयवर्माणौ तावप्यतिमानित्वात्स्वदायादेभ्यस्त्वया दीयमानमसहमानौ मलयकेतुमाश्रितौ इत्येषामपरागहेतवः ।

संस्कृत-व्याख्या

अपरागहेतून् = विरागकारणानि । स्त्रीमद्यमृगयाशीलौ = स्त्री च मद्यं च मृगया च स्त्रीमद्यमृगयाः ताः शीलं—स्वभावो ययोस्तौ । अवेक्षणे = संरक्षणे । अनभियुक्तौ = असावधानौ । अवरोप्य = प्रच्याव्य, भ्रंशयित्वा इत्यर्थः । स्वजीवन-मात्रेणैव = स्वजीविकानिर्वाहमात्रेणैव । जीवनं = जीविकाम् । अबहुन्यमानौ = अल्पमवबुध्यमानौ । अतिप्रभूतकोशहस्त्यश्वम् = अतिप्रभूतः-विवृद्धः कोषो-धनराशिः हस्तिनः अश्वाश्च यस्मिन् तत् । अवाप्य = प्राप्य । उच्छेदशंकया-विनाशत्रासेन । समुत्पन्नसौहार्दः-समुत्पन्नं सौहार्दं यस्य सः । तत्प्रीत्या = तस्मिन् पर्वतके नृपे या प्रीतिः-स्नेहः तया । उत्पाद्य-कल्पयित्वा । रहसि = एकान्ते । अपवाहितवान्-अपसारितवान् । अपथ्यकारिषु--अनिष्टकारिषु । स्वदोषाशङ्कया = निजापराधभयेन । अनुवर्त्तमानेन = अपेक्षमाणेन । अनन्तरम् = अव्यवहितं, सन्निकृष्टमिति यावत् । ग्राहितः = प्रापितः । अतिमानित्वात्-अत्यन्ताभिमानवत्वात् । स्वदायादेभ्यः = स्वबन्धुभ्यः ।

हिन्दी रूपान्तर

अच्छा, इनके विरक्ति के कारणों को जानना चाहता हूँ ।

चाणक्य—वृषल, सुनो । इसमें से जो ये भद्रभट और पुरुषदत्त नाम वाले हस्तिसेना के सेनापति और घोड़ों की सेना के सेनापति हैं, उन स्त्री, मद्य और मृगया के शौकीन हाथी और घोड़ों की देखभाल करने में असावधान--दोनों को मैंने अधिकारों से पृथक् करके अपनी जीविका के निर्वाहमात्र से ही रहने दिया, अतः (उन दोनों ने) शत्रुपक्ष में अपने-अपने अधिकार से जाकर मलयकेतु का आश्रय ले लिया । जो ये डिङ्गरात और बलगुप्त हैं वे दोनों भी अत्यन्त लोभ के वशीभूत हुये तुम्हारे द्वारा दी हुई जीविका को बहुत न मानते हुये वहाँ (शत्रु पक्ष में) बहुत प्राप्त होगा, अतः भागकर मलयकेतु के आश्रित हो गये । और जो वह आपका बचपन से सेवा करने वाला राजसेन है उसने भी तुम्हारी कृपा से अत्यधिक धन, हाथी और घोड़ों वाले उस महान् ऐश्वर्य को सहसैव प्राप्त करके फिर नष्ट होने के भय से भाग कर मलयकेतु का आश्रय ले लिया । जो यह दूसरा सेनापति सिंहबल का छोटा भाई भागुरायण है, उस समय (घेरे के समय में) पर्वतक के साथ उत्पन्न मित्रता वाले उसने भी उसके (पर्वतक के) प्रेम के कारण "तुम्हारे पिता को चाणक्य ने मरवाया है" ऐसा फैलाकर एकान्त में डरा कर मलयकेतु को भगवा दिया । उसके बाद आपका अहित करने वाले चन्दनदासादिकों के पकड़े जाने पर अपने दोष (के खुल जाने) की आशंका से भागकर मलयकेतु का आश्रय ले लिया । (और) 'वह मेरे प्राणों का रक्षक है' इसप्रकार कृतज्ञता का अनुभव करने वाले उस (मलयकेतु) ने भी अपने सन्निकट मन्त्रीपद को ग्रहण करा दिया । जो वे लोहिताक्ष और विजयवर्मा है, उन दोनों ने भी अत्यन्त स्वाभिमानी होने के कारण तुम्हारे द्वारा अपने (चन्द्रगुप्त से) सम्बन्धियों को दिये जाने को सहन न करते हुए मलयकेतु का आश्रय ले लिया—यह इनकी विरक्ति के कारण हैं ।

टिप्पणी

(१) **एतेषामपरागहेतून्**—चन्द्रगुप्त यह अच्छी तरह जानता है कि वास्तव में विरक्ति का कोई कारण नहीं है तथापि केवल दिखाने के लिये वह विरक्ति के कारण मान लेता है और मानकर ही उसने चाणक्य से प्रश्न किया है।

(२) **अत्र यावेतौ**—भद्रभट और पुरुदत्त=इन दोनों के कार्य को **क्रुद्धकृत्य** की संज्ञा दी जा सकती हैं। इसीप्रकार डिङ्गरात ओर बलगुप्त=लुब्धकृत्य। राजसेन और भागुरायण=**भीतकृत्य**। लोहिताक्ष और विजयवर्मा=अवमानितकृत्य हैं।

(३) **स्त्रीमद्यमृगयाशीलौ**—मनु ने राजा के चार व्यसन बताये हैं—

(१) पानम्, (२) अक्षाः, (३) स्त्रियः, (४) मृगया।

(४) **स्वेन स्वेनाधिकारेण**—अपने-अपने अधिकार से अर्थात् भद्रभट गजाध्यक्ष रूप से और पुरुषदत्त अश्वाध्यक्ष रूप से। अर्थात् जिस पद से इनको यहाँ हटाया गया था मलयकेतु ने अपने यहाँ उनको वही पद दे दिया।

(५) **तत्र काले**—घेरे के समय में। इस समय पर्वतक चन्द्रगुप्त के साथ था।

(६) **उत्पाद्य** वास्तविक घटना को भी मिथ्यारूप से मनुष्यों को विश्वास दिलाने के लिये फैलाकर। यहाँ चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के साथ इसप्रकार का व्यवहार किया है, जैसे कि वह पर्वतक की मृत्यु कैसे हुई है--इससे अनभिज्ञ हो।

(७) **प्राणरक्षकः**--प्राणान् रक्षतीति प्राण+रक्ष्+अण् कर्तरि=प्राणरक्षः ततः स्वार्थे कन्=प्राणरक्षकः।

(८) **अनन्तरम्**—अविद्यमानमन्तरमस्य इति अनन्तरम्=सन्निकट।

(९) **दायादेभ्यः**—दायं पैतृकधनं अदन्ति इति दायदाः दाय+अद्+अण् कर्तरि दायदाः तेभ्यः। शाब्दिक अर्थ है 'उत्तराधिकार के अधिकारी'। यहाँ सामान्य अर्थ है=सम्बन्धी।

राजा—एवमेतेषु परिज्ञातापरागहेतुषु क्षिप्रमेव कस्मान्न प्रतिविहित-मार्येण।

चाणक्यः—वृषल, न पारितं प्रतिविधातुम्।

राजा—किमकौशलदुत प्रयोजनापेक्षया।

चाणक्यः—कथमकौशलं भविष्यति। प्रयोजनापेक्षयैव।

राजा—प्रयोजनमिदानीं श्रोतुमिच्छामि।

चाणक्यः—श्रूयतामवधार्यतां च। इह खलु विरक्तानां प्रकृतीनां द्विविधं प्रतिविधानम्—अनुग्रहो निग्रहश्च। अनुग्रहस्तावदाक्षिप्ताधिकारयो-र्भद्रभटपुरुषदत्तयोः पुनरधिकारारोपणमेव। अधिकारश्च तादृशेषु व्यसनयो-गादनभियुक्तेषु पुनरारोप्यमाणः सकलमेव राज्यस्य मूलं हस्त्यश्वमवसाद-येत्। डिङ्गरातबलगुप्तयोरतिलुब्धयोः सकलराज्यप्रदानेनाप्यपरितुष्यतोर-नुग्रहः कथं शक्यः। राजसेनभागुरायणयोस्तु धनप्रणाशभीतयोः कुतोऽनुग्रह-

स्यात्रकाशः । लोहिताक्षविजयवर्मणोरपि दायादमसहमानयोरतिमानिनोः कीदृशोऽनुग्रहः प्रीतिं जनयिष्यतीति परिहृतः पूर्वः पक्षः । उत्तरोऽपि खलु वयमचिरादधिगतनन्दैश्वर्याः सहोत्थायिनं प्रधानपुरुषवर्गमुग्रेण दण्डेन पीडयन्तो नन्दकुलानुरक्तानां प्रकृतीनामविश्वस्या एव भवाम इत्यतः परिहृतः एव । तदेवमनुगृहीतास्मत्पक्षो राक्षसोपदेशप्रवणो महीयसा म्लेच्छबलेन परिवृतः पितृवधामर्षी पर्वतकपुत्रो मलयकेतुरस्मानभियोक्तुमुद्यतः । सोऽयं व्यायामकालो नोत्सवकाल इति दुर्गसंस्कारे प्रारब्धव्ये किं कौमुदीमहोत्सवेनेति ।

संस्कृत-व्याख्या

परिज्ञातापरागहेतुपु = परिज्ञाताः-अवगताः अपरागाणां-विरागाणां हेतवः-कारणानि येषां तेषु । प्रतिविहितम् = प्रतिकारः कृतः । प्रतिविधातुं-प्रतिकर्तुम् । अवधार्यताम् = विचार्यताम् । प्रतिविधानम् = प्रतिकारः । अनुग्रहः = अनुकम्पा । निग्रहः = दण्डः । आक्षिप्ताधिकारयोः = आक्षिप्तः—आच्छिद्य गृहीतः अधिकारः-कार्यभारः ययोस्तयोः, अधिकारादवरोपितयोः । अधिकारारोपणत् = अधिकारे आरोपणं-स्थापनम् । व्यसनयोगात् स्त्रीमद्यमृगयाद्यासक्तिदोषात् । अनभियुक्तेषु = स्वकार्येषु असावधानेषु । अवसादयेत् = विनाशयेत् । अपरितुष्यतोः सन्तोषमप्राप्नुवतोः । दायादम् = ज्ञातिम् । परिहृतः = परित्यक्तः । पूर्वः पक्षः-अनुग्रहरूपः प्रथमः पक्षः कोटिः । उत्तरः = उत्तरपक्षः, निग्रहरूपः इत्यर्थः । अधिगतनन्दैश्वर्याः = अधिगतं-प्राप्तं नन्दैश्वर्यं-नन्दराज्यं यैस्ताहशाः । अविश्वास्याः = शंकनीयाः । अनुगृहीतास्मत्पक्षः = अनुगृहीतः-अनुकम्पयावलम्बितः अस्मत्पक्षः-भद्रभटादिवर्गः येन ताहशः । राक्षसोपदेशप्रवणः-राक्षसस्य उपदेशे प्रवणः—तत्परः । पितृवधामर्षी = पितृवधेन अमर्षी-जातक्रोधः । अभियोक्तुम् = आक्रमितम् । व्यायामकालः = व्यायामस्य-विशिष्टायासस्य सेनासंग्रहदुर्गसंस्कारादिरूपस्य कालः-समयः । प्रतिषिद्धः—प्रतिरुद्धा ।

हिन्दी रूपान्तर

राजा—इस प्रकार इनकी विरक्ति के कारणों को जान लेने पर शीघ्र ही आर्य ने प्रतिकार क्यों नहीं किया ।

चाणक्य—वृषल, प्रतिकार किया नहीं जा सका ।

राजा—क्या अकुशलता के कारण अथवा (किसी) प्रयोजन की अपेक्षा से ।

चाणक्य—अकुशलता कैसे होगी ? प्रयोजन की अपेक्षा से ही ।

राजा—सम्प्रति प्रयोजन सुनना चाहता हूँ ।

चाणक्य—सुनिये और विचार कीजिये । इस संसार में विरक्ति हुई प्रजाओं का दो प्रकार का प्रतिकार (कहा) है—अनुग्रह करना और निग्रह करना । अनुग्रह करना तो अधिकारच्युत भद्रभट और पुरुषदत्त का पुनः अधिकार पर आरूढ़ करना ही है । और दुर्व्यसन के कारण उन जैसे असावधान व्यक्तियों के विषय में पुनः आरोपित किया जाता हुआ अधिकार सम्पूर्ण ही राज्य के मूल गजसेना और अश्वसेना

को नष्ट कर देता। अत्यन्त लोभी सम्पूर्ण राज्य को देने से भी सन्तुष्ट न होने वाले डिङ्गरात और बलगुप्त का अनुग्रह कैसे सम्भव (हो सकता है)। धन और मृत्यु से डरे हुए (क्रमशः) राज्ययेन और भागुरायण के विषय में तो अनुग्रह करने का अवकाश (ही) कहाँ से ? सम्बन्धियों को सहन न करने वाले अत्यन्त स्वाभिमानी लोहिताक्ष और विजयवर्मा के विषय में भी किसीप्रकार का अनुग्रह प्रीति को उत्पन्न करेगा, अतः (यह सब सोचकर) पूर्वपक्ष (अर्थात् अनुग्रह छोड़ दिया। उत्तरपक्ष भी अर्थात् निग्रह करना) शीघ्र ही नन्द के ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले हम साथ उठने वाले अर्थात् सहायक प्रमुख पुरुषवर्ग को कठोर दण्ड के द्वारा पीड़ित करते हुये नन्दकुल में अनुरक्त प्रजाओं के अविश्वासी ही होते हैं, इसलिये छोड़ ही दिया। अतः (तद्) इसप्रकार हमारे पक्ष के व्यक्तियों पर अनुग्रह करने वाला (अनुगृहीतास्मत्पक्षः), राक्षस की राजनीति को सुनने में तत्पर, महान् म्लेच्छों की सेना से युक्त, पिता की मृत्यु से क्रोधित पर्वतक का पुत्र मलयकेतु हम पर आक्रमण करने के लिये उद्यत है। वह यह तैयारी करने का समय है (व्यायामकालः) उत्सव मनाने का समय नहीं—इसप्रकार दुर्ग के संस्कार के प्रारम्भ किये जाने के अवसर पर कौमुदीमहोत्सव से क्या लाभ--अतः रोक दिया।

टिप्पणी

(१) **अकौशलम्**—कुशलस्य भावः कौशलम्, न कौशलम् अकौशलम्।

(२) **अवधार्यताम्**—अव + धृ + णिच् + लोट् ताम् कर्मणि।

(३) **प्रतिविधानम्**—प्रति + वि + धा + ल्युट् भावे।

(४) **हस्त्यश्वम्**—हस्तिनश्च अश्वाश्च इति "**द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्**" पा० २/४/२ सेना का अंग होने के कारण द्वन्द्व एकवत् हो गया।

(५) **धनप्रणाशभीतयोः**—राजसेन धन के विनाश के डर से और भागुरायण प्राणों के विनाश के डर से।

(६) **उत्तरोऽपि**—अर्थात् निग्रह का पक्ष भी छोड़ दिया क्योंकि यदि हम अपने ही सहायकों और मित्रों को कठोर दण्ड देंगे तो नन्द के सहायक और मित्र यह सोचकर हमारे प्रति अनुरक्त नहीं होंगे कि जब ये अपने ही सहायकों और मित्रों को इसप्रकार का कठोर दण्ड दे रहे हैं तो फिर हमारे साथ न्याय कैसे करेंगे ? इसप्रकार हमारे प्रति अविश्वासी और अननुरागी हो जावेंगे। इसप्रकार जिस नन्द के राज्य को हमने अभी प्राप्त किया है उसको स्थिर करने में भी काफी समय लग जावेगा।

(७) **अनुगृहीतास्मत्पक्षः**—चाणक्य के कहने का आशय है कि इससे हमारे मित्रों की शक्ति क्षीण होगी और शत्रु की शक्ति बढ़ेगी। शक्ति बढ़ने के कारण शत्रु दुर्जेय हो जावेगा।

(८) **म्लेच्छबलेन**—ऐसा कहकर मलयकेतु की दुर्जेयता सूचित की है।

(९) **पितृवधामर्षी**—चाणक्य ने यह सोचकर कहा है कि कहीं चन्द्रगुप्त यह न कह दे कि शत्रु बलि और दुर्जेय है तो सन्धि कर लेनी चाहिये। किन्तु सन्धि भी नहीं की जा सकती है क्योंकि उसको अपने पिता के वध का बदला लेना है।

राजा—आर्य, बहु प्रष्टव्यमत्र ।

चाणक्यः—वृषल, विश्रब्धं पृच्छ । ममापि बह्वाख्येयमत्र ।

राजा—सोऽप्यस्य सर्वस्यानर्थस्य हेतुर्मलयकेतुः कस्मादपक्रामन्नुपेक्षितः ।

चाणक्यः—वृषल, अनुपेक्षणे द्वयी गतिः निगृह्येत वा प्रतिश्रुतं राज्यार्धं प्रतिपाद्येत वा । निग्रहे तावत्पर्वतकोऽस्माभिरेव व्यापादित इति कृतघ्नतायाः स्वहस्तो दत्तः स्यात् । प्रतिश्रुतराज्यार्धप्रतिपादनेऽपि पर्वतकविनाशः केवलं कृतघ्नतामात्रफलः स्यादिति मलयकेतुरपक्रामन्नुपेक्षितः ।

राजा—अत्र तावदेवम् । राक्षसः पुनरिहैव वर्तमान आर्येणोपेक्षित इत्यत्र किमुत्तरमार्यस्य ।

चाणक्यः—राक्षसोऽपि स्वामिनि स्थिरानुरागित्वात्सुचिरमेकत्र वासाच्च शीलज्ञानां नन्दानुरक्तानां प्रकृतीनामत्यन्तविश्वास्यः प्रज्ञापुरुषकाराभ्यामुपेतः सहायसंपदाभियुक्तः कोशवानिहैवान्तर्नगरे वर्तमानः खलु महान्तमन्तःकोपमुत्पादयेत् । दूरीकृतस्तु बाह्यकोपमुत्पादयन्नपि कथमप्युपायैर्वशयितुं शक्य इत्ययमत्रस्थ एव हृदयेशयः शंकुरिवोद्धृत्य दूरीकृतः ।

संस्कृत-व्याख्या

विश्रब्धम्=विश्वस्तम् । आख्येयं=वक्तव्यम् । अपक्रामन्=अपसरन् । उपेक्षितः=तदपक्रमो न प्रतिकृतः इत्यर्थः । अनुपेक्षणे=उपेक्षाविरहे, उपेक्षायाम् अकृतायाम् । द्वयी गतिः=द्वौ पक्षौ स्याताम् । निगृह्येत=दण्ड्येत । प्रतिश्रुतम्=प्रतिज्ञातम् । प्रतिपाद्येत=दीयेत । कृतघ्नतायाः=विश्रम्भघातितायाः । स्वहस्तो दत्तः स्यात्=स्वस्य-आत्मनः हस्तः-अवलम्बः दत्तः स्यात् । प्रतिश्रुतराज्यार्धप्रतिपादने—प्रतिश्रुतस्य-प्रतिज्ञातस्य राज्यार्धस्य प्रतिपादने-दाने । कृतघ्नतामात्रफलः=कृतघ्नतामात्रं फलं यस्य तादृशः । शीलज्ञानाम्=चरित्राभिज्ञानाम् । प्रकृतीनां=प्रजानाम् । प्रज्ञापुरुषकाराभ्याम्=बुद्धिपौरुषाभ्याम् । उपेतः=सम्पन्नः । अभियुक्तः=अन्वितः । अन्तर्नगरे=नगरस्य मध्ये । बाह्यकोपम्=बाह्यविद्रोहम् । उपायैः=सामादिभिः । वशयितुम्=वशं गमयितुम् । हृदयेशयः=हृदये शेते इति,'हृदयविद्धः । शंकुः=कीलः । उद्धृत्य=उत्पाट्य ।

हिन्दी रूपान्तर

राजा—आर्य, इस विषय में बहुत पूछना है ।

चाणक्य—वृषल, निश्चिन्त होकर पूछो । मुझे भी इस विषय में बहुत कहना है ।

राजा—इस सम्पूर्ण अनर्थ के कारण भागते हुये उस मलयकेतु की भी किस कारण से उपेक्षा कर दी ।

चाणक्य—वृषल, उपेक्षा न करने की स्थिति में दो गतियाँ हैं, पकड़ लिया जाता अथवा प्रतिज्ञा किया हुआ आधा राज्य दे दिया जाता। निग्रह करने पर तो पर्वतक को हमने ही मारा है—इसप्रकार कृतघ्नता को अपना ही सहारा देना होता (स्वहस्तो दत्तः स्यात्)। प्रतिज्ञा किये हुये राज्य के आधे हिस्से को देने पर भी पर्वतक का विनाश केवल कृतघ्नतामात्र फल वाला होता, अतः भागते हुये मलयकेतु की उपेक्षा कर दी।

राजा—इस विषय में तो ऐसा है। (किन्तु) राक्षस तो पुनः यहीं रहता हुआ आर्य ने उपेक्षित कर दिया—इस विषय में आर्य का क्या उत्तर है?

चाणक्य—राक्षस भी स्वामी (नन्द) के विषय में स्थिर अनुरागी होने के कारण और चिरकाल तक एक स्थान पर रहने के कारण चरित्र को जानने वाले नन्द के प्रति अनुरक्त प्रजाओं का अत्यन्त विश्वस्त, बुद्धि और पुरुषार्थ से युक्त मित्रों की सहायता रूपी सम्पत्ति से युक्त, कोशवाला यहीं नगर के अन्दर रहता हुआ महान् आन्तरिक विद्रोह को उत्पन्न कर सकता था। दूर किया हुआ तो बाह्य विद्रोह को उत्पन्न करता हुआ भी किसी प्रकार से भी उपायों से वश में किया जा सकता है, अतः यह यहाँ विद्यमान रहता हुआ भी हृदय में विद्यमान कांटे के समान उखाड़ कर दूर कर दिया।

टिप्पणी

(१) **द्वयी**—द्वौ अवयवौ यस्याः द्वयी अथवा द्वितयी।

(२) **कृतघ्नतायाः स्वहस्तो दत्तः स्यात्**—कृतं हन्तीति कृतघ्नः तस्य भावः कृतघ्नता तस्याः कृतघ्नतायाः—कृतघ्नता को अपना ही सहारा देना होता अर्थात् राक्षस के ऊपर हमने जो अपयश आरोपित किया है वह धुल जाता और यह अपकीर्ति हमारे हिस्से में आती कि हमने ही पर्वतक को मारा है और यदि हमने पर्वतक को नहीं मारा तो उसके पुत्र मलयकेतु को क्यों मार दिया?

(३) **कृतघ्नतामात्रफलः स्यात्**—क्योंकि फिर तुमको सम्पूर्ण नन्दराज की प्राप्ति नहीं होती। अतः मलयकेतु की उपेक्षा करना ही ठीक था। क्योंकि विश्वस्त पर्वतक को भी मार दिया और अपने राज्य की भी रक्षा न कर सके।

(४) **प्रज्ञापुरुषकाराभ्यामुपेतः**—इससे प्रकट किया है कि वह राक्षस बलपूर्वक नहीं पकड़ा जा सकता है। पुरुषः क्रियते अनेन इति पुरुष + कृ + घञ् करणे पुरुषकारः। प्रज्ञा च पुरुषकारश्च, ताभ्यामुपेतः—युक्तः। (क) **सहायसम्पदाभियुक्तः और कोशवान्**—इससे राक्षस की प्रभुशक्ति का पता लगता है।

(ख) **प्रज्ञा-राक्षस की मन्त्रशक्ति का द्योतक है।**

(ग) **पुरुषकारः**=उत्साहशक्ति **को प्रकट कर रहा है। इसप्रकार राक्षस इन तीनों शक्तियों से युक्त है।**

(५) **अन्तर्नगरे**—नगरस्य मध्ये इति अन्तर्नगरं तस्मिन्, विभक्ति के अर्थ में अव्ययीभाव समास है। तत्पश्चात् "तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्" पा० २/४/८४ से सप्तमी को अम् भाव नहीं हुआ। नगर का लक्षण—

पुण्यतिथ्यादिनिपुणैः चातुर्वर्ण्यजनैर्युतम् ।
अनेकजातिसम्बद्धं नैकशिल्पिसमाकुलम् ।
सर्वदैवतसम्बद्धं नगरन्त्वभिधीयते ॥

(६) **वशयितुम्**—वशं गमयितुमिति, वश + णिच् (नामधातु) + तुमुन् ।

(७) **हृदयेशयः शंकुरिव**—जिसप्रकार हृदय में विद्ध हुई कील वहीं पर होती हुई अधिक पीड़ा को देने वाली होती है और उसके निकाल देने पर उससे उत्पन्न हुये घाव को आसानी से ठीक किया जा सकता है। इसीप्रकार वह राक्षस इसी नगर में रहता हुआ अनेक परेशानियों को पैदा करता, उसके भागकर अन्यत्र चले जाने पर उसको आसानी से वश में किया जा सकता है, यही सोचकर उसको भागने दिया। दूरस्थ यह हृदय के लिये शंकु नहीं होगा। हृदये शेते इति हृदये + शी + अच् कर्तरि—"क्षयवासवासिष्यकालात्" पा० ६/३/१८ से सप्तमी का विकल्प से लोप। हृदयेशयः और हृदयशयः।

••••• ••
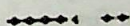
राजा—आर्य, कस्माद्विक्रम्य न गृहीतः ।

चाणक्यः—राक्षसः खल्वसौ । विक्रम्य गृह्यमाणो युष्मद्बलानि बहूनि नाशयेत्स्वयं वा विनश्येत् । एवं सत्युभयथापि दोषः । पश्य ।

स हि भृशमभियुक्तो यद्युपेयाद्विनाशं
ननु वृषल वियुक्तस्तादृशेनापि पुंसा ।
अथ तव बलमुख्यान्घातयेत्सापि पीडा
वनगज इव तस्मात्सोऽभ्युपायैर्विनेयः ॥२५॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—स हीति—सः हि भृशम् अभियुक्तः यदि विनाशम् उपेयात् ननु वृषल, तादृशेनापि पुंसा वियुक्तः । अथ तव बलमुख्यान् घातयेत् सापि पीडा, तस्मात् सः वनगज इव अभ्युपायैः विनेयः ॥२५॥

व्याख्या—सः—राक्षसः हि भृशम्—अतिमात्रम् अभियुक्तः—(अस्मद्बलैः) आक्रान्तः सन् यदि विनाशं—मृत्युम् उपेयात्—प्राप्नुयात् (तदा) ननु वृषल—हे मौर्य तादृशेन—तथाविधेन प्रज्ञाविक्रमशालिना अपि पुंसा—पुरुषेण वियुक्तः—विरहितः (असि) । अथ—पक्षान्तरे यदि तव बलमुख्यान्—सेनानायकान् घातयेत्—नाशयेत् सा अपि पीड़ा—क्षतिः, तस्मात् सः—राक्षसः वनगजः—आरण्यकः गजः इव अभ्युपायैः—सामादिभिः अन्यत्र दमनसाधनैः विनेयः—वशीकरणीयः ॥२५॥

हिन्दी रूपान्तर

राजा—आर्य, सेना का प्रयोग करके (विक्रम्य) क्यों नहीं पकड़ लिया ?

चाणक्य—वह राक्षस है। सेना का प्रयोग करके पकड़ा जाता हुआ तुम्हारी बहुत सी सेना को विनष्ट कर देता अथवा स्वयं नष्ट हो जाता। (और) ऐसा होने पर दोनों प्रकार से भी दोष है। देखो।

श्लोक (२५) अर्थ—वह (राक्षस) अत्यधिक आक्रमण किया जाता हुआ यदि मृत्यु को (विनाशम्) प्राप्त हो जावे (तो) हे वृषल, उस जैसे (योग्य) व्यक्ति से भी वियोग (होता) है। (और) यदि तुम्हारी सेना के प्रमुख व्यक्तियों को अर्थात् सेनापतियों को मार दे (तो) वह भी दुःख (की बात) है, अतः उसको जङ्गली हाथी के समान उपायों-से वश में करना चाहिये (विनेयः) ॥२५॥

टिप्पणी

(१) विक्रम्य—वि + क्रम् + ल्यप्।

(२) अभ्युपायैः—अभ्युपाय और उपाय समानार्थक हैं। किन-किन उपायों से राक्षस को वश में करना चाहिये, इस विषय में सम्पूर्ण नाटक पर दृष्टि डालने से निम्न उपायों का अवलम्बन चाणक्य ने किया है, यह स्पष्ट होता है—

(क) राक्षस के भागने के विषय में उपेक्षा = उपेक्षा उपाय है।

(ख) मलयकेतु से राक्षस का पृथक् करना = भेद उपाय है।

(ग) विष्णुदास के कृत्रिम मित्र द्वारा आत्महत्या का मिथ्या अभिनय करना = इन्द्रजाल उपाय है।

(घ) चन्दनदास को फांसी का दण्ड देना = दण्ड उपाय है।

(ङ) सिद्धार्थक और समिद्धार्थक द्वारा जल्लाद के वेश को धारण करना = माया उपाय है।

(छ) चन्दनदास को नगर श्रेष्ठी कर देना = दान उपाय है।
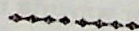
राजा—न शक्नुमो वयमार्यस्य मतिमतिशयितुम्। सर्वथा अमात्यराक्षस एवात्र प्रशस्यतरः।

चाणक्यः—(सक्रोधम्।) न भवानिति वाक्यशेषः। भो वृषल, तेन किं कृतम्।

राजा—श्रूयताम्। येन खलु महात्मना।

लब्धायां पुरि यावदिच्छमुषितं कृत्वा पदं नो गले
व्याघातो जयघोषादिषु बलादस्मद्बलान्तं कृतः।
अत्यर्थं विपुलैः स्वनीतिविभवैः संमोहमापादिता
विश्वास्येष्वपि विश्वसन्ति मतयो न स्वेषु वर्गेषु नः ॥२६॥

संस्कृत-व्याख्या

अतिशयितुम् = उल्लंघयितुम्। **प्रशस्यतरः** = श्रेयान्।

अन्वयः—लब्धायामिति— नो गले पदं कृत्वा लब्धायां पुरि यावत् इच्छम् उषितम्, बलात् अस्मद् बलान्तं जयघोषणादिषु व्याघातः कृतः। विपुलैः स्वनीतिविभवैः अत्यर्थं सम्मोहम् आपादिताः नः मतयः विश्वास्येष्वपि स्वेषु वर्गेषु न विश्वसन्ति ॥२६॥

व्याख्या---नः---अस्माकं गले—कण्ठे पदं—पादन्यासं कृत्वा—विधाय, अस्मा-ननादृत्य इत्यर्थः (अस्माभिः) लब्धायाम् – अधिकृतायां पुरि– नगर्यां कुसुमपुरे इत्यर्थः यावदिच्छं---यथारुचि (अभिलषितकालपर्यन्तम्) उषितं—स्थितं, बलात्—हठात् अस्मद्बलान्तम्-अस्मद् बलानि अन्तः प्रवेश्य जयघोषणादिषु व्याघातः-विघ्नः कृतः-उत्पादितः। विपुलैः—महद्भिः स्वनीतिविभवैः—स्वनयकौशलैः अत्यर्थं - परमं सम्मोहं —मूढताम् आपादिताः---प्रापिताः नः---अस्माकं मतयः—बुद्धयः विश्वास्येष्वपि-विश्वासयोग्येषु (जीवसिद्धिभागुरायणप्रभृतिषु) स्वेषु—स्वकीयेषु वर्गेषु—पक्षेषु न विश्वसन्ति ॥२६॥

हिन्दी रूपान्तर

राजा---हम आर्य की बुद्धि का अतिक्रमण करने में समर्थ नहीं हैं। (किन्तु) इस विषय में तो अमात्यराक्षस ही सभीप्रकार से अधिक प्रशंसनीय है।

चाणक्य—(क्रोध के साथ।) आप (·शस्यतरः) नहीं—यह (तुम्हारे) वाक्य का शेष है। हे वृषल, उसने क्या किया ?

राजा---सुनिये। जिस महात्मा (राक्षस) ने

श्लोक (२६) अर्थ—हमारे गले पर पैर रखकर (अर्थात् हमको तिरस्कृत करके) (हमारे द्वारा) अधिकार की हुई नगरी में (कुसुमपुर में) इच्छा के अनुसार रहा, (केवल रहा ही नहीं अपितु) हमारी सेनाओं के अन्दर प्रवेश करके विजय की घोषणाओं आदि में विघ्न उत्पन्न किया। महान् अपनी राजनीति के वैभव से अत्यधिक मोह को प्राप्त कराई हुई हमारी बुद्धियाँ विश्वास के योग्य भी अपने पक्ष के (जीव-सिद्धि और भागुरायणादि) व्यक्तियों पर विश्वास नहीं करती हैं ॥२६॥

टिप्पणी

(१) मतिमतिशयितुम्—मेरे द्वारा कुछ पूछने पर आपने अपनी बुद्धि के बल से समाधान तो कर दिया किन्तु राक्षस की उपेक्षा करना तो सर्वथा ही अनुचित था।

(२) अमात्यराक्षस एव---'एव' से यह प्रतीत होता है कि कोई और व्यक्ति प्रशस्यतर नहीं है।

(३) कृत्वा पदं नो गले - शाब्दिक अर्थ है—हमारे गले पर पैर रखकर। भाव है हमारे लिये परेशानियाँ पैदा करके अथवा हमारा तिरस्कार करके।

(४) उक्त श्लोक में चन्द्रगुप्त ने राक्षस की सफलता का इसप्रकार वर्णन किया है---

(क) हमारे द्वारा अधिकृत राजधानी कुसुमपुर में हमारा तिरस्कार करके रहा।

(ख) केवल कुछ काल तक ही नहीं रहा अपितु अपनी इच्छा के अनुसार जितने दिन रहना चाहा रहा।

(ग) केवल रहा ही नहीं अपितु हमारे प्रतिकूल आचरण भी किया। प्रतिकूल आचरण इसप्रकार है---

(क) विजय की घोषणाओं में विघ्न उत्पन्न किया।

(क) एकान्त वध के लिये विषकन्या का प्रयोग किया।

(ख) यन्त्रतोरण का प्रयोग किया।

(ग) शयनगृह के अन्दर प्रवेश करके वध का उपाय किया।

(घ) सर्वार्थसिद्धि को सुरङ्ग से निकाल कर स्वयं भी नगर से बाहर निकल गया।

(ङ) सम्प्रति सेना इकट्ठी करके आक्रमण की तैयारी कर रहा है।

(५) हमारी बुद्धियों में ऐसा भ्रम उत्पन्न कर दिया कि हम अपने अत्यन्त विश्वस्त जीवसिद्धि और भागुरायणादि व्यक्तियों पर विश्वास नहीं करते हैं।

अतः मैं तो यह समझता हूँ कि राक्षस बुद्धिमान्, अत्यन्त शूरवीर, साहसी और महात्मा है।

चाणक्यः—(विहस्य।) एतत्कृतं राक्षसेन। वृषल, मया पुनर्ज्ञातं नन्दमिव भवन्तमुद्धृत्य भवानिव भूतले मलयकेतू राजाधिराजपदे नियोजित इति।

राजा—अन्येनैवेदमनुष्ठितं किमत्रार्यस्य।

चाणक्यः—हे मत्सरिन्,

आरुह्यारूढकोपस्फुरणविषमिताग्रांगुलीमुक्तचूडां
लोकप्रत्यक्षमुग्रां सकलरिपुकुलोत्सादर्दीर्घां प्रतिज्ञाम्।
केनान्येनावलिप्ता नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वरास्ते
नन्दाः पर्यायभूताः पशव इव हताः पश्यतो राक्षसस्य ॥२७॥

संस्कृत-व्याख्या

उद्धृत्य = उन्मूल्य। नियोजितः = आरोपितः। मत्सरिन् = मत्सरः-परोत्कर्षासहनम्, सोऽस्यास्तीति तत्सम्बोधने।

अन्वयः—आरुह्येति—लोकप्रत्यक्षम् आरूढकोपस्फुरणविषमिताग्रांगुलीमुक्तचूडाम् उग्रां सकलरिपुकुलोत्सादर्दीर्घां प्रतिज्ञाम् आरुह्य केन अन्येन अवलिप्ताः नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वराः ते नन्दाः राक्षसस्य पश्यतः पशव इव पर्यायभूताः हताः ॥२७॥

व्याख्या—लोकप्रत्यक्षं = लोकस्य—जगतः प्रत्यक्षं—समक्षम् आरूढकोपस्फुरणविषमिताग्रांगुलीमुक्तचूडाम् = आरूढस्य—प्रवृद्धस्य कोपस्य स्फुरणेन—आवेशेन विषमितया—कुटिलीभूतया अग्रांगुल्या—अंगुल्याग्रभागेन मुक्ता—बन्धनात् च्याविता चूडा—शिखा यत्र ताम् उग्रां—दारुणां सकलरिपुकुलोत्सादर्दीर्घां = सकलानां रिपुकुलानां—शत्रुवंशानाम् उत्सादेन—उच्छेदेन दीर्घां—दुःसाध्यां प्रतिज्ञां—प्रतिश्रुतिम् आरुह्य—कृत्वा (मद्व्यतिरिक्तेन) केन अन्येन—अपरेण (जनेन, अवलिप्ताः—दृप्ताः नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वराः = नवनवतिशतानां द्रव्यकोटिनाम् ईश्वराः—स्वामिनः, प्रचुरैश्वर्यशालिनः

इत्यर्थः ते-प्रसिद्धाः नन्दाः राक्षसस्य पश्यतः-पश्यन्तं राक्षसमनादृत्य पशव इव पर्यायभूताः—क्रमेण उपस्थिताः हताः—विनाशिताः ॥२७॥

हिन्दी रूपान्तर

चाणक्य—(हँसकर।) राक्षस ने यह किया। वृषल, मैंने पुनः समझा कि नन्द के समान तुमको उखाड़ कर तुम्हारे समान मलयकेतु को पृथिवी पर राजाधिराज के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।

राजा—यह (नन्दों का विनाश) तो (किसी) दूसरे ही ने किया, आर्य का इसमें क्या ?

चाणक्य—हे ईर्ष्यालु,

श्लोक (२७) अर्थ—संसार के सन्मुख बड़े हुये क्रोध के तीव्र आवेग से टेढ़ी अंगुलियों के अग्रभाग से खोली गई शिखा वाली कठोर सम्पूर्ण शत्रुओं के कुल को ध्वंस करने के कारण दुःसाध्य (दीर्घाम्) प्रतिज्ञा को करके (आरुह्य) (मुझसे भिन्न) किस दूसरे के द्वारा गर्वीले ९९ सौ करोड़ द्रव्यों के अधिपति वे नन्द राक्षस के देखते हुये पशुओं के समान क्रमशः (पर्यायभूताः) मारे गये ॥२७॥

टिप्पणी

(१) **एतत्कृतं राक्षसेन**—चन्द्रगुप्त द्वारा २६ वें श्लोक में वर्णित राक्षस को सफलता को चाणक्य तुच्छ समझता है, इसलिये कहा है—"एतत्कृतं राक्षसेन"।

(२) **मया पुनर्ज्ञातम्**—चाणक्य ने चन्द्रगुप्त का उपहास किया है, व्यंग्य है।

(३) **इदम्**—नन्दवंश का विनाश।

(४) **केनान्येन**—चाणक्य का गर्व सूचित होता है।

(५) **पर्यायभूताः**—परि + अय् + अच् भावे पर्यायः। पर्यायेण भूताः = पर्यायभूताः = क्रमशः।

(६) **पश्यतो राक्षसस्य**—'षष्ठी चानादरे' पा० २/३/३८ इति षष्ठी।

(७) इस श्लोक का भाव यह है कि तुमने जो राक्षस के कर्मों का वर्णन किया है, उनकी अपेक्षा मेरा कार्य विशिष्ट है। इसलिये मैं ही प्रशंसा का पात्र हूँ, राक्षस नहीं।

अपि च।

गृध्रैराबद्धचक्रं वियति विचलितैर्दीर्घनिष्कम्पपक्षै—
धूमैर्ध्वस्तार्कभासां सघनमिव दिशां मण्डलं दर्शयन्तः।
नन्दैरानदयन्तः पितृवननिलयान्प्राणिनः पश्य चैता—
न्निर्वान्त्यद्यापि नैते स्रुतबहलवसावाहिनो हव्यवाहाः ॥२८॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—रिगृध्रैत—वियति आबद्धचक्रं विचलितैः दीर्घनिष्कम्पपक्षैः गृध्रैः;

धूमैः ध्वस्तार्कभासां दिशां मण्डलं सघनम् इव दर्शयन्तः । नन्दैः च पितृवननिलयान् एतान् प्राणिन आनन्दयन्तः एते स्रुतवहलवसावाहिनः हव्यवाहाः अद्यापि न निर्वान्ति पश्य ॥२८॥

व्याख्या—वियति–आकाशे आबद्धचक्रं–विरचितमण्डलं यथा तथा विचलितैः-उड्डीययानैः दीर्घनिष्कम्पपक्षैः=दीर्घाः--आयताः निष्कम्पाः--निश्चलाश्च पक्षाः येषां तैः गृध्रैः एव धूमैः--चिताग्निधूमैः ध्वस्तार्कभासां=ध्वस्ताः--तिरोहिताः अर्कस्य--सूर्यस्य भासः--कान्तयः यासु तासां दिशां मण्डलं सघनं–मेघमण्डलप्रच्छादितम् इव दर्शयन्तः-आभासयन्तः, (बहुलवसावशेषैः) नन्दैः च पितृवननिलयान्=श्मशानवासिनः एतान् प्राणिनः (प्रेतवृकादीन् इत्यर्थः) आनन्दयन्तः=प्रीणयन्तः एते—परितः श्मशानेषु दृश्यमानाः स्रुतबहलवसावाहिनः=स्रुताः–गलिताः या बहलाः–प्रचुराः वसाः–मज्जाः ताः ये वाहयन्ति—स्रोतःक्रमेण निस्सारयन्ति तादृशाः हव्यवाहाः—चिताग्नयः अद्यापि-सम्प्रत्यपि न निर्वान्ति=न शाम्यन्ति (इति) पश्य—अवलोकय ॥२८॥

हिन्दी रूपान्तर

और भी ।

श्लोक (२८) अर्थ—आकाश में मण्डल बनाकर उड़ते हुये (विचलितैः) दीर्घ और निश्चल पङ्खों वाले गृद्ध रूपी धुयें से छिपा दिया है सूर्य का तेज जिनमें ऐसी दिशाओं के समूह को मानों मेघों से व्याप्त दिखलाती हुई और (अत्यधिक बची हुई चर्वी वाले) नन्दों से श्मशान में रहने वाले इन प्राणियों को तृप्त करती हुई, ये (चारों ओर श्मशान में दिखाई देने वाली) पिघली (स्रुत) हुई अत्यधिक चर्बी को प्रवाहित करने वाली (चिता की) अग्नियाँ आज भी शान्त नहीं होती हैं—(यह तुम) देखो। (अर्थात् नन्दकुल को जलाने वाला क्रोध अब भी शान्त नहीं हुआ है ।) ॥२८॥

टिप्पणी

(१) **गृध्रैरेव धूमैः**—व्यस्त रूपक है । प्रज्वलित अग्नियों के अंगारमात्र शेष रह जाने के कारण वास्तविक धूम के अभाव में गृध्रों का ही धूमत्वेन वर्णन किया है ।

(२) **हव्यवाहाः**—हव्यं वहन्ति—देवेभ्यः प्रापयन्ति इति हव्य+वह+अण् कर्तरि ।

राजा—अन्येनैवेदमनुष्ठितम् ।

चाणक्यः—आः, केन ।

राजा—नन्दकुलविद्वेषिणा दैवेन ।

चाणक्यः—दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति ।

राजा—विद्वांसोऽप्यविकत्थना भवन्ति ।

चाणक्यः—(सकोपम् ।) वृषल, भृत्यमिव मामारोढुमिच्छसि

शिखां मोक्तुं बद्धामपि पुनरयं धावति करः

(भूमौ पादं प्रहृत्य ।)

प्रतिज्ञामारोढुं पुनरपि चलत्येष चरणः ।
प्रणाशान्नन्दानां प्रशममुपयातं त्वमधुना
परीतः कालेन ज्वलयसि मम क्रोधदहनम् ॥२६॥

संस्कृत-व्याख्या

दैवम् = भाग्यम् । अविद्वांसः = अपण्डिताः । प्रमाणयन्ति = प्रमाणीकुर्वन्ति । अविकत्थनाः = आत्मश्लाघारहिताः । आरोढुमिच्छसि = अधिक्षेप्तुं प्रवर्त्तसे ।

अन्वयः—शिखामिति = बद्धामपि शिखां मोक्तुं पुनः अयं करः धावति, एष चरणः पुनरपि प्रतिज्ञाम् आरोढुं चलति । नन्दानां प्रणाशात् प्रशमम् उपयातं मम क्रोधदहनम् अधुना कालेन परीतः त्वं ज्वलयसि ॥२६॥

व्याख्या—बद्धामपि-बद्धप्रायामपि, शिखां चूडां मोक्तुं-स्खलयितुं पुनः-भूयः अयम्-एषः करः-हस्तः धावति-प्रसर्पति एष चरणः पादः पुनरपि प्रतिज्ञां = प्रतिश्रुतिम् आरोढुं-कर्तुं चलति । नन्दानां प्रणाशात्-विनाशात् प्रशमं—शान्तिम् उपयातं-प्राप्तं मम क्रोधदहनं-कोपवह्निम् अधुना-अद्य कालेन-मृत्युना परीतः—वशीकृतः (इव) त्वं ज्वलयसि-उद्दीपयसि ॥२६॥

हिन्दी रूपान्तर

राजा—दूसरे ने ही यह किया है ।

चाणक्य—आः, किसने ।

राजा—नन्दकुल से द्वेष करने वाले भाग्य ने ।

चाणक्य—मूर्ख व्यक्ति भाग्य को प्रमाण मानते हैं (विद्वान् नहीं) ।

राजा—विद्वान् व्यक्ति भी अपनी प्रशंसा आप करने वाले नहीं होते हैं ।

चाणक्य—(क्रोध के साथ ।) वृषल, नौकर के समान मुझे तिरस्कृत करना चाहते हो ।

श्लोक (२६) अर्थ—प्रायः बंधी हुई भी शिखा को खोलने के लिये पुनः यह हाथ दौड़ रहा है, (भूमि पर पैर पटक कर ।) (और) यह (मेरा) पैर फिर भी प्रतिज्ञा करने के लिये चल रहा है । नन्दों के नष्ट हो जाने से शान्ति को प्राप्त हुई मेरी क्रोध की अग्नि को सम्प्रति मृत्यु से वश में किये हुये (के समान) तुम (फिर) प्रज्वलित कर रहे हो ॥२६॥

टिप्पणी

(१) **प्रमाणयन्ति**-प्रमाणं कुर्वन्ति इति प्रमाण + णिच् (नामधातु) + लट् अन्ति ।

(२) **अविकत्थनाः**—विकथ्यते इति वि + कत्थ् + युच् कर्तरि विकत्थनः । न विकत्थनाः-अविकत्थनाः ।

(३) **बद्धामपि शिखाम्**—शिखा अभी तक बाँधी नहीं गई है क्योंकि नाटक की समाप्ति पर चाणक्य कहता है—"**पूर्णप्रतिज्ञेन मया केवलं बध्यते शिखा**"

७/१७।। अतः "बद्धाम्" का अर्थ यहाँ पर "बद्धप्रायाम्" ऐसा करना चाहिये। **'आशंसायां भूतवच्च'** पा० ३/३/१३२ इति क्त प्रत्ययः।

(४) **चलत्येष चरणः**—चाणक्य का यह स्वभाव है कि वह कुपित होकर शिखा को खोलकर और पृथ्वी पर पैर पटक कर प्रतिज्ञा करता है।

(५) **ज्वलयसि**—ज्वल् + णिच् + लट् सिप्।

(६) इस श्लोक का भाव यह है कि किसी भी व्यक्ति के जलने योग्य न होने के कारण मेरा क्रोध रूपी वह्नि शान्त हो रही थी, उसको तुम पुनः अपने आपको इंधन के रूप में प्रस्तुत करके प्रज्वलित कर रहे हो।

राजा—(सावेगमात्मगतम्।) अये, कथं सत्यमेवार्यः कुपितः। तथाहि।

संरम्भोत्स्पन्दिपक्ष्मक्षरदमलजलक्षालनक्षामयापि
भ्रूभङ्गोद्भेदधूमं ज्वलितमिव पुरः पिङ्गया नेत्रभासा।
मन्ये रुद्रस्य रौद्रं रसमभिनयतस्ताण्डवेषु स्मरन्त्या
संजातोग्रप्रकम्पं कथमपि धरया धारितः पादघातः ॥३०॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—संरम्भोत्स्पन्दीति—संरम्भोत्स्पन्दिपक्ष्मक्षरदमलजलक्षालनक्षामया अपि पिङ्गया नेत्रभासा भ्रूभङ्गोद्भेदधूमं पुरः ज्वलितम् इव। मन्ये ताण्डवेषु रौद्रं रसम् अभिनयतः रुद्रस्य स्मरन्त्या धरया संजातोग्रप्रकम्पं कथमपि पादघातः धारितः ॥३०॥

व्याख्या— संरम्भोत्स्पन्दिपक्ष्मक्षरदमलजलक्षालनक्षामया = संरम्भेण-क्रोधावेशेन उत्स्पन्दीनि-उच्चलितानि यानि पक्ष्माणि-नेत्रलोमानि तेभ्यः क्षरता-गलता अमलजलेन-विशदक्रोधाश्रुणा यत्क्षालनं तेन क्षामया-रुक्षया अपि पिङ्गया-अरुणया नेत्रभासा-नयनकान्त्या भ्रूभङ्गोद्भेदधूमं = भ्रूभङ्गोद्भेदः = भ्रूवोः भङ्गः भ्रूभङ्गः—भृकुटिः तस्य उद्भेदः-आविर्भावः एव धूमो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा पुरः-अग्रे ज्वलितमिव प्रदीप्तमिव। मन्ये-सम्भावयामि (यत्) ताण्डवेषु रौद्रं रसम् अभिनयतः अभिनीय दर्शयतः रुद्रस्य-शिवस्य स्मरन्त्या धरया-पृथिव्या संजातोग्रप्रकम्पं = संजातः—उत्पन्नः उग्रः-महान् प्रकम्पो यत्र तत् यथा तथा कथमपि-कृच्छाद् (आर्यस्य) पादघातः चरणप्रहारः धारितः सोढ़ ॥३०॥

हिन्दी रूपान्तर

राजा—(आवेग के साथ मन ही मन।) अरे, क्या (कथम्) वस्तुतः ही आर्य कुपित हो गये। तथा हि।

श्लोक (३०) अर्थ—क्रोधावेश से ऊपर चलते हुये पलकों से गिरते हुए विशद

क्रोधाश्रुओं से धोने के कारण मन्द भी लाल नेत्रों की ज्वाला से भृकुटि भङ्गिमारूपी धुआँ मानो सामने प्रदीप्त हुआ है। मैं ऐसा मानता हूँ (कि) ताण्डव नृत्य के समय रौद्र रस का अभिनय करते हुये रुद्र को स्मरण करती हुई पृथिवी ने उत्पन्न उग्र कम्प के साथ बड़ी कठिनाई से (कथमपि) (आर्य चाणक्य के) चरण के प्रहार को धारण किया है ॥३०॥

टिप्पणी

(१) अये, कथं सत्यमेवार्यः कुपितः—यद्यपि मैंने तो उनकी आज्ञा से ही उनको कृत्रिम रूप से क्रोधित किया था, तथापि क्या आर्य वास्तव में क्रोधित हो गये।

(२) अमलजल = क्रोधाश्रु।

(३) इस श्लोक में रूपक इसप्रकार है:—नेत्रकान्ति = प्रदीप्त अग्नि और भृकुटि = धूम। ऐसी कल्पना इसलिये की गई है क्योंकि नेत्र नीचे होते हैं और भृकुटि ऊपर होती है, अतः भृकुटि को धूम माना गया है और नेत्रों की क्रान्ति को प्रज्वलित अग्नि।

(४) रुद्रस्य स्मरन्त्या—"अधीगर्थदयेशां कर्मणि" पा० २/३/५२ इति कर्मणि षष्ठी। चाणक्य के पादप्रहार ने पृथिवी को शिवजी के चरणप्रहार का स्मरण कराया हैं, सीधे रूप में शिवाजी को पृथिवी ने याद नहीं किया है।

(५) ताण्डव का लक्षण—"उद्धतं ताण्डवं प्रोक्तम्" दशरूपक, प्रकाश १/१०

(६) उक्त श्लोक का आशय है कि रौद्र ताण्डव नृत्य का अभिनय करने वाले शिवजी के चरणप्रहार के समान अत्यन्त क्रूर चाणक्य के चरणों का प्रहार है। अत्यन्त भयानक कार्य चाणक्य के चरण प्रहार को अनुभव करके मानों शिवजी ही ताण्डव नृत्य में प्रवृत्त हो गये हैं—यह सोचकर काँपती हुई पृथ्वी ने यथाकथंचित् अपने को धारण किया है। इससे प्रतीत होता है कि बनावटी क्रोध नहीं है, अपितु वास्तविक ही क्रोध है।

चाणक्यः--(कृतककोपं संहृत्य।) वृषल वृषल, अलमुत्तरोत्तरेण। यद्यस्मत्तो गरीयान् राक्षसोऽवगम्यते तदिदं शस्त्रं तस्मै दीयताम्। (इति शस्त्रमुत्सृज्योत्थाय चाकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा, स्वगतम्।) राक्षस राक्षस, एष भवतः कौटिल्यबुद्धिविजिगीषोर्बुद्धेः प्रकर्षः।

चाणक्यतश्चलितभक्तिमहं सुखेन
जेष्यामि मौर्यमिति सम्प्रति यः प्रयुक्तः।
भेदः किलैष भवता सकलः स एव
संपत्स्यते शठ तवैव हि दूषणाय ॥३१॥

(इति निष्क्रान्तः।)

संस्कृत-व्याख्या

उत्तरोत्तरेण = उत्तरस्य उत्तरं तेन। गरीयान् = अतिशयेन गुरुः, श्रेष्ठः।

अवगम्यते-अवबुध्यते । कौटिल्यबुद्धिविजिगीषोः=कौटिल्यस्य—चाणक्यस्य बुद्धि विजिगीषोः—विजेतुमिच्छोः । प्रकर्षः—उत्कर्षः ।

अन्वयः—चाणक्य इति—शठ, चाणक्यतः चलितभक्ति मौर्यम् अहं सुखेन जेष्यामि, इति सम्प्रति भवता यः एषः भेदः किल प्रयुक्तः । सः सकलः एव (भेदः) तवैव हि दूषणाय सम्पत्स्यते ॥३१॥

व्याख्या—शठ-हे धूर्त, चाणक्यतः-चाणक्यात् चलितभक्ति=चलिता—अपगता भक्तिः यस्य तादृशं मौर्यं-चन्द्रगुप्तम् अहं सुखेन-अनायासेन जेष्यामि, इति (हेतोः) सम्प्रति-अधुना भवता यः एषः भेद. किल प्रयुक्तः-कृतः सः सकलः-सम्पूर्णः एव (भेदः) तवैव हि-निश्चितं दूषणाय-मलयकेतोर्भेदाय सम्पत्स्यते भविष्यति ॥३१॥

हिन्दी रूपान्तर

चाणक्य—(बनावटी क्रोध को रोककर।) वृषल, वृषल, उत्तर-प्रत्युत्तर से बस। यदि हमसे श्रेष्ठ राक्षस को समझते हो तो यह शस्त्र उसको दे दो (इसप्रकार शस्त्र को छोड़कर और उठकर आकाश में लक्ष्य बाँधकर, मन ही मन।) राक्षस, राक्षस, यह चाणक्य की बुद्धि को जीतने की इच्छा वाले तुम्हारी बुद्धि का प्रकर्ष है।

श्लोक (३१) अर्थ—हे धूर्त (राक्षस), चाणक्य से हटी हुई भक्ति वाले चन्द्रगुप्त को मैं आसानी से जीत लूंगा—इस कारण से इस समय तुमने जो यह भेद प्रयुक्त किया है, वह सम्पूर्ण ही (भेद) तुम्हारे ही भेद के लिये होगा (दूषणाय)। (अर्थात् हम दोनों को भेदन करने में प्रयुक्त तुम्हारी राजनीति तुम दोनों को ही भिन्न कर देगी ॥३१॥

(ऐसा कहकर निकल गया।)

टिप्पणी

(१) **उत्तरोत्तरेण**—उत्तरत्यनेन इति उद्+तृ+अप् करणे उत्तरम्। उत्तरस्य उत्तरम्=वादविवादः तेन। करण में तृतीया है।

(२) **गरीयान्**—अतिशयेन गुरुः इति गुरु+ईयसुन्=गर=ईयसुन्=गरीयान्।

(३) **एष भवतः कौटिल्यबुद्धिविजिगीषोर्बुद्धेः प्रकर्षः**—चाणक्य कहना चाहता है कि इतने से तो चाणक्य की बुद्धि को नहीं जीत सकते हो।

(४) **चलितभक्तिम्**—चलिता भक्तिरस्य। "सामान्ये नपुंसकम्"।

(५) **भेदः किल**—यहाँ पर 'किल' का प्रयोग अरुचि को सूचित कर रहा है अर्थात् तुम इसे भेद कह सकते हो परन्तु मैं इसे नहीं मानता हूँ।

(६) **तवैव ही दूषणाय**—"क्लृपि सम्पद्यमाने च' (वार्तिक) इति चतुर्थी। दुष्+णिच्+ल्युट् भावे दूषण, तस्मै। हे राक्षस, तुमने जिस भेद का प्रयोग हमारे ऊपर किया है, उससे तुम्हारा ही भेदन होगा, हमारा नहीं। चाणक्य की यह भविष्यवाणी पञ्चम अङ्क में सत्य सिद्ध होगी, जहाँ राक्षस का तिरस्कार मलयकेतु के द्वारा किया जाता है।

राजा— आर्य वैहीनरे, अतः प्रभृत्यनादृत्य चाणक्यं चन्द्रगुप्तः स्वयमेव राज्यं करिष्यतीति गृहीतार्थाः क्रियन्तां प्रकृतयः।

कञ्चुकी—(आत्मगतम्।) कथं निरुपपदमेव चाणक्यमिति, नार्यचाणक्यमिति। हन्त, संगृहीतोऽधिकारः। अथ वा न खल्वत्र वस्तुनि देवदोषः। कुतः।

स दोषः सचिवस्यैव यदसत्कुरुते नृप।
याति यन्तुः प्रमादेन गजो व्यालत्ववाच्यताम् ॥३२॥

संस्कृत-व्याख्या

अतःप्रभृति=अद्यप्रभृति। अनादृत्य=तिरस्कृत्य। गृहीतार्थाः=गृहीतः—परिज्ञातः अर्थः—वस्तु याभिः ताः। निरुपपदम्=उप उच्चारितं पदम् उपपदम्, निरस्तम् उपपदम्—सन्निहितश्रेष्ठत्वबोधकार्यादिपदम् अस्मात् तत्। देवदोषः=देवस्य-महाराजस्य दोषः—अपराधः।

अन्वयः—स दोष इति—नृपः यत् असत्कुरुते सः सचिवस्यैव दोषः। यन्तुः प्रमादेन गजः व्यालत्ववाच्यतां याति ॥३२॥

व्याख्या—नृपः-राजा यत् (सचिवम्) असत्कुरुते—नाद्रियते सः सचिवस्य—मन्त्रिणः एव दोषः-अपराधः (न तु नृपस्य)। यन्तुः-हस्तिपकस्य प्रमादेन-अनवधानतया गजः—करी व्यालत्ववाच्यताम्=व्यालत्वेन-दुष्टगजत्वेन वाच्यतां-निन्दनीयतां याति—प्राप्नोति (न स्वतः) ॥२३॥

हिन्दी रूपान्तर

राजा—आर्य वैहीनरे, आज से लेकर चाणक्य का अनादर करके चन्द्रगुप्त अपने आप ही राज्य करेगा, इसप्रकार प्रजायें सूचित (गृहीतार्थाः) कर दी जायें।

कञ्चुकी—(मन ही मन।) क्या (कथम्) बिना किसी आदरसूचक विशेषण के ही "चाणक्य को" "आर्य चाणक्य को" नहीं। दुःख है (हन्त), अधिकार छीन लिया गया अथवा इस विषय में महाराज का दोष (देवदोषः) नही है। क्योंकि।

श्लोक (३२) अर्थ—राजा जो (मन्त्री का) अनादर करता है वह मन्त्री का ही दोष है (राजा का नहीं)। (क्योंकि) महावत की असावधानता से हाथी दुष्ट हाथी होने की निन्दा को प्राप्त होता है (स्वतः नहीं) ॥३२॥

टिप्पणी

(१) अनादृत्य चाणक्यम्—यहाँ चन्द्रगुप्त ने बिना किसी विशेषण के केवल चाणक्य ही कहा है। इसीलिये तो अगले ही क्षण कञ्चुकी अपने मन में सोचता है कि "कथं निरुपपदमेव चाणक्यमिति नार्यचाणक्यमिति"।

(२) निरुपपदम्=बिना किसी आदरसूचक विशेषण के।

(३) असत्कुरुते—"आदरानादरयोः सदसती" पा० १/४/६१।

(४) व्यालत्व - व्याल शब्द दुष्ट हाथी के लिये प्रयुक्त होता है।

(५) इस श्लोक का सार है कि यदि महावत हाथी को शिक्षा देने में सावधान हो तो हाथी विनीत हो सकता है । इसीप्रकार यदि मन्त्री राजा के साथ व्यवहार में सर्तक हो तो उसका अपमान नहीं हो सकता है । राजा कोई गलती नहीं कर सकता है, गलती करने का सारा उत्तरदायित्व मन्त्री पर होता है । यहाँ मन्त्री की तुलना यन्ता से की गई है ।

राजा—आर्य, किं विचारयसि ।

कञ्चुकी—देव, न किंचित् । दिष्ट्या देव इदानीं देवः संवृत्तः ।

राजा—(आत्मगतम् ।) एवमस्मासु, गृह्यमाणेषु स्वकार्यसिद्धिकामः सकामो भवत्यार्यः (प्रकाशम् ।) शोणोत्तरे, अनेन शुष्ककलहेन शिरोवेदना मां बाधते। ॰यनगृहमादेशय ।

प्रतीहारी—एदु एदु देवो । एतु एतु देवः ।

राजा—(आत्मगतम् ।)

आर्याज्ञयैव मम लङ्घितगौरवस्य
बुद्धिः प्रवेष्टुमिव भूविवरं प्रवृत्ता ।
ये सत्यमेव हि गुरूनतिपातयन्ति
तेषां कथं नु हृदय न भिनत्ति लज्जा ॥३३॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

[इति कृतककलहो नाम तृतीयोऽङ्कः ।]

संस्कृत-व्याख्या

देवः संवृत्तः=देवपदवाच्यः जातः, पराधीनतायाः मुक्तत्वादिति भावः । अस्मासु एवम्-अनेन प्रकारेण (स्वन्तत्रत्वेन) गृह्यमाणेषु-प्रतीयमानेषु । स्वकार्यसिद्धिकामः= स्वकार्यसिद्धिम्-आत्मप्रयोजननिष्पत्तिं (राक्षसग्रहणमित्यर्थः) कामयते तादृशः । सकामः सफलमनोरथः । शुष्ककलहेन=व्यर्थविवादेन । शिरोवेदना=शिरसः वेदना-व्यथा । बाधते=पीडयति ।

अन्वयः-आर्याज्ञयैवेति—आर्याज्ञया=एव लंघितगौरवस्य मम बुद्धिः भूविवरं प्रवेष्टुमिव प्रवृत्ता । ये सत्यम् एव हि गुरुन् अतिपातयन्ति तेषां नु हृदयं लज्जा कथं न भिनत्ति ॥३३॥

व्याख्या—आर्याज्ञया=आर्यस्य-चाणक्यस्य आज्ञया=आदेशेन एव (न तु स्वेच्छया) लंघितगौरवस्य=लंघितम्-अतिक्रान्तं गौरवं-सम्माननं येन तादृशस्य मम बुद्धिः--धीः भूविवरं=भुवः-पृथिव्याः विवरं-छिद्रं प्रवेष्टुम्-अभ्युपगन्तम् इव प्रवृत्ता—उद्यता । ये (जनाः) सत्यं-यथार्थम् एव गुरून्-पूज्यान् अतिपातयन्ति—अतीत्य पातयन्ति तेषां नु हृदयं लज्जा—व्रीडा कथं न भिनत्ति—न विदारयति ॥३३॥

हिन्दी रूपान्तर

राजा—आर्य, क्या सोच रहे हैं ?

कञ्चुकी—महाराज, कुछ नहीं। सौभाग्य से अब महाराज (देवः) महाराज (देवः) हो गये।

राजा—(मन ही मन।) इसप्रकार हमारे समझे जाने पर (अर्थात् मेरे और चाणक्य के बीच कृतक-कलह को मनुष्यों के द्वारा यथार्थ रूप से मान लेने पर) अपने कार्य सिद्धि की कामना करने वाले आर्य (चाणक्य) सफल मनोरथ होवें। (स्पष्टतः।) शोणोत्तरे, इस व्यर्थ की कलह से शिर की वेदना मुझे पीड़ित कर रही है। शयनगृह (का मार्ग) बताओ।

प्रतीहारी—आइये आइये महाराज।

राजा—(मन ही मन।)

श्लोक (३३) **अर्थ**—आर्य (चाणक्य) की आज्ञा से ही (स्वेच्छा से नहीं) मर्यादा का उल्लंघन करने वाले मेरी बुद्धि पृथ्वी के छिद्र में मानों प्रवेश करने के लिये (तैयार) हो गई है। जो वास्तव में ही गुरुओं का तिरस्कार करते हैं, उनके हृदय को लज्जा कैसे विदीर्ण नहीं करती है ॥३३॥

(इस प्रकार सभी निकल जाते हैं।)

टिप्पणी

(१) **एवमस्मासु······इत्यादि**—जिस प्रकार कञ्चुकी ने यह समझ लिया कि मैं चाणक्य से पृथक् हो गया हूँ, उसी प्रकार जब सारी प्रजायें भी हमको ऐसा ही समझ लेंगी कि मैं चाणक्य से पृथक् होकर स्वतन्त्र रूप से राज्य-संचालन कर रहा हूँ, उस अवस्था में आर्य चाणक्य सफल मनोरथ होवें ?

(२) **बुद्धिः भूविवरं प्रवेष्टुम्**--अर्थात् बुद्धि मेरा साथ छोड़ रही है। मैं यह निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि क्या ठीक है और क्या ठीक नहीं है ?

(३) **अतिपातयन्ति**—नीचे गिरा देते हैं अर्थात् उनका तिरस्कार करके उनको उनकी प्रतिष्ठा से नीचे गिरा देते हैं।

[कृतक-कलह नामक तृतीय अङ्क समाप्त।]

मलयकेतुः

सत्वभङ्गभयाद्राज्ञां कथयन्त्यन्यथा पुरः ।
अन्यथा विवृतार्थेषु स्वैरालापेषु मन्त्रिणः ॥४.८॥

मन्त्री लोग राजाओं के सन्मुख सत्व के नष्ट होने के भय से किसी भी बात को अन्य प्रकार से कहते हैं और परस्पर स्पष्ट विषयों वाली स्वच्छन्द बातचीतों में भिन्न प्रकार से कहते हैं ॥४/८॥

चतुर्थ अङ्क के पात्र

१–पुरुष = करभक—	पथिक के वेष में राक्षस का गुप्तचर, पाटलिपुत्र से समाचार लाने वाला है ।
२–दौवारिक—	अमात्य राक्षस के द्वार का रक्षक ।
३–राक्षस—	द्वितीय अङ्क में आ चुका है ।
४–पुरुष—	घोषणा करने वाला, मलयकेतु का अनुचर ।
५–मलयकेतु—	पर्वत देश का राजा, अपने पिता पर्वतक की हत्या का प्रतिशोध लेने के लिये पाटलिपुत्र पर सेना लेकर आक्रमण करने वाला ।
६–कञ्चुकी = जाजलि—	मलयकेतु का कञ्चुकी है । द्वितीय अङ्क में आ चुका है।
७–भागुरायण—	चाणक्य का प्रणिधि, कुमार मलयकेतु के पिता पर्वतक का कृत्रिम मित्र, मलयकेतु का सचिव ।
८–शकटदास—	द्वितीय अङ्क में आ चुका है ।
९–पुरुष प्रियंवदक—	द्वितीय अङ्क में आ चुका है ।
१०–क्षपणक जीवसिद्धि = इन्दुशर्मन्—	चाणक्य का सहाध्यायी, मित्र तथा गुप्तचर राक्षस का कपटमित्र, ज्योतिषी ।

चतुर्थ अङ्क की कथावस्तु की रूपरेखा:—

समय—मार्गशीर्ष मास की पूर्णिमा, मध्याह्न एवं अपराह्न।

स्थान—मलयकेतु की राजधानी।

दो दृश्य हैं—(१) राक्षस के घर के सामने एक गली।

(२) राक्षस के घर का एक कमरा॥

मलयकेतु के चरित्र पर प्रकाश डालने वाले इस अङ्क को हम ७ भागों में विभक्त कर सकते हैं, यथा (१) गुप्तचर करभक, (२) शयनागार में राक्षस और शकटदास, (३) भागुरायण और मलयकेतु, (४) राक्षस और करभक तथा मलयकेतु और भागुरायण, (५) राक्षस और मलयकेतु, (६) राक्षस और ज्योतिषी क्षपणक जीवसिद्धि (७) उपसंहार।

(१) **गुप्तचर करभक**—अङ्क के प्रारम्भ में पथिक के वेष में राक्षस का गुप्तचर करभक पाटलिपुत्र के गुप्त समाचार लेकर आया है और राक्षस से मिलना चाहता है किन्तु द्वारपाल से उसको पता लगता है कि रात्रि में देर तक जागने के कारण राक्षस शिरोवेदना से पीड़ित है।

(२) **शयनागार में राक्षस और शकटदास**—राक्षस सोच रहा है कि मेरा भाग्य मेरे विपरीत है। चाणक्य की नीति कुटिल है तथा विषकन्या आदि राजनीतिक षड्यन्त्रों के प्रयोग चाणक्य की जागरूकता के कारण निष्फल हो गये हैं। कार्यसिद्धि कैसे होगी? पुनरपि सम्भवतः चाणक्य और चन्द्रगुप्त में भेद डाला जा सके। इसी बीच द्वारपाल आकर राक्षस को करभक के आने की सूचना देता है।

(३) **भागुरायण और मलयकेतु**—एक पुरुष की घोषणा से पता लगता है कि राक्षस के सिर में पीड़ा होने के कारण मलयकेतु उससे मिलने आ रहा है। वह सोचता है कि पिता की मृत्यु हुये दस महीने हो चुके हैं परन्तु आज तक मैं उनका श्राद्ध और तर्पण नहीं कर सका हूँ क्योंकि मेरी यह प्रतिज्ञा है कि शत्रुओं का विनाश करने के उपरान्त ही पिता का श्राद्ध और तर्पण करूँगा। वह भागुरायण के अतिरिक्त कञ्चुकी सहित अपने सभी अनुयायियों को लौटा देता है। एकान्त पाकर भागुरायण, मलयकेतु और राक्षस में फूट डालने के अपने उद्देश्य को पूरा करता है। राक्षस के पास पहुंचने से पूर्व ही उसने मलयकेतु के मन में यह बात बैठा दी है कि—

(क) राक्षस की चाणक्य के प्रति शत्रुता है, चन्द्रगुप्त के प्रति नहीं। (ख) यह सम्भव हो सकता है कि चन्द्रगुप्त चाणक्य को मन्त्रीपद से पृथक् कर दे। (ग) राक्षस अपने मित्र चन्दनदास और शकटदास के लिये चन्द्रगुप्त से सन्धि कर ले और (घ) यदि उपर्युक्त तीनों बातें सत्य हो जावें तो आप हम पर अविश्वास न कर लें। अतः भद्रभटादि शिखरक के द्वारा आपके पास आये हैं, राक्षस के द्वारा नहीं।

(४) **राक्षस और करभक तथा मलयकेतु और भागुरायण** - इस कथाप्रसंग की स्थिति इसप्रकार है कि शयनागार में तो शकटदास, राक्षस और करभक बातचीत कर रहे हैं और उसके बाहर मलयकेतु और भागुरायण छिपकर उनकी बातचीत को सुन रहे हैं। यहाँ पर राक्षस द्वारा कही हुई बात को भागुरायण ने अन्यथा करके मलयकेतु को समझाया है। करभक राक्षस को निम्न समाचार दे रहा है—

(क) कुसुमपुर में उसकी स्तनकलश से मुलाकात हो चुकी है। राक्षस ने इसी स्तनकलश को चाणक्य और चन्द्रगुप्त में फूट डालने के लिये वैतालिक वेष में नियुक्त कर रखा है। तीसरे अङ्क में इसकी चर्चा आ चुकी है। चाणक्य इस बात को जान गया है।

(ख) चन्द्रगुप्त ने कौमुदी-महोत्सव को मनाने की घोषणा कर दी है।

(ग) चाणक्य ने चन्द्रगुप्त की इच्छा के विपरीत कौमुदीमहोत्सव का मनाया जाना रोक दिया है।

(घ) स्तनकलश ने चन्द्रगुप्त को चाणक्य के विरोध में भड़काने के लिये स्तुति की है।

(ङ) चन्द्रगुप्त ने राक्षस के गुणों की प्रशंसा करके चाणक्य को मन्त्रीपद से हटा दिया है।

(च) चन्द्रगुप्त चाणक्य से इसलिये भी कुपित है कि उसने भागते हुये मलयकेतु और अमात्य राक्षस की उपेक्षा कर दी। [इन सभी समाचारों की चर्चा तृतीय अङ्क में आ चुकी है।]

(छ) मन्त्रीपद से हटाया जाकर चाणक्य वहीं कुसुमपुर में रह रहा है और ऐसी किंवदन्ती है कि वह शीघ्र ही तपोवन में चला जावेगा। राक्षस करभक के इस समाचार पर विश्वास नहीं करता है। उसकी मान्यता है कि चाणक्य अपने द्वारा ही राजा बनाये हुये चन्द्रगुप्त से अपने अपमान को कैसे सहन कर सकता है? उसकी सम्मति में चाणक्य को पुनः चन्द्रगुप्त के समूल नष्ट करने के लिये प्रतिज्ञा करनी चाहिये, परन्तु शकटदास राक्षस के इस विचार से सहमत नहीं है। उसका विचार है कि करभक जो समाचार लाया है, वह मिथ्या नहीं हो सकता क्योंकि उसकी सम्मति में चाणक्य अब पुनः प्रतिज्ञा करने के चक्कर में नहीं पड़ेगा क्योंकि प्रतिज्ञा

को पूर्ण करने में क्या कठिनाइयाँ आती हैं, इसका उसे अनुभव है। अतः उसकी सम्मति में चाणक्य को वन में जाना चाहिये। चन्द्रगुप्त के विरोध में किसीप्रकार की प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिये। राक्षस शकटदास के विचार को 'एवमेतत्' कहकर स्वीकार कर लेता है तथा शकटदास को करभक को विश्राम कराने के लिये भेज देता है। मलयकेतु और भागुरायण छिपकर इन सब गुप्त बातों को सुन रहे हैं। अतः भागुरायण ने राक्षस की निम्न बातों की भिन्न रूप से व्याख्या करके मलयकेतु के मन में सन्देह उत्पन्न किया है—

(१) भागुरायण ने मलयकेतु के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया है कि राक्षस और करभक की बातचीत को छिपकर सुना जावे क्योंकि इससे उसको अपने लक्ष्य की पूर्ति में सुविधा दिखाई देती है।

(२) भागुरायण मलयकेतु से कहता है कि राक्षस और करभक की बातचीत में आये "अपि तत्कार्य सिद्धम्" से कुछ पता नहीं चलेगा क्योंकि मन्त्रियों का पता पाना कठिन होता है और यदि जानना ही चाहते हो तो ध्यानपूर्वक सुनो। ऐसा कहने से मलयकेतु के हृदय में सन्देह उत्पन्न हो जाता है।

(३) करभक ने सूचना दी है कि अमात्य राक्षस के गुणों की प्रशंसा करके चन्द्रगुप्त ने चाणक्य को हटा दिया है। भागुरायण मलयकेतु से पहले ही यह शंका व्यक्त कर चुका है कि यह हो सकता है कि चन्द्रगुप्त चाणक्य को हटा दे। मलयकेतु इतना मूर्ख है कि वह चन्द्रगुप्त की राक्षस के प्रति भक्ति देखता है।

(४) राक्षस करभक से कौमुदी-महोत्सव को रोके जाने के अतिरिक्त भी चन्द्रगुप्त के क्रोध के कारणों को जानना चाहता है जिससे वह अपनी राजनीतिक योजनाओं को मूर्त रूप दे सके। किन्तु भागुरायण मलयकेतु को समझाता है कि उसका ऐसा करने का उद्देश्य उसके अमात्य पद की प्राप्ति के प्रयोजन की सिद्धि है।

(५) राक्षस की इस सीधी सादी बात को कि चाणक्य के चन्द्रगुप्त से पृथक् हो जाने से चन्द्रगुप्त को आसानी से वश में किया जा सकता है, भागुरायण ने इस-प्रकार अन्यथा किया है कि इससे राक्षस को मन्त्रीपद की प्राप्ति और चन्दनदासादिकों का विपत्ति से छुटकारा हो जायेगा।

(६) राक्षस चाणक्य के वन में न जाने और पुनः प्रतिज्ञा न करने से उसकी कूटनीति को समझना चाहता है परतु भागुरायण कहता है कि जैसे-जैसे चाणक्य चन्द्रगुप्त से दूर होता जावेगा, वैसे-वैसे ही राक्षस का मन्त्रित्व सुरक्षित होता जायेगा।

इसप्रकार भागुरायण ने मलयकेतु के हृदय में राक्षस के विरोध में पर्याप्त संशय के बीज बो दिये हैं।

(५) **राक्षस और मलयकेतु**—शकटदास के करभक के साथ चले जाने के उपरान्त मलयकेतु, जो छिपकर राक्षस के वृत्तान्त को सुन रहा था, सामने आ उपस्थित होता है और पूछता है—

(क) शिरोवेदना कैसी है ? (ख) अभी हमको और कितने दिनों तक आक्रमण के अवसर की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी ?

राक्षस का कहना है कि अब प्रतीक्षा करने का समय नहीं, आक्रमण करने का समय है क्योंकि चाणक्य चन्द्रगुप्त से अलग हो गया है। किसी के लिये ऐसा हो या न हो पर चन्द्रगुप्त के लिये यह सबसे बड़ा व्यसन है, क्योंकि वह सचिवायत्तसिद्धि है। चन्द्रगुप्त न तो किसी दूसरे को अपना मन्त्री बना सकता है और न स्वयं ही राज्य-भार अपने हाथ में लेकर हमारे आक्रमण का प्रतिरोध कर सकता है। अतः सफलता निश्चित है। मलयकेतु हृदय में राक्षस के प्रति सन्देह और युद्ध का उन्माद लिये वहाँ से चला जाता है।

(६) **राक्षस और ज्योतिषी क्षपणक जीवसिद्धि**—यह जीवसिद्धि बौद्ध संन्यासी है। चाणक्य का गुप्तचर है और राक्षस का कपटमित्र है। राक्षस ने इससे आक्रमण के लिये प्रस्थान का शुभ मुहूर्त पूछा है। उसने मुहूर्त निकाला है—मध्याह्नोत्तर पूर्णिमा का दिन। उस समय सूर्य अस्त हो रहा होगा, पूर्णिमा का चन्द्रमा उदित हो रहा होगा, बुध नक्षत्र की लग्न होगी और केतु उदय होकर अस्त हो चुका होगा। राक्षस अन्य ज्योतिषियों से भी सलाह लेना चाहता है जिस पर जीवसिद्धि क्रोधित होकर चला जाता है।

(७) **उपसंहार**—सूर्य के अस्ताचल को जाने के साथ ही अङ्क की समाप्ति हो जाती है। इसप्रकार चाणक्य अपने उद्देश्य में यत्किञ्चित् सफल हो जाता है क्योंकि भागुरायण ने मलयकेतु के हृदय में राक्षस के प्रति सन्देह का अंकुर उत्पन्न कर दिया है।

मुद्राराक्षसम्

चतुर्थोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशत्यध्वगवेषः पुरुषः ।)

पुरुषः—ही हीमाणहे हीमाणहे । आश्चर्यमाश्चर्यम् ।

राअणिओओ महिओ को णाम गआगअमिह करेइ ।

अट्ठाणगमणगुव्वी पहुणो अण्णा जइ ण होइ ॥१॥

राजनियोगो महीयान्को नाम गतागतमिह करोति ।

अस्थानगमनगुर्वी प्रभोराज्ञा यदि न भवति ॥१॥

संस्कृत-व्याख्या

अध्वगवेषः=अध्वनि—पथि गच्छन्ति इति अध्वगाः—पथिकाः तेषां वेष इव वेषः यस्य सः ।

अन्वयः—राजनियोग इति—राजनियोगो महीयान् को नाम इह गतागतं करोति । यदि अस्थानगमनगुर्वी प्रभोः आज्ञा न भवति ॥१॥

व्याख्या—राजनियोगः=राज्ञः—नृपतेः नियोगः—आज्ञा महीयान् (अन्यथा) को नाम-जनः इह-अस्मिन् जगति गतागतं—गमनागमनं करोति—विदधाति (न कोऽपि इत्यर्थः) । यदि अस्थानगमनगुर्वी=अस्थाने—अकाण्डे एव गमने—प्रस्थानविषये गुर्वी—अनतिक्रमणीया अथवा अविद्यमानं स्थानं—स्थितिः, विरामः यस्मिन् तादृशं यत् गमनं—अविरतगमनमिति यावत् तेन गुर्वी—दुष्करा अथवा अस्थाने—अयोग्य-स्थाने गमनेन गुर्वी - अनुल्लंघनीया प्रभोः—स्वामिनः (राक्षसस्य) आज्ञा—निदेशः न भवति ॥१॥

हिन्दी रूपान्तर

प्रथम दृश्य

[स्थान---राक्षस के घर के सामने की गली ।]

(तत्पश्चात् पथिकवेष में पुरुष प्रवेश करता है ।)

पुरुष---आः, आश्चर्य है, आश्चर्य है ।

श्लोक (१) अर्थ---राजा की आज्ञा सर्वोपरि है, (अन्यथा) कौन इस संसार में जाना और आना करता है (अर्थात् कोई नहीं करता है) । यदि असमय में ही जाने के विषय में अनतिक्रमणीय (अथवा बिना विराम के निरन्तर जाने के कारण कठोर अथवा अनुचित स्थान पर जाने के कारण महान्) स्वामी (राक्षस) की आज्ञा नहीं होती है ।।१।।

टिप्पणी

(१) **अध्वगवेषः**---राक्षस का गुप्तचर पथिक के वेश में प्रवेश कर रहा है। इस गुप्तचर का नाम 'करभक' है। अध्वन् + गम् + ड = "अत्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु ड." पा० ३/४/४८ इति डः प्रत्ययः । यह करभक राक्षस की आज्ञा से कुसुमपुर में विद्यमान स्तनकलश नामक वैतालिक को सन्देश देकर और समाचार लेकर वापिस आया है ।

(२) **अस्थानगमनगुर्वी**---(क) स्वामी की ऐसी आज्ञा थी कि मैं बीच में कहीं विराम न करूँ, इसीलिये मैं इतने कम समय में इतनी लम्बी दूरी पार कर सका।

(ख) स्वामी की आज्ञा थी कि मैं एकदम चल पड़ूँ इसलिये मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सका ।

(ग) आज्ञा इतनी कठोर थी कि अनुचित स्थान पर भी जाना आवश्यक हो गया ।

जाव अमच्चरक्खसस्स एदं गेहं गच्छामि । (श्रान्तवत्परिक्रम्य ।) को एत्थ दुवारिआणं । णिवेदेह भट्टिणो अमच्चरक्खसस्स एसो करभओ तुवरन्तो पाटलिपुत्तादो आगदोत्ति । यावदमात्यराक्षसस्यैतद्गेहं गच्छामि । कोऽत्रं दौवारिकाणाम्। निवेदय भर्तुरमात्यराक्षसस्य एष करभकस्त्वरयन्पाटलिपुत्रादागत इति ।

(प्रविश्य ।)

दौवारिकः--भद्द, सणेहिं मन्तेहि । एसो अमच्चो कज्जचिन्ताजणिदेण जाअरेण समुप्पण्णसीसवेअणो अज्ज वि सअणं ण मुञ्चदि । ता चिट्ठ मुहुत्तअं । लद्धावसरो तुह आअमणं णिवेदेमि । भद्र, शनैर्मन्त्रय । एषोऽमात्यः कार्यचिन्ताजनितेन जागरेण समुत्पन्नशीर्षवेदनोऽद्यापि शयनं न मुञ्चति । तस्मात्तिष्ठ मुहूर्तम् । लब्धावसरस्तवागमनं निवेदयामि ।

पुरुषः---भद्दमुह, तह करेहि । भद्रमुख; तथा कुरु ।

संस्कृत-व्याख्या

दौवारिकाणां=द्वारे नियुक्ताः दौवारिकास्तेषाम्, द्वारत्राणनियुक्तानाम्। त्वरयन्=शीघ्रं सम्पादयन्। मन्त्रय=ब्रूहि। कार्यचिन्ताजनितेन=कार्याणां—कृत्यानां चिन्तया जनितेन—उत्पादितेन। समुत्पन्नशीर्षवेदनः=समुत्पन्ना—समुद्भूता शीर्षे—शिरसि वेदना—पीडा यस्य सः। शयनं=शयनागारम्। मुहूर्तं=क्षणमात्रम्।

हिन्दी रूपान्तर

सम्प्रति (यावत्) अमात्य राक्षस के इस घर में जाता हूँ। थके हुये के समान घूमकर।) यहा पर द्वारपालों में से कौन है। स्वामी अमात्य राक्षस से निवेदन करो (कि) यह करभक शीघ्रता करता हुआ कुसुमपुर से आ गया है।

(प्रवेश करके।)

द्वारपाल—भद्र, धीरे से बोलो। यह अमात्य (राज्य) कर्म की चिन्ता के कारण होने वाले जागरण से उत्पन्न शिरोवेदना वाले अब भी शयनागार (शयनम्) को नहीं छोड़ रहे हैं। अतः क्षण भर ठहरो। अवसर पाकर तुम्हारे आने की सूचना दूंगा।

पुरुष—भद्रमुख, वैसा करो।

टिप्पणी

(१) **दौवारिकाणाम्**—द्वारे नियुक्ताः इति द्वार+ठक्, "**तत्र नियुक्तः**" पा० ४/४/६१ इति ठक्। द्वार को दौवार आदेश "**द्वारादीनाञ्च**" पा० ७/३/४ से हो गया।

(२) **त्वरयन्**—त्वर्+णिच्+शतृ।

(३) **अद्यापि शयनं न मुञ्चति**-इससे मालूम पड़ता है कि राक्षस ने सायंकाल तक भी अपना शयनागार नहीं छोड़ा है। सभी मिलने वाले उससे वहीं मिलने आ रहे हैं।
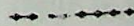
(ततः प्रविशति शयनगृहगत आसनस्थः) शकटदासेन सह सचिन्तो राक्षसः।)

राक्षसः—(आत्मगतम्।)

मम विमृशतः कार्यारम्भे विधेरविधेयता-
मपि च कुटिलां कौटिल्यस्य प्रचिन्तयतो मतिम्।
अपि च विहिते मत्कृत्यानां निकाममुपग्रहे
कथमिदमिहेत्युन्निद्रस्य प्रयात्यनिशं निशा॥२॥

संस्कृत-व्याख्या

शयनगृहगतः=निद्राभवनप्राप्तः। आसनस्थः=आसने तिष्ठतीत्यासनस्थः। सचिन्तः=चिन्तया युक्तः।

अन्वयः—ममेति—कार्यारम्भे विधेः अविधेयतां विमृशतः, अपि च कौटिल्यस्य

कुटिलां मतिं प्रचिन्तयतः। अपि च मत् कृत्यानां निकामम् उपग्रहे विहिते इह इदं कथम् इति उन्निद्रस्य मम अनिशं निशा प्रयाति ॥२॥

व्याख्या—कार्यारम्भे—कार्यारम्भादारभ्य विधेः—दैवस्य अविधेयतां—प्रतिकूलतां विमृशतः—चिन्तयतः, अपि च—तथा कौटिल्यस्य—चाणक्यस्य कुटिलां—वक्रां मतिं—बुद्धिं प्रचिन्तयतः-पर्यालोचयतः। अपि च—अथ च मत्कृत्यानां—मम विषकन्यादिकपटकार्याणां निकामं—सर्वथा उपग्रहे—निरोधे विहिते—कृते सति इह-अस्मिन् सुविहिते मत्प्रयोगे इदम्-एतत् विफलीभावः कथं—केन प्रकारेण जातम् अथवा इह—अस्मिन् विषये इदं—प्रारब्धकार्यम् कथं—केन प्रकारेण भविष्यति इति-अनया रीत्या उन्निद्रस्य—निद्रारहितस्य मम अनिशं—निरन्तरं निशा—रात्रिः प्रयाति—अतिगच्छति ॥२॥

हिन्दी रूपान्तर

द्वितीय दृश्य।

[स्थान—राक्षस के घर में एक कमरा।]

(तदनन्तर शयनागार स्थित आसन पर बैठा हुआ शकटदास के साथ चिन्तित राक्षस प्रवेश करता है।)

राक्षस—(मन ही मन।)

श्लोक (२) अर्थ—कार्य के प्रारम्भ से लेकर भाग्य की प्रतिकूलता को सोचते हुये, तथा (अपि च) चाणक्य की कुटिल बुद्धि के विषय में सोचते हुये, तथा (विषकन्यादि) मेरे (कपट) कृत्यों के सर्वथा निरोध हो जाने पर, इसके होने पर (इह) यह विफलीभाव (इदम्) किसप्रकार से (कथम्) हुआ अथवा इस विषय में प्रारम्भ किया हुआ कार्य कैसे होगा (इह इदं कथम्) इस प्रकार से जागते हुये मेरी निरन्तर रात्रि व्यतीत होती है ॥२॥

टिप्पणी

(१) द्वितीय श्लोक की प्रथम दो पंक्तियों का भाव यह है कि पहले तो भाग्य ही विपरीत है और उसके ऊपर फिर चाणक्य की कुटिल नीति है—कैसे कार्यसिद्धि होगी, यह कार्य के आरम्भ में सोचते हुये।

(२) **विधेरविधेयताम्**—संसार में सब कुछ भाग्य के ही आधीन है, भाग्य किसी के आधीन नहीं है, **अविधेयताम्**—वि + धा + यत् कर्मणि विधेयः। न विधेयः अविधेयः तस्य भावः ताम्। मैं समझता हूँ कि भाग्य मेरे विपरीत है और किसी भी कार्य को करने से पूर्व इस पर विचार करते हुये निद्राशून्य रात्रियाँ व्यतीत करता हूँ।

(३) **उपग्रहे**—निरोधे। राक्षस कहता है कि मेरे सम्पूर्ण प्रयत्न निष्फल कर दिये गये हैं।

(४) **अनिशम्**—अविद्यमाना निशा यस्मिन् कर्मणि तत् यथा तथा।

अपि च ।

कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छ-

न्बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च ।

कुर्वन्बुद्ध्या विमर्श प्रसृतमपि पुनः संहरन्कार्यजातं

कर्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा ।३।।

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः–कार्योपक्षेपमिति—आदौ तनुमपि कार्योपक्षेपं रचयन्, तस्य विस्तारम् इच्छन्, गर्भितानां च बीजानाम् अतिगहनं गूढं फलम् उद्भेदयन् । बुद्ध्या विमर्शं कुर्वन्, प्रसृतम् अपि कार्यजातं पुनः संहरन् नाटकानां कर्त्ता (पक्षान्तरे) वा आदौ तनुमपि कार्योपक्षेपं रचयन्, तस्य विस्तारम् इच्छन्, गर्भितानां च बीजानाम् अतिगहनं गूढं फलम् उद्भेदयन्, बुद्ध्या विमर्श कुर्वन्, प्रसृतम् अपि कार्यजातं पुनः संहरन्] अस्मद्विधः वा इमं क्लेशम् अनुभवति ।।३।।

व्याख्या—(१) **नाटककारपक्षे**—आदौ--मुखसन्धौ तनुं—स्तोकोद्दिष्टम् अपि कार्योपक्षेपं-बीजन्यासं रचयन्—प्रणयन्, (उप्ते बीजे) तस्य—बीजस्य विस्तारं—व्यक्तिम् (प्रतिमुखसन्धौ) इच्छन्—कुर्वन्, गर्भितानां-दृष्टनष्टानां बीजानाम् अतिगहनम्-अतिदुर्बोधं गूढं फलम् (गर्भसन्धौ) उद्भेदयन्--अन्विष्यन् । (विमर्शसन्धौ) तस्यैव बुद्ध्या—मत्या विमर्शम्—अनुसन्धानं कुर्वन्—सम्पादयन्, प्रसृतमपि—यथायथं विप्रकीर्णमपि कार्यजातं—मुखसन्ध्याद्यर्थजातं पुनः—भूयः (निर्वहणसन्धौ) संहरन्—ऐकार्थ्यमुपनयन नाटकानां कर्त्ता—प्रणेता (२) **राजनीतिपक्षे**—वा—अथवा आदौ-प्रथमं तनुमपि-स्वल्पमपि कार्योपक्षेपम्=कार्यस्य-शत्रुजयादिरूपस्य उपक्षेपं—सामाद्युपायं रचयन्---प्रयुञ्जानः (अन्तरान्तरा) तस्य—कार्यस्य विस्तारं-बाहुल्यम् इच्छन्—अभिलपन्, गर्भितानां-- गूढानां च बीजानां—मन्त्राणाम् अतिगहनं—दुर्बोधं गूढम्-अव्यक्तं फलं---साध्यम् उद्भेदयन् प्रकटयन्, बुद्ध्या-मत्या विमर्शम्---अनुसन्धानं कुर्वन्, प्रसृतमपि---विस्तृतमपि (शुभोदर्क) कार्यजातं—कार्यकलापं पुनः संहरन्---उपसंहरन् अस्मद्विधः--मन्त्री वा इम—निद्राच्छेदरूपं क्लेशम्-आयासम् अनुभवति ।।३।।

हिन्दी रूपान्तर

और भी ।

श्लोक (३) **अर्थ नाटककार के पक्ष में**—मुखसन्धि में (आदौ) थोड़े भी बीजन्यास को (कार्योपक्षेपम्) करता हुआ, उस बीज के (उग आने पर) विस्तार को (प्रतिमुखसन्धि में) चाहता हुआ और देखने के पश्चात् नष्ट हुये (गर्भितानाम्) बीजों के अत्यन्त गहन (दुरनुमेय) गूढ फल को (गर्भसन्धि में) खोजता हुआ (उद्भेदयन्), (विमर्श सन्धि में उसी बीज का) बुद्धि के द्वारा अनुसन्धान (विमर्शम्) करता हुआ, (यत्र तत्र) फैले हुये भी कार्य समूह को (निर्वहणसन्धि में एक प्रयोजन

के लिये) पुनः इकट्ठा करता हुआ नाटकों का निर्माण करने वाला अथवा (२) **राजनीतिककार के पक्ष में**—प्रारम्भ में थोड़े भी अभीष्ट कार्य के उपाय (सामादि) को करता हुआ, (बीज बीज में) उस (प्रारम्भ किये हुये कार्य) के विस्तार को चाहता हुआ, गुप्त (गर्भितानाम्) मन्त्रणाओं के (बीजानाम्) अत्यन्त गहन अव्यक्त साध्य को (फलम्) प्रकट करता हुआ, बुद्धि के द्वारा विस्तार करता हुआ विस्तार में फैले हुये भी (शुभ परिणाम वाले) कार्यों के समूह का पुनः उपसंहार करता हुआ मेरे समान (राजनीतिज्ञ) इस (रात्रि जागरण) दुःख को अनुभव करता है ॥३॥

टिप्पणी

(१) नाटककार ने इस श्लोक में अपने द्वारा रचित इस नाटक के निर्माण विषयक क्लेश को राक्षस के कथन के द्वारा स्पष्ट किया है। साथ ही इसमें नाटककार और राजनीतिज्ञ की अवस्था का वर्णन श्लेष द्वारा वर्णित है।

(२) **यह श्लोक द्व्यर्थक है। प्रथम अर्थ नाटककार के पक्ष में और द्वितीय अर्थ राजनीतिज्ञ के पक्ष में लगेगा।**

(३) **कार्योपक्षेपम्**—उपक्षिप्यते-प्रस्तूयते अनेन इति उप + क्षिप + घञ् करणे उपक्षेप=हेतु, बीज। कार्यस्य उपक्षेपः तम्। चाणक्य के कार्योपक्षेप को कवि ने प्रथम अङ्क में '**तन्मयापि तावत्**······इत्यादि' से किया है और राक्षस के कार्योपक्षेप को द्वितीय अङ्क में किया है।

(४) किसी भी नाटककार को अपने नाटक के विकास के लिये बीज-बिन्दु-पताका-प्रकरी और कार्य—इन पाँच अर्थप्रकृतियों का, तथा आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति और फलागम--इन पाँच अवस्थाओं का, एवं इन अर्थप्रकृतियों और अवस्थाओं के संयोग से निष्पन्न होने वाली मुख-प्रतिमुख-गर्भ-अवमर्श और निर्वहण--इन पाँच सन्धियों का वर्णन करना परम आवश्यक होता है।

(क) मुखसन्धि में बीज का न्यास और आरम्भ अवस्था होती है। (ख) प्रतिमुखसन्धि में बिन्दु और प्रयत्न होता है। गर्भसन्धि में पताका और प्राप्त्याशा, इसमें बीज दृष्ट नष्ट होता है, पौनःपुन्येनः अन्वेषण होता है। (घ) अवमर्शसन्धि में प्रकरी और नियताप्ति तथा। (ङ) निर्वहणसन्धि में कार्य और फलागम का वर्णन रहता है।

इस श्लोक में—(१) **आदौ तनुमपि कार्योपक्षेपं रचयन्**—मुखसन्धि में बीजन्यास। आदौ—(नाटक के पक्ष में) प्रारम्भ में, मुखसन्धि में। लक्षण—

मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससंभवा।
अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात् ॥ दशरूपक, प्रकाश १. २४.

(२) **तस्य विस्तारमिच्छन्**=प्रतिमुखसन्धि में बीज का विस्तार जिसमें कथावस्तु का विकास होता है। तस्य विस्तारम्=तस्य--बीज का। लक्षण--

स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ॥ दशरूपक, प्रकाश १.१७॥

(३) **गर्भितानां च बीजानाम् अतिगहनं गूढं फलम् उद्भेदयन्**—गर्भसन्धि'

इसमें बीज का और अधिक विकास होता है। इसमें बाधायें आती हैं और पुनः बीज का अन्वेषण होता है। गर्भितानां बीजानाम् = गर्भसन्धि—गर्भः सञ्जातः एषाम् इति गर्भ + इतच्। इसका लक्षण है—

गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः।

द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसम्भवः॥ दशरूपक, प्रकाश १.३६.

इसमें बीज कुछ उग आते हैं, कुछ सूख जाते हैं और कुछ उगते नहीं हैं। चाणक्य का कार्योपक्षेप गर्भित है, राक्षस का नहीं। द्वितीय अङ्क में राक्षस के बीज का विनाश वर्णित है, जबकि विराधगुप्त राक्षस से मिलता है। चाणक्य के बीज की गर्भितता भी द्वितीय अङ्क में देखी जा सकती है, जबकि आभूषण सिद्धार्थक को दिये जाते हैं और वह उनको राक्षस के पास ही रख देता है। तृतीय अङ्क में भी चाणक्य के बीज की गर्भितता देखी जा सकती है, जहाँ हम देखते हैं कि चाणक्य के व्यक्तियों को मलयकेतु ने अपने पास रख लिया है। गर्भसन्धि के लक्षण के अनुसार द्वितीय अङ्क दृष्ट है और उसकी सफलता में नष्ट है। 'अन्वेषणं मुहुः" अभयदत्त-आदियों के प्रयत्न में देखा जा सकता है जहाँ क्रमशः सभी प्रयास विफल होते हुये दिखाई देते हैं। गर्भसन्धि का निर्माण प्राप्त्याशा और पताका से होता है। राक्षस के प्रयत्न में प्राप्त्याशा है किन्तु यह प्राप्त्याशा चाणक्य के पक्ष में घटित नहीं होती है क्योंकि उसको अपनी विजय में प्रारम्भ से ही विश्वास है, परिणामों के प्रति विश्वस्त है। उसके लिये अपाय शंका है ही नहीं। इस प्रकार "उपायापायशंकाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः" चाणक्य के लिये प्राप्त्याशा नहीं है। चाणक्य के पक्ष में सिद्धार्थक के गायब होने और राक्षस के सामने शकटदास के साथ प्रकट होने से बीज दृष्ट-नष्ट है।

(४) कुर्वन् बुद्धया विमर्शम् = अवमर्श सन्धि। इसको "विमर्श" भी कहते हैं।

(५) प्रसृतमपि कार्यजातं पुनः संहरन् = निर्वहण सन्धि, जिसमें यत्र तत्र फैले हुये कार्यजात का एकमात्र समाहार किया जाता है।

इसप्रकार सभी सन्धियों का वर्णन किया गया है।

(६) अतिगहनं फलम् उद्भेदयन्—फल का उद्भेदन चतुर्थ और पञ्चम अङ्क में वर्णित है।

(७) विमर्शं कुर्वन् = विमर्श सन्धि। इसका लक्षण है—

क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।

गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्शोऽङ्गसंग्रहः। दशरूपक, प्रकाश १.४३.

वि + मृश + घञ्, भावे विमर्श। यह भी एक पारिभाषिक नाम है।

इस विमर्श सन्धि का राक्षस के पक्ष में अभाव है। वह सर्वदैव शङ्कित है। चाणक्य के पक्ष में इसे तृतीय अङ्क के ३२वें श्लोक में देखा जा सकता है।

(७) प्रसृतमपि पुनः संहरन् कार्यजातम् = निर्वहण सन्धि । इसका लक्षण—
बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ॥ दशरूपक, प्रकाश १·४८.

यह राक्षस के सम्बन्ध में घटित नहीं होती है क्योंकि वह इतनी दूर तक गया ही नहीं है। चाणक्य के कार्य समूह का उपसंहार सप्तम् अङ्क में "भृत्या भद्रभटादयः इत्यादि श्लोक में देखा जा सकता है।

(८) नाटकानाम्—नाटक का लक्षण परिशिष्ट (१) में देखना चाहिये।

(९) इमम्—द्वितीय श्लोक में वर्णित निद्रा के अभाव की ओर संकेत करता है। यह कष्ट तो राजनीतिज्ञ और काव्यकर्ता दोनों के लिये ही अनिवार्य है।

(१०) इस श्लोक के समान ही माघ ने शिशुपालवध के ११वे सर्ग में छठा श्लोक कहा है—

क्षणशयितविबुद्धाः कल्पयन्तः प्रयोगा—
नुदधिमहति राज्ये काव्यवद्दुर्विगाहे ।
गहनमपररात्रप्राप्तबुद्धिप्रसादाः
कवय इव महीपाश्चिन्तयन्त्यर्थजातम् ॥

तदपि नाम दुरात्मा चाणक्यबटुः---

(उपसृत्य)

दौवारिकः—जेदु । जयतु ।

राक्षसः—अतिसंधातुं शक्यः स्यात् ।

दौवारिकः—अमच्चो । अमात्यः ।

राक्षसः—(वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा, आत्मगतम् ।) दुरात्मा चाणक्यबटुर्जयत्वतिसंधातुं शक्यः स्यादमात्य इति वागीश्वरी वामाक्षिस्पन्दनेन प्रस्तावगता प्रतिपादयति । तथापि नोद्यमस्त्याज्यः । (प्रकाशम् ।) भद्र, किमसि वक्तुकामः ।

दौवारिकः— अमच्च, करभओ दुआरे चिट्ठदि । अमात्य, करभको द्वारि तिष्ठति ।

राक्षसः—शीघ्रं प्रवेशय ।

दौवारिकः—तहेत्ति । (निष्क्रम्य पुरुषमुपसृत्य ।) भद्द, उपसप्प अमच्चम् । (इति निष्क्रान्तः ।) तथेति भद्र, उपसर्पामात्यम् ।

संस्कृत-व्याख्या

अतिसन्धातुम्—प्रतारयितुम् वामाक्षिस्पन्दनम् = वामं अक्षि, तस्य स्पन्दनम् । वागीश्वरी = दैवी वाक् । प्रस्तावगता = प्रस्तावं—संवादं गता-प्राप्ता । प्रतिपादयति= व्यवस्थापयति ।

हिन्दी रूपान्तर

तब भी सम्भवतः (नाम) दुष्ट आत्मा वाला चाणक्यबटु—

(पास जाकर।)

द्वारपाल—विजय हो।

राक्षस—धोखा दिये जाने के योग्य हो।

द्वारपाल—अमात्य (राक्षस) की।

राक्षस—(बाईं आँख फड़कने को सूचित करके, मन ही मन।) दुष्ट आत्मा वाला चाणक्यबटु विजयी हो (और) अमात्य (राक्षस) धोखा दिये जाने के योग्य हो-यह दैवी वाणी बाईं आँख के फड़कने के द्वारा प्रकरण में आई हुई प्रतिपादित कर रही है। तथापि उद्यम नहीं छोड़ना चाहिये। (स्पष्टतः) भद्र, क्या कहना चाहते हो?

द्वारपाल—अमात्य, करभक दरवाजे पर (प्रतीक्षा कर रहा) है।

राक्षस—शीघ्र प्रविष्ट कराओ।

द्वारपाल—जो आज्ञा। (निकलकर पुरुष के पास जाकर।) भद्र, अमात्य के पास चलिये। (ऐसा कहकर निकल गया।)

टिप्पणी

(१) **वागीश्वरी**—दैवीवाणी। यहाँ पर बाईं आँख के फड़कने से इसकी सूचना दी है।

(२) **वामाक्षिस्पन्दनेन**—वामं अक्षि, तस्य स्पन्दनम्, तेन। बाईं आँख का फड़कना मनुष्यों के लिये अशुभ है, परन्तु स्त्रियों के लिए शुभ है। राक्षस शकुन और अपशकुन पर विश्वास करता है।

(३) राक्षस द्वारा कहा जाने वाला वाक्य इसप्रकार है— **तदपि नाम दुरात्मा चाणक्यबटु अतिसन्धातुं शक्यः स्यात्**"। परन्तु दौवारिक के बीच में आ जाने के कारण राक्षस का यह वाक्य द्विधा विभक्त हो गया है। विभक्त वाक्य इस प्रकार है—(१) **तदपि नाम दुरात्मा चाणक्यबटुः जयतु। अतिसन्धातुं शक्यः स्यादमात्यः।**

इस द्विधा विभक्त वाक्य को ही राक्षस ने अपनी उक्ति में स्पष्ट किया है।

करभकः—(उपसृत्य।) जेदु अमच्चो। जयत्वमात्यः।

राक्षसः—भद्र, उपविश।

करभकः—जं अमच्चो आणवेदित्ति। (भूमावुपविष्टः) यदमात्य आज्ञापयति।

राक्षसः—(आत्मगतम्।) कस्मिन्प्रयोजने ममायं प्रहित इति प्रयोजनानां बाहुल्यान्न खल्ववधारयामि। (इति चिन्तां नाटयति।)

(ततः प्रविशति वेत्रपाणि द्वितीयः पुरुषः।)

पुरुषः—ओसलेह ओसलेह। आअदों। अवेह अवेह माणवा। किं ण पेक्खह। अपसरत अपसरत। आगतः। अपेत अपेत मानवाः। किं न पश्यथ।

दूले पच्चासत्ती दंसणं वि दुल्लहमधण्णेः ।
कल्लाणकुलहराणं देआणं विअ मणुस्सदेआणं ॥४॥
दूरे प्रत्यासत्तिर्दर्शनमपि दुर्लभमधन्यैः ।
कल्याणकुलधराणां देवानामिव मनुष्यदेवानाम ॥४॥

संस्कृत-व्याख्या

कस्मिन् प्रयोजने=किं प्रयोजनमुद्दिश्य इत्यर्थः । प्राहितः=प्रेषितः । बाहुल्यात्=प्रभूतत्वात् । अवधारयामि=अवगच्छामि । अपेत=अपगच्छत ।

अन्वयः—दूरे इति—कल्याणकुलधराणां देवानामिव कल्याणकुलधराणां मनुष्यदेवानाम् अधन्यैः दर्शनमपि दुर्लभम्, प्रत्यासत्तिः दूरे ॥४॥

व्याख्या—कल्याणकुलधराणां=कल्याणः—सुवर्णमयः कुलधरः=कुलपर्वतो मेरुर्येषां तादृशानां देवानां—देवतानाम् इव कल्याणकुलधराणां=कल्याणकुलं धरन्तीति कल्याणकुलधराः—महोन्नतवंशाः तेषां मनुष्यदेवानां=राज्ञाम् अधन्यैः—हतभाग्यैः (नरैः) दर्शनम्=अवलोकनम् अपि दुर्लभं=दुष्प्रापम्, प्रत्यासक्तिः=नैकटचसम्बन्धः दूरे । (आस्ताम्) ॥४॥

हिन्दी रूपान्तर

करभक—(पास जाकर ।) अमात्य की जय हो ।

राक्षस—भद्र, बैठो ।

करभक—जो अमात्य आज्ञा देते हैं । (भूमि पर बैठ गया ।)

राक्षस—(मन ही मन) मैंने (मम) किस काम में इसको भेजा था- यह कार्यों की अधिकता के कारण याद नहीं कर पा रहा हूँ । (इसप्रकार चिन्ता का अभिनय करता है ।)

(तदनन्तर बेत्र को हाथ में लिये हुये पुरुष प्रवेश करता है ।)

पुरुष—दूर हटो, दूर हटो । आ गये हैं । मनुष्यों दूर हो जाओ, दूर हो जाओ । क्या नहीं देखते हो ।

श्लोक (४) अर्थ—स्वर्णमय (कल्याण) मेरुपर्वत पर रहने (कुलधरः) वाले देवताओं के समान महान् उन्नत वंश वाले (कल्याणकुलधराणाम्) राजाओं का (मनुष्यदेवानाम्) दुर्भाग्यशाली व्यक्तियों से दर्शन भी दुर्लभ है, पास रहना (प्रत्यासत्तिः) तो दूर रहा ॥४॥

टिप्पणी

(१) **आत्मगतम्**—राक्षस और करभक की बातचीत के समय भागुरायण और मलयकेतु उपस्थित रहें, इसलिये उनको आने का अवसर देने के लिये कवि ने "आत्मगतम्" के द्वारा राक्षस की चिन्ता को दिखाया है । इस समय स्थिति यह होगी कि अन्दर तो राक्षस और करभक बातचीत कर रहे हैं और बाहर खड़े हुये भागुरायण और मलयकेतु इन दोनों की बात सुन रहे हैं । यही वह स्थल है जहाँ भागुरायण मलयकेतु के हृदय में राक्षस के प्रति संशय का बीज बो देता है और परिणामतः मलयकेतु राक्षस का तिरस्कार कर देता है ।

(२) प्रहितः---प्र + हि (प्रेरणे) क्त कर्माणि ।

(३) वेत्रपाणिर्द्वितीयः पुरुषः---यह पुरुष मात्र मागधी प्रकृत बोलता है ।

(४) अपेतः – अप् + इण् + लोट् त ।

(५) प्रत्यासत्तिः—प्रति + आ + सद् + क्तिन् भावे ।

(आकाशे ।)

अज्जा किं भणाह—'किंणिमित्तं ओसालणं करिअदि' त्ति । अज्जा, एसो क्खु कुमालो मलअकेदु समुप्पण्णसीसवेअणं अमच्चरक्खसं पेक्खिदुं इदो एव आअच्छदि । ता ओसालणा करिअदि । (इति निष्क्रान्तः पुरुषः ।) आर्याः, किं भणथ—किंनिमित्तमपसारणं क्रियते इति । आर्याः, एषः खलु कुमारो मलयकेतुः समुत्पन्नशीर्षवेदनममात्यराक्षसं प्रेक्षितुमित एवागच्छति । तस्मादपसारणा क्रियते ।

ततः प्रविशति भागुरायणेन कञ्चुकिना चानुगम्यमानो मलयकेतु ।)

मलयकेतुः—(निःश्वस्यात्मगतम् ।) अद्य दशमो मासस्तातस्योपरतस्य न चास्माभिर्वृथापुरुषाभिमानमुद्वहद्भिस्तमुद्दिश्य तोयाञ्जलिरण्यावर्जितः । प्रतिज्ञातमेतत्पुरस्तात् ।

वक्षस्ताडनभिन्नरत्नवलयं भ्रष्टोत्तरीयांशुकं
हाहेत्युच्चरितार्तनादकरुणं भूरेणुरूक्षालकम् ।
ताहङ्मातृजनस्य शोकजनितं सम्प्रत्यवस्थान्तरं
शत्रुस्त्रीषु मया विधाय गुरवे देयो निवापाञ्जलिः ॥५॥

संस्कृत-व्याख्या

समुत्पन्नशीर्षवेदनम् = समुत्पन्ना-सञ्जाता, शीर्ष-शिरसि वेदना-पीडा यस्य तम् । प्रेक्षितुं = द्रष्टुम् । उपरतस्य = मृतस्य । वृथापुरुषाभिमानम् = वृथा निष्फलं पुरुषस्य अभिमानः तम् । उद्वद्भिः = धारयद्भिः । तोयाञ्जलिः = तोयस्य-जलस्य अञ्जलि , अञ्जलिमितं तोयमित्यर्थः । आवर्जितः = दत्तः । प्रतिज्ञातम् = प्रतिश्रुतम् ।

अन्वयः – वक्ष इति—मातृजनस्य शोकजनितं वक्षस्ताडनभिन्नरत्नवलयं भ्रष्टोत्तरीयांशुकं हाहेत्युच्चरितार्त्तनादकरुणं भूरेणुरूक्षालकम् तादृक् अवस्थान्तरं सम्प्रति शत्रुस्त्रीषु विधाय मया गुरवे निवापाञ्जलिः देयः ॥५॥

व्याख्या---मातृजनस्य = मातृणाम्-अम्बानां जनस्य-समूहस्य शोकजनितं = शोकेन-भर्तुर्वियोगादुःखेन जनितम्— उत्पन्नं वक्षस्ताडनभिन्नरत्नवलयं = वक्षसः-उरसः ताडनेन-करप्रहारेण भिन्नानि—भग्नानि रत्नवलयानि—मणिकङ्कणाणि यस्मिन् तादृशं भ्रष्टोत्तरीयांशुकं = भ्रष्टं-स्वस्थानात् च्युतम् उत्तरीयांशुकम्— उत्तरीयवस्त्रं यस्मिन् तादृशम्, हाहेत्युच्चरितार्त्तनादकरुणं = हा हा इति-अनेन प्रकारेण उच्चरितेन-

उद्गतेन आर्तनादेन करुणं—दीनं भूरेणुरूक्षालकं = भुवः-धरायाः रेणुभिः—धूलिभिः रूक्षाः—अचिक्कणाः अलकाः केशाः यस्मिन् तादृशं तादृक्—तथाविधम् अवस्थान्तरं—दशाविपर्ययं सम्प्रति—इदानीं शत्रुस्त्रीषु-अरिवनितासु विधाय—कृत्वा मया गुरवे—पित्रे निवापाञ्जलिः— श्राद्धतर्पणं देयः —आवर्जनीयः ॥५॥

हिन्दी रूपान्तर

(आकाश में ।)

आर्य पुरुषो, यह क्या कह रहे हो, किस कारण से हटाया जा रहा है। आर्यो, यह कुमार मलयकेतु उत्पन्न शिरोवेदना वाले अमात्य राक्षस को देखने के लिये इधर ही आ रहे हैं । इसलिये हटाया जा रहा है (ऐसा कहकर पुरुष निकल गया ।)

(तदनन्तर भागुरायण और कञ्चुकी से अनुसरण किया जाता हुआ मलयकेतु प्रवेश करता है ।)

मलयकेतु—(दीर्घ उच्छ्वास लेकर मन ही मन ।) पिता को मरे हुये आज दसवां महीना है और व्यर्थ में ही पुरुष होने के अभिमान को धारण करने वाले हमने उनका लक्ष्य करके जलाञ्जलि भी नहीं दी है । यह पहले ही प्रतिज्ञा की थी ।)

श्लोक (५) **अर्थ**—माताओं के समूह के (पति के) शोक से उत्पन्न वक्षःस्थल को हाथ से पीटने के कारण टूटे हुये कङ्कण वाली, गिरे हुए उत्तरीय वस्त्र वाली (वक्षःस्थल को पीटना उत्तरीय के पृथक् होने का कारण है) हा, हा इसप्रकार से उच्चारण किये हुये आर्तनाद के कारण करुण पृथिवी की धूलि से धूसरित बालों वाली (बालों का रुक्ष होना उत्तरीय गिरने के कारण है) इसप्रकार की विपरीत दशा को सम्प्रति शत्रु स्त्रियों के विषय में करके मुझे (अपने) पिता के लिये श्राद्धतर्पण (निवापाञ्जलिः) देना है ॥५॥

टिप्पणी

(१) **अपसारणम्**—अप सृ + णिच् + युच् भावे । शाब्दिक अर्थ होगा आवाज देकर भीड़ को मार्ग से हटाना ।

(२) **दशमः**—दशानां पूरणो दशमः ।

(३) **पुरुषाभिमानम्**—अभि + मन + घञ् भावे अभिमानः । पुरुषस्य अभिमानः तम् ।

(४) **तोयांजलिः**—तोयस्य अञ्जलिः, अञ्जलिमितं तोयम् ।

(५) **आवर्जितः**—आ + वृज + णिच् + क्त कर्मणि ।

(६) **तादृक्**—तद् + दृश् + क्विन् कर्तरि ।

(७) **मातृजनस्य** = क्योंकि "पितृपत्न्यः सर्वा मातरः" ।

(८) पञ्चम श्लोक का आशय है कि शत्रुओं को मारकर पिता का श्राद्ध करूँगा—ऐसी पहले प्रतिज्ञा की थी । किन्तु जब से लेकर दस महीने व्यतीत हो गये हैं । न तो शत्रुओं को ही मार पाता हूँ और न ही श्राद्ध कर सका हूँ । अतः व्यर्थः ही पुरुष होने के अभिमान को धारण करने वाले हमको धिक्कार है ।

किमत्र बहुना ।

उद्यच्छता धुरमकापुरुषानुरूपां
गन्तव्यमाजिनिधनेन पितुः पथा वा ।
आच्छिद्य वा स्वजननीजनलोचनेभ्यो
नेयो मया रिपुवधूनयनानि वाष्पः ॥६॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः--उद्यच्छतेति—(मया) अकापुरुषानुरूपां धुरम् उद्यच्छता आजिनिधनेन पितुः पथा वा गन्तव्यम् । वा मया स्वजननीजनलोचनेभ्यः आच्छिद्य रिपुवधूनयानि वाष्पः नेयः ॥६॥

व्याख्या-(मया) अकापुरुषानुरूपाम् = अकापुरुषस्य-वीरस्य अनुरूपाम्-उचितां धुरं—भारम् उद्यच्छता–उद्वहता सता (वीरोचितं कर्म कुर्वता इत्यर्थः) आजि—निधनेन = आजौ-युद्धे निधनेन—मृत्युना पितुः—तातस्य पथा-मार्गेण वा (मरणरूपेणेत्यर्थ.) गन्तव्यं—यातव्यम् । वा—अथवा मया स्वजननीजनलोचनेभ्यः = स्वस्य-आत्मनः जननीजनस्य—मातृवर्गस्य लोचनेभ्यः-नयनेभ्यः आच्छिद्य—आकृष्य रिपुवधूनयनानि = रिपुवधूनाम्—अरिनारीणां नयनानि—नेत्राणि वाष्पः = अश्रुजलं नेयः–प्रापणीयः ॥६॥

हिन्दी रूपान्तर

इस विषय में बहुत कहने से क्या (लाभ) ?

श्लोक (६) अर्थ-- या (वा) (तो मुझे) वीरपुरुषोचित भार को वहन करते हुये युद्ध में मृत्यु के द्वारा पूर्वजों के (पितुः) मार्ग से जाना चाहिये, अथवा मुझे अपनी मातृ-समूह के नेत्रों से छीनकर शत्रुस्त्रियों के नयनों में अश्रुओं को ले जाना चाहिये ॥६॥

टिप्पणी

(१) **किमत्र बहुना**—बदला लेने के विषय में अधिक क्या कहना अथवा श्राद्धतर्पण के विषय में अधिक क्या कहना ?

(२) **उद्यच्छता**—यहाँ पर यद्यपि **"समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे"** पा० १/३/७५ से आत्मनेपद प्राप्त था तथापि **"स्वरितजितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले"** पा० १/३/७२ से परस्मैपद हो गया । उद् + यम + शतृ ।

(३) **अकापुरुषानुरूपाम्**—रूपमनुगता अनुरूपा । कुत्सितः पुरुषः कापुरुषः । न कापुरुषः अकापुरुषः । विरोध के अर्थ में नञ् समास है । तस्य अनुरूपाम् ।

(४) **पितुः पथा गन्तव्यम्**--यद्यपि मलयकेतु का पिता युद्ध में नहीं मारा गया है तथापि यहाँ केवल मरणरूप पथ का अनुसरण करने के लिये ही कहा गया है । किन्तु स्वयं में किसप्रकार करना है ? इसके लिये "आजिनिधनेन" शब्द प्रयुक्त किया है । पर्वतक की मृत्यु विषकन्या के प्रयोग से हुई है ।

( ) **मया वाष्पः रिपुवधूनयनानि नेयः** = यहाँ नी धातु ने द्विकर्मक होने के कारण दो कर्म लिये हैं ।

(२) इस श्लोक के अन्दर दो विकल्प हैं—(१) या तो मैं वीरपुरुषोचित कार्य करते हुये युद्ध भूमि में मर जाऊँगा, (२) या फिर अपनी माताओं के नेत्रों के अश्रुओं को शत्रुस्त्रियों के नेत्रों में पहुँचाऊंगा अर्थात् या तो युद्ध में मरूँगा या फिर जीतकर माताओं का दुःख दूर करूँगा। कहने का आशय यह है कि मलयकेतु का कर्तव्य केवल पुरुषार्थ करना है फिर चाहे वह सफल हो या न हो। यदि असफल रहता है तब तो "पितुः पथा गन्तव्यम्" सिद्ध होता है और यदि सफल हो गया तो उसकी माताओं को हर्ष होगा और शत्रुओं की स्त्रियों को दुःख होगा।
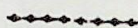
(प्रकाशम्।) आर्य जाजले, उच्यन्तामस्मद्वचनादनुयायिनो राजानः—'एक एवाहममात्यराक्षसस्यातर्कितगमनेन प्रीतिमुत्पादयितुमिच्छामि। तत्कृतमनुगमनक्लेशेन' इति।

कञ्चुकी—तथा। (इति परिक्रम्याकाशे।) भो भो राजानः, कुमारः समाज्ञापयति—'न खल्वहं केनचिदनुगन्तव्य' इति (विलोक्य सहर्षम्।) कुमारस्याज्ञानन्तरमेव सर्वे राजानः प्रतिनिवृत्ताः। पश्यतु कुमारः।

सोत्सेधैः स्कन्धदेशैः खरतरकविकाकर्षणात्यर्थभुग्नै—
रश्वाः कैश्चिन्निरुद्धाः खमिव खुरपुटैः खण्डयन्तः पुरस्तात्।
केचिन्मातङ्गमुख्यैर्विहतजवतया मूकघण्टैर्निवृत्ता
मर्यादां भूमिपाला जलधय इव ते देव नोल्लङ्घयन्ति ॥७॥

संस्कृत-व्याख्या

अनुयायिनः = अनुगमनशीलाः। अतर्कितगमनेन = सहसोपस्थितेन। कृतम् = अलम्। अनुगमनक्लेशेन = अनुसरणप्रयासेन।

अन्वयः—सोत्सेधैरिति—कैश्चित् खुरपुटैः पुरस्तात् खम् खण्डयन्तः इव खरतरकविकाकर्षणात्यर्थभुग्नैः सोत्सेधैः स्कन्धदेशैः अश्वाः निरुद्धाः। केचित् विहतजवतया मूकघण्टैः मातङ्गमुख्यैः निवृत्ताः। देव, जलधय इव भूमिपालाः ते मर्यादां न उल्लंघयन्ति ॥७॥

व्याख्या—कैश्चित्-भूमिपालैः खुरपुटैः—शफाग्रभागैः पुरस्तात्—अग्रतः खम्—आकाशं खण्डयन्तः—विदारयन्तः इव खरतरकविकाकर्षणात्यर्थभुग्नैः = खरतराणां—तीक्ष्णलोहकण्टककीलितानां कविकानां—खलीनानाम् आकर्षणात् अत्यर्थं—भृशं भुग्नैः—नमितैः (अतएव) सोत्सेधैः—मध्यभागोन्नतैः स्कन्धदेशैः-ग्रीवाभागैः (उपलक्षिताः) अश्वाः—घोटकाः निरुद्धाः—संयताः। केचित्-योधाः विहतजवतया—निरुद्धवेगतया मूकघण्टैः—निःशब्दघण्टारवैः मातङ्गमुख्यैः—महागजैः (सह) निवृत्ताः—प्रतिगताः। (अतः) देव—हे राजन्, जलधयः—सागराः इव भूमिपालाः ते मर्यादाम्—आज्ञां (वेलामिव) न उल्लंघयन्ति—न अतिक्रामन्ति ॥७॥

हिन्दी रूपान्तर

(स्पष्टतः ।) आर्य जाजले, मेरी ओर से अनुसरण करने वाले राजाओं को कहना—"मैं एकाकी ही अतर्कित जाने के द्वारा अमात्य राक्षस के (हृदय में) प्रेम को उत्पन्न करना चाहता हूँ । अतः (तत्) अनुसरण के दुःख से बस" (अर्थात् अनुसरण मत करो) ।

कञ्चुकी--जो आज्ञा । (ऐसा कहकर घूमकर आकाश में ।) हे । हे राजा लोगो, कुमार (मलयकेतु) आज्ञा देते हैं—"मेरा किसी के द्वारा अनुसरण नहीं किया जाना चाहिये ।" (देखकर प्रसन्नता के साथ ।) कुमार की आज्ञा (सुनने) के साथ ही सभी राजा लोग लौट गये । कुमार देखिये ।

श्लोक (७) अर्थ —किन्हीं राजाओं ने (कैश्चित्) (अपने) खुरों से मानों सामने के आकाश को विदीर्ण करते हुये (यह स्थिति घोड़ों की तब होती है जब कि वे अकस्मात् रोक दिये जाते हैं) अत्यन्त तीक्ष्ण लगाम के खींचने के कारण अत्यन्त झुके हुये (अत एव) मध्य भाग से उन्नत गर्दनों से (उपलक्षित) घोड़ों को रोक लिया । कुछ राजा लोग (केचित्) गति को रोक दिये जाने के कारण निःशब्द घण्टे वाले महान् हाथियों के साथ लौट गये । हे राजन् (देव), समुद्र के समान राजा लोग आपकी आज्ञा को (तट के समान) उल्लंघन नहीं करते हैं अर्थात् जिसप्रकार समुद्र तट का (मर्यादाम्) उल्लंघन नहीं करते हैं, उसीप्रकार राजा आपकी आज्ञा का भी उल्लंघन नहीं करते हैं ।) ।।७।।

टिप्पणी

(१) **अतर्कितोपगमनेन**=तर्क + णिच् स्वार्थे+क्त कर्मणि तर्कित=जिसका अनुमान किया जा सके । न तर्कितम्=अतर्कितम्, तादृशं गमनं तेन ।

(२) **आज्ञानन्तरम्**—लक्षणा से आज्ञा का अर्थ होगा आज्ञा का सुनना । अविद्यमानमन्तरमस्मिन् अनन्तरम्=झटिति । आज्ञायाः अनन्तरम् ।

(३) **सोत्सेधैः**=उद् + सिध + घञ् भावे उत्सेधः-उन्नतः तेन सह ।

(४) **सोत्सेधैः स्कन्धदेशैः**="इत्थंभूतलक्षणे" पा० २/३/२१ इति तृतीया ।

(५) **खरतरकविकाकर्षणात्यर्थभुग्नैः**=राजाओं ने घोड़ों की लगाम को बड़ी कठोरता से खींचा है क्योंकि वे अपने घोड़ों को आज्ञा सुनने के साथ ही रोकना चाहते थे ।

(६) **निरुद्धाः**—नि + रुध + क्त कर्मणि=रोक लिये । कञ्चुकी यह सब इस कुछ दूरी से देख रहा था ।

(७) **मूकघण्टैः**—घण्टे शान्त हैं, बज नहीं रहे हैं क्योंकि हाथियों की गति रोक दी गई है ।

(८) **निवृत्ताः**—नि + वृत + क्त कर्तरि=लौट गये । लौट जाना इस बात से सूचित हो रहा है कि हाथियों के घण्टों की ध्वनि अब सुनाई नहीं दे रही है ।

मलयकेतुः—आर्य, त्वमपि सपरिजनो निवर्तस्य । भागुरायण एको मामनुगच्छतु ।

कञ्चुकी—तथा । (इति सपरिजनो निष्क्रान्तः ।)

मलयकेतुः—सखे भागुरायण, विज्ञप्तोऽहमिहागच्छद्भिर्भद्रभटप्रभृतिभिः 'यथा न वयममात्यराक्षसद्वारेण कुमारमाश्रयणीयमाश्रयामहे । किन्तु कुमारस्य सेनापतिं शिखरकमुरीकृत्य दुष्टामात्यपरिगृहीताच्चन्द्रगुप्तादपरक्ताः कुमारमाभिरामिकगुणयोगादाश्रयणीयमाश्रयामहे' इति । तन्न मया सुचिरमपि विचारयता तेषामयं वाक्यार्थोऽवधारितः ।

संस्कृत-व्याख्या

सपरिजनः = सहानुचरवर्गः । निवर्तस्व = प्रतिनिवृत्तो भव । एकः = अद्वितीयः । अनुगच्छतु = अनुसरतु । आश्रयणीयम् = शरण्यम् । उरीकृत्य = स्वीकृत्य । दुष्टामात्यपरिगृहीतात् = दुष्टामात्येन (चाणक्येन) परिगृहीतात्—वशीकृतात् । अपरक्ताः—विरक्ताः । आभिरामिकगुणयोगात्-प्रशस्यगुणशालित्वात् । अवधारितः-अधिगतः, ज्ञातं इत्यर्थः ।

हिन्दी रूपान्तर

मलयकेतु— आर्य, तुम भी परिचारक वर्ग के साथ (सपरिजनः) लौट जाओ अकेला भागुरायण मेरे पीछे-पीछे आवे ।

कञ्चुकी—जो आज्ञा । (ऐसा कहकर परिचारक वर्ग के साथ निकल गया।)

मलयकेतु—मित्र भागुरायण, यहाँ (मेरे पास) आते हुये भद्रभटादियों ने मुझे कहा है "कि हम आमात्य राक्षस के द्वारा आश्रय के योग्य कुमार का आश्रय नहीं ले रहे । किन्तु कुमार के सेनापति शिखरक (की बात) को स्वीकार करके दुष्ट अमात्य (चाणक्य) से वश में किये हुये चन्द्रगुप्त से विरक्त हुये प्रशस्तगुणो से युक्त (आभिरामिकगुणयोगात्) आश्रय के योग्य कुमार का आश्रय ले रहे हैं ।" तो मैंने चिरकाल तक भी विचार करते हुये उनके इस वाक्य का अर्थ नहीं समझ पाया है ।

टिप्पणी

(१) **विज्ञप्तः**—वि + ज्ञप् + णिच् + क्त कर्मणि = विज्ञप्तः ।

(२) **भद्रभटप्रभृतिभिः**—भद्रभट आदि । मलयकेतु यह समझता है कि ये चन्द्रगुप्त से पृथक् होकर उसके पास आये हैं, परन्तु वस्तुतः ये सब चाणक्य के गुप्तचर हैं। इनका चन्द्रगुप्त के पास से भागकर मलयकेतु के पास आने का वर्णन प्रथम अङ्क में है ।

(३) **न वयममात्यराक्षसद्वारेण**—भद्रभटादिकों का कहने का जोर इस स्थल पर है । उनका केवल यही कहना है कि हम अमात्य राक्षस के द्वारा आपके पास नहीं आये हैं ।

(४) **उरीकृत्य**—उरी अव्यय है, अर्थ है स्वीकार करना '**ऊर्यादिच्विडाचश्च**' पा० १/४/६१ से गति संज्ञा । उरी + कृ + ल्यप्—स्वीकार करके ।

(५) **दुष्टामात्यपरिगृहीतात्**—राक्षस की दुष्टता को ध्वनित करने के लिये यह "दुष्टामात्य" चाणक्य का विशेषण लगाया है ।

(६) आभिरामिकगुणयोगात्—मौर्य को दूषित करने के लिये यह विशेषण मलयकेतु का लगाया है। आभिरामिकगुणयोगात्—अभि—समन्तात् रमयति इति अभि + रम + णिच् + अच् कर्तरि अभिरामम्, तच्छीलमस्य इति अभिराम + ठक = आभिरामिकं तस्य गुणाः तैः योगः तस्मात्।

(७) अवधारितः—अव + धृ + णिच् + क्त कर्मणि। मैं यह निश्चय नहीं कर पाया कि उसके कहने का आशय क्या है? उन्होंने राक्षस को छोड़कर शिखरक को यहाँ मेरे पास आने का माध्यम क्यों बनाया?

भागुरायणः—कुमार, न दुर्बोधोऽयमर्थः। विजिगीषुमात्मगुणसम्पन्नं प्रियहितद्वारेणाश्रयणीयमाश्रयेदिति ननु न्याय्य एवायमर्थः।

मलयकेतुः—सखे भागुरायण, नन्वमात्यराक्षसोऽस्माकं प्रियतमो हिततमश्च।

भागुरायणः—एवमेतत्। किन्त्वमात्यराक्षसश्चाणक्ये बद्धवैरो न चन्द्रगुप्ते। तद्यदि कदाचिच्चाणक्यमतिजितकाशिनमसहमानः स साचिव्यादवरोपयेत्ततो नन्दकुलभक्त्या नन्दान्वयं एवायमिति सुहृज्जनापेक्षया चामात्यराक्षसश्चन्द्रगुप्तेन सह संदधीत। चन्द्रगुप्तोऽपि पितृपर्यायागत एवायमिति सन्धिमनुमन्येत। एवं सत्यस्मासु कुमारो न विश्वसेदित्ययमेषां वाक्यार्थः।

मलयकेतुः—युज्यते। अमात्यस्य गृहमादेशय।

भागुरायणः—इत इतः कुमारः।

(उभौ परिक्रामतः।)

भागुरायणः—इदममात्यगृहम्। प्रविशतु कुमारः।

मलयकेतुः—एष प्रविशामि।

संस्कृत-व्याख्या

विजिगीषुम् = विजयाभिलाषिणम्। न्याय्यः = उचितः। अतिजितकाशिनम् = अतिजितेन—अतिजयेन काशते तच्छीलोऽतिजितकाशी तम्। अवरोपयेत् = च्यावयेत्। नन्दान्वयः = नन्दवंश्यः। सुहृज्जनापेक्षया = सुहृज्जनाः—चन्दनदासशकटदासादयः तेषाम् अपेक्षया—अनुरोधेन। संदधीत = सन्धिं कुर्यात्। पितृपर्यायागतः = पितृभ्यः सकाशात् पर्यायेण—क्रमेण आगतः = प्राप्तः। अनुमन्येत = स्वीकुर्वीत। युज्यते = सत्यम्।

हिन्दी रूपान्तर

भागुरायण—कुमार, यह अर्थ दुर्बोध नहीं है। जीतने की इच्छा वाले अपने समान गुणों से युक्त प्रिय और हितकारी (व्यक्ति) के द्वारा आश्रय के योग्य का आश्रय लेना चाहिये—यह अर्थ उचित ही है।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण, अमात्य राक्षस हमारे अत्यन्त प्रिय और अत्यन्त हितैषी है।

भागुरायण—ऐसा ही है। किन्तु अमात्य राक्षस ने चाणक्य में वैर बाँधा है, चन्द्रगुप्त में नहीं। तो यदि अपनी विजय से गर्वित (अतिजितकाशिनम्) चाणक्य को सहन न करता हुआ वह (चन्द्रगुप्त चाणक्य को) मन्त्रिपद से हटा दे, उसके पश्चात् नन्दवंश में भक्ति होने के कारण यह (चन्द्रगुप्त) नन्दवंश का ही है, और अपने चन्दनदास और शकटदासादि) मित्र व्यक्तियों की अपेक्षा से अमात्य राक्षस चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि कर ले। चन्द्रगुप्त भी पितृपरम्परा से आया हुआ ही यह (राक्षस) है यह सोच कर सन्धि का अनुमोदन कर दे। ऐसा होने हर हमारे ऊपर विश्वास न करें यह इन (भद्रभटादियों) के वाक्य का अर्थ है।

मलयकेतु—ठीक है। अमात्य के घर (के मार्ग) को बताओ।

भागुरायण—इधर इधर (आइये) कुमार।

(दोनों घूमते हैं।)

भागुरायण—यह अमात्य का घर है। कुमार प्रवेश कीजिये।

मलयकेतु—यह प्रवेश करता हूँ।

टिप्पणी

(१) **विजिगीषुम्······अयमर्थः**—भागुरायण मलयकेतु को समझा रहा है कि वे शिखरक को माध्यम बनाकर इसलिये आये हैं क्योंकि यह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि अपने प्रिय और हितैषी व्यक्ति द्वारा ही किसी से परिचय करना चाहिये और इसप्रकार का व्यक्ति उनके लिये सेनापति शिखरक ही है। यह धूर्त भागुरायण इससे आगे के वाक्य को पूरा करने के लिये मलयकेतु पर छोड देता है, जिससे मलयकेतु वाक्य को इसप्रकार पूरा करे कि—**राक्षस नहीं**। भागुरायण यहाँ पर बड़े कौशल से यह बात कह जाता है कि राक्षस अप्रिय और हितकारी दोनों है।

(२) **सखे भागुरायण**—मूर्ख मलयकेतु भागुरायण के संकेत को नहीं समझ पाता है और पूछता है कि मेरी सम्मति में तो राक्षस ही प्रिय और हितैषी है।

(३) **एवमेतत्**—भागुरायण ने देखा कि मलयकेतु का राक्षस में अटूट विश्वास है, इसको हटाने का साहस आसानी से नहीं किया जा सकता, इसलिये कहता है—**एवमेतत्**—यह ऐसा ही है। भागुरायण इसलिये भी ऐसा कह देता है क्योंकि उसे डर है कि अधिक विरोध करने पर वह स्वयं ही अविश्वासी न समझ लिया जावे। परन्तु अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिये वह बात को 'किन्तु' कहकर घुमा देता है। भागुरायण, जो चाणक्य का गुप्तचर है, प्रत्येक ऐसे अवसर का उपयोग करता है, जिससे वह मलयकेतु के राक्षस में विद्यमान विश्वास को हिला सके और उन दोनों में भेद डाल सके। भेद का लक्षण इसप्रकार है—

स्नेहापरागानयनं संघर्षोत्पादनं तथा।
संतर्जनं च भेदज्ञैर्भेदस्तु त्रिविधः स्मृतः॥ कामन्दकी ८.८.

इस अङ्क में "**स्नेहापरागानयन**" भेद प्रयुक्त हुआ है।

(४) **साचिव्यादवरोपयेत्**—भागुरायण करभक की गतिविधि को जानता है। उसे पता है कि करभक राक्षस को चाणक्य के हटाये जाने की सूचना देगा, अतः वह चाणक्य के हटाये जाने की दूसरे प्रकार से व्याख्या करता है। अव + रुह + णिच् + लिङ् यात्।

(५) **सुहृज्जनापेक्षया······संदधीत**—क्योंकि राक्षस के मित्रों के (चन्दनदास और शकटदास) प्राण संकट में हैं, जो कुसुमपुर में रह रहे हैं।

(६) पितृपर्यायागतः—परि + अय + घञ् भावे पर्याय-क्रम। पितृणां पर्यायः तेन आगतः।

(७) न विश्वसेत्—हम पर विश्वास न करें। इससे भागुरायण यह कहना चाहता है कि राक्षस अपने आप में अविश्वसनीय है। सम्भावनायां लिङ्।

(८) युज्यते – ठीक है। अब मलयकेतु की समझ में आया है कि भद्रभटादि राक्षस के द्वारा न आकर क्यों शिखरक के द्वारा आये है।
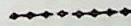
राक्षसः—(आत्मगतम्।) अये, स्मृतम्। (प्रकाशम्।) भद्र, अपि दृष्टस्त्वया कुसुमपुरे स्तनकलशः।

पुरुषः—(अमच्च, अह इं।) अमात्य, अथ किम्।

मलयकेतुः—(आकर्ण्य।) भागुरायण, कुसुमपुरवृत्तान्तः प्रस्तूयते। न तत्र तावदुपसर्पामः श्रृणुमस्तावत्। कुतः।

सत्त्वभङ्गभयाद्राज्ञां कथयन्त्यन्यथा पुरः।
अन्यथा विवृतार्थेषु स्वैरालापेषु मन्त्रिणः॥८॥

भागुरायणः—यदाज्ञापयति कुमारः।

राक्षसः—भद्र, अपि तत्कार्यं सिद्धम्।

पुरुषः – अमच्चप्पसादेण सिद्धम्। अमात्यप्रसादेन सिद्धम्।

मलयकेतुः—सखे भागुरायण, किं तत्कार्यम्।

भागुरायणः—कुमार, गहनः सचिववृत्तान्तः। नैतावता परिच्छेतुं शक्यते अवहितस्तावच्छृणु।

राक्षसः—भद्र, विस्तरेण श्रोतुमिच्छामि।

संस्कृत-व्याख्या

प्रस्तूयते = विधीयते। उपसर्पामः = समीपं गच्छामः।

अन्वयः—सत्त्वभङ्गभयादिति - मन्त्रिणः राज्ञां पुरः सत्त्वभङ्गभयात् **अन्यथा** कथयन्ति। विवृतार्थेषु स्वैरालापेषु अन्यथा (कथयन्ति)॥८॥

व्याख्या– मन्त्रिणः—सचिवाः राज्ञां--नृपाणां पुरः—समक्षं तत्त्वभङ्गभयात् = सत्त्वभङ्गो-मानभङ्गः (प्रभावभङ्गः) तस्मात् भयात्—शंकया अन्यथा-प्रकारान्तरेण कथयन्ति। (तथा) विवृतार्थेषु—परस्परविस्पष्टार्थेषु स्वैरालापेषु स्वेच्छालापेषु अन्यथा-अन्येन प्रकारेण (कथयन्ति)॥८॥

गहनः—क्लिष्टः, अतिदुर्बोध इत्यर्थः। परिच्छेतुम्—निर्णेतुम्। अवहितः=सावधानो भूत्वा।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—(मन ही मन।) अरे, स्मरण आ गया। (स्पष्टतः।) भद्र, क्या तुम कुसुमपुर में स्तनकलश से मिले थे (दृष्टः)।

पुरुष—अमात्य और क्या (अर्थात् मिला था)।

मलयकेतु—(सुनकर।) भागुरायण, कुसुमपुर का वृत्तान्त चल रहा है (प्रस्तूयते)। अतः वहाँ नहीं चलते, सुनते हैं। क्योंकि।

श्लोक (८) अर्थ—मन्त्री लोग राजाओं के सन्मुख मान (प्रभाव अथवा सत्त्व) के नष्ट होने के भय से (किसी भी बात को) अन्य प्रकार से कहते हैं, (और) परस्पर स्पष्ट विषयों वाली स्वच्छन्द बातचीतों में भिन्न प्रकार से कहते हैं ॥८॥

भागुरायण—कुमार जो आज्ञा देते हैं।

राक्षस—भद्र, क्या वह कार्य सफल हो गया।

पुरुष—अमात्य की कृपा से सम्पन्न हो गया।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण, वह क्या कार्य है।

भागुरायण—कुमार, अमात्य का वृत्तान्त गूढ होता है। इतने से निश्चित करना सम्भव नहीं है। (यदि जानना चाहते हैं तो) ध्यान लगाकर सुनिये।

राक्षस—भद्र, विस्तार से सुनना चाहता हूँ।

टिप्पणी

(१) **शृणुमस्तावत्**—मलयकेतु सोचता है कि यह वह बात सुन लेगा जो राक्षस उससे नहीं कहता।

(२) **सत्त्वभङ्गभयात्**—प्रभाव अथवा सत्त्व के नष्ट होने के भय से। मन्त्री अपने सम्मान की सुरक्षा के लिये राजा को उस विषय की सूचना नहीं देंगे, जिस विषय में उनका अनुमान मिथ्या निकल जावेगा।

(३) **अन्यथा कथयन्ति**- अन्य प्रकार से कहते हैं अर्थात् वे अरुचिकर तथ्य को इसलिये छिपा लेते हैं कि कहीं राजा उनमें अपना विश्वास न खो दे।

(४) **अन्यथा विवृतार्थेषु**—राजा से जो बात कही जा सकती है उससे भिन्न प्रकार की कहते हैं अर्थात् सत्य बात।

(५) **स्वैरालापेषु**—स्वैः + आलापेषु--इसप्रकार का सन्धिविच्छेद करके इसका अर्थ भी किया जा सकता है कि स्वैः—अपने व्यक्तियों के साथ, आलापेषु—बातचीत में।

(६) उक्त श्लोक में आये हुये दो बार **"अन्यथा अन्यथा"** का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। एक प्रकार से--दूसरी प्रकार से।

(७) ८ वें श्लोक का आशय यह है कि मलयकेतु सोचता है कि सम्भवतः राक्षस मेरे सामने कुछ छिपा ले परन्तु इस समय वह कुछ नहीं छिपायेगा क्योंकि उसको यह पता ही नहीं कि मैं सुन रहा हूँ।

(८) **किं तत्कार्यम्**—मलयकेतु के हृदय में उत्सुकता और सन्देह दोनों उत्पन्न हो जाते हैं। वह सोचता है कि उसकी रुचि के विरुद्ध होगा।

(६) **अवहितास्तवच्छृणु**—भागुरायण का कहना है कि "**यदि जानना चाहते हो तो ध्यानपूर्वक सुनो**" मलयकेतु को और अधिक संशय में डाल देता है।

पुरुष:---सुणादु अमच्चो। अत्थि दाव अहं अमच्चेणाणत्तो जह--'करभअ कुसुमपुरं गच्छ। मह वअणेण भण वेआलिअं थणकलसं जह चाणक्कहदएण तेसु तेसु अण्णाभङ्गेसु अणुचिट्ठीअमाणेसु चन्दउत्तो उत्तेअणसमत्थेहि सिलोएहि उवसिलोअइदव्वो' त्ति। श्रृणोत्यमात्यः। अस्ति तावदहममात्येनाज्ञप्तः यथा—'करभक, कुसुमपुरं गच्छ। मम वचनेन भण वैतालिकं स्तनकलशं यथा चाणक्यहतकेन तेषु तेषु आज्ञाभङ्गेषु अनुष्ठीयमानेषु चन्द्रगुप्तः उत्तेजनसमर्थैः श्लोकैरुपश्लोकयितव्यः' इति।

राक्षसः—भद्र, ततस्ततः।

करभकः—तदो मए पाडलिउत्तं गदुअ सुणाविदो अमच्चसंदेसं वेआलिओ थणकलसो। एत्थन्तरे णन्दउलविणासदूणस्स पोरजणस्स परितोसं समुप्पादअन्तेण रण्णा आघोसिदो कोमुदीमहोत्सवो। सो अ चिरकालपरिवट्टमाणो जणिदपरिचओ अभिमदवधूजणसमागमो विअ ससिणेहं माणिदो णअरजणेण। ततो मया पाटलिपुत्रं गत्वा श्रावितः अमात्यसंदेशं वैतालिकः स्तनकलशः। अत्रान्तरे नन्दकुलविनाशदूनस्य पौरजनस्य परितोषं समुत्पादयता राज्ञाघोषितः कौमुदीमहोत्सवः। स च चिरकालपरिवर्तमानो जनितपरिचयोऽभिमतवधूजनसमागम इव सस्नेहं मानितो नगरजनेन।

राक्षसः—(सबाष्पम्।) हा देव नन्द,

कौमुदी कुमुदानन्दे जगदानन्दहेतुना।
कीदृशी सति चन्द्रेऽपि नृपचन्द्र त्वया विना ॥६॥

संस्कृत-व्याख्या

अनुष्ठीयमानेषु=क्रियामाणेषु। उत्तेजनसमर्थैः=उद्दीपनकरैः। श्लोकैः= स्तुतिभिः। उपश्लोकयितव्यः=श्लोकैः स्तोतव्यः। पौरजनस्य=पुरवासिनः। चिरकालपरिवर्तमानः=चिरकालात्-बहोः कालात् परिवर्तमानः=परितो वर्तमानः- जायमानः। जनितपरिचयः=परिचितपूर्वः। मानितः=सत्कृतः। नगरजनेन= पुरवासिना।

अन्वयः—कौमुदीति—नृपचन्द्र, कुमुदानन्दे चन्द्रे सति अपि जगदानन्दहेतुना त्वया विना कौमुदी कीदृशी ॥६॥

व्याख्या—नृपचन्द्र—हे चन्द्रतुल्य राजन् नन्द, **कुमुदानन्दे**=कुवलयानाम् आनन्दे—आनन्दजनके चन्द्रे---चन्द्रमसि सति अपि-स्थितेऽपि (अन्यत्र) **कुमुदानन्दे**= कोः---पृथिव्याः मुदं---प्रीतिम् आनन्दयति-वर्धयति यः तादृशे **चन्द्रे—चन्द्रगुप्ते**

(राजनि) सत्यपि (ताभ्यामपि अतिशयितेन) जगदानन्दहेतुना = जगतः---समग्रायाः धरायाः आनन्दस्य---हर्षस्य यो हेतुः---निदानं तथाविधेन त्वया विना---विरहिता कौमुदी–कौमुदीमहोत्सवः (अन्यत्र) ज्योत्स्ना कीदृशी---किंप्रकारा ? व्यर्थत्यर्थः ।।६।।

हिन्दी रूपान्तर

पुरुष—अमात्य सुनिये। मुझे अमात्य न आज्ञा दी थी कि—"करभक, कुसुमपुर जाओ। मेरी ओर से वैतालिक स्तनकलश को कहो कि दुष्ट चाणक्य के द्वारा उन-उन आज्ञाभङ्गों के किये जाने पर उत्तेजित करने में समर्थ स्तुतियों के द्वारा (श्लोकैः) चन्द्रगुप्त की स्तुति की जानी चाहिये" इति।

राक्षस—भद्र, उसके पश्चात्।

करभक—तत्पश्चात् मैंने पाटलिपुत्र जाकर अमात्य का सन्देश वैतालिक स्तनकलश को सुना दिया। इसी बीच में नन्दवंश के विनाश से दुःखी नागरिकों के सन्तोष को उत्पन्न करते हुये राजा ने कौमुदीमहोत्सव (होने) की घोषणा करवा दी और चिरकाल के पश्चात् मनाये जाने वाले (परिवर्तमानः) पूर्व परिचित उसका (सः) नागरिकों ने अभीष्ट वधू के साथ मिलने के समान स्नेहपूर्वक अभिनन्दन किया।

राक्षस—(अश्रुओं के साथ।) हा महाराज नन्द,

श्लोक—(६) **अर्थ**—हे चन्द्रतुल्य राजन् (नृपचन्द्र) नन्द कुमुदों को आनन्दित करने वाले चन्द्रमा के होने पर भी (अन्यत्र) पृथिवी के आनन्द को बढ़ाने वाले (कुमुदानन्दे) चन्द्रगुप्त के होने पर भी (चन्द्रेऽपि) सारे संसार के आनन्द के कारण तुम्हारे विना कौमुदीमहोत्सव कैसा (अन्यत्र) ज्योत्स्ना (कौमुदी) कैसी ? अर्थात् व्यर्थ है ।।६।।

टिप्पणी

(१) **नन्दकुलविनाशदूनस्य**—दू + क्त कर्तरि दूनः। नन्दकुलविनाशेन हेतुना दूनस्य—जिस समय राजा नन्द राज्य करते थे उस समय उत्सव नियमित रूप से होते थे। किन्तु गृहकलह के शुरू होने पर इन उत्सवों का मनाया जाना बन्द हो गया था। उत्सवों के न होने से प्रजायें दुःखी थीं। सम्प्रति नन्द राज्य के परिवर्तन होने पर पुनः उत्सवों को मनाने का श्रीगणेश हो गया था।

(२) **चिरकालपरिवर्तमानः**—परि + वृत + शानच् कर्तरि, परिवर्तमानः चिरकालात् परिवर्तमानः।

(३) **नृपचन्द्र**—चन्द्रगुप्त तो केवल नाम्ना ही चन्द्र है परन्तु आप तो सभी राजाओं के लिये चन्द्र थे। "**नृपोऽयं चन्द्र इव**"—उपमित कर्मधारय समास है। यह विशेषण इस बात को बताता है कि नन्द जगदानन्द का हेतु क्यों है ? श्रेष्ठ राजा को संसार को आनन्दित होने का कारण होना आवश्यक है।

(४) ६ वां श्लोक द्व्यर्थक है। निम्न शब्द द्व्यर्थक है—(१) **कौमुदी,** (२) **कुमुदानन्दे** और (३) **चन्द्रे**। इसका आशय यह है कि चन्द्रगुप्त केवल अपने देशवासियों को ही हर्षित करने वाला है, चन्द्रमा केवल कुमुदों को ही हर्षित करने वाला है, किन्तु तुम तो इन दोनों से बढ़कर सारे संसार को आनन्दित करने के कारण हो। तुम्हारी और चन्द्रगुप्त की क्या तुलना ?

करभकः— तदो सो लोअलोअणाणन्दभूदो अणिच्छन्तस्स एव तस्स णिवारिदो चाणक्कहदएण। एत्थन्तरे थणकलसेण चन्दउत्तसमुत्तेजिआ सिलोअपरिवाटी पवट्टिदा। ततः स लोकलोचनानन्दभूतोऽनिच्छत एव तस्य निवारितश्चाणक्यहतकेन। अत्रान्तरे स्तनकलशेन चन्द्रगुप्तसमुत्तेजिका श्लोकपरिपाटी प्रवर्तिता।

राक्षसः—कीदृशी सा।

(पुरुषः **'सत्त्वोद्रेकस्य'** इत्यादि पूर्वोक्तं पठति।)

राक्षसः—(सहर्षम्।) साधु स्तनकलश, साधु। काले भेदबीजमुप्तमवश्यं फलमुपदर्शयति। कुतः।

सद्यः क्रीडारसच्छेदं प्राकृतोऽपि न मर्षयेत्।
किं नु लोकाधिकं तेजो बिभ्राणः पृथिवीपतिः ॥१४॥

संस्कृत-व्याख्या

सः=कौमुदीमहोत्सवः। लोकलोचनानन्दभूतः=लोकानां—नागरिकानां लोचनानि-नेत्राणि तेषाम् आनन्दभूतः। अनिच्छतः=अनभिलषितः, अनिच्छन्तं तमनादृत्य इत्यर्थः। निवारितः—प्रतिषिद्धः। चन्द्रगुप्तसमुत्तेजिका=मौर्योद्दीपनकरी। श्लोकपरिपाटी=श्लोकयोः परिपाटी-पद्धतिः। भेदबीजम्=भेदस्य-विरोधस्य बीजं-मूलम्। उप्तं=निखातम्। फलं=सिद्धिं, चाणक्यचन्द्रगुप्तयोर्भेदम् इत्यर्थः।

अन्वयः—**सद्य इति**—प्राकृतः अपि सद्यः क्रीडारसच्छेदं न मर्षयेत्। लोकाधिकं तेजः बिभ्राणः पृथिवीपतिः किं नु ॥१०॥

व्याख्या – प्राकृतः—अतिसाधारणः अपि (जनः) सद्यः क्रीडारसच्छेदं=क्रीडायां यो रसः—रागः तस्य छेदः—भङ्गः तम् न मर्षयेत्—सहेत, लोकाधिकं—अलौकिकं तेज-धाम बिभ्राणः--धारयन् पृथिवीपतिः--राजा किं नु (मर्षयेत्) (अपितु नैव सहेत इत्यर्थः) ॥१०॥

करभक—उसके पश्चात् मनुष्यों के नेत्रों के लिये आनन्दभूत वह (कौमुदी-महोत्सव) उस (चन्द्रगुप्त) के न चाहते हुये ही दुष्ट चाणक्य ने रोक दिया। इसी

बीच में स्तनकलश ने चन्द्रगुप्त को उत्तेजित करने वाली स्तुतिपरम्परा प्रारम्भ कर दी।

राक्षस—वह कैसी थी ?

(पुरुष "सत्त्वोद्रेकस्य" इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक को पढ़ता है।)

राक्षस—(हर्ष के साथ।) बहुत अच्छा स्तनकलश, बहुत अच्छा। समय पर बोया हुआ भेद रूपी बीज अवश्य ही फल दिखलाता है। क्योंकि।

श्लोक (१०) अर्थ—साधारण व्यक्ति भी क्षण भर के लिये (सद्यः) क्रीडा (उत्सव) के आनन्द के व्याघात को नहीं सहन करता है (तो फिर) लोकोत्तर तेज को धारण करने वाले राजा का तो कहना ही क्या (किं नु) अर्थात् नहीं सहन कर सकता है ॥१०॥

टिप्पणी

(१) अनिच्छतः—अनिच्छन्तमनादृत्येत्यर्थः। "षष्ठी चानादरे" पा० २/३/३८ इति षष्ठी।

(२) समुत्तेजिका—सम् + उद् + तिज् + ण्वुल् कर्तरि स्त्रियाम्।

(३) कीदृशी—किम् + दृश् + कञ् कर्तरि स्त्रियाम्।

(४) फलम्—चाणक्य और चन्द्रगुप्त में भेद रूपी फल।

(५) बिभ्राणः—भृ + शानच्। धातु उभयपदी है।

मलयकेतुः—एवमेतत्।

राक्षसः—ततस्ततः।

करभकः—तदो चन्दउत्तेण अण्णाभङ्गकलुसिदेण प्रसङ्गसूचिदं अमच्चगुणं पसंसिअ अपब्भंसिदो अहिआरादो चाणक्कहदओ। ततश्चन्द्रगुप्तेनाज्ञाभङ्गकलुषितेन प्रसङ्गसूचितममात्यगुणं प्रशस्यापभ्रंशिताऽधिकाराच्चाणक्यहतकः।

मलयकेतुः—सखे भागुरायण, गुणप्रशंसया दर्शितश्चन्द्रगुप्तेन राक्षसे भक्तिपक्षपातः।

भागुरायणः—न तथा गुणप्रशंसया यथा चाणक्यबटोर्निराकरणेन।

राक्षसः—किमयमेवैकः कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधश्चन्द्रगुप्तस्य चाणक्यं प्रति कोपकारणमुतान्यदप्यस्ति।

मलयकेतुः—सखे, चन्द्रगुप्तस्यापरकोपकारणान्वेषणेन किं फलमेष पश्यति।

भागुरायणः—कुमार, मतिमांश्चाणक्यो न निष्प्रयोजनमेव चन्द्रगुप्तं कोपयिष्यति, न च कृतवेदी चन्द्रगुप्त एतावता गौरवमुल्लङ्घयिष्यति। सर्वथा चाणक्यचन्द्रगुप्तयोः पुष्कलात्कारणाद्यो विश्लेष उत्पद्यते स आत्यन्तिको भविष्यतीति।

संस्कृत-व्याख्या

आज्ञाभङ्गकलुषितेन = आज्ञायाः भङ्गः—छेदः तेन कलुषितेन—कुपितेन। **प्रशस्य** = संस्तुत्य। अपभ्रंशितः = च्यावितः। कृतवेदी = कृतज्ञः। गौरवं = महत्त्वम्। उल्लंघयिष्यति = अतिक्रामिष्यति। पुष्कलात् = महतः। विश्लेषः = भेदः। उत्पद्येत = जायेत। आत्यन्तिकः = दृढ़ः, अप्रतिकार्य इति यावत्।

हिन्दी रूपान्तर

मलयकेतु—बिलकुल ठीक है (एवमेतत्)।

राक्षस—उसके बाद।

करभक—उसके बाद आज्ञा के भङ्ग होने के कारण कुपित (कलुषितेन) चन्द्रगुप्त ने प्रसंग में कहे हुये अमात्य गुणों की प्रशंसा करके दुष्ट के द्वारा चाणक्य को अधिकार से च्युत कर दिया।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण, चन्द्रगुप्त ने गुणों की प्रशंसा के द्वारा राक्षस में भक्ति का पक्षपात दिखला दिया।

भागुरायण—गुणों की प्रशंसा के द्वारा उतना (तथा) नहीं जितना (यथा) दुष्ट चाणक्य को हटाने के द्वारा (अर्थात् गुणशाली इस राक्षस को अपनाने के लिये ही चन्द्रगुप्त ने चाणक्य को हटा दिया)।

राक्षस—क्या यह अकेला कौमुदी-महोत्सव का रोका जाना ही चन्द्रगुप्त का चाणक्य के प्रति क्रोध का कारण है या (कोई) और भी है।

मलयकेतु—मित्र, चन्द्रगुप्त के दूसरे क्रोध के कारणों को खोजने से यह (राक्षस) क्या लाभ देखता है?

भागुरायण—कुमार, बुद्धिमान् चाणक्य बिना ही किसी उद्देश्य के चन्द्रगुप्त को क्रोधित नहीं करेगा और न ही कृतज्ञ चन्द्रगुप्त इतने से चाणक्य के) बड़प्पन का उल्लङ्घन करेगा। सर्वथा चाणक्य और चन्द्रगुप्त में बड़े कारण से जो पार्थक्य उत्पन्न होगा वह दृढ़ (आत्यन्तिक) होगा।

टिप्पणी

(१) **एवमेतत्** = बिलकुल ठीक है। १० वें श्लोक में राक्षस द्वारा कही हुई बात को मलयकेतु अपने ऊपर घटाता है और कहता है "एवमेतत्"।

(२) **आज्ञाभङ्गकलुषितेन** = कलुष = मलिन = कुपित। कलुषः कृत इति कलुष + णिच् (नामधातु) + क्त कर्मणि कलुषितः। आज्ञाभङ्गेन कलुषितः तेन।

(३) **भक्तिपक्षपातः** = भक्तेः पक्षपातः। चन्द्रगुप्त की भक्ति राक्षस के विषय में पक्षपातिनी है, चाणक्य के विषय में नहीं।

(४) **निराकरणेन** = नि + आ + कृ + ल्युट् भावे निराकरण = सचिव पद से हटा देना। चाणक्य को हटाने में रहस्य यह है कि चन्द्रगुप्त ने अब राक्षस के लिये स्थान खाली कर दिया है।

(५) **मतिमान्**—मतिरस्यास्ति प्रशस्ता इति प्रशंसायां मतुप्। चाणक्य बुद्धिमान् है, वह व्यर्थ में ही चन्द्रगुप्त का निरादर नहीं करेगा। अथवा यह भी आशय

हो सकता है कि चाणक्य यह देख रहा है कि चन्द्रगुप्त का झुकाव राज्य की ओर होता जा रहा है।

(६) **कृतवेदी**:—कृतम्—उपकृतं वेत्ति—स्मरति इति = कृतज्ञः कृत + विद् + णिनि कर्तरि = कृतवेदी।

(७) **आत्यन्तिकः**—दृढ़। अतिगतम् अन्तम् अत्यन्तम्। अत्यन्ते भवः इति अत्यन्त + ठञ् आत्यन्तिकः। केवलमात्र आज्ञा का उल्लंघन ही पर्याप्त कारण नहीं है, अतः राक्षस स्थिर रूप से पार्थक्य के लिये इससे भी अधिक कारण की खोज कर रहा है।

करभकः—अत्थि अण्णं वि चन्दउत्तस्स कोवकालणम्। उवेक्खिदो णेण अवक्कमन्तो मलअकेदू अमच्चरक्खसो त्ति। अस्त्यन्यदपि चन्द्रगुप्तस्य कोपकारणम्। उपेक्षितोऽनेनापक्रामन्मलयकेतुः अमात्यराक्षस इति।

राक्षसः—शकटदास, हस्ततलगतो में चन्द्रगुप्तो भविष्यति। इदानीं चन्दनदासस्य बन्धनान्मोक्षस्तव च पुत्रदारैः सह समागमः।

मलयकेतुः—सखे भागुरायण, हस्ततलगत इति व्याहरतः कोऽस्याभिप्रायः।

भागुरायणः—किमन्यत्। चाणक्यापदकृष्टस्य चन्द्रगुप्तस्योद्धरणान्न किंचित्कार्यमवश्यं पश्यति।

राक्षसः—भद्र, हृताधिकारः क्व सांप्रतमसौ बटुः।

करभकः—तहिं एव्व पाडलिउत्ते पडिवसदि। तस्मिन्नेव पाटलिपुत्रे अधिवसति।

राक्षसः—(सावेगम्।) भद्र; किं तत्रैव प्रतिवसति। तपोवनं न गतः प्रतिज्ञां वा पुनर्न समारूढवान्।

करभकः—अमच्च, तपोवणं गच्छदित्ति सुणीअदि। अमात्य, तपोवनं गच्छतीति श्रूयते।

संस्कृत-व्याख्या

हस्ततलगतः = हस्तस्य तलं गतः—प्राप्तः, आयत्तः इत्यर्थः। व्याहरतः = कथयतः। अपकृष्टस्य = पृथक्भूतस्य। उद्धरणात् = उन्मूलनात्। हृताधिकारः = हृतः—दूरीकृतोऽधिकारः—नियोगः यस्य सः, च्युतसाचिव्यपदः। समारूढवान् = कृतवान्।

हिन्दी रूपान्तर

करभक—और भी चन्द्रगुप्त के क्रोध का कारण है। इसने भागते हुये मलयकेतु और अमात्य राक्षस की उपेक्षा कर दी।

राक्षस--शकटदास; चन्द्रगुप्त मेरे हाथ में गया हुआ अर्थात् वश में (हस्ततलगतः) हो जावेगा। सम्प्रति चन्दनदास की कारागार से मुक्ति और तुम्हारा (अपने) पुत्र और स्त्री से मिलन (हो जावेगा)।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण, "**मेरे वश में हो जावेगा**" यह कहते हुये इसका क्या तात्पर्य है।

भागुरायण—और क्या ? चाणक्य से पृथक् हुये चन्द्रगुप्त के विनाश से किसी कार्यसिद्धि को अवश्य (यह) नहीं देखता है (अर्थात् राक्षस की अभीष्ट सिद्धि नहीं होती है।)।

राक्षस—भद्र, अधिकारच्युत वह चाणक्यबटु इस समय कहाँ है ?

करभक—उसी पाटलिपुत्र में निवास कर रहा है।

राक्षस – (आवेग के साथ।) भद्र, वहीं रह रहा है। तपोवन को नहीं चला गया अथवा पुनः प्रतिज्ञा नहीं कर ली।

करभक—अमात्य, तपोवन को जायेगा, ऐसा सुना जाता है।

टिप्पणी

(१) **उपेक्षितोऽनेनापक्रामन्मलयकेतुः अमात्यराक्षस इति**—जिन इन दो कारणों की चर्चा करभक यहाँ कर रहा है, इस विषयक प्रश्न चन्द्रगुप्त ने चाणक्य से तृतीय अङ्क में इसप्रकार किये है—

(क) **मलयकेतुः कस्मादपक्रामन्नुपेक्षितः।** (ख) **राक्षसः पुनरिहैव वर्तमानः आर्येणोपेक्षितः।**

(२) हस्ततलगतः = वश में। क्योंकि अब चाणक्य की सहायता नहीं मिलेगी।

(३) **चाणक्यादपकृष्टस्य चन्द्रगुप्तस्योद्धरणान्न किंचित्कार्यमवश्यं पश्यति**—(क) राक्षस की सामान्य बात को भी भागुरायण ने अन्यथा करके समझाया है और मलयकेतु इतना मूर्ख है कि वह इस बात को समझता ही नहीं है।

(ख) राक्षस का "**हस्ततलगतः भविष्यति चन्द्रगुप्तः**" इससे सीधा सादा अभिप्राय था कि चन्द्रगुप्त सचिवायत्तसिद्धि है और मन्त्री की सहायता न मिलने से राक्षस उसको आसानी से जीत लेगा। परन्तु भागुरायण ने इस सीधी सी बात को भी अन्यथा करके समझाया है। वह कहता है कि जब चन्द्रगुप्त ने चाणक्य को पृथक् कर दिया है तो अब राक्षस चन्द्रगुप्त को राज्य से भ्रंश करने में कोई लाभ नहीं देखता है। वश में करने से राक्षस के दो प्रयोजन सिद्ध होंगे--(१) राक्षस को साचिव्यपद की प्राप्ति हो जावेगी और (२) चन्दनदासादिकों की विपत्ति से निवृत्ति हो जावेगी।

(४) **सावेगम्**—चाणक्य के वहीं कुसुमपुर में रहने पर अथवा चन्द्रगुप्त को विनष्ट करने की प्रतिज्ञा न करने पर राक्षस को यह डर है कि कहीं चाणक्य पुनः चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि न कर ले--इसलिये आवेग है।

राक्षसः—शकटदास नेदमुपपद्यते । पश्य ।

देवस्य येन पृथिवीतलवासवस्य
स्वाग्रासनापनयनान्निकृतिर्न सोढा ।
सोऽयं स्वयंकृतनराधिपतेर्मनस्वी
मौर्यात्कथं नु परिभूतिमिमां सहेत ।।११।।

संस्कृत व्याख्या

अन्वयः—देवस्येति—येन पृथिवीतलवासवस्य देवस्य स्वाग्रासनापनयनात् निकृतिः न सोढा । सः अयं मनस्वी स्वयंकृतनराधिपतेः मौर्यात् इमां परिभूतिं कथं नु सहेत ।।११।।

व्याख्या—येन—(मनस्विना) चाणक्येन पृथिवीतलवासवस्य=पृथिव्याः तले· पृष्ठे वासवः इव तस्य देवस्य–महाराजनन्दस्य (तेन कृता इत्यर्थः) स्वाग्रासनापनय· नात्=स्वस्य–आत्मनः (आत्माधिष्ठितमित्यर्थः) यत् अग्रासनं-वरपीठं तस्मात् यत् अपनयनं–निष्कासनं तस्मात् निकृतिः–अवमानना न सोढा–न मर्षिता । सः अयं मनस्वी–मानशीलः (चाणक्यः) स्वयंकृतनराधिपतेः=स्वयं--आत्मना कृतः-विहितः यः नराधिपतिः-नृपतिः तस्मात् मौर्यात्-चन्द्रगुप्तात् इमाम्–एताम् (अधिकारापनयनरूपाम्) परिभूतिं--पराभवं कमं नु सहेत--केनप्रकारेण मर्षयेत् (न कथमपि सहेतेत्यर्थः) ।।११।।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—शकटदास, यह उचित नहीं है । देखो ।

श्लोक (११) अर्थ—जिस (चाणक्य) ने पृथिवी तल पर इन्द्र के समान महाराज (नन्द) के (द्वारा किये हुये) अपने प्रधान आसन से हटाये जाने के कारण अपमान को नहीं सहा, वह यह मनस्वी (चाणक्य) अपने आप बनाये हुये राजा मौर्य चन्द्रगुप्त से इस (अधिकार के अपहरण रूप) तिरस्कार को कैसे सहन कर सकता है (अर्थात् किसी भी प्रकार सहन नहीं कर सकता है) ।।११।।

टिप्पणी

(१) **पृथिवीतलवासवस्य देवस्य**—'कर्तृकर्मणोः कृति' पा० २/३/६५ इति कर्तरि षष्ठी, तत्कृता इत्यर्थः ।

(२) **मनस्वी**—प्रशस्तं मनः अस्य इति मनस् + विनि = मनस्वी = मानशील । अर्थात् चाणक्य अपने अपमान को कैसे भी सहन नहीं कर सकता है ।

(३) **मौर्यात्**—मौर्य से । यह कहकर चन्द्रगुप्त की निम्न जाति से उत्पत्ति की ओर राक्षस ने संकेत किया है । इसके विपरीत नन्द का विशेषण **"पृथिवीतलवासवस्य"** देकर उनको इन्द्र कहा है । इसप्रकार चन्द्रगुप्त की इन्द्र तुल्य नन्द से तुलना की है । कहने का आशय यह है कि पहले तो अपमान इन्द्र ने किया था और अब शूद्र चन्द्रगुप्त ने, जिसको स्वयं चाणक्य ने राजा बनाया है । जब पहले इन्द्र के

समान नन्दकृत अपमान को नहीं सहा तो अब अपने द्वारा निर्मित मौर्य से अपमान को कैसे सहन कर सकता है।

(४) इमाम्—अपमान की गम्भीरता को बताता है।
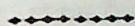
मलयकेतुः—सखे, चाणक्यस्य वनगमने पुनः प्रतिज्ञारोहणे वा कस्य स्वार्थसिद्धिः।

भागुरायणः—नात्यन्तदुर्बोधोऽयमर्थः। यावद्यावच्चाणक्यहतकश्चन्द्रगुप्ताद्दूरीभवति तावत्तावदस्य स्वार्थसिद्धिः।

शकटदासः—अलमन्यथा विकल्प्य। उपपद्यत एवैतत्। पश्यत्वमात्यः।

राज्ञां चूडामणीन्दुद्युतिखचितशिखे मूर्ध्नि विन्यस्तपादः
स्वैरेवोत्पाद्यमानं किमिति विषहते मौर्य आज्ञाविघातम्।
कौटिल्यः कोपनोऽपि स्वयमभिचरणज्ञातदुःखप्रतिज्ञो
दैवात्तीर्णप्रतिज्ञः पुनरपि न करोत्यायतिग्लानिभीतः ॥१२॥

संस्कृत-व्याख्या

प्रतिज्ञारोहणे—प्रतिश्रुतमङ्गीकरणे। स्वार्थसिद्धिः=स्वस्य साचिव्यपदलाभः इत्यर्थः। अलमन्यथा विकल्प्य=अन्यथा—अन्यप्रकारेण विकल्प्य—विचार्य अलम्, विचारं मा कुरु। उपपद्यते—युज्यते।

अन्वयः—राज्ञामिति—चूडामणीन्दुद्युतिखचितशिखे राज्ञां मूर्ध्नि विन्यस्तपादः मौर्यः स्वैः एव उत्पाद्यमानम् आज्ञाविघातं किमिति विषहते। स्वयम् अभिचरणज्ञातदुःखप्रतिज्ञः दैवात् तीर्णप्रतिज्ञः कोपनः अपि कौटिल्यः आयतिग्लानिभीतः पुनः अपि (प्रतिज्ञाम्) न करोति ॥१२॥

व्याख्या—चूडामणीन्दुद्युतिखचितशिखे=चूडायां निषक्ता ये मणयः ते इन्दवः इव (उज्ज्वलत्वादिति भावः) तेषां द्युतिभिः—दीप्तिभिः खचिता—सम्बद्धा शिखा यस्य तादृशे राज्ञां—नृपाणां मूर्ध्नि—शिरसि विन्यस्तपादः—अर्पितचरणः (तेषां शासिता इत्यर्थः) मौर्यः—चन्द्रगुप्तः स्वैः—स्वकीयैरेव (सेवकैः) उत्पाद्यमानं—क्रियमाणम् आज्ञाविघातम्—आज्ञाभङ्गं किमिति—कथं विषहते—सोढुं शक्नुयात्। स्वयम्—आत्मना अभिचरणज्ञातदुःखप्रतिज्ञः=अभिचरणेन—अभिचारकर्मणा ज्ञातम्—अनुभूतं दुःखं—क्लेशो यस्यां तादृशी प्रतिज्ञा यस्य तादृशः दैवात्—भाग्यात् तीर्णप्रतिज्ञः=तीर्णा पूर्णा प्रतिज्ञा—सङ्गरः यस्य तादृशः कोपनः—क्रोधशीलोऽपि कौटिल्यः—चाणक्यः आयतिग्लानिभीतः=आयतौ—उत्तरे काले या ग्लानिः—निष्फलता तस्याः भीतः—शङ्कितः सन् पुनरपि—भूयोऽपि (प्रतिज्ञाम्) न करोति—न विदधाति ॥१२॥

हिन्दी रूपान्तर

मलयकेतु—मित्र, चाणक्य के वन में चले जाने में अथवा पुनः प्रतिज्ञा कर लेने में इस (राक्षस) की क्या स्वार्थसिद्धि है ?

भागुरायण—यह तात्पर्य (समझना) अत्यन्त दुर्बोध नहीं है। जैसे-जैसे दुष्ट चाणक्य चन्द्रगुप्त से दूर होता जाता है वैसे-वैसे इसकी स्वार्थसिद्धि होती जाती है।

शकटदास—(समाचार के विषय में) दूसरी प्रकार से (अन्यथा) कल्पना करने (विकल्प्य) बस (अर्थात् चाणक्य के तपोवन चले जाने विषयक समाचार की सत्यता के विषय में अन्यथा शङ्का मत करो) ऐसा ही हो सकता है। अमात्य देखिये।

श्लोक (१२) अर्थ—चन्द्रमा के समान शिर पर विद्यमान मणियों की कान्ति से युक्त शिखा वाले राजाओं के शिर पर चरणों को रखने वाला चन्द्रगुप्त अपने ही (सेवकों से) किये जाने वाले आज्ञा के उल्लंघन को कैसे (किमिति) सह सकता है (अर्थात् कैसे भी सहन नहीं कर सकता है) ? (और) स्वयं कृत्यादि विधानकर्म द्वारा (अभिचरण) प्रतिज्ञा के दुःख को अनुभव करने वाला भाग्य से पूर्ण प्रतिज्ञा वाला प्रकृत्या क्रोधी (कोपनः) भी कौटिल्य भविष्यत्काल में होने वाली असफलता (ग्लानिः) से डरा हुआ पुनः भी (प्रतिज्ञा को) नहीं कर रहा है (करोति) ॥१२॥

टिप्पणी

(१) **यावत् यावत्**—यह इस बात की ओर इशारा है कि राक्षस चाणक्य से रिक्त स्थान को चाहता है।

(२) **अलमन्यथा विकल्प्य**—अर्थात् समाचार के विषय में शङ्का मत करो कि मिथ्या समाचार होगा। "**अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा**" पा० ३/४/११ इति क्त्वा प्रत्ययः। कुसुमपुर से आया हुआ यह समाचार मिथ्या नहीं है क्योंकि समाचार लाने वाला विश्वस्त है। कोई न कोई लड़ाई अवश्य हुई होगी जिसके परिणामस्वरूप चाणक्य को मन्त्रीपद से हटा दिया गया है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह लड़ाई वास्तविक है या मिथ्या ? राक्षस इस लड़ाई की वास्तविकता में कोई संगति नहीं देखता है तभी तो कहता है '**शकटदास नेदमुपपद्यते**' और सारे ही कथानक को बनावटी समझता है। शकटदास राक्षस के इस विचार से मतभेद रखता है और इस लड़ाई में संगति बिठाने का प्रयत्न करता है और कहता है कि '**उपपद्यत एवैतत्**'।

(३) **विषहते**—वर्तमानसामीप्ये लट् अतीते। "**परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तृस्वञ्जाम्**" पा० ८/३/७० से षत्वम्।

(४) **अभिचरण**—अभिचार क्रिया का अनुष्ठान = हिंसाकर्म। अभिचरण = कृत्यादि विधानकर्म। शत्रुओं को नष्ट करने के लिये यज्ञ करना और मन्त्रों-तन्त्रों द्वारा दूसरे को अपने वश में करना अभिचार कहलाता है। चाणक्य के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसने नन्दों को मारने के लिये इसप्रकार के रहस्यात्मक यज्ञ किये थे।

(५) १२ वें श्लोक में दो बातों की ओर ध्यान दिलाया गया है:—

(क) यह हो सकता है कि चन्द्रगुप्त अपने अधीनस्थ व्यक्तियों से किये जाने वाले अपमान को न सह सके फिर वह चाहे चाणक्य ही क्यों न हो।

(ख) चाणक्य का दुबारा प्रतिज्ञा न करना भी समझ में आ सकता है क्योंकि एक बार तो उसकी प्रतिज्ञा भाग्य से पूरी हो गई। अब यदि दुबारा प्रतिज्ञा कर भी ले तो निश्चित नहीं है कि यह भी प्रतिज्ञा पूरी हो ही जायेगी। तथा पहली बार की हुई प्रतिज्ञा को पूरा करने में जो दुःख और कष्ट चाणक्य ने उठाये हैं उनको वह भलीप्रकार समझता है। अतः अब पुनः चाणक्य प्रतिज्ञा करके उन्हीं कष्ट और दुःखों को भोगे—यह उसके लिये सम्भव दिखाई नहीं देता। अतः चाणक्य का दुबारा प्रतिज्ञा न करना समझ में आ जाने वाली बात है। इसमें सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है।

राक्षसः—शकटदास, एवमेतत्। गच्छ विश्रामय करभकम्।

शकटदासः—तथा (इति पुरुषेण सह निष्क्रान्तः।)

राक्षसः—अहमपि कुमारं द्रष्टुमिच्छामि।

मलयकेतुः—अहमेवार्यं द्रष्टुमागतः।

राक्षसः—(नाट्येनावलोक्य।) अये, कुमारः। (आसानादुत्थाय।) इदमासनम्। उपवेष्टुमर्हति कुमारः।

मलयकेतुः—अयमुपविशामि। उपवित्वार्यः। (यथार्हमुपदिष्टः।) आर्य, अपि सह्या शिरोवेदना।

राक्षसः—कुमार, कुमारस्याधिराजशब्देनातिरस्कृते कुमारशब्दे कुतो मे शिरवेदनायाः सह्यता।

मलयकेतुः—ऊरीकृतमेतदार्येण न दुष्प्रापं भविष्यति। तत्कियन्तं कालमस्माभिरेवं संभृतबलैरपि शत्रुव्यसनमुदीक्षमाणैरुदासितव्यम्।

राक्षसः—कुतोऽद्यापि कालहरणस्यावकाशः। प्रतिष्ठस्व विजयाय।

मलयकेतुः—आर्य, शत्रुव्यसनमुपलब्धम्।

राक्षसः—उपलब्धम्।

मलयकेतुः—कीदृशं तत्।

राक्षसः—सचिवव्यसनं किमन्यत्। अपकृष्टश्चाणक्याच्चन्द्रगुप्तः।

मलयकेतुः—आर्य, सचिवव्यसनमेव।

राक्षसः—अन्येषां भूपतीनां कदाचिदमात्यव्यसनमव्यसनं स्यात्। न पुनश्चन्द्रगुप्तस्य।

संस्कृत-व्याख्या

सह्या = सोढुं योग्या शिरोवेदना = शीर्षव्यथा। अतिरस्कृते = अन्तर्धानम-

नीते । ऊरीकृतम् = अङ्गीकृतम् । दुष्प्रापं = दुर्लभम् । संभृतबलैः = समाहृतसैन्यैः । शत्रुव्यसनं = शत्रोः व्यसनं—विपदम्, विपत्समयम् इत्यर्थः । उदीक्षमाणैः = प्रतीक्षमाणैः । उदासितव्यम् = तूष्णीं स्थातव्यम् । प्रतिष्ठस्व = याहि ।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—शकटदास, यह ऐसा (ही) है । जाओ करभक को विश्राम कराओ ।

शकटदास—बहुत अच्छा । (ऐसा कहकर पुरुष के साथ निकल गया ।)

राक्षस—मैं भी कुमार (मलयकेतु) को देखना चाहता हूँ ।

मलयकेतु—मैं ही आर्य को देखने के लिये आ गया हूँ ।

राक्षस—(अभिनय के साथ देखकर ।) अरे, कुमार हैं । (आसन से उठकर) यह आसन है । राजकुमार बैठने के योग्य है ।

मलयकेतु—यहाँ बैठता हूँ । आर्य बैठिये । (यथायोग्य बैठ गया ।) आर्य, क्या शिर की वेदना सहन करने योग्य है ।

राक्षस—कुमार, कुमार के **अधिराज** शब्द से **कुमार** शब्द के तिरस्कार कर देने पर (अर्थात् जब तक कुमार शब्द को हटाकर अधिराज शब्द को नहीं लगा देता हूँ) मेरी शिरोवेदना को सहने की योग्यता कहाँ से ?

मलयकेतु—आर्य के द्वारा स्वीकार किया हुआ यह (अधिराज शब्द से कुमार शब्द का तिरस्करण) कठिनता से प्राप्त होने वाला नहीं होगा । तो कितने समय तक इस प्रकार सेनाओं के साथ भी (संभृतबलैः) शत्रु के व्यसन की प्रतीक्षा करते हुए हमको शान्त ठहरना है ।

राक्षस—अब भी समय खोने का अवसर कहाँ से ? विजय के लिये प्रस्थान करो ।

मलयकेतु—आर्य, शत्रु का व्यसन प्राप्त हो गया ।

राक्षस—प्राप्त हो गया ।

मलयकेतु—वह (व्यसन) कैसा है ?

राक्षस—अमात्यव्यसन और क्या ? चाणक्य से चन्द्रगुप्त दूर कर दिया गया ।

मलयकेतु—आर्य, अमात्यव्यसन ही है ।

राक्षस—दूसरे राजाओं के लिये सम्भवतः (कदाचित्) अमात्यव्यसन हो । चन्द्रगुप्त के लिये (तो ऐसा) नहीं है ।

टिप्पणी

(१) **अहमपि कुमारं द्रष्टुमिच्छामि**—यह बात शकटदास से कही गई है कि जाओ करभक के विश्राम का प्रबन्ध करो और मैं भी कुमार से मिलने जाना चाहता हूँ, परन्तु वह राक्षस की बात के पूर्ण होने की प्रतीक्षा किये बिना ही निकल जाता है ।

(२) **सह्या**—सोढुं शक्या इति सह = यत् कर्मणि स्त्रियाम्—सहने के योग्य

(३) अधिराज—"राजाहःसखिभ्यष्टच्" पा० ४/५/९१ से टच् ।

(४) उदीक्षमाणैरुदासितव्यम्—मलयकेतु का यह विचार है कि राक्षस प्रतीक्षा में ही बहुमूल्य समय को विनष्ट कर रहा है ।

(५) सचिवव्यसनम्—व्यस्यत्येनं श्रेयसे । स्वामी और अमात्य के विषय में से अमात्य का व्यसन बड़ा है । "यस्मात् हि व्यस्यति श्रेयः तस्मात् व्यसनमुच्यते" कामन्दकीय । सचिवोत्थितं व्यसनं सचिवव्यसनम् ।

(६) अन्येषां भूपतीनां······चन्द्रगुप्तस्य—इससे भागुरायण की इस बात का समाधान हो जाता है कि—"अमात्यराक्षसः चाणक्ये बद्धवैरो न चन्द्रगुप्ते ।"

मलयकेतुः—आर्य, नैतदेवं चन्द्रगुप्तप्रकृतीनां चाणक्यदोषा एवापरागहेतवस्तस्मिंश्च निराकृते प्रथममपि चन्द्रगुप्तेऽनुरक्ता सम्प्रति सुतरामेव तत्रानुराग दर्शयिष्यन्ति ।

राक्षसः—मा मैवम् । ताः खलु द्विप्रकाराः प्रकृतयश्चन्द्रगुप्तसहोत्थायिन्यो नन्दानुरक्ताश्च । तत्र चन्द्रगुप्तसहोत्थायिनीनां चाणक्यदोषा एव विरागहेतवो न नन्दकुलानुगतानाम् । तास्तु खलु नन्दकुलमनेन पितृभूतं घातितमित्यपरागामर्षाभ्यां विप्रकृताः सत्यः स्वाश्रयमलभमानाश्चन्द्रगुप्तमेवानुवर्तन्ते । त्वादृशं पुनः प्रतिपक्षोद्धरणे संभाव्यशक्तिमभियोक्तारमासाद्य क्षिप्रमेनं परित्यज्य त्वामेवाश्रयिष्यन्ति इत्यत्र निदर्शनं वयमेव ।

संस्कृत-व्याख्या

अपरागहेतवः=विरागकारणानि । निराकृते=दूरीकृते । चन्द्रगुप्तसहोत्थायिन्यः=चन्द्रगुप्तेन सह-सार्धमुत्थातुं शीलं यासां ताः । पितृभूतं=पितृसमम् । घातितं=विनाशितम् । अपरागामर्षाभ्यां=विरागक्रोधाभ्याम् । विप्रकृताः=निराकृताः । स्वाश्रयं=सु आश्रयम् । अलभमानाः=अप्राप्नुवन्त्यः । अनुवर्तन्ते=अनुगच्छन्ति । प्रतिपक्षोद्धरणे=प्रतिपक्षानां-शत्रूणाम् उद्धरणे-उन्मूलने । सम्भाव्यशक्तिम्=सम्भाव्या-अनुमेया शक्तिः-सामर्थ्यं यस्य तथाविधम् । निदर्शनं=दृष्टान्तः ।

हिन्दी रूपान्तर

मलयकेतु—आर्य, यह ऐसा नहीं है (कि) चाणक्य के दोष ही चन्द्रगुप्त की प्रजाओं के विराग के कारण हैं और उस (चाणक्य) के हटा दिये जाने पर पहले भी चन्द्रगुप्त में अनुरक्त (प्रजायें) अब अत्यधिक ही उस (चन्द्रगुप्त) में अनुराग प्रकट करेंगी ।

राक्षस—नहीं, ऐसा नहीं है (क्योंकि) वे प्रजायें दो प्रकार की हैं—चन्द्रगुप्त के साथ उठने वाली अर्थात् सहायक (सहोत्थायिन्यः) और नन्द में अनुरक्त । उनमें से चन्द्रगुप्त की सहायक प्रजाओं के ही चाणक्य के दोष विरक्ति के कारण हैं नन्दवंश का अनुसरण करने वाली प्रजाओं के नहीं । वे (प्रजायें) तो पिता के समान नन्दवंश

को इस चन्द्रगुप्त ने नष्ट कर दिया। अतः विराग और क्रोध से विपरीत होती हुई योग्य आश्रय को (सु + आश्रयम्) न प्राप्त करती हुई चन्द्रगुप्त का ही अनुसरण कर रही हैं। पुनः शत्रुपक्ष को समूल विनाश करने में अनुमेय शक्ति वाले तुम जैसे आक्रमण करने वाले को प्राप्त करके शीघ्र ही इस (चन्द्रगुप्त) को छोड़कर तुम्हारा ही आश्रय ले लेंगी—इस विषय में हम ही उदाहरण हैं।

टिप्पणी

(१) **चन्द्रगुप्तप्रकृतीनाम्** – मलयकेतु का संकेत राक्षस की ओर है। क्योंकि भागुरायण ने पहले ही मलयकेतु के मन में यह जमा दिया है कि राक्षस का वैर चाणक्य से है, चन्द्रगुप्त से नहीं।

(२) **सुतरामेव**—प्रजाओं की हृदय से की हुई चन्द्रगुप्त के प्रति प्रगाढ़ भक्ति योग्य और बुद्धिमान् चाणक्य के अभाव की पूर्ति कर देगी। प्रजायें अब और अधिक चन्द्रगुप्त से प्रेम करने लग जावेंगी।

(३) **घातितम्**—हन् + णिच् + क्त कर्मणि।

(४) **अपरागामर्षाभ्याम्**—अप + रञ्ज + घञ् भावे, अपराग = विरक्ति। मृष् + घञ् भावे मर्षः। न मर्षः अमर्षः = क्रोध। अपरागश्च अमर्षश्च ताभ्याम्।

(५) **विप्रकृताः** = वि + प्र + कृ + क्त कर्मणि।

(६) **स्वाश्रयम्**—दो प्रकार से सन्धिविच्छेद हो सकता है-(१) सु + आश्रयम् (२) स्व + आश्रयम्। आ + श्रि + अच् कर्मणि आश्रयः, शोभनः आश्रयः = स्वाश्रयः। यहाँ पर प्रथम प्रकार से सन्धिविच्छेद होगा। प्रजायें केवल इसलिये चन्द्रगुप्त का अनुसरण कर रही हैं कि उनको कोई योग्य आश्रय नहीं मिला है।

(७) **निदर्शनम्** = दृष्टान्त। निदर्श्यते अनेन इति नि + दृश् + णिच् करणे।

मलयकेतुः—आर्य, किमेतदेकमेव सचिवव्यसनमभियोगकारणं चन्द्रगुप्तस्याहोस्विदन्यदप्यस्ति।

राक्षसः– किमन्यैर्बहुभिरपि। एतद्धि प्रधानतमम्।

मलयकेतुः—आर्य कथमिव प्रधानतमम्। किमिदानीं चन्द्रगुप्तः स्वकार्यधुरामन्यत्र मन्त्रिण्यात्मनि वा समासज्य स्वयं प्रतिविधातुमसमर्थः।

राक्षसः—बाढमसमर्थः। कुतः स्वायत्तसिद्धिषु तत्संभवति। चन्द्रगुप्तस्तु दुरात्मा नित्यं सचिवायत्तसिद्धावेव स्थितश्चक्षुर्विकल इवाप्रत्यक्षलोकव्यवहारः कथमिव स्वयं प्रतिविधातुं समर्थः स्यात्।

अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः।
सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति ॥१३॥

संस्कृत-व्याख्या

आहोस्वित् = अथवा। **स्वकार्यधुराम्** = स्वस्य आत्मनः कार्यस्य धूः ताम्। **अन्यत्र** = अन्यस्मिन्। **समासज्य** = विन्यस्य। **प्रतिविधातुम्** = (अस्मदभियोगं) प्रति-

कर्तुम् । स्वायत्तसिद्धिषु = स्वेषु-आत्मसु न तु मन्त्रिषु आयत्ता-आधीना सिद्धिः येषां ते, तथोक्तेषु स्वाधीनस्वकर्मचिन्तनेषु इत्यर्थः । दुरात्मा दुष्टो-मन्दः आत्मा-बुद्धिः यस्य सः । चक्षुर्विकलः = नेत्ररहितः । अप्रत्यक्षलोकव्यवहारः = अप्रत्यक्षः—अगोचरः लोकानां—जगतां व्यवहारो यस्य सः ।

अन्वयः—अत्युच्छ्रिन इति—श्रीः अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि अत्युच्छ्रिते पार्थिवे च पादौ विष्टभ्य उपतिष्ठते । तयोः द्वयोः सा भरस्य असहा स्त्रीस्वभावात् एकतरं जहाति ॥१३॥

व्याख्या—(उभयायत्तसिद्धेर्भूपस्य) श्रीः-राज्यलक्ष्मीः अत्युच्छ्रिते—अत्युन्नति प्राप्ते मन्त्रिणि अमात्ये अत्युच्छ्रिते—अत्युन्नति प्राप्ते पार्थिवे—राज्ञि च समस्कन्धतया अत्युन्नति प्राप्ते (ऐकमत्येन अन्यूनाधिकभावेन वा ऐकीभावमुपगते इत्यर्थः) पादौ—मन्त्रशक्तिप्रभुशक्तिरूपौ चरणौ (एकैकस्मिन् एकैकं पादम्) विष्टभ्य—स्थापयित्वा (सुस्थिरा सती) उपतिष्ठते—तयोः समीपस्था भवति । (किन्तु) तयोः—मन्त्रिपार्थिवयोः द्वयोः (वैमत्येन न्यूनाधिकभावमुपेत्य द्वैधीभावेन स्थितयोः) सा—श्रीः (द्वयोः पादयोः सम्यगवष्टभ्यासम्भवात्) भरस्य असहा—राज्यभारं वोढमसमर्था सती स्त्रीस्वभावात्—नारीसुलभप्रकृतेः (दौर्बल्यात् चापल्याच्च) एकतरम्—अन्यतरम् (मन्त्रिणं पार्थिवं वा) जहाति—त्यजति । 'कञ्चित् कालं प्रभुमात्रमाश्रित्य वर्तमानापि मन्त्रवैकल्येन स्वयमपि नश्यत्येवं मन्त्रिणमाश्रित्य वर्तमानापि प्रभुत्ववैकल्येन नश्यतीति भावः । ॥१३॥

हिन्दी रूपान्तर

मलयकेतु—आर्य, क्या यह एक अमात्य व्यसन ही चन्द्रगुप्त के ऊपर आक्रमणः करने का कारण है अथवा और भी है ।

राक्षस—दूसरे बहुत से कारणों से भी क्या (लाभ)। निश्चय से वह (ही) प्रमुखतम है ।

मलयकेतु—आर्य, प्रमुखतम किसप्रकार । क्या सम्प्रति चन्द्रगुप्त अपने कार्य के भार को किसी दूसरे मन्त्री पर अथवा अपने ऊपर डालकर (हमारे आक्रमण को) अपने आप प्रतिकार करने में असमर्थ है ।

राक्षस—हाँ असमर्थ है । (क्योंकि) स्वायत्तसिद्धि वालों में वह प्रतिकार (तत्) कैसे सम्भव हो सकता है । मन्दबुद्धि वाला चन्द्रगुप्त तो हमेशा सचिवायत्तसिद्धि में ही रहता हुआ अन्धे के समान (चक्षुर्विकल इव) लोकव्यवहार में अनभिज्ञ किसप्रकार यह अपने आप प्रतिकार करने में समर्थ हो सकता है ।

श्लोक (१३) अर्थ—(उभयायत्तसिद्धि वाले राजा की) राज्यलक्ष्मी अत्युन्नत मन्त्री पर और अत्युन्नत (अत्युच्छ्रिते) राजा पर समान कन्धे होने के कारण अत्यन्त उन्नति को प्राप्त अथवा समान बुद्धि के द्वारा न्यूनाधिकभाव को छोड़कर एकत्व को प्राप्त हुये मन्त्री और राजा पर मन्त्रशक्ति और प्रभुशक्ति रूप दोनों चरणों को रखकर (अर्थात् एक पैर मन्त्री पर और एक पैर राजा पर रखकर स्थित होती हुई) उन दोनों के समीप रहती है (उपतिष्ठते)। उन दोनों (मन्त्री और राजा) में से (अर्थात्

जब राजा और मन्त्री परस्पर भिन्न मत वाले होते हुये न्यूनाधिक भाव को प्राप्त होकर अलग-अलग हो जाते हैं—(उस समय) वह (राज्यलक्ष्मी अपने दोनों पैरों के ठीक प्रकार से स्थित न होने के कारण) (राज्य के) भार को वहन करने में असमर्थ होती हुई स्त्री के स्वभाव के कारण (दुर्बलता के कारण अथवा चञ्चलता के कारण) किसी एक को (मन्त्री को अथवा राजा को) छोड़ देती है।

टिप्पणी

(१) मलयकेतु ने राक्षस से प्रश्न किया है कि चाणक्य के हटा दिये जाने पर क्या चन्द्रगुप्त अपने राज्यभार को किसी दूसरे मन्त्री के सुपुर्द करके हमारे आक्रमण का प्रतिकार नहीं कर सकता है?—"**स्वकार्यधुरामन्यत्र मन्त्रिणि ?**" इस प्रश्न का उत्तर राक्षस ने १३ वें श्लोक में दिया है। उत्तर है कि चन्द्रगुप्त किसी दूसरे को मन्त्री बनाकर राज्य संचालन और हमारे आक्रमण का प्रतिकार नहीं कर सकता है।

(२) **दुरात्मा**—आत्मन्=बुद्धि। दुष्टो—मन्दः आत्मा यस्य, मन्दबुद्धिः।

(३) **सचिवायत्तसिद्धावेव स्थितः**—चन्द्रगुप्त अपने सभी कामों को मन्त्री पर डालकर ही करता रहता था इसलिये वह अन्धे के समान सांसारिक ज्ञान से अपरिचित है।

(४) १३ वें श्लोक के अन्दर उभयायत्तसिद्धि" की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। किन्तु उभयायत्तसिद्धिता चिरकाल तक नहीं रहती है। वह स्वायत्तसिद्धिता में या सचिवायत्तसिद्धिता में शीघ्र ही बदल जाती है।

(५) **अत्युच्छ्रिते**—अति उद् श्रि+क्त कर्तरि उच्छ्रितः=उन्नतः। यह मन्त्रिणि और पार्थिवे दोनों का विशेषण है। शारीरिक उन्नति और शक्ति का प्राबल्य, दोनों ओर संकेत है।

(६) **मन्त्रिणि**—मन्त्रशक्ति।

(७) **पार्थिवे**—प्रभुशक्ति।

(८) **विष्टभ्य**—"**स्तम्भे**" पा० ८/३/६७ इति षत्वम्। वि+स्तम्भ+ल्यप्।

(९) **पादौ**—मन्त्रशक्ति+प्रभुशक्ति रूप दो चरण। लक्ष्मी का एक पैर मन्त्री पर और एक पैर राजा पर रहता है। यद्यपि तीन शक्तियाँ मानी गयी हैं—(१) प्रभुशक्ति, (२) मन्त्रशक्ति और (३) उत्साहशक्ति। तथापि उत्साहशक्ति के दोनों शक्तियों के अनुकूल होने के कारण इन्हीं दोनों में उसका भी अन्तर्भाव मान लिया है। अतः उसका पृथक् निर्देश नहीं किया है।

(१०) **उपतिष्ठते**="**अकर्मकाच्च**" पा० १/३/३३ इति आत्मनेपदम्।

(११) **असहाभरस्य**—अपने भार को वहन करने में असमर्थ होती हुई। जब असाधारण स्थिति होती है अर्थात् वह अवस्था जब कि मन्त्री और राजा में परस्पर मतिवैविध्य रहता है।

(१२) **एकतरं जहाति**—आशय यह है कि कुछ समय तक केवल प्रभु का आश्रय लेकर रहती हुई भी मन्त्र के अभाव में स्वयं भी नष्ट हो जाती है। इसी॰

प्रकार मन्त्री का आश्रय लेकर रहती हुई प्रभुता के अभाव में नष्ट हो जाती है। जब राज्यलक्ष्मी किसी एक को छोड़कर अन्य में स्थिर हो जाती है उस समय उभयायत्तसिद्धिता हो जाती है। मन्त्री के छोड़ देने पर स्वायत्तसिद्धिता और राजा के छोड़ देने पर सचिवायत्तसिद्धिता होती है।

(१३) १३वें श्लोक का आशय यह है कि जिसप्रकार कोई नटी समान ऊँचाई वाले दो बाँसों के ऊपर अपने पैरों को स्थिर करके नृत्य करती रहती है। किन्तु जब कभी उन दोनों मे विषमता आ जाती है उस समय लड़खड़ाकर अपने शरीर के भार को सहन न करती हुई उन दो बांसों में से किसी एक को छोड़कर दूसरे बाँस का आश्रय ले लेती है और अन्त में उस एक अवशिष्ट बाँस के गिरने के साथ स्वयं भी पृथिवी पर गिर पड़ती है। इसीप्रकार समान शक्ति वाले राजा और मन्त्री का आश्रय लेखर राज्यलक्ष्मी भी स्थिर रहती है। परन्तु जब कभी उन दोनों में किसी बात पर विमति हो जाती है और दोनों के अन्दर भिन्नता आती है उस अवस्था में राज्यलक्ष्मी किसी एक को छोड़कर किसी अन्य का आश्रय ले लेती है और अन्ततोगत्वा जिसका आश्रय लिया है उसके नष्ट होने के साथ स्वयं भी नष्ट हो जाती है। इसप्रकार चन्द्रगुप्त उन्नत है। वह किसी अनुन्नत मन्त्री पर राज्य के भार को डालकर प्रतिकार करने में असमर्थ है साम्राज्य की स्थिरता के लिये राजा और मन्त्री दोनों को समान शक्ति और समान अवस्था का होना आवश्य कहै। मन्त्री को अपनी शक्ति और समान व्यवस्था का होना आवश्यक है। मन्त्री की अपनी शक्ति मन्त्रशक्ति है और राजा की अपनी शक्ति प्रभुशक्ति है। यदि राजा और मन्त्री की शक्ति परस्पर असमान है, तो शक्ति की असमानता के कारण लक्ष्मी को उन दोनों में से एक को अवश्य ही छोड़ देना होगा और जिसका आश्रय लेगी उसका भी पतन निश्चित रूप से होगा।

नृपोऽपकृष्टः सचिवात्तदर्पणः स्तनंधयोऽत्यन्तशिशुः स्तनादिव।
अदृष्टलोकव्यवहारमन्दधीर्मुहूर्तमप्युत्सहते न वर्तितुम् ॥१४॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—नृप इति—तदर्पणः अदृष्टलोकव्यवहारमन्दधीः सचिवात् अपकृष्टः नृपः स्तनात् (अपकृष्टः) स्तनंधयः अत्यन्तशिशुः इव मुहुर्तम् अपि वर्तितुं न उत्सहते ॥१४॥

व्याख्या— तदर्पणः = तस्मिन्—सचिवे चाणक्ये (सर्वं राज्यतन्त्रं) अर्पयतीति तथाभूतः (सचिवायत्तसिद्धिरित्यर्थः) अदृष्टलोकव्यवहारमन्दधीः = अदृष्टः—अविदितः लोकस्य — संसारस्य व्यवहारः आचारः येन अतएव मन्दा—मूढा धीः—बुद्धिः यस्य तथोक्तः सचिवात्—अमात्यात् अपकृष्टः पृथक्भूतः नृपः—राजा स्तनात्—मातृस्तनात् (अपकृष्टः) स्तनंधयः—स्तनपायी अत्यन्तशिशुः— अतिबालः इव मुहूर्तमपि— क्षणमपि वर्तितुं— व्यवहर्तुं न उत्सहते—न शक्नोति ॥१४॥

हिन्दी रूपान्तर

श्लोक (१४) अर्थ—उस (मन्त्री चाणक्य) में ही अर्पित कर दिया है सब कुछ जिसने ऐसा (अर्थात् सचिवायत्तसिद्धि वाला) सांसारिक व्यवहार से अनभिज्ञ अतएव मन्द बुद्धि वाला मन्त्री (चाणक्य) से पृथक् हुआ राजा स्तन से (पृथक् हुये) स्तन पान करने वाले अत्यन्त छोटे बालक के समान क्षण भर के लिये भी (मुहूर्तमपि) व्यवहार करने में समर्थ नहीं है ॥१४॥

टिप्पणी

(१) मलयकेतु ने राक्षस से जो दूसरा प्रश्न किया था कि क्या चन्द्रगुप्त "**आत्मनि समासज्य स्वयं प्रतिविधातुमसमर्थः** ? इसका उत्तर राक्षस ने इस १४वें श्लोल में दिया है। उत्तर है, हाँ, अपने आप सम्पूर्ण राज्य-कार्य को संभालकर हमारे आक्रमण का प्रतिकार करने में असमर्थ है। चन्द्रगुप्त की असमर्थता का वर्णन है।

(२) **तदर्पणः**=तस्मिन्—सचिवे चाणक्ये अर्पयतीति। ऋ+णिच्+लिट् भावे अर्पणम्।

(३) **स्तनन्धयः**—स्तनं धयति इति स्तन+धेट् (पाने)+खश्—"**नासिकास्तनयोर्ध्मा धेटो**" पा० ३/२/२६ इति खश्, खित्वात् "**अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्**" पा० ६/३/६७ इति मुम्।

(४) स्वायत्तसिद्धि वाले राजा के लिये मन्त्री की हानि कोई हानि नही है। क्योंकि उस अवस्था में राजा वह सब कार्य कर सकता है जिससे वह हमारे आक्रमण को रोक सके। किन्तु उभयायत्तसिद्धि में स्थिति दूसरी होती है। जब तक उभयायत्तसिद्धिता चलती रहती है, राजा को कोई परेशानी नहीं है। लक्ष्मी सेविका के समान उसकी सेवा करती रहती है। किन्तु राजा के सचिवायत्तसिद्धि होने पर, जैसा कि चन्द्रगुप्त है, उसके लिये मन्त्री की हानि घातक सिद्ध हो सकती है। इसलिये राक्षस ने कहा है कि चन्द्रगुप्त "**मुहूर्तमप्युत्सहते न वर्तितुम्**" श्लोक १४ और क्योंकि चन्द्रगुप्त क्षण भर भी स्थिर नहीं रह सकता है, इसलिये राक्षस कहता है कि "**प्रतिष्ठस्व विजयाय**"।

मलयकेतुः—(आत्मगतम्।) दिष्ट्या न सचिवायत्ततन्त्रोऽस्मि। (प्रकाशम्।) यद्यप्येवं तथापि बहुष्वभियोगकारणेषु सत्सु व्यसनमभियुञ्जानस्य शत्रुमभियोक्तुरैकान्तिकी कार्यसिद्धिर्भवति।

राक्षसः—ऐकान्तिकीमेव कार्यसिद्धिमवगन्तुमर्हति कुमारः। कुतः।

त्वय्युत्कृष्टबलेऽभियोक्तरि नृपे नन्दानुरक्ते पुरे
चाणक्ये चलिताधिकारविमुखे मौर्ये नवे राजनि।
स्वाधीने मयि—
(इत्यर्धोक्ते लज्जां नाटयन्।)
मार्गमात्रकथनव्यापारयोगोद्यमे
त्वद्वाञ्छान्तरितानि संप्रति विभो तिष्ठन्ति साध्यानि नः ॥१५॥

संस्कृत-व्याख्या

दिष्ट्या = सौभाग्येन । सचिवायत्ततन्त्रः = सचिवस्य–मन्त्रिणः आयत्तं-आधीनं तन्त्रं—राज्यं यस्य तादृशः । अभियोगकारणेषु = आक्रमणहेतुषु । अभियुञ्जानस्य = अनुसंधानस्य । अभियोक्तुः = अभिषेणयतः । ऐकान्तिकीं = अवश्यम्भाविनीम् ।

अन्वयः—त्वयीति – विभो, सम्प्रति उत्कृष्टवले त्वयी अभियोक्तरि नृपे, पुरे नन्दानुरक्ते, चाणक्ये चलिताधिकारविमुखे, मौर्ये नवे राजनि, स्वाधीने मयि मार्गमात्र-कथनव्यापारयोगोद्यमे मयि स्वाधीने नः साध्यानि त्वद्वाञ्छान्तरितानि तिष्ठन्ति ॥१५॥

व्याख्या – विभो – हे राजन्, सम्प्रति-अधुना उत्कृष्टबले – उत्तमसैन्ये त्वयि अभियोक्तरि--योद्धुमुद्यते नृपे-राजनि सति, पुरे–कुसुमपुरे नन्दानुरक्ते--नन्दस्नेहिनि सति, चाणक्ये चलिताधिकारविमुखे = चलितः–भ्रष्टः अधिकारः-राज्यचिन्ताभारः यस्य तथाविधे (अधिकारच्युते इत्यर्थः) अतएव विमुखे--पराङ्मुखे सति, मौर्ये-चन्द्रगुप्ते नवे–नूतने राजनि-नृपे सति, मयि–राक्षसे स्वाधीने-स्वतन्त्रे सति–(अत्र "मयि" इति आत्मनः स्वाधीनतत्वकथनद्वारा आत्मनो गर्वः स्यात् इत्याशंक्य लज्ज प्रदर्शिता) मार्गमात्रकथनव्यापारयोगोद्यमे = मार्गमात्रस्य–युद्धपथमात्रस्य कथनरूपव्यापारः एव योगः–उपायः तस्मिन् उद्यमः--यत्नः यस्य तादृशे स्वाधीने-तन्मात्राधीने (तव वशीभूते इत्यर्थः = सु + आधीने) मयि सति, नः–अस्माकं साध्यानि--कार्याणि त्वद्वाञ्छान्त-रितानि = तव या वाञ्छा-अभिलाषः तया अन्तरितानि-व्यवहितानि (त्वद्वाञ्छासापे-क्षाणीत्यर्थः) तिष्ठन्ति = वर्तन्ते (त्वदाज्ञां केवलं प्रतीक्षन्ते इत्यर्थः) ॥१५॥

हिन्दी रूपान्तर

मलयकेतु—(मन ही मन ।) सौभाग्य से (मैं) मन्त्री के आधीन राज्य वाला नहीं हूँ । (स्पष्टतः ।) यद्यपि ऐसा है, तथापि अनेक आक्रमण के कारणों के होने पर व्यसन को खोजते हुये शत्रु पर आक्रमण करने वाले की निश्चित कार्यसिद्धि होती है ।

राक्षस -- कुमार निश्चित ही कार्यसिद्धि को समझ सकते हैं । क्योंकि ।

श्लोक (१५) अर्थ—हे स्वामिन्, इस समय उत्कृष्ट सेना वाले तुम्हारे आक्रमणकारी राजा के होने पर, कुसुमपुर के नन्द के प्रति अनुरक्त होने पर, चाणक्य के अधिकार से च्युत होने के कारण निरपेक्ष होने पर, चन्द्रगुप्त मौर्य के नवीन राजा होने पर, मेरे स्वाधीन होने पर -- (इसप्रकार आधा कहने पर लज्जा का अभिनय करते हुये ।) केवल मार्ग निर्देशन के कार्य के उपाय में यत्नशील मेरे अच्छी प्रकार तुम्हारे आधीन (सु-आधीने) होने पर, हमारे साध्य (अर्थात् चन्द्रगुप्त को राज्य से हटाना और आपको बिठाना) आपकी इच्छामात्र से व्यवहित हैं अर्थात् आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे हैं । ॥१५ ।

टिप्पणी

(२) **दिष्ट्या न सचिवायत्ततन्त्रोऽस्मि**—मलयकेतु मन ही मन में सोचता है कि तुम्हारे विरोधी आचरण करते हुये होने पर भी, क्योंकि मैं सचिवायत्तसिद्धि नहीं हूँ, अतः मेरा कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा । मैं तो सम्पूर्ण राज्यकार्य का सञ्चालन अपने आप ही करता हूँ ।

(२) **ऐकान्तिकीम्**—एक अन्तः स्वरूपम् एकान्तः, तत्र भवा ऐकान्तिकी, ताम्।

(३) **मौर्ये नवे राजनि**—क्योंकि चन्द्रगुप्त नवीन राजा है, अतः प्रतिकार करने के उपायों से अनभिज्ञ है।

(४) **स्वाधीने**—दो प्रकार से सन्धिच्छेद हो सकता है (१) स्व + आधीने और (२) सु + आधीने। यहाँ दोनों प्रकार से ही किया गया है।

(५) **लज्जां नाटयन्**—राक्षस के "स्वाधीने मयि"=मेरे स्वतन्त्र होने पर इन शब्दों में सम्भवतः आत्मश्लाघा का भाव हो, अतः लज्जा प्रदर्शित की है। लज्जा का अभिनय करने के साथ ही राक्षस अगला वाक्य पूरा करता है, जिससे सारा ही आशय बदल जाता है।

(६) **मार्गमात्रकथनव्यापारयोगोद्यमे**—राक्षस निश्चित रूप से एक योद्धा है। "**स्वाधीने मयि**" कहकर वह यह कहना चाहता है कि भावी युद्ध में मैं यथाशक्ति लड़ूंगा। "**मार्गमात्र......इत्यादि**" से यह सूचित होता है कि राक्षस मलयकेतु को किस प्रकार की सहायता देना चाहता है। एक शूरवीर के रूप में नहीं अपितु एक विनम्र विश्वस्त मार्गदर्शक के रूप में। राक्षस अपने आप नेता है। आगे चलकर राक्षस अपने नेतृत्व की स्पष्ट घोषणा करता है—**प्रस्थातव्यं पुरस्तात् मामनु** इत्यादि।

(७) **त्वदिच्छान्तरितानि**—हमारे और उद्देश्य के सिद्ध होने के बीच में केवल तुम्हारी इच्छा विद्यमान है अर्थात् आप आज्ञा दीजिये और हम आक्रमण के लिये प्रस्थान करते हैं। अन्तरं सञ्जातमेषामिति अन्तर + इतच् = अन्तरितानि।

(८) **साध्यानि**—सिध + णिच् + यत् अथवा ण्यत् कर्मणि,। अथवा साध + ण्यत् कर्मणि, साध्य। चन्द्रगुप्त को राज्य से हटाना और मलयकेतु को राज्य पर बिठाना ही साध्यत्वेन वर्णित है।

(९) १५ वें श्लोक में राक्षस ने आक्रमण करने के दो कारणों पर प्रकाश डाला है (१) अपनी वृद्धि और (२) शत्रु का व्यसन। इनमें से (१) अपनी वृद्धि को सूचित करने वाले पद हैं—(क) **त्वय्युत्कृष्टबलेऽभियोक्तरि नृपे**—मलयकेतु की शक्ति। (ख) **स्वाधीने मयि**—मलयकेतु की मन्त्रिसम्पद् और (२) शत्रु के व्यसन को बतलाने वाले पद भिन्न है :—(क) **चाणक्ये चलिताधिकारविमुखे**—सचिवव्यसन। (ख) **मौर्ये नवे राजनि**-चन्द्रगुप्त की कमजोरी। इनसे भिन्न "**नन्दानुरक्ते पुरे**" यह दोनों कारणों में उभयनिष्ठ है अर्थात् मलयकेतु के पक्ष में है और शत्रु चन्द्रगुप्त के विपक्ष में है (अन्तःकोप)।

मलयकेतुः—यद्येवमभियोगकालमार्यः पश्यति ततः किमास्यते।

उत्तुङ्गास्तुङ्गकूलं स्रुतमदसलिलाः प्रस्यन्दिसलिलं
श्यामाः श्यामोपकण्ठद्रुममतिमुखराः कल्लोलमुखरम्।

स्रोतःखातावसीदत्तटमुरुदशनैरुत्सादिततटाः
शोणं सिन्दूरशोणा मम गजपतयः पास्यन्ति शतशः ॥१६॥

संस्कृत-व्याख्या

अभियोगकालम् = आक्रमणसमयम् ।

अन्वयः—उत्तुङ्गा इति—मम उत्तुङ्गाः स्रुतमदसलिलाः श्यामाः अतिमुखराः उरुदशनैः उत्सादिततटाः सिन्दूरशोणाः शतशः गजपतयः तुंगकूलं प्रस्यन्दिसलिलं श्यामोपकण्ठद्रुमं कल्लोलमुखरं स्रोतःखातावसीदत्तटं शोणं पास्यन्ति ॥१६॥

व्याख्या—मम उत्तुङ्गाः—महाप्रमाणाः स्रुतमदसलिलाः = स्रुतं-प्रवाहितं मदसलिलं—दानवारि येषां तादृशाः श्यामाः—नीलवर्णाः अतिमुखराः—(भ्रमरैः) अतिझङ्कारवन्तः उरुदशनैः—वृहद्दन्तैः उत्सादिततटाः = उत्सादितं—विध्वंसितं तटं-कूलं यैः तथाविधाः सिन्दूरशोणाः—सिन्दूरैः शोणाः—अरुणाः शतशः—अगणित—गणनाः गजपतयः—करीन्द्राः तुङ्गकूलम्—उन्नततटं प्रस्यन्दिसलिलं—प्रवहमाणजलं श्यामोपकण्ठद्रुमं = श्यामाः नीलाः उत्कण्ठे—प्रान्ते स्थिताः द्रुमाः—वृक्षाः यस्य तथाविधं कल्लोलमुखरं = कल्लोलैः—तरङ्गैः मुखरं—महाशब्दयुतं स्रोतः—खातावसीदत्तट = स्रोतसा—प्रवाहेण खातं—विशीर्णम् अतएव अवसीदत्-पतत् तट-कूलं यस्य तथाभूतं शोणं—शोणाख्यं नदं पास्यन्ति—पानेन शोषयिष्यन्ति ॥१६॥

हिन्दी रूपान्तर

मलयकेतु—यदि इस प्रकार (अनुकूल) आक्रमण का समय आर्य समझते हैं (पश्यति) तो क्यों शान्त बैठा जाता है।

श्लोक (१६) अर्थ—मेरे महान् प्रमाण वाले प्रवाहित मदजल वाले नीलवर्ण वाले (भ्रमरों के कारण) अत्यन्त शब्दायमान विशाल दाँतों से तट को उखाडने वाले सिन्दूर के कारण रक्तवर्ण वाले अनेकों (शतशः) हाथी उन्नत किनारे वाली प्रवहमान जल वाली किनारे पर स्थित नीलवर्ण के वृक्षों वाली तरगों की ध्वनियों से शब्दायमान जल प्रवाह से टूटे हुये अतएव गिरते हुये किनारे वाली शोणनामक नदी का पान करेंगे ॥१६॥

टिप्पणी

(१) इस श्लोक में दो प्रकार के विशेषण हैं। सम्पूर्ण प्रथमान्त शब्द मलयकेतु के हाथी के विशेषण हैं और सम्पूर्ण द्वितीयान्त पद शोणनद के विशेषण हैं।

(२) इस विषय में मलयकेतु यह कहना चाहता है कि मेरे पास हाथियों की इतनी विशाल सेना है कि वे सभी अपनी शक्ति के अनुसार नदी में घुसकर एक साथ इतना पानी पी लेंगे कि नदी सूख जावेगी। सारांश यह है कि हम इसप्रकार हाथियों का पुल बनाकर आसानी से पार हो जावेंगे।

(३) इस श्लोक का आशय यह है कि मलयकेतु उत्तर से दक्षिण की ओर जा रहा है। शोण नदी मार्ग में पडती है। वह कहता है कि कोई यह न समझ

कि शोण नदी मेरे हाथियों को रोक लेगी क्योंकि मेरे हाथी इसप्रकार के हैं। यहाँ नदी की और हाथियों की बड़ी सुन्दर तुलना पूरे श्लोक में की है। तुलना इस प्रकार है:-

(क) यदि नदी तुङ्गकूल है तो मेरे हाथी भी उत्तुङ्ग हैं। (ख) यदि नदी प्रवाहित सलिल वाली है तो मेरे हाथी भी मद सलिल प्रवाहित करने वाले हैं। (ग) यदि नदी के किनारों पर श्यामायमान वृक्षों की पक्ति है तो मेरे हाथी भी श्यामवर्ण वाले हैं। (घ) यदि बीचियों के कारण शब्दायमान है तो मेरे हाथी भी मदवारि पर मंडराने वाले भ्रमरों की पंक्ति के कारण शब्दायमान हैं। (ङ) यदि नदी का तट जल के प्रवाह से टूट कर गिरने वाला है तो मेरे हाथी अपने विशाल दाँतों से तट को गिराने वाले हैं। (च) यदि नदी का नाम शोण है तो मेरे हाथी भी सिन्दूर के कारण शोण हैं।

इतनी समानता के पश्चात् केवल एक वैषम्य है कि नदी एक है और मेरे हाथी अगणित हैं। अतः मेरे अगणित हाथी इस एक शोण नदी का पान अवश्य कर लेंगे।

अपि च।

गम्भीरगर्जितरवाः स्वमदाम्बुमिश्र-
मासारवर्षमिव शीकरमुद्गिरन्त्यः।
विन्ध्यं विकीर्णसलिला इव मेघमाला
रुन्धन्तु वारणघटा नगरं मदीयाः ॥१७॥

(इति भागुरायण सह निष्क्रान्तो मलयकेतुः ।)

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—गम्भीरेति—गम्भीरगर्जितरवाः स्वमदाम्बुमिश्रं शीकरम् आसारवर्षमिव उद्गिरन्त्यः मदीयाः वारणघटाः गम्भीरगर्जितरवाः विकीर्णसलिलाः मेघमालाः विन्ध्यम् इव नगरं रुन्धन्तु ॥१७॥

व्याख्या—गम्भीरगर्जितरवाः = गम्भीरः-मन्द्रः गर्जितरवः--बृंहितध्वनिः यासां ताः स्वमदाम्बुमिश्रं = स्वैः—स्वकीयैः मदाम्बुभिः = दानजलैः मिश्रं--युक्तं शीकरं—जलकणम् आसारवर्षमिव—धारासम्पातमिव उद्गिरन्त्यः—उद्वमन्त्यः मदीयाः—मामकीनाः वारणघटाः-गजराजयः गम्भीरगर्जितरवाः मन्द्रगर्जनध्वनयः विकीर्णसलिलाः—विकीर्णं–वृष्यमाणं सलिलं—जलं याभिः तादृश्यः मेघमालाः घनपङ्क्तयः विन्ध्यमिव—विन्ध्याचलमिव नगरं—कुसुमपुरं रुन्धन्तु—रोत्स्यन्ति ॥१७॥

हिन्दी रूपान्तर

और भी।

श्लोक (१७) अर्थ—गम्भीर और प्रवृद्ध ध्वनि वाले अपने मद जल से मिश्रित

जलकणों को धारासम्पात के समान वमन करते हुये मेरे हाथियों की पंक्ति गम्भीर गरजने की ध्वनि करने वाली (गम्भीरगर्जितरवाः) जल की वर्षा करने वाली मेघ-मालायें विन्ध्याचल के समान नगर (कुसुमपुर) को रोक लेगी ॥१७॥

(इस प्रकार भागुरायण के साथ **मलयकेतु** निकल गया ।

टिप्पणी

(१) इस श्लोक में शोण नदी का पान करने के उपरान्त पार हुये हाथियों का वर्णन है । यहाँ हाथियों और मेघों के सादृश्य के लिये दो शब्द आये हैं— (१) **गम्भीरगर्जितरवाः** और (२) **विकीर्णसलिलाः** । साथ ही हाथी मदाम्बुमिश्र शीकरोद्गार हैं और मेघ आसारवर्षोदगार हैं ।

(२) **शीकरमुद्गिरन्त्यः**—हाथियों का यह स्वभाव है कि वे पानी पीकर शीकर गिराते हैं । १६वें श्लोक के अनुसार उन्होंने शोण नदी का पान किया है, अतएव शीकर गिरा रहे हैं । शीकर कैसे हैं ? इसका विशेषण है ।"**स्वमदाम्बुमिश्रम्**" यह शीकर हाथियों के मद जल से मिश्रित क्यों है ? इसका कारण है कि वे १६ वें श्लोक के अनुसार "**स्रुतमदसलिलाः**" हैं ।

राक्षसः— कः कोऽत्र भोः ?

(प्रविश्य)

पुरुषः— आणवेदु अमच्चो । आज्ञापयतु अमात्यः ।

राक्षसः—प्रियंवदक, सांवत्सरिकाणां द्वारि कस्तिष्ठति ।

पुरुषः—खवणओ । क्षपणकः ।

राक्षसः—(आत्मगतम् । अनिमित्तं सूचयित्वा ।) कथं प्रथममेव क्षपणकः ।

पुरुषः—जीवसिद्धी । जीवसिद्धी ।

राक्षसः—(प्रकाशम्) । अबीभत्सदर्शनं कृत्वा प्रवेशय ।

पुरुषः—तह (इति निष्क्रान्तः ।) तथा ।

(प्रविश्य)

क्षपणकः—

सासणमलिहन्ताणं पडिवज्जह मोहवाहिवेज्जाणं ।
जे मुत्तमात्तकडुअं पच्छा पत्थं उवदिसन्ति ॥१८॥
शासनमर्हतां प्रतिपद्यध्वं मोहव्याधिवैद्यानाम् ।
ये मुहूर्तमात्रकटुकं पश्चात्पथ्यमुपदिशन्ति ॥१८॥

(उपसृत्य ।) धम्मसिद्धी होदु सावगाणम् । धर्मसिद्धिर्भवतु श्रावकानाम् ।

संस्कृत-व्याख्या

सांवत्सरिकाणाम् = ज्योतिर्विदाणाम् । अनिमित्तम् = **अशुभलक्षणम्** । अबीभत्सदर्शनम् अकुत्सितदर्शनम्, बीभत्सदर्शनं यथा न भवति तथा कृत्वा, सौम्यवेषं विधाय इत्यर्थः ।

अन्वय: —शासनमिति—मोहव्याधिवैद्यानम् अर्हतां शासनं प्रतिपद्यध्वम् ।
मुहूर्तमात्रकटुकं पश्चात् पथ्यम् उपदिशन्ति ।१८॥

व्याख्या—मोहव्याधिवैद्यानाम् = मोहः = अज्ञानं स एव व्याधिः—रोगः तस्य
वैद्याः—चिकित्सकाः तेषाम् अर्हतां—मान्यनां बौद्धसंन्यासिनां शासनम्—उपदेशं
प्रतिपद्यध्वम्—प्रतिपालयत । ये—अर्हन्तः मुहूर्तमात्रकटुकं = मुहूर्तमात्र—क्षणमात्र
(ग्रहणकाले एव) कटुकं-तिक्तं, विरसमित्यर्थः (किन्तु) पश्चात् —परिणामे पथ्यं-
हितम् उपदिशन्ति-शिक्षयन्ति ।।१८।।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—अरे कौन, यहाँ कौन है ?

(प्रवेश करके)

पुरुष—अमात्य, आज्ञा दीजिये ।

राक्षस—प्रियंवदक, ज्योतिषियों में दरवाजे पर कौन है ?

पुरुष—क्षपणक ।

राक्षस—(मन ही मन । अपशकुन को सूचित करके ।) क्या (विजययात्रा के लिये प्रस्थान करने से) पहले ही क्षपणक ।

पुरुष—जीवसिद्धि ।

राक्षस—(स्पष्टतः ।) बीभत्सदर्शन से रहित करके प्रविष्ट कराओ ।

पुरुष—बहुत अच्छा । (ऐसा कहकर निकल गया ।)

(प्रवेश करके ।)

श्लोक (१८) अर्थ—अज्ञान रूपी रोगों के वैद्य पूज्य **बौद्ध** संन्यासियों के (अर्हताम्) उपदेश को स्वीकार करो । जो (बौद्ध संन्यासी) क्षण भर के लिये क (किन्तु) बाद में हितकारी उपदेश करते हैं।।।१८।।

(पास जाकर ।) सुनने वालों की (श्रावकानाम्) धर्मसिद्धि हो ।

टिप्पणी

(१) **क्षपणकः**—यह भी चाणक्य का गुप्तचर है । वाक्य अपूर्ण है । कहना चाहता है—"**क्षपणको जीवसिद्धिः**" । राक्षस मन ही मन सोचकर वाक्य को खण्डित कर देता है । इसी के लिये प्रथम अङ्क में "**राजापथ्यकारी क्षपणकः**" आया है ।

(२) **अनिमित्तं सूचयित्वा**—क्षपणक का दर्शन अशुभ माना गया है ।

(३) **प्रथममेव**—यहाँ इसका तात्पर्य प्रातःकाल से नहीं है, अपितु विजययात्रा के प्रस्थान करने के समय "सबसे पहले" से है ।

(४) **जीवसिद्धिः**—पहले तो "क्षपणक" समझकर अपशकुन होने का संकेत हुआ है, परन्तु बाद में "जीवसिद्धि" समझकर विजययात्रा के लिये चलने के मुहूर्त का पता लगाने के कारण अन्दर आने की अनुमति दे दी है । तथा पहले तो "क्षपणक" सुनने के द्वारा राक्षस की प्रकृति राजनीति के अन्दर उत्पन्न होने वाले विघ्न को सूचित किया है तथा बाद में 'जीवसिद्धि' इस नाम को सुनकर मलयकेतु

राक्षस का वध करने के लिये उद्यत होने पर भागुरायण की नीति के द्वारा इसके प्राणों की रक्षा = जीवसिद्धि-सूचित की है।

(५) अबीभत्सदर्शनम्—वीभत्सदर्शन से रहित करके। क्योंकि ये प्रायः नग्न रहा करते थे। नग्न रहने के कारण ही इनका दर्शन अशुभ माना गया है।

(६) अर्हताम्—अर्ह् + शतृ कर्तरि अर्हन् 'अर्हः प्रशंसायाम्' पा० ३/२/१३३ इति शतृ प्रत्ययः, तेषाम्।

(७) मुहूर्तमात्रकटुकम्—बौद्धों का यह मत है कि बालों को कटवा देना, तप्त शिला पर सोना इत्यादि कठोर तप के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस कारण से 'कटुक' होता है, ऐसा कहा है। मुहूर्तं मात्रा अस्य मुहूर्तमात्रम्। मुहूर्तमात्रं कटुकम्।

(८) १८ वें श्लोक से यह प्रतीत होता है कि जीवसिद्धि का कहना यद्यपि प्रारम्भ में विरस है तथापि परिणाम में राक्षस के लिये हितकर है। साथ ही इस बात की भी छाप पड़ती है कि जो कथानक अब सामने आ रहा है वह बहुत ही असुखकर है परन्तु अन्त में सुखकारी होगा।

(९) श्रावकानाम्—शृण्वन्ति इति श्रु + ण्वुल् कर्तरि = श्रावकाः, तेषाम् = धैर्यपूर्वक सुनने वालों का। गौरव के लिये बहुवचन है।

राक्षसः—भदन्त, निरूप्यतां तावदस्मत्प्रस्थानदिवसः।

क्षपणकः—(नाट्येन चिन्तयित्वा।) सावगा, णिरूविदा मए आमज्झण्णादो णिवुत्तसव्वकल्लाणा तिही सम्पुण्णचन्दा पुण्णमासी। तुम्हाण उत्तराए दिसाए दक्खिणं दिसं पत्थिदाणं अदक्खिणं णक्खत्तं। अवि अ। श्रावक, निरूपिता मयाऽऽमध्याह्नान्निवृत्तसर्वकल्याणा तिथिः सम्पूर्णचन्द्रा पौर्णमासी। युष्माकमुत्तरस्या दिशो दक्षिणां दिशं प्रस्थितानां अदक्षिण नक्षत्रम्। अपि च।

> अत्थाहिमुहे सूरे उदिए संपुण्णमण्डले चन्दे।
> गमणं बुधस्स लग्गे उदिदत्थमिदे अ केदुम्मि ॥१९॥
>
> अस्ताभिमुखे सूर्ये उदिते सम्पूर्णमण्डले चन्द्रे।
> गमनं बुधस्य लग्ने उदितास्तमिते च केतौ ॥१९॥

संस्कृत-व्याख्या

भदन्त— बौद्धसंन्यासिनां सम्बोधनम्, मान्य इत्यर्थः। आमध्याह्नात् = मध्याह्नपर्यन्तम्। निवृत्तसर्वकल्याणा = निवृत्तं-व्यतीतं सर्वकल्याणमस्याः सा।

अन्वय.—**अस्ताभिमुख इति** – सूर्ये अस्ताभिमुखे सम्पूर्णमण्डले चन्द्रे उदिते, केतौ च उदितास्तमिते बुधस्य लग्ने गमनम् ॥१९॥

व्याख्या—प्रथमोऽर्थः—सूर्ये-आदित्ये अस्ताभिमुखे—अस्ताचलं गच्छति सम्पूर्णमण्डले = सम्पूर्णं-समग्रं मण्डलं-बिम्बं यस्य तथाविधे चन्द्रे-चन्द्रमसि उदिते—

आविर्भूते, केतौ--केतुग्रहे च उदितास्तमिते-दृष्टनष्टे, आदिर्भूयैव तिरोभूते सति बुधस्य लग्ने-राशौ गमनं-यात्रा (प्रशस्ता)।

द्वितीयोऽर्थ—शूरे-वीरे राक्षसे अर्थाभिमुखे-मौर्यसाचिव्योन्मुखे सम्पूर्णमण्डले-सम्पूर्णाकृतिमण्डले चन्द्रे--चन्द्रगुप्ते उदिते-उत्थिते सति केतौ--मलयकेतौ च उदितास्तमिते-उत्थाय एव पतिते बुधस्य--चाणक्यस्य लग्ने-सम्बन्धे गमनम् ॥१६॥

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—भदन्त, हमारे (विजययात्रा के) प्रस्थान के दिन को बताओ।

क्षपणक—(अभिनय के साथ सोचकर।) श्रावक, मध्याह्न तक सम्पूर्ण चन्द्रमा वाली पौर्णमासी का दिन (तिथिः) समाप्त हो गये हैं सम्पूर्ण कल्याण जिसमें से ऐसा (अर्थात् अशुभ) मैंने देखा है। और (अ = च) उत्तर दिशा से दक्षिण दिशा में जाने वाले तुम्हारे लिये नक्षत्र (पूर्व दिशा में विद्यमान मृगशिरा नक्षत्र) दक्षिण दिशा में है (दक्षिणम्) अर्थात् अनुकूल है **अन्यत्र** भद्रभटादि (क्षत्रम्) अनुकूल नहीं है (न दक्षिणम्), अपितु मलयकेतु को पकड़ना चाहते हुये प्रतिकूल हैं। और भी।

श्लोक (१६)—प्रथम अर्थ—सूर्य के अस्ताभिमुख होने पर सम्पूर्ण मण्डल वाले चन्द्रमा के उदित होने पर और केतु के उदय होकर अस्त हो जाने पर बुध के लग्न में यात्रा (गमनम्) करनी चाहिये।

द्वितीय अर्थ—शूर राक्षस के (सूर्ये = शूरे) अर्थ (चन्द्रगुप्त के मन्त्रीपदरूपी अर्थ) के अभिमुख होने पर सम्पूर्ण राष्ट्र वाले चन्द्रगुप्त के (चन्द्रे) अभ्युदययुक्त होने पर और मलयकेतु (केतौ) के उदय होने के साथ ही पराजित हो जाने पर (उदितास्तमिते) चाणक्य का (बुधस्य) सम्बन्ध होने पर जाना चाहिये ॥१६॥

टिप्पणी

(१) **भदन्त**—भानि-नक्षत्राणि दन्ताः अस्य भदन्तः—ज्योतिषी। अर्थात् ज्योतिषी अपने वास्तविक दाँतों से नहीं काटता है अपितु नक्षत्र रूपी दाँतों से काटता है। बौद्ध संन्यासी के लिये सम्बोधन है। भन्द कल्याणे + भज् कर्तरि औणादिक।

(२) **निरूप्यताम्**—कार्तिकी पूर्णिमा के अवसर पर चाणक्य ने कौमुदीमहोत्सव को रोकने का कारण स्पष्ट करते हुये कहा है कि यह तैयारी करने का समय है, उत्सव मनाने का नहीं। इसप्रकार आश्विन और कार्तिक इन दो महीनों में चाणक्य और राक्षस दोनों ने एक-दूसरे के ऊपर 'भेद' उपाय का प्रयोग किया है। इसके पश्चात् मार्गशीर्ष में कुसुमपुर पर अभियान करने के लिये राक्षस ने जीवसिद्धि से प्रस्थान का मुहूर्त पूछा है।

(३) **निरूपिता मया**—राक्षस के प्रस्थान का मुहूर्त पूछने पर जीवसिद्धि उत्तर देता है कि मुहूर्त इसप्रकार है—(१) मध्याह्न तक सम्पूर्ण चन्द्रमा वाली पौर्णमासी का दिन है किन्तु यह '**निवृत्तसर्वकल्याणा**' है अर्थात् कल्याणों से शून्य है। अतः इसमें यात्रा करना निषिद्ध है। यह पूर्णमासी '**पञ्चचत्वारिंशन्नाडिका**' अर्थात् ४५ नाडिका वाली है। पूर्णिमा का आधा दिन '**करण**' कहलाता है। सम्पूर्ण दिन को

११ भागों में विभक्त करते हैं। इनमें से प्रथम सात 'चर' कहलाते हैं किन्तु सातवाँ 'करण' कहलाता है। इसीको **विष्टिभद्रा'** कहते हैं। यह पूर्णिमा पिछली मध्यरात्रि से प्रारम्भ होकर दिन के मध्याह्न तक है। **'न गच्छेत् विष्टिभद्रायाम्'** इति निषेधात् यह तिथि की चर्चा की है। (२) पूर्व दिशा में विद्यमान मृगशिरा नाम का नक्षत्र दक्षिण दिशा की ओर जाने वाले आपके लिये अनुकूल है=दक्षिणम् नक्षत्रम् की चर्चा की है। (३) **निवृत्तसर्वकल्याणा**—का आशय यह है कि मध्याह्न में तो यात्रा करनी ही नहीं चाहिये क्योंकि पूर्णमासी का दिन मध्याह्न तक अशुभ है। किन्तु मध्याह्न के पश्चात् यात्रा करने पर सभी प्रकार के कल्याणों की प्राप्ति होगी। (४) और विजययात्रा करने के लिये सबसे श्रेष्ठ मुहूर्त १९ वें श्लोक में बताया है अर्थात् (१) सूर्य के अस्ताचल को जाते हुये होने पर (प्रस्थान समय बताया है), (२) पूर्णिमा के चन्द्रमा के उदित होने पर—(लग्न की शक्ति वर्णित है), (३) केतु के उदय होकर अस्त हो जाने पर बुध के लक्षण में जाना चाहिये।

(४) **आमध्याह्नात्**—भाव यह है कि मध्याह्न तक तो पूर्णमासी का दिन अशुभ है किन्तु मध्याह्न के पश्चात् सायंकाल की ओर बढ़ने वाला दिन शुभ है क्योंकि उस समय सूर्य छिप रहा होगा और चन्द्रमा उदित हो रहा होगा।

(५) **क्षत्रम् न दक्षिणम्**—(दक्षिणं नक्षत्रम्) क्षत्रम्—भद्रभटादि दक्षिणं-अनुकूल न-नहीं है।

(६) **बुधस्य लग्ने गमनम्**—यह ठीक है कि सूर्य के मिथुन राशिस्थ होने पर और केतु के साथ युक्त होने पर यात्रा का निषेध है तथापि यह मिथुन राशि क्योंकि सौम्य ग्रह बुध से अधिष्ठित है, अतः सुन्दर लग्न है। इसलिये इस समय विजययात्रा के लिये प्रस्थान किया जा सकता है। अस्त होता हुआ सूर्य जब मिथुन राशि पर होता है तो उसका अधिपति बुध होता है। अतः बुध लग्न कहलाती है। और फिर इतना ही नहीं है कि बुध की लग्न है, अपितु उस समय पूर्णिमा की चन्द्रमा भी मिथुन में होगा और पश्चिम की ओर होगा। इसलिये जो दक्षिण की ओर यात्रा कर रहे हैं, उसके लिये चन्द्रमा दक्षिण हाथ की ओर होगा—इसप्रकार का चन्द्रमा अनुकूल होता है। केतु इस समय तक उदित होकर अस्त हो चुका होगा—इसप्रकार जीवसिद्धि ने अपना निर्णय दे दिया कि प्रस्थान किया जा सकता है।

(७) **उदितास्तमिते च केतौ**—राहु और केतु का शरीर सर्प की आकृति का है और एक है। शिर को राहु कहते हैं और पूंछ को केतु। शिर के उदित होने पर पूंछ अस्त हो जाती है और पूंछ के उदित होने पर शिर अस्त हो जाता है—ऐसा ज्योतिषशास्त्र का सिद्धान्त है। राहु और केतु दोनों का एक ही शरीर होने के कारण राहु और केतु कहा जाता है। इसीलिये **'उदितास्तमिते च केतौ'** यह कहा है। कहने का आशय यह है कि सूर्य क्रूर ग्रह है, जो छिपने जा रहा है। मार्गशीर्ष का महीना है। इसमें सूर्य धनुष पर है और छिपने के समय मिथुन राशि पर है। केतु सर्वात्मना

अस्त नहीं हुआ है, अतः केतु से युक्त है। इसप्रकार ऐसे अवसर पर यात्रा के लिये प्रस्थान करना अनिष्टकारी है। कहा भी है—

द्विमूर्तिराशावुदये प्रपन्ने क्रूरग्रहैर्युक्तनिरीक्षिते च।
प्रयाति यद्यप्यबुधस्तदा ना निवर्तते शत्रुजनाभिभूतः ॥ इति ॥

इसप्रकार सन्दिग्ध मुहूर्त को बताकर समाधान करता है—"बुधस्य लग्ने गमनम्" विशिष्ट लग्न का प्रतिपादन किया है।

(८) १९ वाँ श्लोक उन परिस्थितियों का वर्णन करता है जिनमें सायंकाल अभियान के लिये प्रस्थान करने पर हितकारी होगा। इसका सारांश यह है कि धनुष राशि का संयोग होना, मार्गशीर्ष का मास, गोधूलि का समय, अचिर स्थित केतु की शुभ की सूचना देना मिथुन-लग्न के गुणों में वृद्धि करते हैं। चन्द्रमा मिथुन लग्न में उदित हो रहा है, अतः पश्चिम की ओर है। इस समय जो व्यक्ति उत्तर से दक्षिण की ओर यात्रा कर रहा है, उसके लिये पश्चिम स्थित चन्द्रमा उसके सीधे हाथ की ओर होगा। यह सुख को देने वाला माना जाता है।

(९) १९ वें श्लोक में विद्यमान श्लेष से जीवसिद्धि ने इसप्रकार की सूचना दी है कि—

(क) शूरवीर राक्षस मौर्य के मन्त्रित्व के प्रति अभिमुख है। (ख) चन्द्रगुप्त सम्पूर्ण राष्ट्र के साथ वृद्धि पर है और (ग) मलयकेतु यद्यपि इस समय चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने की स्थिति में है तथापि शीघ्र ही परास्त हो जावेगा।

यह वह समय है जब कि चन्द्रगुप्त अपने पूर्ण यश के साथ चमक रहा है (सम्पूर्ण चन्द्र) और जिस समय तुम चन्द्रगुप्त के विरुद्ध आक्रमण करने के लिये बढ़ रहे होंगे, उस समय भद्रभटादि क्षत्रिय तुम्हारे अनुकूल नहीं होंगे (दक्षिणं न क्षत्रम्)।

(१०) आजकल भी ऐसा माना जाता है कि पूर्णिमा का दिन यात्रा के लिये अशुभ होता है।

राक्षसः—भदन्त, तिथिरेव न शुध्यति।

क्षपणकः—सावगा। श्रावक।

एक्कगुणा तिथी चउग्गुणे णक्खत्ते।
चउसट्ठिगुणे लग्गे एसे जोइसतन्तसिद्धन्ते ॥
ता। लग्गे होइ सुलग्गे सोमम्मि गहम्मि जइ वि दुल्लग्गे।
वहेसि दीहं सिद्धिं चन्दस्स वलेण गच्छन्ते ॥२०॥

एकगुणा तिथिश्चतुर्गुणं नक्षत्रम्।
चतुःषष्टिगुणं लग्नमेष ज्योतिषतन्त्वसिद्धान्तः ॥
तस्मात्। लग्नं भवति सुलग्नं सौम्ये ग्रहे यद्यपि दुर्लग्नम्।
वहसि दीर्घां सिद्धिं चन्द्रस्य बलेन गच्छन् ॥२०॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—एकगुणेति—एष ज्योतिषतन्त्रसिद्धान्तः तिथिः एकगुणा, चतुर्गुणं नक्षत्रम्, चतुःषष्टिगुणं लग्नम् ।

व्याख्या—एषः ज्योतिषतन्त्रसिद्धान्तः–ज्योतिषशास्त्रमीमांसा (यत्) तिथिः—पूर्णिमातिथिः एकगुणा–एको गुणा यस्याः सा (शुभाशुभयोरस्या अल्पशक्तित्वात्); (तिथ्यपेक्षया) चतुर्गुणं नक्षत्रम् (अस्य चतुर्गुणफलप्रदत्वात्), चतुःषष्टिगुणं च लग्नं भवति ।

अन्वयः—लग्नमिति—लग्नं यद्यपि दुर्लग्नम्, सौम्ये ग्रहे सुलग्नं भवति । चन्द्रस्य बलेन् गच्छन् दीर्घां सिद्धिं वहसि ॥२०॥

व्याख्या—लग्नं यद्यपि दुर्लग्नम् (तथापि) सौम्ये ग्रहे-बुधेन सौम्यग्रहेणाधिष्ठिते सुलग्नं भवति । (तदा) चन्द्रस्य-इन्दोः बलेन गच्छन् (अन्यत्र) चन्द्रगुप्तस्य बलेन–सैन्येन भद्रभटादिना गच्छन् दीर्घां–चिरकालभाविनी (अन्यत्र) चिरमनपायिनीम् सिद्धिम्—सफलताम् (अन्यत्र) चन्द्रगुप्तस्य साचिव्यपदसिद्धिं वहसि-वक्ष्यसि ॥२०॥

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—भदन्त, (पूर्णिमा का) दिन ही शुद्ध अर्थात् शुभ नहीं है । (फिर अभियान कैसे हो सकता है ?)

क्षपणक—श्रावक,

श्लोक (२०) अर्थ—यह ज्योतिषशास्त्र का सिद्धान्त है कि (पूर्णिमा का) दिन एक गुणा (होता है), (और तिथि से) चार गुणा नक्षत्र (शक्तिशाली) होता है, (और तिथि से) ६४ गुणी लग्न होती है ।

इसलिये

लग्न यद्यपि अशुभ लग्न होती है (तथापि) सौम्य ग्रह (बुध) से अधिष्ठित होने पर शुभ लग्न हो जाती है । (उस समय) चन्द्रमा की शक्ति से जाता हुआ चिरकाल तक रहने वाली (दीर्घाम्) सफलता अर्थात् विजयश्री को प्राप्त करोगे ॥२०॥

*गूढ़ार्थ—२० वें श्लोक में क्षपणक द्वारा प्रतिपादित गूढ आशय इसप्रकार है—चन्द्रस्य-चन्द्रगुप्तस्य बलेन-भद्रभटादिना गच्छन् त्वं दीर्घां–चिरमनपायिनीं सिद्धि–चन्द्रगुप्तस्य साचिव्यपदसिद्धिं वहसि । अर्थात् चन्द्रगुप्तपक्षीय भद्रभटादिकों के साथ जाते हुये तुम चिरस्थायिनी चन्द्रगुप्त की मन्त्रीपद की सिद्धि को प्राप्त करोगे ।

टिप्पणी

(१) **तिथिरेव न शुध्यति**—राक्षस अपना सन्देह प्रकट कर रहा है कि तुम कह रहे हो कि विजययात्रा के लिये प्रस्थान कर देना चाहिये किन्तु यह तो पूर्णिमा का दिन ही अपने आप में ठीक नहीं है तो फिर नक्षत्र और लग्न के विषय में विचार करने से क्या लाभ ? इस अवस्था में अभियान कैसे हो सकता है ? क्योंकि "**चतुर्दश्यां पञ्चदश्यां गमनं नैव कारयेत्** ।" राक्षस सर्वात्मना दिन को ही पसन्द नहीं करता है, इसलिये वह जीवसिद्धि के इस निर्णय को स्वीकार नहीं करता है।

(२) **चतुर्गुणं नक्षत्रम्**—तिथि की अपेक्षा नक्षत्र की शक्ति चौगुनी होती है ।

और मैंने तुमको यही दिखाया है कि नक्षत्र तुम्हारे अनुकूल है—"**युष्माकमुत्तरस्या दिशो दक्षिणां दिशं प्रस्थितानां च (अ) दक्षिणं नक्षत्रम्**"।

(३) **लग्नं भवति सुलग्नम्**—यद्यपि लग्न अशुभ है तथापि बुध से अधिष्ठित होने पर शुभ हो जाती है और चन्द्रमा की शक्ति से जाते हुये तुम पूर्ण सफलता को प्राप्त करोगे।

(४) २० वें श्लोक के द्वारा क्षपणक राक्षस के इस सन्देह को दूर करना चाहता है कि पूर्णिमा का बुरा प्रभाव नक्षत्र और लग्न की अपेक्षा अधिक होता है। किन्तु साथ ही यह भी कहना चाहता है कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य के साथ मिलकर तुमको सुख मिलेगा, प्रसन्नता मिलेगी।

राक्षसः—भदन्त, अपरैः सांवत्सरिकैः सह संवाद्यताम्।

क्षपणकः—संवादेदु सावगो। अहं उण गमिस्सं। सवादयतु श्रावकः। अहं पुनर्गमिष्यामि।

राक्षसः—न खलु कुपितो भदन्तः।

क्षपणकः—कुविदे ण तुम्हाणं भदन्ते। कुपितो न युष्माकं भदन्तः।

राक्षसः—कस्तर्हि।

क्षपणकः—भअवं कअन्तो। जेण अत्तणो पक्खं उज्झिअ परपक्खे पमाणीकरीअदि। भगवान् कृतान्तः। येनात्मनः पक्षमुज्झित्वा परपक्षः प्रमाणीक्रियते।

(इति निष्क्रान्तः क्षपणकः।)

राक्षसः—प्रियंवदक, ज्ञायतां का वेला वर्तत इति।

प्रियंवदकः—अत्थाहिलासी भअवं सूरो। अस्ताभिलाषी भगवान्सूर्यः।

राक्षसः—(उत्थाय, विलोक्य।) अये, अस्ताभिलाषी भगवान्भास्करः। संप्रति हि।

आविर्भूतानुरागाः क्षणमुदयगिरेरुज्जिहानस्य भानोः
पर्णच्छायैः पुरस्तादुपवनतरवो दूरमाश्वेव गत्वा।
एते तस्मिन्निवृत्ताः पुनरपरगिरिप्रान्तपर्यस्तबिम्बे
प्रायो भृत्यास्त्यजन्ति प्रचलितविभवं स्वामिनं सेवमानाः॥२१॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

[इति प्रलोभनं नाम चतुर्थोऽङ्कः।]

संस्कृत-व्याख्या

सांवत्सरिकः=ज्योतिषशास्त्रविद्भिः। संवाद्यताम्=परामृश्यताम्। कृतान्तः=सिद्धान्तः, कालः। येन त्वया आत्मनः-स्वस्य पक्षं-ज्योतिःसिद्धान्तवेदिनं मां उज्झित्वा—परित्यज्य परपक्षः-अन्यः सांवत्सरिकः प्रमाणीक्रियते—प्रमाणत्वेन आश्रीयते। (अन्यत्र) येन-त्वया आत्मनः पक्षं—नन्दवंशीयं चन्द्रम् उज्झित्वा-उपेक्ष्य परपक्षः-मलयकेतुः प्रमाणीक्रियते।

अस्ताभिलाषी=अस्ताचलगमनोत्सुकः ।

अन्वयः--**आविर्भूतानुरागा इति**—क्षणम् आविर्भूतानुरागाः एते उपवनतरवः उदयगिरेः उज्जिहानस्य भानोः पुरस्तात् पर्णच्छायैः आशु एव दूरं गत्वा पुनः अपरगिरिप्रान्तपर्यस्तबिम्बे तस्मिन् निवृत्ताः, प्रायः सेवमानाः भृत्या प्रचलितविभवं स्वामिनं त्यजन्ति ।।२१।।

व्याख्या—क्षणं -मुहूर्तमात्रम् आविर्भूतानुरागाः=आविर्भूतः–प्रकटः अनुरागः-अनुरक्तिः येषां ते एते—इमे (आसन्नाः) उपवनतरवः–आरामवृक्षाः उदयगिरेः–उदयाचलात् उज्जिहानस्य–उदयमानस्य भानोः--सूर्यस्य पुरस्तात्–पुरोभोगे, पुरोगामिसेवकवदित्यर्थः पर्णच्छायैः आशु—शीघ्रम् एव दूरं गत्वा पुनः–पश्चात् (अपराह्णे) अपरगिरिप्रान्तपर्यस्तबिम्बे=अपरगिरेः- अस्ताचलस्य प्रान्ते–सीमनि पर्यस्तं–अवलम्बितं बिम्बं-मण्डलं यस्य तादृशे तस्मिन्–भानौ सति निवृत्ताः-परावृत्ताः, प्रायः सेवमानाः—उपचरन्तः भृत्याः–कर्मकराः प्रचलितविभवं–सम्पद्विहीनं स्वामिनं–प्रभुं त्यजन्ति—जहाति ।।२०।।

[इति मुद्राराक्षसे प्रलोभनं नाम चतुर्थोऽङ्कः ।]

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—भदन्त, दूसरे ज्योतिषियों के साथ विचार कर लीजिये ।

क्षपणक—श्रावक, विचार कर लीजिये । मैं फिर चला जाऊंगा ।

राक्षस—भदन्त क्रोधित तो नहीं है ?

क्षपणक—तुम्हारा भदन्त क्रोधित नहीं हुआ है ।

राक्षस—तो (फिर) कौन ?

क्षपणक—भगवान् ज्योतिषसिद्धान्त अथवा काल । (क्योंकि) जिस (तुम) ने (ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्त को जानने वाले) अपने पक्ष को (अर्थात् मुझे) छोड़कर दूसरे पक्ष को (अर्थात् दूसरे ज्योतिषियों को) प्रमाणित किया है । (इसका गूढ़ आशय यह है कि जो तुम अपने नन्दवंशीय पक्ष वाले चन्द्रगुप्त को छोड़कर दूसरे पक्ष के मलयकेतु को अपना समझ रहे हो, अतः तुम्हारा काल क्रोधित हो गया है ।)

(ऐसा कहकर क्षपणक निकल गया ।)

राक्षस—प्रियंवदक, पता करो क्या समय है ?

प्रियंवदक—भगवान् सूर्य अस्त होने की इच्छा वाले हैं ।

राक्षस—(उठकर देखकर ।) अरे, भगवान् सूर्य अस्त होने की इच्छा वाले हैं ।

इस समय

श्लोक (२१) अर्थ—क्षणभर के लिये उत्पन्न अनुराग वाले ये (समीपस्थ) आश्रम के वृक्ष (प्रातःकाल) उदयाचल से उदय होते हुये सूर्य के सन्मुख (अपने) पल्लवों की छाया से शीघ्र ही दूर जाकर, पुनः (अपराह्ण में) अस्ताचल के प्रान्तभाग पर

विलम्बित मण्डल वाले उस (सूर्य) के होने पर लौट आये, प्रायः सेवा करते हुये भृत्य क्षीण ऐश्वर्य वाले स्वामी को छोड़ देते हैं ॥२१॥

(इसप्रकार सभी निकल जाते हैं।)

टिप्पणी

(१) **सांवत्सरिकैः सह संवाद्यताम्**—सम्भवतः एकाकी आपके द्वारा शोधित इस मुहूर्त में कोई त्रुटि रह गई हो।

(२) **संवाद्यताम्**—सम + वद् + णिच् + लोट् ताम् भावे। विचार विनिमय कर लेना।

(३) **संवादयतु श्रावकः**—वह यह दिखाता है कि क्षपणक राक्षस के इस अविश्वास पर क्रोधित हो गया है।

(४) **येनात्मनः पक्षम्**—तुम मुझे छोड़कर दूसरे व्यक्ति पर विश्वास करने जा रहे हो। वे तुमको मिथ्या मार्ग दर्शन करेंगे और इससे तुम्हारा विनाश हो जावेगा।

(५) **अस्ताभिलाषी भगवान् सूर्यः**—इससे दो ध्वनियाँ निकलती है—(१) शूरः—मलयकेतुरस्तोन्मुखः—अर्थात् शूरवीर मलयकेतु परास्त होने वाला है और (२) शूरः—राक्षसः अर्थाभिलाषी—चन्द्रगुप्त के साचिव्यपद को चाहने वाला है।

(६) **अस्ताभिलाषी**—अस्ते-अस्ताचले अभिलाषः अस्ति अस्य अर्थात् समय अपराह्ण का है। राक्षस देर से सोकर उठा था और तभी उससे मिलने वाले आ गये और दिन बढ़ गया।

(७) **आविर्भूतानुरागाः**—उद्यान के वृक्षों पर फैली हुई प्रातःकालीन सन्ध्या की लालिमा मानों अनुराग उत्पन्न हो गया है—इस रूप में वर्णित की गई है।

(८) **उज्जिहानस्य**—उद् + हा (गतौ) + शानच् कर्तरि।

(९) २१वें श्लोक के अन्दर उदय होते हुये और अस्त होते हुये सूर्य की तुलना इस अधिकारी से की गई है, जिसके आने पर सारा अनुचरवर्ग स्वागत करता है और जाने पर विदाई देता है। किसी भी अधिकारी के आने पर उसका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये आगे रहते हैं और उसके जाने पर सम्पूर्ण अनुचरवर्ग पीछे रहता है। पूर्वाह्ण में वृक्षों की छाया पश्चिम की ओर फैलती है—अतः सूर्य के आगे चलने वाले अनुचरों के रूप में उनकी उत्प्रेक्षा की गई है और अपराह्ण में सूर्य के अस्त होने पर उसको छोड़कर लौटे हुये के समान दिखाई देते हैं।

(१०) सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर जाता है और छाया पश्चिम से पूर्व की ओर।

(११) इस श्लोक के द्वारा मलयकेतु के पतन को सूचित किया है।

(१२) २१वें श्लोक में कल्पना इसप्रकार की है—उद्यान के वृक्षों की छाया प्रातःकाल पश्चिम की ओर पड़ती है, जहाँ कि सूर्य जा रहा है, अतः यह कल्पना की

गई है कि वे सूर्य के स्वामीभक्त अनुचर हैं। सायंकाल सूर्य पश्चिम को जा रहा होता है, जब वृक्षों की छाया पूर्व की ओर पड़ रही होती है, अतः यह कल्पना की गई है कि वे वृक्ष सूर्य को विपत्ति में छोड़कर अलग हो रहे हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वामी के अभ्युदय में सेवकों की उसके प्रति भक्ति एवं प्रीति होती है, परन्तु अवनति में विरक्ति।

(१३) राक्षस से मिलने वालों का क्रम इसप्रकार है—(१) **करभक—प्रातः-**काल आया है। राक्षस ने अपना शयनागार नहीं छोड़ा। (२) **कुमार मलयकेतु।** (३) **क्षपणक जीवसिद्धि।**

[प्रलोभन नामक चतुर्थ अङ्क समाप्त।]

साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत्सपक्षे स्थितिं
व्यावृत्तञ्च विपक्षतो भवति यत्तत्साधनं सिद्धये।
यत् साध्यं स्वयमेव तुल्यमुभयोः पक्षे विरुद्धञ्च यत्
तस्याङ्गीकरणेन वादिन इव स्यात् स्वामिनो निग्रहः ॥५.१०॥

जो सेना शत्रुओं को विजय करने आदि साध्य में निश्चित है, कुलक्रमागत मूल पुरुष परम्परा से आई हुई है, अपने राजा के पक्ष में स्थिति को धारण करती हुई है, शत्रु से पृथक् होती है, वह सेना कार्यसिद्धि में समर्थ होती है। जो सेना स्वयमेव साध्य है, अपने पक्ष और शत्रु पक्ष में समान है, और अपने पक्ष में विरुद्ध है, उस सेना के स्वीकार करने से स्वामी का वादी के समान पराभव होता है ॥५.१०॥

पञ्चम अङ्क के पात्र

१—सिद्धार्थक—	प्रथम अङ्क में आ चुका है।
२—क्षपणक— / ३—भागुरायण—	चतुर्थ अङ्क में आ चुके हैं।
४—पुरुष—	भासुरक, मलयकेतु का अधिकारी है।
५—मलयकेतु—	चतुर्थ अङ्क में आ चुका है।
६—प्रतीहारी = विजया—	मलयकेतु की द्वाररक्षिका।
७—राक्षस— / ८—प्रियंवदक—	द्वितीय अङ्क में आ चुके हैं।

पञ्चम अङ्क की कथावस्तु की रूपरेखा—

समय—पौषमास की पूर्णिमा, अपराह्ण ।

स्थान—पाटलिपुत्र ।

दृश्य चार हैं—(१) मलयकेतु का शिविर ।
(२) शिविर का एक मण्डप ।
(३) शिविर में राक्षस निवास-स्थान ।
(४) शिविर में पुनः द्वितीय दृश्य वाला मण्डप ।

राक्षस और मलयकेतु के मध्य चतुर्थ अङ्क में जिस फूट के बीज बोये गये थे वह फूट इस अङ्क में पूर्ण हो गई है। इस भेद को डालने वाले सिद्धार्थक-क्षपणक-जीवसिद्धि और भागुरायण हैं। राक्षस के परम विश्वस्त पाँच म्लेच्छ राजा इसमें मृत्यु के ग्रास बनते हैं और राक्षस अपने सहायकों से रहित होकर निराश्रित और एकाकी रह जाता है। इसप्रकार चाणक्य की नीति को प्रकट रूप से उद्देश्य की ओर तीव्र-गति से ले जाने वाले इस अङ्क को हम ६ भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) प्रवेशक, (२) भागुरायण और क्षपणक, (३) मलयकेतु, भागुरायण और सिद्धार्थक, (४) राक्षस, प्रतीहारी और प्रियंवदक, (५) राक्षस, मलयकेतु, सिद्धार्थक और भागुरायण और (६) उपसंहार ।

(१) **प्रवेशक**—यह भूत और भविष्यत् काल की सूचना देने वाला होता है, सिद्धार्थक और क्षपणक की बातचीत से निम्न सूचनायें मिलती हैं—(क) सिद्धार्थक चाणक्य के प्रथम अङ्क में लिखे हुये पत्र को और मलयकेतु के द्वारा प्रेषित राक्षस को, राक्षस द्वारा शकटदास को बध्य स्थान से छुड़ाकर लाने से प्रसन्न होकर पारितोषिक के रूप में द्वितीय अङ्क में प्राप्त हुये तथा इसकी ही मुद्रा से मुद्रित आभूषण को लेकर कुसुमपुर के लिये चला है। यह चाणक्य का गुप्तचर है। मार्ग में क्षपणक मिल जाता है। क्षपणक सिद्धार्थक को बताता है कि कुसुमपुर के सन्निकट आ जाने के कारण बिना आज्ञापत्र के किसी को भी न तो शिविर से बाहर ही जाने दिया जाता है और न अन्दर ही आने दिया जाता है। यह आज्ञापत्र भागुरायण की मुद्रा से मुद्रित होना चाहिये। सिद्धार्थक इस समय राक्षस की सेवा में है। क्षपणक भी भागुरायण से आज्ञापत्र लेने के लिये उसके पास जाता है।

(२) **भागुरायण और क्षपणक**—भागुरायण मुद्रा बांटने का काम स्वयं ही कर रहा है। उसका यह आदेश है कि जो कोई भी मुद्रा लेने के लिये आवे उसे शीघ्र ही उसके पास भेज दिया जावे। उसने मलयकेतु को धोखा देने की पूरी तैयारी कर ली है। इधर मलयकेतु राक्षस के प्रति संशय से ग्रस्त है। उससे यह निर्णय ही नहीं हो पा रहा है कि राक्षस पूर्ण हृदय से उसके साथ है। सम्प्रति उसका राक्षस की अपेक्षा भागुरायण पर अधिक विश्वास है। मलयकेतु प्रतिहारी के साथ भागुरायण के पास जाता है किन्तु इसी बीच में क्षपणक भागुरायण के पास मुद्रा लेने पहुंच जाता है। भागुरायण जीवसिद्धि के यथार्थ व्यक्तित्व से परिचित है। भागुरायण को क्षपणक ने निम्न सूचनाये दी हैं, जिनको मलयकेतु ने स्वयं छिपकर सुन लिया है।

(१) मैं राक्षस से दूर और बहुत दूर जाना चाहता हूँ, जिससे मैं उसका नाम तक भी न सुन सकूं।

(२) पाटलिपुत्र में रहते हुये मेरी राक्षस से मित्रता हो गई थी। उस समय उसने विषकन्या का गुप्त प्रयोग करके पर्वतेश्वर को मरवाया था, इसमें चाणक्य का कोई हाथ नहीं है।

(३) चाणक्य ने मुझे राक्षस का मित्र समझकर नगर से निर्वासित कर दिया है [इसकी चर्चा प्रथम अङ्क में आ चुकी है।] और अब भी वह ऐसा काम करने जा रहा है जिससे मैं संसार से ही निकाल दिया जाऊंगा। दोनों इस समाचार को कुमार मलयकेतु को सुनाने के लिये जाना ही चाहते हैं कि इतने में मलयकेतु स्वयं ही वहाँ आ जाता है, जिसने यह सब कुछ सुन लिया है।

(३) **भागुरायण और मलयकेतु**—क्षपणक से यह समाचार सुनकर मलयकेतु को विश्वास हो जाता है कि उसके पिता पर्वतेश्वर को विषकन्या से राक्षस ने ही मरवाया था। वह राक्षस को अपना शत्रु समझने लगता। किन्तु भागुरायण को तो चाणक्य का आदेश है कि "**रक्षणीया राक्षसस्य प्राणाः**", अतः उसने मलयकेतु को इसप्रकार समझाया है कि उस समय राक्षस सर्वार्थसिद्धि को राजा बनाना चाहता था अतः राक्षस का चन्द्रगुप्त से भी बढ़कर पर्वतेश्वर शत्रु था। राजनीति में शत्रु और मित्र स्वार्थवश होते हैं। इस समय राक्षस को कुछ न कहिये, नन्द राज्य को वापिस लेने के उपरान्त आपकी जैसी इच्छा हो वैसा राक्षस के प्रति व्यवहार करें और मलयकेतु इस सम्मति को मान लेता है।

(४) **भागुरायण, सिद्धार्थक और मलयकेतु**—यह कथानक इस नाटक की चरम सीमा है। राक्षस के विरोध में चाणक्य की कूटनीति अपना पूरा फल दिखा रही है। सिद्धार्थक बिना आज्ञापत्र के है, उसके पास एक पत्र भी है। अतः पकड़ कर भागुरायण और मलयकेतु के सामने लाया जाता है। भागुरायण उसके हाथ से पत्र ले लेता है और राक्षस की मुद्रा देखकर मलयकेतु को दिखाता है। मलयकेतु मुद्रा को

बचाकर उस पत्र को खुलवाता है। यह ही वह पत्र है, जो चाणक्य ने प्रथम अङ्क में शकटदास से लिखवाया था और राक्षस की मुद्रा से मुद्रित कर दिया था । लेख के विषय में बताने से मना करने पर पीटे जाते हुये सिद्धार्थक की बगल से आभूषणों की पेटी भी गिर जाती है। यह राक्षस की मुद्रा से मुद्रित पेटी भी भागुरायण और मलयकेतु के सामने लाई जाती है। पेटी से वह आभूषण निकलता है, जो मलयकेतु ने अपने शरीर से उतार कर कञ्चुकी के हाथ राक्षस के पास भेजा था। सिद्धार्थक ने पत्र और आभूषण के विषय में इसप्रकार बतलाया है।

(क) राक्षस ने यह लेख देकर उसे चन्द्रगुप्त के पास भेजा है।

(ख) राक्षस के पांच प्रिय मित्र म्लेच्छराजा-चित्रवर्मा, सिंहनाद, पुष्कराक्ष, सिन्धुसेन और मेघनाद हैं। इनमें से प्रथम तीन तो मलयकेतु के राज्य को चाहते हैं और दो क्रमशः हस्तिसैन्य और कोष के इच्छुक हैं। अतः इनकी इच्छा पूरी की जानी चाहिये।

(५) **राक्षस, प्रतीहारी और प्रियंवदक**--राक्षस इस बात से चिन्तित है कि उसकी सम्पूर्ण सेना चाणक्य के गुप्तचरों से व्याप्त है। विजय की प्राप्ति कैसे होगी ? युद्धयात्रा के लिये व्यूह रचना कैसे होगी---इसका आदेश भेज दिया है। इसी समय प्रतीहारी आकर सूचना देता है कि मलयकेतु आपसे मिलना चाहता है । राक्षस मलयकेतु से मिलने जाते समय खरीदे गये तीन आभूषणों में से एक आभूषण धारण कर लेता है। ये आभूषण पर्वतक के हैं।

(६) **राक्षस, मलयकेतु, सिद्धार्थक और भागुरायण**—यह दृश्य एक प्रकार से राक्षस पर अभियोग का दृश्य है। यहां पर घटित होने वाला घटनाचक्र राक्षस के लिये अप्रत्याशित है। राक्षस मलयकेतु को देखकर यह अनुमान लगाता है कि वह आक्रमण की योजना के विषय में सोच रहा है। परन्तु ठीक इसके विपरीत मलयकेतु राक्षस के विश्वासघात के विषय में सोच रहा है। राक्षस की आक्रमण की योजना है कि सबसे आगे वह स्वयं रहेगा, उसके, पीछे खश और मगध की सेनायें, मध्य में गान्धार, अन्त में चीन और हूणों से युक्त शकराजागण और शेष कौलूतादि पाँच राजागण कुमार मलयकेतु की रक्षा करेंगे। इस योजना को सुनकर मलयकेतु सोचता है कि मेरी वही व्यक्ति रक्षा कर रहे हैं जो मुझे मारना चाहते हैं। कुसुमपुर का आना-जाना बन्द हो गया है। राक्षस के इस कहने को कि ५-६ दिनों में हम ही आक्रमण करने के लिये कुसुमपुर जाने वाले हैं. मलयकेतु अन्यथा समझता है । वह राक्षस के मन्त्रीपद को ग्रहण करने के लिये जाना--ऐसा समझता है।

मलयकेतु ने राक्षस पर निम्न अभियोग लगाये हैं—

(१) आपने इस सिद्धार्थक को पत्र देकर कुसुमपुर क्यों भेजा है ? इसको भागुरायण इसप्रकार स्पष्ट करता है कि---यह कहता है कि आपने लेख देकर और

कुछ मौखिक संदेश देकर इसको चन्द्रगुप्त के पास भेजा है । राक्षस कहता है कि नहीं यह पत्र मेरा नहीं है–यह शत्रु का प्रयोग है । आपका यह लेख है, देखिये और इस लेख के साथ आपने यह आभूषण भी भेजा है । आभूषण को देखकर राक्षस कहता है कि मैंने इसको इनाम के रूप में इसे दे दिया था ।

(२) आपने पत्र में लिखा है कि मौखिक सन्देश इससे सुन लीजियेगा । वह मौखिक सन्देश क्या है ? राक्षस मना करता है । कैसा सन्देश ? यह तो पत्र ही मेरा नहीं है ।

(३) यह मुद्रा किसकी है ? राक्षस इसको कपटमुद्रा कहकर उत्तर देता है। भागुरायण सिद्धार्थक से पूछता है कि यह पत्र किसने लिखा है ? सिद्धार्थक उत्तर देता है कि शकटदास ने । राक्षस हतप्रभ है, उसे कुछ समझ नहीं आ रहा है कि यह सब क्या षड्यन्त्र है ? वह कहता है कि यदि शकटदास ने यह पत्र लिखा तब तो यह समझो कि मैंने ही लिखा है । मलयकेतु शकटदास को बुलाना चाहता है। परन्तु भागुरायण उसको न बुलाकर उसके लेख की प्रतिलिपि मंगवाता है । परिणामत शकटदास का ही लिखा हुआ यह पत्र है–यह निश्चित हो जाता है । यहाँ राक्षस के हृदय में शकटदास के प्रति सन्देह उत्पन्न होता है ।

(४) मलयकेतु राक्षस से पूछता है कि आपने जो तीन आभूषण भेजे थे, वे मिल गये हैं ? क्या उन्हीं में से एक यह आभूषण आपने पहिन रखा है ? राक्षस उत्तर देता है कि नहीं, मैंने तो इनको खरीदा है और राक्षस उस समय सर्वथा हतप्रभ और निरुत्तर हो जाता है जब उसे मालूम पड़ता है कि यह आभूषण, जो उसने धारण कर रखा है, पर्वतेश्वर का है । राक्षस को अब इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता है कि चाणक्य ने अपनी धूर्तता से हमको ये आभूषण बिकवाये हैं । किन्तु इसके विप-रीत मलयकेतु यह निष्कर्ष निकालता है कि राक्षस ने चन्द्रगुप्त के साथ मिलकर हमारे विरोध में षड्यन्त्र किया है । राक्षस सोचता है कि मैं यह नहीं कह सकता हूँ कि यह लेख मेरा नहीं है क्योंकि यह मुद्रा मेरी है । शकटदास ने मित्रता तोड़ दी है, इस पर कोई विश्वास कैसे करेगा, अतः अपने अपराध को स्वीकार कर लेता है ।

(५) मलयकेतु राक्षस पर यह अन्तिम अभियोग लगाता है कि मेरे पिता पर्वतक को तुम्हीं ने विषकन्या से मारा था और यदि इस पर विश्वास न हो तो क्षपणक जीवसिद्धि से पूछ लो । जीवसिद्धि का नाम सुनते ही वह सोचता है कि अरे, क्या जीवसिद्धि भी चाणक्य का गुप्तचर है ? तब तो शत्रुओं ने मेरे हृदय पर ही अधिकार कर लिया है ।

(६) उपसंहार—(१) मलयकेतु शिखरसेन को, जो वस्तुतः चाणक्य का प्रणिधि है, आज्ञा देता है कि चित्रवर्मा—सिंहनाद–पुष्कराक्ष–सिन्धुसेन और मेघनाद–इन सभी को मार दो।

(२) राक्षस को सर्वात्मना चन्द्रगुप्त के पक्ष का आश्रय लेने के लिये कहता है।

(३) भागुरायण मलयकेतु को यह सुझाव देता है कि शीघ्र ही कुसुमपुर पर आक्रमण करने के लिये सेनाओं को आज्ञा दे दीजियेगा।

इसप्रकार मलयकेतु से अपमानित, प्रताड़ित, एकाकी और सर्वथा निराश राक्षस सोचता है कि अरे ? मेरे प्यारे मित्र चित्रवर्मादि भी मारे गये। तो क्या राक्षस सुहृद्विनाशाय चेष्टते न रिपुविनाशाय"। और अन्त में अपने एकमात्र प्रिय मित्र चन्दनदास को मृत्यु के मुख से छुड़ाने की योजना बनाता हुआ रंगमञ्च पर से निकल जाता है।

इस अङ्क में चाणक्य की नीति राक्षस और मलयकेतु को पृथक् करने में सफल हो गई है।

———

मुद्राराक्षसम्

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति लेखमलंकरणस्थगिकां च मुद्रितामादाय सिद्धार्थकः ।)

सिद्धार्थकः—ही ही माणहे ही माणहे । आश्चर्यमाश्चर्यम् ।

बुद्धिजलणिज्झरेहिं सिञ्चन्ती देशकालकलसेहिं ।
दंसिस्सदि कज्जफलं गुरुअं चाणक्कणीदिलदा ॥१॥

बुद्धिजलनिर्झरैः सिच्यमाना देशकालकलशैः ।
दर्शयिष्यति कार्यफलं गुरुकं चाणक्यनीतिलता ॥१॥

ता गहीदो मए अज्जचाणक्केण पुढमलिहिदो अमच्चरक्खसस्स मुद्दालंच्छिओ अअं लेहो तस्स ज्जेव्व मुद्दालंच्छिआ इअं आहरणपेडिआ । चलिदोम्हि किल पाडलिउत्तं । जाव गच्छामि । (परिक्रम्यावलोक्य च ।) कहं खवणओ आअच्छदि । जाव से असउणभूदं दंसणं मह संमदमेव्व । ता ण पडिहरामि । तस्माद्गृहीतो मयार्यचाणक्येन प्रथमलेखितोऽमात्यराक्षसस्य मुद्रालाञ्छितोऽयं लेखस्तस्यैव मुद्रालाञ्छितेयमाभरणपेटिका । चलितोऽस्मि किल पाटलिपुत्रम् । यावद् गच्छामि । कथं क्षपणक आगच्छति । यावदस्याशकुनभूतं दर्शनं मम संमतमेव । तस्मान्न परिहरामि ।

संस्कृत-व्याख्या

अलङ्करणस्थगिकां = भूषणपेटिकाम् । मुद्रितां = राक्षसनामाङ्कितमुद्रया चिह्निताम् ।

अन्वयः—बुद्धिजलेति—देशकालकलशैः बुद्धिजलनिर्झरैः सिच्यमाना चाणक्यनीतिलता गुरुकं कार्यफलं दर्शयिष्यति ॥१॥

व्याख्या—देशकालकलशैः = देशः—समुचितं स्थानं कालः—योग्यः समयः तौ एव कलशो घटौ येषां तादृशैः बुद्धिजलनिर्झरैः = बुद्धिरूपं यत् जलं तस्य निर्झरैः—प्रवाहैः सिच्यमाना—आर्द्रीक्रियमाणा चाणक्यनीतिलता = चाणक्यस्य नीतिरूपा लता गुरुकं—महत् कार्यफलं = कार्यस्य—प्रारब्धस्य राक्षसग्रहणरूपस्य कर्मणः फलं दर्शयिष्यति—प्रकटयिष्यति ॥१॥

मुद्रालाञ्छितः = राक्षसनामाङ्कितमुद्राङ्कितः । आभरणपेटिका = अलंकरण-मंजूषा । किल—इत्यलीके गमनमलीकं छद्मरूपमित्यर्थः । अशकुनभूतम् = अमङ्गल-भूतम् ।

हिन्दी रूपान्तर

प्रथम दृश्य

स्थान—मलयकेतु की छावनी ।

(तत्पश्चात् लेख और (राक्षस की मुद्रा से) मुद्रित अलंकारों की पेटिका को लेकर सिद्धार्थक प्रवेश करता है ।)

सिद्धार्थक—आश्चर्य है, आश्चर्य है ।

श्लोक (१) अर्थ—देश और कालरूपी घड़ों से बुद्धि रूपी जल के प्रवाहों से सींची जाती हुई चाणक्य की नीति रूपी लता महान् (राक्षसग्रहणरूप) कार्यरूपी फल को दिखलावेगी ॥१॥

इसलिये मैंने आर्य चाणक्य के द्वारा (शकटदास से) पहले लिखाया हुआ अमात्य राक्षस की मुद्रा से मुद्रित यह लेख ले लिया है (और) उसी (राक्षस) की ही मुद्रा से मुद्रित यह आभूषणों की पेटिका है । मिथ्यारूप मे (किल) पाटलिपुत्र के लिये चला हूँ । अच्छा ,जाता हूँ । (घूमकर और देखकर ।) क्या (कथम्) क्षपणक आ रहा है । तब तो (यावत्) इसका अपशकुनभूत दर्शन मेरे लिये उचित ही है । इसलिये (इसको) बचाता नहीं हूँ ।

टिप्पणी

(१) अलंकरणस्थगिकाम्—स्थगयति इति स्थग + णिच + अच् कर्तरि स्थगः । स एव स्थगकः । स्त्रियाम् स्थगिका—पेटी । अलंकाराणां स्थगिका ।

(२) प्रथम श्लोक के अन्दर रूपक इसप्रकार है—नीति = लता । बुद्धि = जलप्रवाह । देशकाल = घट । कार्य = राक्षसग्रहणरूपफल ।

सिद्धार्थक सारे कथानक को बड़े ध्यानपूर्वक देखता है और वह देख रहा है कि कौन सी घटना फल लावेगी । किन्तु उसको यह आशा नहीं थी कि इतनी शीघ्र फल की प्राप्ति हो जावेगी । इसलिये वह इस अंक के प्रारम्भ में आश्चर्य प्रकट करता है ।

(३) चाणक्य की नीतिरूपी लता के पुष्पित होने का क्रम इसप्रकार है—(१) मलयकेतु के शिविर में ही फूट डालने के रूप में अंकुरित होगी । (२) मलयकेतु की सेना के श्रेष्ठ पाँच नायकों के विनाश से दो पत्तों वाली होगी । (३) राक्षस के

निराकरण से पल्लवित होगी । (४) मलयकेतु के पकड़े जाने से पुष्पित होगी और इसप्रकार यह लता सभी को चमत्कृत करेगी ।

(४) **प्रथमलेखितः**—प्रथम अङ्क में वर्णित उस लेख की ओर इशारा है जिसको सिद्धार्थक ने चाणक्य की प्रेरणा से शकटदास से लिखवाया था ।

(५) **तस्यैव मुद्रालाञ्छितेयम्** — उन आभूषणों की ओर संकेत है, जिनको राक्षस ने सिद्धार्थक को पारितोषिक के रूप में दिया था और उसने यह कहकर कि जब आवश्यकता होगी, ले लूंगा, उसी की मुद्रा से मुद्रित करके उसी के पास रखवा दिये थे । ये आभूषण मलयकेतु के हैं । मलयकेतु ने अपने कञ्चुकी के हाथ राक्षस के पास इनको भेजा था ।

(६) **किल**—मिथ्या के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । वास्तव में वह पाटलिपुत्र नहीं जाना चाहता है किन्तु वह ऐसा दिखा रहा है कि पाटलिपुत्र जा रहा है ।

(७) **कथं क्षपणकः**—उसके लिये क्षपणक अपरिचित है । इसीलिये उसको उसके मिलने पर दुःख होता है ।

(८) **तस्मान्न परिहरामि**—क्षपणक का दर्शन अशुभ माना गया है, परन्तु क्योंकि सिद्धार्थक पाटलिपुत्र तो जाना नहीं चाहता है, अतः वह चाहता है कि उसके कुसुमपुर जाने में कोई विघ्न पैदा हो जावे, अतः वह इससे बचना नहीं चाहता है। साथ ही वह यह भी चाहता है कि वह मलयकेतु के किसी अधिकारी के हाथ पड़ जावे ।

(प्रविश्य ।)

क्षपणकः—

अलहन्ताण पणमामि जे दे गंभीलदाए बुद्धीए ।
लोउत्तलेहिं लोए सिद्धिं मग्गेहिं गच्छन्दि ॥२॥
आर्हतानां प्रणमामि ये ते गम्भीरतया बुद्धेः ।
लोकोत्तरैर्लोके सिद्धिं मार्गैर्गच्छन्ति ॥२॥

सिद्धार्थकः—भदन्त, वन्दामि । भदन्त, वन्दे ।

क्षपणकः—सावगा, धम्मसिद्धी होदु । (निर्वर्ण्य ।) सावगा, पत्थाणस मुव्वहणे कअव्ववसाअं विअ तुमं पेक्खामि । श्रावक, धर्मसिद्धिर्भवतु । श्रावक, प्रस्थानसमुद्वहने कृतव्यवसायमिव त्वां पश्यामि ।

सिद्धार्थकः—कहं भदन्तो आणादि । कथं भदन्तो जानाति ।

क्षपणकः—सावगा, किं एत्थ आणिदव्वं । एसो दे मग्गादेसकुसलो सउणो करगदो लेहो अ सूअअदि । श्रावक, किमत्र ज्ञातव्यम् । एष ते मार्गादेशकुशलः शकुनः करगतो लेखश्च सूचयति ।

सिद्धार्थकः—जाणिदं भदन्तेण । देसन्तरं पत्थिदोम्हि । ता कहेदु भदन्तो कीदिसो अज्ज दिवसो त्ति । ज्ञातं भदन्तेन । देशान्तरं प्रस्थितोऽस्मि । तस्मात्कथयतु भदन्तः कीदृशोऽद्य दिवस इति ।

क्षपणकः—(विहस्य ।) सावग, मुण्डिअमुण्डो णक्खत्ताई पुच्छसि । श्रावक, मुण्डितमुण्डो नक्षत्राणि पृच्छसि ।

सिद्धार्थकः—भदन्त, सम्पदं वि किं जादं । कहेहि पत्थाणस्स जई अणुकूलं भविस्सदि तदो गमिस्सं । भदन्त, सांप्रतमपि किं जातम् । कथय प्रस्थानस्य यद्यनुकूलं भविष्यति तदा गमिष्यामि ।

क्षपणकः—सावग, ण सम्पदं एदस्सिं मलअकेदुकडए अणुकूलं भविस्सदि । श्रावक, न सांप्रतमेतस्मिन्मलयकेतुकटकेऽनुकूलं भविष्यति ।

सिद्धार्थकः—भदन्त कहेहि कुदो एदम् । भदन्त, कथय कुत एतत् ।

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—आर्हतानामिति—आर्हतानां प्रणमामि ये ते बुद्धेः गम्भीरतया लोके लोकोत्तरैः मार्गैः सिद्धिं गच्छन्ति ॥२॥

व्याख्या—आर्हतानां=बौद्धसंन्यासिनां प्रणमामि—नमस्करोमि ये ते—बौद्धाः बुद्धेः-निजमतेः गम्भीरतया गहनगाहनशीलतया लोके-जगति लोकोत्तरैः-अलौकिकैः मार्गैः-वर्त्मभिः सिद्धिं-मुक्तिं गच्छन्ति-लभन्ते ॥२॥

प्रस्थानसमुद्वहने—यात्रासम्पादने । कृतव्यवसायं—कृतनिश्चयम् । मार्गदेशकुशलः=मार्गस्य—वर्त्मनः आदेशे--विज्ञापने कुशलः--निपुणः । करगतः=हस्तस्थितः । मलयकेतुकटके—मलयकेतोः शिविरे ।

हिन्दी रूपान्तर

(प्रवेश करके ।)

क्षपणक—

श्लोक (२) अर्थ—(मैं) बौद्धों को प्रणाम करता हूँ जो वे बुद्धि की गम्भीरता के कारण संसार में लोकोत्तर मार्गों से सिद्धि को प्राप्त करते हैं ॥२॥

सिद्धार्थक—भदन्त, मैं नमस्कार करता हूँ ।

क्षपणक—श्रावक, धर्म की प्राप्ति हो । (देखकर ।) श्रावक, जाने की तैयारी में कृतनिश्चय के समान तुमको देखता हूँ ।

सिद्धार्थक—भदन्त, कैसे जानते हैं ?

क्षपणक—श्रावक, इसमें (अत्र) जानने की क्या (बात) है । यह तुम्हारे मार्ग को बताने में कुशल शकुन और हाथ में विद्यमान लेख सूचित कर रहा है ।

सिद्धार्थक—भदन्त ने जान लिया । विदेश को जा रहा हूँ । अतः भदन्त बताइये आज का दिन कैसा है ?

क्षपणक—(हंसकर।) श्रावक, (पहले ही) मुण्डित सिर वाले तुम नक्षत्रों को पूछते हो।

सिद्धार्थक—भदन्त, इस समय भी क्या बिगड़ा है? बताओ, यदि जाने के अनुकूल (दिन) होगा तो जाऊंगा।

क्षपणक—श्रावक, इस समय मलयकेतु के शिविर में (जाना) अनुकूल नहीं होगा।

सिद्धार्थक—भदन्त, बताओ यह कैसे?

टिप्पणी

(१) **आर्हतानाम्**—कर्म में षष्ठी है।

(२) **लोके**—संसार में। बौद्धों की मुक्ति सदाचार के मार्ग का अनुसरण करने से इसी संसार में और इसी शरीर से मिल जाती है। इनकी दृष्टि से इनकी मुक्ति मृत्यु के उपरान्त किसी दूसरे लोक में अनुभव करने की वस्तु नहीं है।

(३) दूसरे श्लोक से लोकोत्तर कार्य की सिद्धि देने वाली चाणक्य का नीति की गम्भीरता ध्वनित होती है।

(४) **किमत्र ज्ञातव्यम्**—इसमें जानने की क्या बात है। यह तो बिलकुल स्पष्ट ही है कि पत्र को ले जाने वाला जाने के लिये ही तैयार होगा। यह क्षपणक चाणक्य का सहाध्यायी इन्दुशर्मा है। इस समय इसने एक बड़े प्रयोजन को सिद्ध करना है क्योंकि चाणक्य ने प्रथम अङ्क में कहा है कि "**तेनेदानीं महत्कार्यमनुष्ठेयं भविष्यति**"। यह कार्य अब पूर्ण होने पर है। सम्भवतः यही एकमात्र ऐसा व्यक्ति है जिसे चाणक्य के सभी गुप्त रहस्य मालूम हैं। वह सभी गुप्तचरों को भी जानता है और उन पर हमेशा अपनी दृष्टि रखता है। उनकी गतिविधियों का सूक्ष्म निरीक्षण करता है कि वे सभी अपने कार्य को ठीक प्रकार से कर रहे हैं या नहीं। इसके विपरीत चाणक्य के गुप्तचर इसको केवलमात्र एक बौद्ध संन्यासी समझते हैं जिसकी राक्षस से मित्रता है। इसलिये यह सम्भव हो सकता है कि क्षपणक को सिद्धार्थक की यात्रा का पता हो।

(५) **मुण्डितमुण्डो नक्षत्राणि पृच्छसि**—तुम पहले अपने बाल कटवाकर फिर यह पूछ रहे हो कि बाल कटवाने के लिये दिन अच्छा है या नहीं। यह प्रश्न तो तुमको यात्रा प्रारम्भ करने से पूर्व पूछना चाहिये था—अब पूछने से क्या लाभ? आजकल भी कुछ ऐसे अवसर हैं जिनमें बाल बनवाना अशुभ माना जाता है।

(६) **शकुनः**—शक्नोति सूचयितुम् इति शक + उन-कर्तरि औणादिक शकुनः—सूचना देने वाला।

(७) **साम्प्रतमपि किं जातम्**—क्योंकि मैंने अपनी यात्रा कोई अधिक लम्बी नहीं पार कर ली है।
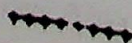
क्षपणकः— सावग, णिसामेहि । पुढमं दाव एत्थ कडए लोअस्स अणिवारिदो णिग्गमप्पवेशो आसी । दाणीं इदो पच्चासण्णे कुसुमपुले ण को वि अमुद्दालंच्छिओ णिग्गमिदुं पवेट्ठुं वा अणुमोदीअदि । ता जदि भाउराअणस्स मुद्दालंच्छिओ तदो गच्छ विस्सद्धो अण्णहा चिट्ठ । मा गुम्माहिआरिएहिं संजमिअकलचलणो राअकुलं पवेसीअसि । श्रावक, निशामय । प्रथमं तावदत्र कटके लोकस्यानिवारितो निर्गमप्रवेश आसीत् । इदानीमितः प्रत्यासन्ने कुसुमपुरे न कोऽप्यमुद्रालाञ्छितो निर्गन्तुं प्रवेष्टुं वानुमोद्यते । तद्यदि भागुरायणस्य मुद्रालाञ्छितस्तदा गच्छ विश्रब्धोऽन्यथा तिष्ठ । मा गुल्माधिकारिकैः संयमितकरचरणो राजकुलं प्रवेश्यसे ।

(सावेगम् ।)

सिद्धार्थकः किं ण जाणादि भदन्तो अमच्चरक्खसस्स सण्णिहिदो त्ति । ता अमुद्दालंच्छिदं वि मं णिक्कमन्तं कस्स सत्ती णिवारेदुं । किं न जानाति भदन्तोऽमात्यराक्षसस्य सन्निहित इति तदमुद्रालाञ्छितमपि मां निष्क्रामन्त कस्य शक्तिर्निवारयितुम् ।

क्षपणकः—सावगा, रक्खसस्स पिसाचस्स वा होहि ण उण अमुद्दालंच्छिदस्स इदो णिक्कमणोवाओ । श्रावक, राक्षसस्य पिशाचस्य वा भव न पुनरमुद्रालाञ्छितस्येतो निष्क्रमणोपायः ।

सिद्धार्थकः—भदन्त, णा कुप्य कज्जसिद्धी होदु । भदन्त, न कुप्य । कार्यसिद्धिर्भवतु ।

क्षपणकः—सावगा, गच्छ । होदु दे कज्जसिद्धी । अहं वि भाउराअणादो मुद्दं जाचेमि । श्रावक, गच्छ । भवतु ते कार्यसिद्धिः । अहमपि भागुरायणान्मुद्रां याचे ।

(इति निष्क्रान्तौ ।)

प्रवेशकः ।

संस्कृत-व्याख्या

निशामय=आकर्णय । अनिवारितः=अप्रतिषिद्धिः । प्रत्यासन्ने=निकटे । अनुमोद्यते=अनुमन्यते । विश्रब्धः=निश्चिन्तः । गुल्माधिकारिकैः=गुलमस्थानाध्यक्षैः । संयमितकरचरणः=सम्बद्धहस्तपादः । निष्क्रामन्तं=निर्गच्छन्तम् । निवारयितुं=प्रतिषेद्धुम् । निष्क्रमणोपायः=निर्गमोपायः ।

हिन्दी रूपान्तर

क्षपणक—श्रावक, सुनो । पहले तो इस शिविर में मनुष्य का बिना रोक-टोक के (अनिवारितः) जाना और आना था । सम्प्रति यहाँ से कुसुमपुर के पास आ जाने पर किसी को भी मुद्रा से बिना मुद्रित (अर्थात् अनुमति पत्र के) हुये बाहर जाने अथवा अन्दर आने के लिये अनुमति नहीं दी जाती है । तो यदि भागुरायण की मुद्रा

से मुद्रित हो तब (तो) निश्चित होकर जाओ अन्यथा ठहरो। (कहीं) शिविर ... अधिकारियों के द्वारा हाथ पैर बाँधे हुये (तुम) राजकुल में प्रवेश न करा दिये जाओ।

(आवेग के साथ।)

सिद्धार्थक—(क्या भदन्त यह) नहीं जानते हैं (कि मैं) अमात्य राक्षस के पास रहने वाला हूँ इसलिये (तत्) बिना मुद्रा से मुद्रित भी बाहर जाते हुये मुझको रोकने की किसकी शक्ति है ?

क्षपणक—श्रावक, राक्षस के हो अथवा पिशाच के हो किन्तु (पुनः) बिना मुद्रा से मुद्रित (व्यक्ति) का यहाँ से बाहर निकलने का (कोई) उपाय नही है।

सिद्धार्थक – भदन्त, क्रोधित न हो (मेरी) कार्यसिद्धि हो।

क्षपणक—श्रावक जाओ। तुम्हारी कार्यसिद्धि हो। मैं भी भागुरायण से मुद्रा माँगता हूँ। [गूढ़ आशय है कि मैं भी अभीष्ट प्रयोजन के लिये मुद्रा मांगने के बहाने भागुरायण के पास जाऊँगा।]

(इसप्रकार दोनों निकल गये।)

प्रवेशक।

टिप्पणी

(१) **निशामय**—नि + शम् (चुरादि) णिच् + लोट् हि।

(२) **अमुद्रालाञ्छितः**—लाञ्छ् + णिच् + क्त + कर्मणि लाञ्छितः। मुद्र्यते अनया इति मुद्र + णिच् अ करणे = मुद्रा। मुद्रया लाञ्छितः। न तथा।

(३) **गुल्माधिकारिकैः**—गुल्म-शिविर, प्रहरियों का आवास स्थान। उनके अधिकारियों द्वारा। अधिक्रियते अस्मिन् अधिकारः। तत्र नियुक्ताः इति अधिकार + ठक् = आधिकारिकाः। गुल्मेषु आधिकारिकाः तैः।

(४) **मा प्रवेश्यसे**—यह 'मा' माङ् से भिन्न है। अतः लुङ् लकार का प्रयोग नहीं हुआ।

(५) **सावेगम्**—इस भय से आवेग है कि कहीं इसने मुझे जान तो नहीं लिया है कि यह चाणक्य के किसी गुप्त कार्य को करने जा रहा है।

(६) **प्रवेशकः**—(१) प्रवेशयति सामाजिकहृदयेऽप्रत्यक्षानर्थान्। (२) प्रवेशयति—कथाप्रसङ्गं गमयति पात्रं प्रवेशयति वा। प्र + विश् + णिच् + ण्वुल् कर्तरि। इसमें और विष्कम्भक में अन्तर होता है।

(ततः प्रविशति पुरुषेणानुगम्यमानो भागुरायणः।)

भागुरायणः—(स्वगतम्।) अहो वैचित्र्यमार्यचाणक्यनीतेः।

मुहुर्लक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावगहना
मुहुः सम्पूर्णाङ्गी मुहुरतिकृशा कार्यवशतः।

मुहुर्नश्यद्वीजा मुहुरपि बहुप्रापितफले-
त्यहो चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः ॥०॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—मुहुर्लक्ष्योद्भेदा इति—मुहुः लक्ष्योद्भेदा, मुहुः अधिगमाभावगहना, मुहुः कार्यवशतः अतिकृशा मुहुः नश्यद्बीजा, मुहुः सम्पूर्णाङ्गी मुहुरपि बहुप्रापितफला नयविदः नीतिः नियतिरिव चित्राकारा इत्यहो ॥३॥

व्याख्या - मुहुः- वारम्वारं लक्ष्योद्भेदा = लक्ष्यः—दृश्यः उद्भेदः—परिव्यक्तिः यस्याः तादृशी (मुखसन्धौ अल्पोद्दिष्टा सती बहुधा विस्तारिणीत्यर्थः) मुहुः—पुनः अधिगमाभावगहना = अधिगमस्य—उपलब्धेः अभावात्-विरहात् (अनुपलब्धितया इत्यर्थः) गहना—कठिना (दुर्बोधा इत्यर्थ), मुहुः— पुनः कार्यवशतः— प्रयोजनवशात् अतिकृशा—सुसूक्ष्मा (प्रतिमुखे लक्ष्यालक्ष्यायाः पुनर्व्यक्तेः गहना अतिकृशा च) मुहुः—असकृत् नश्यद्बीजा = नश्यत्—तिरोभवत् बीजं-उद्योगो यस्याः सा तथोक्ता (गर्भे विफलेव दृश्य-माना इत्यर्थ) मुहुः—क्षणे क्षणे सम्पूर्णाङ्गी = सम्पूर्णानि अङ्गानि— अवयवा यस्याः तादृशी (विमर्शे बीजस्य स्पष्टमेव दर्शनात्) मुहुः—पुनरपि बहुप्रापितफला = बहु-प्रचुरं यथा तथा प्रापितं—दापितं फलं यया तादृशी (निर्वहणे सर्वथोपसंहारात्) नयविदः—नीतिज्ञस्य (चाणक्यस्य) नीतिः—नयः नियतिरिव—दैवमिव—चित्राकारा—आश्चर्यरूपा इति अहो—आश्चर्यम् ॥३॥

हिन्दी रूपान्तर

द्वितीय दृश्य—शिविर में एक मण्डप ।

(तत्पश्चात् पुरुष से अनुसरण किया जाता हुआ भागुरायण प्रवेश करता है ।)

भागुरायण—(मन ही मन ।) आर्य चाणक्य की नीति की विचित्रता आश्चर्य-जनक है ।

श्लोक (३) **अर्थ**—पौनःपुन्येन दृश्य है व्यक्तता जिसकी ऐसी (अर्थात् मुख-सन्धि में थोड़ी कही हुई बहुधा विस्तारिणी), पुनः प्राप्ति के न होने के कारण गहन; पुनः कार्यवश अत्यन्त सूक्ष्म (अर्थात् प्रतिमुख सन्धि में कभी दृश्य और कभी अदृश्य होने के कारण और पुनः दृश्य होने से गहन और सूक्ष्म), पुनः नष्ट हो गया है उद्योग (बीजम्) जिसका ऐसी अर्थात् गर्भसन्धि में विफल होती हुई-सी प्रतीत होती हुई), पुनः सम्पूर्ण अङ्गों वाली (अर्थात् विमर्श सन्धि में बीज के सर्वात्मना दिखाई देने के कारण) और (अपि) पुनः अत्यधिक प्राप्त कराया है फल जिसने ऐसी (अर्थात् निर्वहण सन्धि में सभी कार्यों का उपसंहार होने के कारण) नीतिविद् (चाणक्य) की नीति भाग्य के समान आश्चर्यकारिणी है—**यह महान्** आश्चर्य है ॥३॥

टिप्पणी

(१) **अहो वैचित्र्यमार्यचाणक्यनीतेः**—भागुरायण, भद्रभट और सिद्धार्थकादि मिलकर काम बना रहे हैं । वे सभी अपनी-अपनी योजनाओं को भलीप्रकार जानते हैं और वे सब आज के दिन कथानक की पूर्णता पर पहुँचने की प्रतीक्षा करते हैं । उन्हें

पता है कि सिद्धार्थक पत्र और आभूषणों की पेटिका लेकर शिविर से बाहर निकलने का बहाना कर रहा है। इसीलिये भागुरायण ने कहा है—"अहो वैचित्र्यम्।"

(२) **मुहुर्लक्ष्योद्भेदा**— कथानक की प्रथम अवस्था की ओर संकेत है जब कि भागुरायणादि कुसुमपुर से बाहर आये और मलयकेतु की सेवा में ले लिये गये। यह उनकी अप्रत्याशित सफलता थी क्योंकि राक्षस मलयकेतु को इससे विपरीत सलाह देने के लिये था ही। **बीज उद्भिन्न है।**

(३) **अधिगमाभावगहना**—यह वह स्थिति है कि भागुरायण को मलयकेतु की सेना में प्रविष्ट हुये काफी दिन व्यतीत हो गये परन्तु किसी भी प्रकार का कोई स्पष्ट कथानक घटित नहीं हुआ।

(४) **सम्पूर्णाङ्गी**—सम्पूर्णानि अङ्गानि-अवयवा यस्याः तादृशी। सम्पूर्ण अङ्ग इसप्रकार है (१) भद्रभटादि का मलयकेतु की सर्विस में आना। (२) शकटदास का पहुंचना। (३) सिद्धार्थक का राक्षस के पास रहना। (४) सिद्धार्थक को पारितोषिक के रूप में आभूषणों का प्राप्त होना। (५) आभूषणों का राक्षस के पास ही रखा जाना।

(५) **अतिकृशा**—मलयकेतु को किसीप्रकार का सन्देह न हो जावे, अतः कार्य धीरे-धीरे करना है। शीघ्रता में किया गया काम कोई ऐसा नहीं होगा जिसे राक्षस समझ न सके—अतः प्रगति धीमी है, और यह प्रगति धीमी "**कार्यवशतः**" है।

(६) **नश्यद्बीजा**—बीज नश्यत् है, नष्ट नहीं हुआ। बीज का भ्रंश दो बार हुआ। (१) जब स्तनकलश ने अपना प्रयत्न किया किन्तु चाणक्य की चतुराई से बीज नष्ट होने से बच गया क्योंकि उसने देखा कि यह सारी राक्षस की चाल है। (२) चाणक्य और चन्द्रगुप्त की लड़ाई की सूचना पाकर चाणक्य न तो वन में गया और न ही उसने चन्द्रगुप्त के विनाश की प्रतिज्ञा की। राक्षस इस लड़ाई को वास्तविक मानने के लिये तैयार नहीं है। इसलिये उसने शकटदास से कहा कि "**नेदमुपपद्यते**"। किन्तु बीज बच गया जब शकटदास ने समाधान करते हुये कहा "**उपपद्यत एवैतत्**" और फिर राक्षस ने भी अनुमोदन किया '**एवमेतत्**"।

(७) **बहुप्रापितफला**—उस ओर इशारा है जब कि भागुरायण ने मलयकेतु के साथ करभक और राक्षस की छिपकर बातें सुनी और उसने राक्षस के विरोध में मलयकेतु के मन में संशय डाल दिया। यह सफलता में विश्वास पैदा करता है।

(८) **नियतिरिव**—जिसप्रकार फल के द्वारा भाग्य की प्रतीति होती है, उसी-प्रकार फल से ही नीति का ज्ञान होता है।

(९) तीसरे श्लोक को सन्धियों के अनुसार इसप्रकार विभक्त कर सकते हैं—

(१) **मुहुर्लक्ष्योद्भेदा**—**मुखसन्धि**। (२) **मुहुरधिगमाभावगहना मुहुरतिकृशा**-

कार्यवशतः—प्रतिमुखसन्धि । (३) मुहुर्नश्यद्बीजा—गर्भसन्धि । (४) मुहुः सम्पूर्णाङ्गी—विमर्शसन्धि । (५) मुहुरपि बहुप्रापितफले—निर्वहणसन्धि ।

\-\-\-\-\-\-\-\-\-

(प्रकाशम् ।) भद्र भासुरक, न मां दूरीभवन्तमिच्छति कुमारः । अतोऽस्मिन्नेवास्थानमण्डपे न्यस्यतामासनम् ।

पुरुषः—एदं आसणं । उपविसदु अज्जो । एतदासनम् । उपविशत्वार्यः ।

भागुरायणः – (उपविश्य ।) भद्र, यः कश्चिन्मुद्रार्थी मां द्रष्टुमिच्छति स त्वया प्रवेशयितव्यः ।

पुरुषः—जं अज्जो आणवेदि त्ति । (निष्क्रान्तः ।) यदार्य आज्ञापयति ।

भागुरायणः—(स्वगतम् ।) कष्टमेवमप्यस्मासु स्नेहवान्कुमारो मलयकेतुरतिसंधातव्य इत्यहो दुष्करम् । अथवा—

कुले लज्जायां च स्वयशसि च माने च विमुखः
शरीरं विक्रीय क्षणिकमपि लोभाद्धनवति ।
तदाज्ञां कुर्वाणो हितमहितमित्येतदधुना
विचारातिक्रान्तः किमिति परतन्त्रो विमृशति ॥४॥

संस्कृत-व्याख्या

अस्थानमण्डपे = सभामण्डपे । न्यस्यतां = स्थाप्यताम् । अतिसंधातव्यः = प्रतारणीयः । दुष्करं = कठिनम् ।

अन्वयः—कुले इति—लोभात् कुले लज्जायां च स्वयशसि च माने च विमुखः धनवति क्षणिकं शरीरम् अपि विक्रीय, तदाज्ञां कुर्वाणः विचारातिक्रान्तः परतन्त्रः अधुना एतत् हितम् इति अहितम् इति किमिति विमृशति ॥४॥

व्याख्या – लोभात् कुले-निजवंशे (तदनुसारिचरिते इति यावत्) लज्जायां—(अकार्यकरणजन्यायां) त्रपायां स्वयशसि--आत्मकीर्तौ माने च--प्रतिष्ठायां च विमुखः—पराङ्मुखः (भूत्वा) धनवति–धनस्वामिनि (चन्द्रगुप्ते) क्षणिकं-नश्वरं शरीरम् अपि विक्रीय-मूल्येन स्वदेहविक्रयं कृत्वा तदाज्ञां = तस्य-धनवतः आज्ञाम्-आदेशं कुर्वाणः—प्रतिपालयन् (अतएव) विचारातिक्रान्तः–अतिक्रान्तविचारसमयः परतन्त्रः—पराधीनः (मादृशो जनः) अधुना–सम्प्रति एतत् हितं-पथ्यम् (एतत्) अहितम्-अपथ्यम् इति (उचितमनुचितमित्यर्थः) किमिति–कथं विमृशति—चिन्तयति ॥४॥

हिन्दी रूपान्तर

(स्पष्टतः ।) भद्र भासुरक, कुमार (मलयकेतु) मुझको दूर होता हुआ (देखना) नहीं चाहते हैं । इसलिये इस ही सभामण्डप में आसन बिछा दो ।

पुरुष—यह आसन है । आर्य बैठिये ।

भागुरायण—(बैठकर ।) भद्र, जो कोई मुद्रा को चाहने वाला मुझे देखना चाहता है, वह तुम्हारे द्वारा प्रवेश कराया जाना चाहिये ।

पुरुष—जो आर्य आज्ञा देते हैं। (निकल गया।)

भागुरायण—(मन ही मन।) बड़े दुःख की बात है (कि) इसप्रकार हमारे प्रति स्नेह करने वाले कुमार मलयकेतु को भी धोखा दिया जाता है, यह दुःख (अहो) यह बड़ा कठोर कार्य है। अथवा

श्लोक (४) अर्थ—लाभ से कुल, लज्जा अपने यश और मान के विषय में विमुख (होकर) धन वाले (चन्द्रगुप्त) में (अपने) नश्वर शरीर को भी बेचकर चन्द्रगुप्त की आज्ञा को करता हुआ (अतएव) निकल गया है विचार करने का समय जिसका ऐसा (मुझ जैसा) पराधीन (व्यक्ति) अब यह हितकारी है, (यह) अहितकर है, यह क्यों (किमिति) सोचता है ॥४॥

टिप्पणी

(१) चतुर्थ श्लोक की प्रथम दो पंक्तियों का आशय यह है कि कुल, लज्जा यश और मान से अधिक धन को समझकर।

(२) **तदाज्ञाम्** = उस धनी व्यक्ति की आज्ञा को, जिसके हाथ में उसने अपने आपको बेचा है।

(३) **विचारातिक्रान्तः**—जहाँ अपने कर्तव्य और अकर्तव्य, हानि और लाभ के विषय में विचार का समय निकल गया है। इससे पहले ही विचार करने का समय था, अब नहीं रहा। अतः कुमार मलयकेतु को धोखा देने के लिये तैयार हूँ।

(४) **किमिति**—अब क्यों विचार करता है? यदि विचार करना ही था तो मलयकेतु की सेवा में आने से पूर्व करना था।

(ततः प्रविशति प्रतिहार्यनुगम्यमानो मलयकेतुः।)

मलयकेतुः—(स्वगतम्।) अहो राक्षसं प्रति विकल्पबाहुल्यादाकुला मे बुद्धिर्न निश्चयमधिगच्छति। कुतः—

भक्त्या नन्दकुलानुरागदृढया नन्दान्वयालम्बिना
किं चाणक्यनिराकृतेन कृतिना मौर्येण संधास्यते।
स्थैर्य भक्तिगुणस्य वाधिगणयन्किं सत्यसंधो भवे-
दित्यारूढकुलालचक्रमिव मे चेतश्चिरं भ्राम्यति ॥५॥

(प्रकाशम्।) विजये, क्व भागुरायणः।

संस्कृत-व्याख्या

विकल्पबाहुल्यात् = सन्देहप्राचुर्यात्। आकुला = संक्षुब्धा। अधिगच्छति = प्राप्नोति।

अन्वयः—भक्त्या इति—नन्दान्वयालम्बिना चाणक्यनिराकृतेन कृतिना मौर्येण नन्दकुलानुरागदृढया भक्त्या किं सन्धास्यते। किं वा भक्तिगुणस्य स्थैर्यम् अधिगणयन् सत्यसन्धो भवेत् इति आरूढकुलालचक्रम् इव मे चेतः चिरं भ्राम्यति ॥५॥

व्याख्या—(असौ राक्षसः) नन्दान्वयालम्बिना-नन्दवंशाश्रयिणा चाणक्यनिराकृतेन = चाणक्यस्य--कौटिल्यस्य निराकृतं--निराकरणं येन तेन कृतिना--कृतार्थेन, प्राप्तराज्येनेत्यर्थः मौर्येण—चन्द्रगुप्तेन सह नन्दकुलानुरागदृढया = नन्दकुले यः अनुरागः—प्रीतिः तेन दृढया--प्रगाढया भक्त्या किं सन्धास्यते-सन्धि करिष्यति । किं वा-अथवा (मया क्रियमाणस्य) भक्तिगुणस्य स्थैर्य-दाढ्र्यम् अधिगणयन्-आधिक्येन पश्यन् सत्यसन्धः = सत्या सन्धा—(नन्दराज्यं सर्वं तवैवास्त्विति पूर्वं कृता) प्रतिज्ञा यस्य स तथोक्तः भवेत्, इति-इत्थम् आरूढकुलालचक्र-कुम्भकारचक्रोपरिस्थितम् इव मे-मम चेतः-मनः चिरं-बहुकालं भ्राम्यति ।।४।।

हिन्दी रूपान्तर

(तत्पश्चात् प्रतीहारी से अनुसरण किया जाता हुआ मलयकेतु **प्रवेश** करता है ।)

मलयकेतु—(मन ही मन ।) अहो राक्षस के प्रति संदेहों की बहुलता के कारण व्याकुल मेरी बुद्धि (किसी) निश्चय को नहीं प्राप्त करती है । क्योंकि—

श्लोक (५) अर्थ—(वह राक्षस) नन्दवंश का अवलम्बन करने वाले चाणक्य का निराकरण करने वाले कृतकृत्य मौर्य चन्द्रगुप्त के साथ नन्दवंश में अनुराग होने से दृढ़ भक्ति के कारण क्या सन्धि कर लेगा अथवा (मेरी राक्षस के प्रति विद्यमान) भक्ति के गुण की स्थिरता को अधिक समझता हुआ क्या प्रतिज्ञा वाला होगा, इसप्रकार कुम्हार के चक्र पर चढ़े हुये के समान मेरा मन चिरकाल से घूम रहा है ।।५।।

(स्पष्टतः ।) विजये, भागुरायण कहाँ है ।

टिप्पणी

(१) **विकल्पबाहुल्यात्**—५ वें श्लोक में वर्णित दो ही विकल्प हैं—(१) क्या चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि कर लेगा अथवा (२) क्या मेरे प्रति सत्यप्रतिज्ञा वाला होगा । विकल्पों का बाहुल्य नहीं है । मलयकेतु के मन में यह संशय है कि क्योंकि राक्षस की नन्दवश के प्रति महती प्रीति है, अतः वह मौर्य के प्रति झुक सकता है और मेरी अपने प्रति दृढ़ भक्ति को देखकर सम्भवतः सत्यप्रतिज्ञा वाला भी हो सकता है । ये ही दो विकल्प हैं । इसप्रकार संदेह भक्ति और सत्यसन्धत्व में है । विशेषेण कल्पयते इति विकल्पः । कर्मणि घञ् । तस्य बाहुल्यम् तस्मात् ।

(२) **चाणक्यनिराकृतेन** जिसने चाणक्य का निराकरण कर दिया है ऐसे । चन्द्रगुप्त का यह विशेषण दो बातों को ध्वनित करता है—(१) कि राक्षस मौर्य से सन्धि कर सकता है । (२) और इस सन्धि करने के मूल में राक्षस की मन्त्रित्व के प्रति अभिलाषा है ।

(३) **कृतिना**—चन्द्रगुप्त के इस विशेषण से भी दो की ओर संकेत होता है । (१) क्योंकि चन्द्रगुप्त को राज्य की प्राप्ति हो गई है, अतः वह आश्रयणीय है । (२) और राज्य प्राप्ति हो जाने के परिणामतः राक्षस उससे सन्धि कर सकता है । कारण अब पुनः चन्द्रगुप्त चाणक्य के साथ सन्धि नहीं करेगा ।

प्रतीहारी—कुमार, एसो क्खु कडआदो णिक्कमिदुकामाणं मुद्दासंपादं ...णुट्ठिचदि। कुमार, एष खलु कटकान्निष्क्रमितुकामानां मुद्रासंप्रदानमनुतिष्ठति।

मलयकेतुः—विजये, मुहूर्तमसंचारा भव यावदस्य पराङ्मुखस्यैव पाणिभ्यां ...यने पिदधामि।

प्रतीहारी—जं कुमारो आणवेदि। यत्कुमार आज्ञापयति।

(प्रविश्य।)

पुरुषः—अज्ज, एसो क्खु खवणओ मुद्दाणिमित्तं अज्जं पेक्खिदुमिच्छदि। ...र्य, एष खलु क्षपणको मुद्रानिमित्तमार्यं प्रेक्षितुमिच्छति।

भागुरायणः—प्रवेशय।

पुरुषः—तथा। (इति निष्क्रान्तः।)

(प्रविश्य।)

क्षपणकः—धम्मसिद्धी सावगाणं होदु। धर्मसिद्धिः श्रावकाणां भवतु।

भागुरायणः—(अवलोक्य, स्वगतम्।) अये, राक्षसस्य मित्रं जीवसिद्धिः। (...काशम्।) न खलु राक्षसस्य प्रयोजनमेव किंचिदुद्दिश्य गम्यते।

क्षपणकः—सन्तं पावं सन्तं पावं। सावगा, तहिं गमिस्सं जहिं रक्खसस्स ...िसाचस्स वा णामं वि ण सुणीअदि। शान्तं पाप शान्तं पापम्। श्रावक, तत्र ...गमिष्यामि यत्र राक्षसस्य पिशाचस्य वा नामापि न श्रूयते।

भागुरायणः—बलवान्सुहृदि प्रणयकोपः। तत्किमपराद्धं राक्षसेन भदन्तस्य।

क्षपणकः—सावगा, ण मम किं वि रक्खसेण अवरद्धं। सअं जेव्व हदासो मन्दभाओ अत्तणो कम्मेसु लज्जे। श्रावक, न मे किमपि राक्षसेनापराद्धम्। स्वयमेव हताशो मन्दभाग्य आत्मनः कर्मसु लज्जे।

भागुरायणः—भदन्त, वर्धयसि मे कुतूहलम्। श्रोतुमिच्छामि।

मलयकेतुः—(स्वगतम्।) अहमपि श्रोतुमिच्छामि।

क्षपणकः—सावगा, किं अणेण असुणिदव्वेण सुदेण। श्रावक, किमनेनाश्रोतव्येन श्रुतेन।

भागुरायणः—यदि रहस्यं तत्तिष्ठतु।

क्षपणकः—ण रहस्सं किदु अदिणिसंसं। श्रावक, न रहस्यं किंत्वतिनृशंसम्।

भागुरायणः—यदि न रहस्यं तत्कथ्यताम् ।

क्षपणकः—सावगा, ण रहस्सं एदं । तहवि ण कहिस्सं । श्रावक, रनहस्य-मेतत् । तथापि न कथयिष्यामि ।

भागुरायणः—अहमपि मुद्रां न दास्यामि ।

क्षपणकः–(स्वगतम् ।) युक्तमिदानीमर्थिने कथयितुम् । (प्रकाशम्) का गई । सुणादु सावगो । अत्थि दाव अअं मन्दभग्गो पुढमं पाडलिउत्ते अहिणिवसमाणो लक्खसेण मित्तत्तणं उवगदे । तहिं अवसले लक्खसेण गूढं विसकण्णआपओअं उप्पादिअ घादिदे पव्वदीसले । का गतिः । श्रृणोतु श्रावकः । अस्ति तावदयं मन्दभाग्यः प्रथमं पाटलिपुत्रे अधिनिवसन् राक्षसेन मित्रत्वमुपगतः । तस्मिन्नवसरे राक्षसेन गूढं विषकन्यकाप्रयोगमुत्पाद्य घातितः पर्वतेश्वरः ।

संस्कृत-व्याख्या

निष्क्रमितुकामानां = निष्क्रमितुं कामो येषां तेषाम्, निर्गन्तुमुत्सुकानाम् । मुद्रासम्प्रदानं = गमनागमनादेशपत्रवितरणम् । अनुतिष्ठति = करोति । असञ्चारा = अविद्यमानः सञ्चारः अस्याः सा । पराङ्मुखस्य = परावर्तमानस्य । पिदधामि = छादयामि । अपराद्धम् = अपराधः कृतः । अश्रोतव्येन = आकर्णनायोग्येन । रहस्यम् = अप्रकाश्यम् । अतिनृशंसम् = अतिशयक्रूरम् । अर्थिने = आदरवते, आदरेण श्रुतं मत्कथितं तथात्वेनैव गृह्णीयादिति भावः । कथयितुम् = अभिधातुम् । गतिः = उपायः । गूढं = गुप्तम् । उत्पाद्य = कृत्वा । घातितः = विनाशितः ।

हिन्दी रूपान्तर

प्रतीहारी—कुमार, यह (भागुरायण) शिविर से बाहर जाने वालों को मुद्रा दे रहे हैं ।

मलयकेतु—विजये, क्षण भर के लिये गतिशून्य हो जा जब तक (मैं) दूसरी ओर मुख किये हुये ही (पराङ्मुखस्यैव) इसके नयनों को दोनों हाथों से बन्द करता हूँ ।

प्रतीहारी—जो कुमार आज्ञा देते है ।

(प्रवेश करके ।)

पुरुष—आर्य, यह क्षपणक मुद्रा (लेने) के लिये आर्य से मिलना (प्रेक्षितुम्) चाहता है ।

भागुरायण—प्रविष्ट कराओ ।

पुरुष—जो आज्ञा । (ऐसा कहकर निकल गया ।)

(प्रवेश करके ।)

क्षपणक—श्रावकों की (उपदेश सुनने वालों की) धर्मसिद्धि हो ।

भागुरायण—(देखकर मन ही मन ।) अरे, राक्षस का मित्र जीवसिद्धि है। (स्पष्टतः ।) राक्षस के किसी प्रयोजन को लक्ष्य करके (तो) नहीं जा रहे हो।

क्षपणक—पाप शान्त हो, पाप शान्त हो। श्रावक, (मैं तो) वहाँ जाऊंगा जहाँ राक्षस का अथवा पिशाच का नाम भी नहीं सुनाई देता है।

भागुरायण—(तुम्हारा) मित्र पर अत्यधिक स्नेहयुक्त क्रोध हैं। भदन्त का राक्षस ने क्या अपराध कर दिया है ?

क्षपणक—श्रावक, राक्षस ने मेरा कुछ भी अपराध नहीं किया है। निराश मन्दभाग्यशाली (मैं) अपने आप ही अपने कार्यों पर लज्जित होता हूँ।

भागुरायण—भदन्त, मेरे कौतूहल को बढ़ा रहे हो। सुनना चाहता हूँ।

मलयकेतु—(मन ही मन ।) मैं भी सुनना चाहता हूँ।

क्षपणक—इस न सुनने योग्य के सुनने से क्या (लाभ) ?

भागुरायण—यदि रहस्य की बात है तो रहने दो।

क्षपणक—श्रावक, रहस्य की बात नहीं है किन्तु अत्यन्त कठोर है।

भागुरायण—यदि रहस्य (की बात) नहीं है तो कहिये।

क्षपणक—श्रावक, यदि रहस्य (की बात) नहीं है। तब भी कहूँगा नहीं।

भागुरायण—मैं भी मुद्रा नहीं दूंगा।

क्षपणक—(मन ही मन ।) सम्प्रति आदर करने वाले को (अर्थिने) कहना ठीक हैं। (स्पष्टतः ।) क्या उपाय (गतिः) है। श्रावक, सुनिये। यह सत्य है कि (अस्ति तावत्) यह मन्दभाग्यशाली (मैं) पहले पाटलिपुत्र मे रहता हुआ राक्षस के साथ मैत्रीभाव को प्राप्त हो गया। उस समय (तस्मिन्नवसरे) राक्षस ने प्रच्छन्न विषकन्या का प्रयोग करके पर्वतेश्वर को (मेरे द्वारा) मरवा दिया।

टिप्पणी

(१) **निष्क्रमितुकामानाम्**—निष्क्रमितुं कामः एषाम्। "तुङ्काममनसोरपि" से म का लोप।

(२) **मुहूर्तमसंचारा भव**—इससे मलयकेतु की मूर्खता और भागुरायण की मलयकेतु को वश में करने की चतुराई सूचित होती हैं।

(३) **पाणिभ्यां नयने पिदधामि**—मलयकेतु का यह व्यवहार उसकी भागुरायण के साथ घनिष्ठता बताता है, जो कि एक युवक के साथ नहीं होनी चाहिये। इस खेल में एक व्यक्ति चुपचाप पीछे से आता है और दूसरे की आँखों को अपने हाथों में बन्द कर लेता है। दूसरा व्यक्ति आँख बन्द किये हुये ही स्पर्श के द्वारा उसको पहिचानने का प्रयास करता है। यह खेल आजकल भी खूब प्रचलित है।

(४) **पिदधामि=अपिदधामि**—यहाँ "अपि" उपसर्ग के 'अ' का लोप 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' से हुआ है।

(५) क्षपणक--चाणक्य पहले कह चुका है कि "तेनेदानीं महत्प्रयोजनमनुष्ठेयं भविष्यति"। प्रयो न है मलयकेतु को राक्षस से पृथक् कर देना। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये कवि ने क्षपणक जीवसिद्धि का प्रवेश कराया है। चाणक्य की नीति फल ला रही है।

(६) अये राक्षसस्य मित्रं जीवसिद्धिः--(क) आशय यह है कि इसके द्वारा मलयकेतु को राक्षस से अलग करना है। (ख) भागुरायण को मालूम है कि जीवसिद्धि चाणक्य का विश्वासपात्र प्रणिधि है और वह उसकी यहाँ आशा भी करता है।

(७) प्रणयकोपः--यह इसप्रकार का क्रोध नहीं होता है, जो मित्रता को सर्वात्मना तोड़ दे, परन्तु पुनरपि अपने मित्र के प्रति शिकायत करने का एक प्रकार है।

(८) अपराद्धं भदन्तस्य--अप + राध् (दिवादि) + क्त भावे = अपराद्धम्। "राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः" पा० १/४/३९ से चतुर्थी आनी चाहिये थी, किन्तु शेष की विवक्षा में षष्ठी का प्रयोग है।

(९) युक्तमिदानीम्--जीवसिद्धि यह तो मन ही मन चाहता है कि मैं अपनी बात भागुरायण से कह दूं किन्तु वह यह भी प्रभाव नहीं डालना चाहता कि मैंने बड़ी ही आसानी से यह बात कह दी है क्योंकि इस अवस्था में उस पर सन्देह किया जा सकता था। परन्तु जब भागुरायण ने बहुत अधिक जोर दिया और यहाँ तक कह दिया कि यदि तुम नहीं सुनाओगे तो मैं तुमको जाने के लिये आज्ञा-पत्र नहीं दूंगा तब जीवसिद्धि सुनाने के लिये तैयार हो जाता है। क्योंकि अब उसे विश्वास हो जाता है कि अब उसके समाचार पर विश्वास किया जा सकेगा।

(१०) अर्थिने = आदरवते = आदर करने वाले के लिये। अर्थात् यह आग्रहपूर्वक मुझसे पूछ रहा हैं। इससे मालूम पड़ता है कि यह सुनना चाहता है। अतः इस को जैसा भी मैं कह दूंगा, यह वैसा ही विश्वास कर लेगा।

(११) तस्मिन्नवसरे—(क) जीवसिद्धि जिस बात को यहाँ कह रहा है उस बात की अफवाह चाणक्य ने पहले ही फैला दी थी, परन्तु मलयकेतु तक यह अफवाह अभी तक नहीं आ पाई थी। चाणक्य ने यह अपवाद कैसे फैलाया इसको राक्षस जनता था, तभी तो उसने कहा था कि "परिहृतमयशः" इति। किन्तु साथ ही उसको यह भी विश्वास था कि इस अफवाह पर कोई भी विश्वास नहीं करेगा। (ख) मलयकेतु के मन में संदेह उत्पन्न कर दिया। (ग) राक्षस ने जीवसिद्धि को ही विषकन्या के लिये नियुक्त कर रक्खा था।

मलयकेतुः--(सबाष्पमात्मगतम्।) कथं राक्षसेन घातितस्तातो न चाणक्येन।

भागुरायण--भदन्त, ततस्ततः ।

क्षपणकः--नदो हगे लक्खसस्स मित्तं त्ति कदुअ चाणक्कहदएण सणि णअरादो णिव्वासिदो । दाणीं वि लक्खसेण अणेअलाअकज्जकुसलेण किंवि त आलहीअदि जेण हगे जीअलोआदो णिक्कासिज्जेमि । ततोऽहं राक्षसस्य मित्रं कृत्वा चाणक्यहतकेन सनिकारं नगरान्निर्वासितः इदानीमपि राक्षसेन राजकार्यकुशलेन किमपि* तादृशमारभ्यते येनाहं जीवलोकान्निष्कासिष्ये।

भागुरायणः--भदन्तः प्रतिश्रुतरज्यार्धमयच्छता चाणक्यहतकेनेदम मनुष्ठितं न राक्षसेनेति श्रुतमस्माभिः ।

क्षपणकः--(कर्णौ पिधाय ।) सन्तं पावं । चाणक्केण विसकण्णाए णामं सुदम् । शान्तं पापम् । चाणक्येन विषकन्याया नामापि न श्रुतम् ।

भागुरायण--मुद्रा दीयते । एहि कुमारं श्रावय ।

संस्कृत-व्याख्या

सनिकारम् = सापमानम् । निर्वासितः = निष्कासितः । तादृशम् = पर्वते घातनसदृशम् । जीवलोकात् = संसारात् । निष्कासिष्ये = निर्वासिष्ये । प्रतिश्रुतरा र्धम् = प्रतिज्ञातराज्यार्धभागम् । अयच्छता = अददता ।

हिन्दी रूपान्तर

मलयकेतु--(अश्रुओं के साथ मन ही मन ।) क्या (कथम्) राक्षस ने पिता मरवाया था चाणक्य ने नहीं ।

भागुरायण--भदन्त, उसके बाद ।

क्षपणक--उसके बाद मैं राक्षस का मित्र हूँ ऐसा करके दुष्ट चाणक्य के अपमान के साथ नगर के बाहर निकलवा दिया गया । इस समय भी अनेक प्रकार राज्य के कार्यों में कुशल राक्षस ने वैसा (कार्य) प्रारम्भ किया है, जिससे मैं संसार से निकाल दिया जाऊंगा ।

भागुरायण—भदन्त, प्रतिज्ञा किये हुये राज्य के आधे भाग को न देते हुये चाणक्य ने यह अनुचित कार्य किया है, राक्षस ने नहीं—यह हमने सुना है ।

क्षपणक—(दोनों कानों को बन्द करके ।) पाप शान्त हो । चाणक्य ने विषकन्या का नाम भी नहीं सुना है ।

भागुरायण—मुद्रा दी जाती है । आओ कुमार को सुनाओ ।

***गूढार्थ** = तादृशम् = अर्थात् पर्वतेश्वर को मारने के समान मलयकेतु पकड़ने रूप कार्य को— यह गूढ भाव है ।

टिप्पणी

(१) राक्षसस्य मित्रमिति कृत्वा—वस्तुतः सचाई यह है कि वह हमेशा चाणक्य के साथ था और जब राक्षस ने इसको चन्द्रगुप्त को मारने के लिये विष कन्या के प्रयोग के लिये नियुक्त किया था उस समय इसने ही उसको चन्द्रगुप्त

स्थान पर पर्वतक पर प्रयुक्त कर दिया था। इसप्रकार राक्षस के प्रयोग को जीवसिद्धि ने स्वयं ही विफल कर दिया था। राक्षस का क्योंकि इसमें प्रगाढ़ विश्वास था, इसलिये समझ ही नहीं पाया कि इस व्यतिक्रम के रहस्य का क्या समाधान किया जाय। परिणामतः उसने दैव को इसके लिये दोषी ठहराया।

(२) **जीवलोकान्निष्कासिष्ये**—संसार से निकाल दिया जाऊँगा अर्थात् राक्षस की मित्रता के कारण पहले तो मुझे चाणक्य ने केवल पाटलिपुत्र नगर से ही बाहर किया था किन्तु अब जिस काम को करने राक्षस जा रहा है उससे तो मैं मार ही डाला जाऊँगा। इसलिये मैं पहले ही इस नगर से बाहर जाकर राक्षस के साथ अपने सम्बन्ध को विच्छेद करके अपने प्राणों को बचाने का प्रयत्न कर रहा हूँ। दोष मेरा केवल इतना ही है कि व्यक्ति मुझे राक्षस का मित्र समझते हैं। इसीलिये उसने कहा है कि '**तत्र गमिष्यामि यत्र राक्षसस्य पिशाचस्य वा नामापि न श्रूयते**'।

मलयकेतुः—(उपसृत्य।)

श्रुतं सखे श्रवणविदारणं वचः
सुहृन्मुखाद्रिपुमधिकृत्य भाषितम्।
पितुर्वधव्यसनमिदं हि येन मे
चिरादपि द्विगुणमिवाद्य वर्धते ॥६॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—**श्रुतमिति**—सखे, सुहृन्मुखात् रिपुम् अधिकृत्य भाषितं श्रवणविदारणं वचः श्रुतम्। येन हि इदम् मे पितुर्वधव्यसनं चिरादपि अद्य द्विगुणम् इव वर्धते ॥६॥

व्याख्या—सखे—हे मित्र (भागुरायण), सुहृन्मुखात्=सुहृद -राक्षसस्यैव मित्रस्य (क्षपणकस्य) मुखात् रिपुं-शत्रुं, राक्षसमित्यर्थः अधिकृत्य-उद्दिश्य भाषितं—कथितं श्रवणविदारणम्=श्रवणयोः-कर्णयोः विदारणं-भेदकं वचः-वचनं श्रुतम्—आकर्णितम् (तत् अस्य पुनः श्रवणं निष्प्रयोजनम्)। येन-श्रवणेन हि इदं मे-मम पितुर्वधव्यसनं=पितृविनाशजनितदुःखं चिरादपि=चिराज्जातमपि अद्य-अस्मिन् क्षणे द्विगुणम् इव वर्द्धते ॥६।

हिन्दी रूपान्तर

मलयकेतु—(पास जाकर)।

श्लोक (६) अर्थ—हे मित्र (भागुरायण), (राक्षस के) मित्र के मुख से (मेरे) शत्रु (राक्षस) को लक्ष्य करके कहा हुआ कानों को विदीर्ण करने वाला वचन (मैंने) सुन लिया (अतः उसका पुनः सुनाना व्यर्थ है)। जिस (सुनने) से यह मेरे पिता के वध से उत्पन्न होने वाला दुःख (व्यसनम्) बहुत दिन हो जाने से भी आज मानों दुगुने रूप में बढ़ रहा है ॥६॥

टिप्पणी

(१) **श्रवणविदारणम्**—विदारयति इति वि + दारि + ल्युट् कर्तरि बाहुलकात् विदारणम् । श्रवणयोः विदारणम् ।

(१) **सुहृन्मुखात्**—(क) सुहृत, मित्र, सखा और बन्धु में अन्तर—

अत्यागसहनो बन्धुः सदैवानुमतः सुहृत् ।
एकक्रियं भवेन्मित्रं समप्राणः सखा मतः ॥

(ख) राक्षस के मित्र के मुख से सुना है, अतः मिथ्या होने की कोई सम्भावना ही नहीं है ।

(३) **रिपुम्**—समाचार भयानक है = **श्रवणविदारणम्** । विश्वसनीय है क्योंकि "**सुहृन्मुखात्**" है । अतः राक्षस मेरा शत्रु है । इतना मात्र मलयकेतु और राक्षस में परस्पर भेद के लिये पर्याप्त है । चाणक्य यही चाहता है ।

(४) **द्विगुणमिवाद्य वर्धते**—शत्रु चाणक्य ने मेरे पिता को मरवाया है—यह सोचकर तो दुःख मानना ठीक है, परन्तु मित्र के समान पूज्य राक्षस ने मरवाया है—यह जानकर तो दुःख मेरे लिये असह्य हो गया है ।

क्षपणकः—(स्वगतम् ।) अये, श्रुतं मलयकेतुहतकेन । हन्त कृतार्थोऽस्मि । (इति निष्क्रान्तः ।)

मलयकेतुः—(प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा ।) राक्षस राक्षस, युक्तं युक्तम् ।

मित्रं ममेदमिति निर्वृतचित्तवृत्ति
विश्रम्भतस्त्वयि निवेशितसर्वकार्यम् ।
तातं निपात्य सह बन्धुजनाश्रुतोयै-
रन्वर्थतोऽपि ननु राक्षस राक्षसोऽसि ॥७॥

संस्कृत-व्याख्या

मलयकेतुहतकेन = दुष्टेन मलयकेतुना । हन्त—हर्षेऽव्ययम् । कृतार्थः = कृतकृत्यः ।

अन्वयः—मित्रमिति—इदं मम मित्रम् इति विश्रम्भतः त्वयि निवेशितसर्वकार्यं निर्वृतचित्तवृत्तिं तातं बन्धुजनाश्रुतोयैः सह निपात्य राक्षस, ननु अन्वर्थतः अपि राक्षसः असि ॥७॥

व्याख्या—इदम्—अयं राक्षसः मम मित्रं—सुहृत् इति विश्रम्भतः-विश्वासात् त्वयि-राक्षसे निवेशितसर्वकार्यं = निवेशितं-समर्पितं सर्वकार्यं--निखिलराज्यतन्त्रं येन तादृशम् (अतएव) निर्वृतचित्तवृत्तिं = निर्वृता--निश्चिन्ता चित्तवृत्तिः—मनोवृत्तिः यस्य तादृशं तात—(मम) पितरं बन्धुजनाश्रुतोयैः = बन्धुजनानाम् अश्रुतोयैः = नेत्रजलैः

सह निपात्य-पातयित्वा, प्राणैर्वियोज्येत्यर्थः हे राक्षस, (त्वम्) ननु अन्वर्थतः—योगार्थतोऽपि राक्षसः असि (न केवलं नाम्ना राक्षसस्त्वं परन्तु कर्मणानेन यथार्थमेव राक्षसः संवृत्तोऽसि ।) ॥७॥

हिन्दी रूपान्तर

क्षपणक—(मन ही मन ।) अरे, दुष्ट मलयकेतु ने सुन लिया। बड़ी प्रसन्नता की बात है (हन्त) मैं कृतकृत्य हो गया हूँ ।

(ऐसा सोचकर निकल गया ।)

मलयकेतु—(प्रत्यक्ष के समान आकाश में लक्ष्य बाँधकर ।) राक्षस राक्षस; ठीक है ठीक है ।

श्लोक (७) अर्थ—यह (राक्षस) मेरा मित्र है, इसप्रकार विश्वास के कारण तुम्हारे ऊपर सम्पूर्ण कार्यजात को सौंप देने वाले (अतएव) निश्चिन्त चित्तवृत्ति वाले (मेरे) पिता (पर्वतेश्वर) को वन्धुजनों से अश्रुजलों के साथ मारकर हे राक्षस, (तुम) वस्तुतः (ननु) अर्थ की दृष्टि से भी राक्षस (निशाचर) हो (अर्थात् केवल तुम नाम्ना ही राक्षस नहीं हो अपितु इस कार्य के करने में यथार्थ में ही राक्षस हो ।) ॥७॥

टिप्पणी

(१) **अये, श्रुतम्**—क्षपणक को नहीं मालूम कि मलयकेतु सुन रहा है, परन्तु वह उसकी बात से तीन निष्कर्ष निकालता है—(१) उसने सब कुछ सुन लिया । (२) समाचार को सत्य समझा । (३) राक्षस को शत्रु के समान समझने लगा ।

(२) **कृतार्थोऽस्मि**—"**तेनेदानीं महत्प्रयोजनमनुष्ठेयं भविष्यति**"—इस पूर्वोक्त कार्य के सम्पन्न हो जाने से "**कृतार्थोऽस्मि**" कहा है । "**सुहृन्मुखाद्रिपुमधिकृत्य**" ऐसा मलयकेतु के कहने से उसने मुझे मित्रत्वेन व्यवहार किया है, अतः मेरी बात पर विश्वास भी करेगा और राक्षस को शत्रु के रूप में समझा है इसलिये भी कृतार्थता है । पर्वतक को मारने का दोष राक्षस पर डाल चुका है—अतः कृतार्थ हूँ । मैंने अपना कार्य पूरा कर दिया, अतः कृतकृत्य हूँ । उनकी इच्छा थी कि यह समाचार भागुरायण जाकर मलयकेतु को सुना दे परन्तु उसकी यह इच्छा अनायास ही पूरी हो गई और खूब अच्छी प्रकार से पूरी हुई है ।

(३) **मित्र ममेदम्**—इससे मालूम पड़ता है कि राक्षस और पर्वतक की पहले बड़ी घनिष्ठ मित्रता थी । किन्तु पश्चात् चाणक्य ने "मैं तुमको आधा राज्य दे दूंगा ।" ऐसा उसको प्रलोभन देकर राक्षस से पृथक् करके अपने पक्ष में कर लिया था । इसीलिये भागुरायण मलयकेतु को आश्वस्त करता हुआ कहता है कि उस समय राक्षस का पर्वतक चन्द्रगुप्त से भी बढ़कर शत्रु था ।

"**तस्मिन्काले सर्वार्थसिद्धिं राजानं**······**महानरातिरासीत्**

(४) **बन्धुजनाश्रुतोयैः**—सभी बान्धवों ने उस समय नेत्रों से अश्रु गिराये किन्तु तुमने अपने क्रूर कर्म से पिता को गिराया ।

(५) अन्वर्थतः—अनुगतः अर्थः अन्वर्थः तेन । "तृतीयायास्तसिः" । अभी तक तो तुम नाम्ना ही राक्षस थे किन्तु सम्प्रति इस कार्य के करने से कर्मणा भी राक्षस हो गये हो । अतः सार्थक नाम वाले हो ।

भागुरायणः—(स्वगतम् ।) रक्षणीया राक्षसस्य प्राणा इत्यार्यादेशः । भवत्वेवं तावत् । (प्रकाशम् ।) कुमार, अलमावेगेन । आसनस्थं किंचिद्विज्ञापयितुमिच्छामि ।

मलयकेतुः—(उपविश्य ।) सखे, किमसि वक्तुकामः ।

भागुरायणः—कुमार, इह खल्वर्थशास्त्रव्यवहारिणामर्थवशादरिमित्रोदासीनव्यवस्था न लौकिकानामिव स्वेच्छावशात् । यतस्तस्मिन्काले सर्वार्थसिद्धि राजानमिच्छतो राक्षसस्य चन्द्रगुप्तादपि बलीयस्तया सुगृहीतनामा देवः पर्वतेश्वर एवार्थपरिपन्थी महानरातिरासीत् । तस्मिंश्च राक्षसेनेदमनुष्ठितमिति नास्ति दोष एवात्रेति पश्यामि । पश्यतु कुमारः ।

संस्कृत-व्याख्या

आवेगेन = क्रोधेन । विज्ञापयितुं = निवेदयितुम् । अर्थशास्त्रव्यवहारिणाम् = अर्थशास्त्रेण व्यवहर्तुं शीलमेषां तेषाम्, नीतितन्त्रानुसरणशीलानाम् । अर्थवशात् = प्रयोजनवशात् । अरिमित्रोदासीनव्यवस्था = (अयं) अरिः—शत्रुः (अयं) मित्रं—सखा (अयं) उदासीनः—मध्यस्थः न शत्रुः न मित्रमित्यर्थः इत्येवरूपा व्यवस्था—व्यवस्थितिः । लौकिकानां = लोकानुसरणशीलानाम् । बलीयस्तया = बलवत्तया । सुगृहीतनामा = प्रातःस्मरणीयाभिधेयः । अर्थपरिपन्थी = स्वार्थविघातकः । अरातिः = शत्रुः । अनुष्ठितं = कृतम् ।

हिन्दी रूपान्तर

भागुरायण—(मन ही मन ।) राक्षस के प्राणों की रक्षा करनी चाहिये यह आर्य (चाणक्य) का आदेश है । अच्छा इसप्रकार (करता हूँ) । (स्पष्टतः ।) कुमार, क्रोध से बस । आसन पर बैठे हुये कुमार से कुछ निवेदन करना चाहता हूँ ।

मलयकेतु—(बैठकर ।) मित्र, क्या कहने की इच्छा वाले हो ?

भागुरायण—कुमार, इस संसार में नीतिशास्त्र का व्यवहार करने वालों की कार्यवश शत्रु, मित्र और तटस्थ की व्यवस्था होती है, साधारण व्यक्तियों के समान अपनी इच्छा के अनुसार नहीं । क्योंकि उस समय सर्वार्थसिद्धि को राजा (बनाना) चाहते हुये राक्षस का चन्द्रगुप्त से भी अधिक बलवान् होने के कारण प्रातः स्मरणीय महाराज पर्वतेश्वर ही स्वार्थ में बाधक (अर्थपरिपन्थी) महान् शत्रु था और उस (अवस्था) में राक्षस ने (कार्य) किया इसलिये (अत्र) राक्षस का दोष ही नहीं है, ऐसा समझता हूँ (इति पश्यामि) । कुमार देखिये ।

टिप्पणी

(१) अर्थशास्त्रव्यवहारिणाम्—अर्थ = धन । अर्थस्य शास्त्रम् । यहाँ राजनीति अर्थ है । तेन व्यवहरन्ति इति अर्थशास्त्र + वि + अव + हृ + णिनि कर्तरि ताच्छील्ये ।

(२) लौकिकानाम्—लोके भवाः लौकिकाः तेषाम् ।

(३) तस्मिन्काले सर्वार्थसिद्धिं राजानमिच्छतः······**पर्वतेश्वर एवार्थपरिपन्थी**–इससे मालूम पड़ता है कि जिस समय पर्वतेश्वर की हत्या की गई थी, उस समय सर्वार्थसिद्धि जीवित था ।

(४) अर्थपरिपन्थी—परि-दोषाख्यानं पंथयितुं शीलं यस्य । परि + पथि (गतौ चुरादि) + णिनि कर्तरि ताच्छील्ये परिपन्थी । अर्थस्य परिपन्थी । यद्यपि पर्वतेश्वर पहले मित्र था किन्तु बाद में जाकर शत्रु हो गया—महानरातिः ।

मित्राणि शत्रुत्वमुपानयन्ती मित्रत्वमर्थस्य वशाच्च शत्रून् ।
नीतिर्नयत्यस्मृतपूर्ववृत्त जन्मान्तर जीवत एव पुंसः ॥८॥

तदत्र वस्तुनि नोपालम्भनीयो राक्षसः । आ नन्दराज्यलाभादुपग्राह्यश्च । परतश्च परिग्रहे वा परित्यागे वा कुमारः प्रमाणम् ।

मलयकेतुः—एवं सखे, सम्यग्दृष्टवानसि । यतोऽमात्यवधे प्रकृतिक्षोभः स्यादेवं च संदिग्धो विजयः ।

(प्रविश्य ।)

पुरुषः—जेदु कुमारो । अज्ज, गुम्मट्ठाणाधिकिदो दीहरक्खो विण्णवेदि—'एसो क्खु अम्हेहि कडआदो णिक्कमन्तो अगहीदमुद्दो सलेहो पुरिसो गहीदो । ता पच्चक्खीकरेदु ण अज्जो, त्ति । जयतु कुमारः । आर्य, गुल्मस्थानाधिकृतो दीर्घरक्षो विज्ञापयति—'एष खल्वस्माभिः कटकान्निष्कामन्नगृहीतमुद्रः सलेखः पुरुषो गृहीतः । तत्प्रत्यक्षीकरोत्वेनमार्यः इति ।

भागुरायणः—भद्र, प्रवेशय ।

पुरुषः—तह । (इति निष्क्रान्तः ।) तथा ।

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—मित्राणीति—नीतिः अर्थस्य वशात् मित्राणि शत्रुत्वं शत्रून् च मित्रत्वम् उपानयन्ती जीवतः एव पुंसः अस्मृतपूर्ववृत्तं जन्मान्तरं नयति ॥८॥

व्याख्या—नीतिः–राजनीतिः अर्थस्य–प्रयोजनस्य वशात्–अनुरोधात् मित्राणि–सुहृदः शत्रुत्वम्–अरितां शत्रून्–अरीन् च मित्रत्वं–सुहृत्ताम् उपानयन्ती–प्रापयन्ती जीवतः–अमृतान् एव पुंसः—पुरुषान् अस्मृतपूर्ववृत्तम् = अस्मृतं—स्मृतिपथमनारूढं

पूर्ववृत्तं—प्राग्व्यवहारः, पूर्वसम्बन्ध इत्यर्थः यस्मिन् तत् जन्मान्तरम्—अन्यज्जन्म नयति-प्रापयति ॥८॥

अत्र वस्तुनि=अस्मिन् पर्वतेश्वरवधे इत्यर्थः । परतः=पश्चात् । परिग्रहे—ग्रहणे । दृष्टवान्=विचारितवान् । प्रकृतिक्षोभः=प्रजाविरागः । गुल्मस्थानाधिकृतः=गुल्मस्थाने अधिकृतः-नियुक्तः । अगृहीतमुद्रः=अगृहीता मुद्रा येन सः । प्रत्यक्षी-करोतु=पश्यतु ।

हिन्दी रूपान्तर

श्लोक (८) अर्थ—राजनीति प्रयोजन के कारण मित्रों को शत्रुभाव का और शत्रुओं को मैत्रीभाव को प्राप्त कराती हुई जीते हुये ही मनुष्य को स्मरण नहीं रहे हैं सम्पूर्ण पूर्व व्यवहार जिसमें ऐसे दूसरे जन्म को ले जाती है ॥८॥

इसलिये इस (पर्वतेश्वर के वध के) विषय में राक्षस को उलाहना नहीं देना चाहिये और नन्दराज्य की प्राप्ति तक इसी रूप में रखना चाहिये (उपग्राह्यः)। और इसके पश्चात् (राज्यप्राप्ति के अनन्तर) स्वीकार करने में अथवा छोड़ने में कुमार प्रमाण हैं।

मलयकेतु—इसीप्रकार मित्र। (तुमने) ठीक सोचा है। क्योंकि अमात्य राक्षस का वध करने पर प्रजाओं में विद्रोह हो जावेगा और इसप्रकार विजय संदिग्ध हो जावेगी।

(प्रवेश करके।)

पुरुष—कुमार की विजय हो। आर्य, गुल्मस्थान पर नियुक्त दीर्घरक्ष निवेदन करता है— 'हमने शिविर से बाहर मुद्रा को बिना लिये निकलता हुआ लेख के साथ यह पुरुष पकड़ा है। तो आर्य इसको (स्वयम्) देखें (प्रत्यक्षीकरोतु)" इति।

भागुरायण—भद्र, प्रविष्ट कराओ।

पुरुष—जो आज्ञा, (ऐसा कहकर निकल गया।)

टिप्पणी

(१) **अस्मृतपूर्ववृत्तम्**—ऐसा राजनीति और दूसरे जन्म-दोनों में होता है। पूर्व जन्म की बातें इस जन्म में स्मरण नहीं रहती है। इसीप्रकार राजनीति में भी पहले किये हुये उपकार या अपकार आगे चलकर किसी प्रयोजन के कारण भुला दिये जाते हैं। जहाँ तक पूर्व किये हुये कार्यों के स्मरण का प्रश्न है—दोनों में समानता है परन्तु इन दोनों में एक अन्तर भी है, और वह है कि राजनीति के अन्दर व्यक्ति इसी जन्म में इसी शरीर से व्यवहार करता हुआ दूसरे के पूर्व कर्मों को भूल जाता है।

(२) ८ वें श्लोक का आशय यह है कि जिसप्रकार दूसरे जन्म में पहले जन्म में किये हुये कर्मों का स्मरण नहीं रहता है, उसीप्रकार मनुष्य का राजनीति के अन्दर मित्रता होने के उपरान्त पहले किये हुये अपकारादि का स्मरण नहीं रहता है। राजनीतिज्ञ अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये अपने मित्र की मित्रता को भूलकर

शत्रु के समान उसको देखता है। अतः यदि राक्षस ने उस समय पर्वतेश्वर के प्रति शत्रु के समान आचरण किया तो इसमें राक्षस का कोई दोष नहीं है।

(३) उपग्राह्यः—उप + ग्रह + ण्यत् कर्मणि। राक्षस को अपने इसी पद पर इसी रूप में रहने देना चाहिये। केवल इतना करना चाहिये कि उसकी प्रत्येक गतिविधि पर हमको अपनी दृष्टि रखनी चाहिये।

(४) अमात्यवधे—राक्षस मलयकेतु का अमात्य नहीं है अपितु नन्द का अमात्य है। कुछ समय तक पर्वतक का भी अमात्य रहा था। मलयकेतु का अमात्य तो भागुरायण है। तृतीय अङ्क में आ चुका है "अमात्यपदं ग्राहितः"।

(५) प्रकृतिक्षोभः—प्रकृति = प्रजा, वे प्रजायें जो कुसुमपुर में रहती हैं और नन्द के प्रति अनुरक्त हैं। प्रकृतीनां क्षोभः।

(६) जयतु कुमारः—"कुमार" मलयकेतु के लिये आया है।

(७) आर्य – यह सम्बोधन भागुरायण के लिये है, कुमार मलयकेतु के लिये नहीं।

(८) सलेखः पुरुषो गृहीतः—दीर्घरक्ष ने सिद्धार्थक की बगल में रखी हुई आभूषणों की पेटी नहीं देखी थी, अतः उसकी सूचना यहाँ नहीं दी गई है।

(ततः प्रविशति पुरुषेणानुगम्यमानः संयतः सिद्धार्थकः।)

सिद्धार्थकः—(स्वगतम्।)

आणंतीए गुणेसु दोसेसु परंमुहं कुणन्तीए।
अम्हारिसजणणीए पणमामो सामिभत्तीए ॥६॥
आनयन्त्यै गुणेषु, दोषेषु पराङ्मुखं कुर्वत्यै।
अस्मादृशजनन्यै प्रणमामः स्वामिभक्त्यै ॥६॥

पुरुषः—अज्ज, अअं सो पुरिसो। आर्य, अयं स पुरुषः।

भागुरायणः—(नाट्येनावलोक्य।) भद्र, किमयमागन्तुक आहोस्विदिहैव कस्यचित् परिग्रहः।

सिद्धार्थकः—अज्ज, अहं क्खु अमच्चरक्खसस्स सेवओ। आर्य, अहं खलु अमात्यराक्षसस्य सेवकः।

भागुरायणः—भद्र, तत्किमगृहीतमुद्रः कटकान्निष्क्रामसि।

सिद्धार्थकः—अज्ज, कज्जगोरवेण तुवराविदोम्हि। आर्य, कार्यगौरवेण त्वरायितोऽस्मि।

भागुरायणः—कीदृश तत्कार्यगौरवं यद्राजशासनमुल्लंघयति!

मलयकेतुः—सखे भागुरायण, लेखमपनय ।

भागुरायणः—(सिद्धार्थकहस्तादगृहीत्वा पत्रमुद्रां दृष्ट्वा ।) कुमार, अयं लेखः । राक्षसनामाङ्कितेयं मुद्रा ।

मलयकेतुः—मुद्रां परिपालयन्नुद्घाटच दर्शय ।

(भागुरायणस्तथा कृत्वा दर्शयति ।)

संस्कृत-व्याख्या

संयतः=बद्धः ।

अन्वयः—आनयन्त्यै इति—दोषेषु पराङ्मुखं कुर्वत्यै, गुणेषु आनयन्त्यै अस्यादृशजनन्यै स्वामिभक्त्यै प्रणमामः ॥१॥

व्याख्या—(दोषवति कार्ये प्रवृत्त्यापि) दोषेषु पराङ्मुखं—दोषानगणयन्तं कुर्वत्यै-विदधत्यै (प्रत्युत) गुणेषु-गुणपक्ष एव आनयन्त्यै-प्रापयन्त्यै अस्मादृशजनन्यै=अस्मादृशानां-मद्विधानां सेवकानां जनन्यै-मातृरूपायै स्वामिभक्त्यै-स्वामिभक्ति—मनुकूलयितुम् इत्यर्थः प्रणमामः-नमस्कुर्मः ॥६॥

आगन्तुकः=अन्यस्मात्स्थानात्साम्प्रतमत्रागतः । आहोस्वित्=अथवा । परिग्रहः=सेवकः । त्वरायितः=त्वरां—शीघ्रताम् अयितः—गमितः । राजशासनं=नृपादेशम् । परिपालयन्=संरक्षन् ।

हिन्दी रूपान्तर

(तत्पश्चात् पुरुष से अनुसरण किया जाता हुआ बँधा हुआ सिद्धार्थक प्रवेश करता है ।)

सिद्धार्थक—(मन ही मन ।)

श्लोक (६) अर्थ—(दोषयुक्त कार्यों को करते हुये भी) दोषों के विषय में विमुख करने वाली (अर्थात् दोषों को दोष न समझने वाला बनाने वाली) (अपितु उनको) गुणों में (अर्थात् उन दोषों को भी गुणपक्ष में ही) लाने वाली हम जैसे व्यक्तियों के लिये मातृतुल्य स्वामीभक्ति के लिये (हम) प्रणाम करते हैं ॥६॥

पुरुष—आर्य, यह वह पुरुष है ।

भागुरायण—(अभिनय के साथ देखकर ।) भद्र, क्या यह आगन्तुक है अथवा यहीं (रहने वाले) किसी का सेवक है ।

सिद्धार्थक—आर्य, मैं अमात्य राक्षस का सेवक हूँ ।

भागुरायण—भद्र, तो क्यों बिना मुद्रा लिये शिविर से बाहर निकल रहे हो ।

सिद्धार्थक—आर्य, कार्य के गौरव के कारण शीघ्रता कराया गया हूँ ।

भागुरायण—कैसा वह कार्य का गौरव है जो (तुमसे) राजा की आज्ञा का उल्लंघन करवा रहा है ।

मलयकेतु— मित्र भागुरायण, लेख को ले लो।

भागुरायण—(सिद्धार्थक के हाथ से लेकर पत्र की मुद्रा को देखकर।) कुमार, यह लेख है। (और) राक्षस के नाम से अङ्कित यह मुद्रा है।

मलयकेतु—मुद्रा को बचाते हुये (परिपालयन्) खोलकर दिखाओ।

(भागुरायण वैसा करके दिखलाता है।)

टिप्पणी

(१) आनयन्त्यै गुणेषु—किये हुये प्रत्येक कार्य को सत्कार्य के रूप में लाती हुई और दोषों के प्रति आँखों को बन्द करती हुई।

(२) स्वामिभक्त्यै—"क्रियया यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्" (वार्तिक) से चतुर्थी है।

(३) ९ वें श्लोक का आशय यह है कि स्वामिभक्ति के कारण स्वामी के कार्य को सिद्ध करने के लिये किया हुआ अनुचित कार्य भी गुणपक्ष में ही गिना जाता है, दोषपक्ष में नहीं। जिसप्रकार माता के गुणों को ही ग्रहण करते हैं और दोषों की उपेक्षा करते हैं उसीप्रकार मेरी जननीरूपा यह राजभक्ति है। इससे प्रेरित होकर दोषयुक्त होता हुआ भी आज राक्षस को धोखा देने वाला काम करूंगा।

(४) आगन्तुकः—यद्यपि भागुरायण सिद्धार्थक को पहिचानता है क्योंकि दोनों ने साथ ही चन्द्रगुप्त को छोड़ा है, तथापि अपरिचित के समान व्यवहार किया है।

(५) परिग्रहः—परिगृह्यते इति परि + ग्रह् + अप् कर्मणि = सेवक।

(६) मुद्रां परिपालयन्—पत्र और अलंकरण पेटिका की मुद्रा की रक्षा केवल इसलिये की जा रही है कि बाद में राक्षस के साथ बात करते हुये इसको प्रमाण के रूप में रखा जावेगा।

(७) उद्घाट्य - उद् + घट् (संघाते चुरादि) + ल्यप्।

मलयकेतुः—(वाचयति।) स्वस्ति यथास्थानं कुतोऽपि कोऽपि कमपि पुरुषविशेषमवगमयति। अस्मत्प्रतिपक्षं निराकृत्य दर्शिता कापि सत्यता सत्यवादिना। सांप्रतमेतेषामपि प्रथममुपन्यस्तसंधीनामस्मत्सुहृदां पूर्वप्रतिज्ञातसंधिपरिपणनप्रोत्साहनेन सत्यसंधः प्रीतिमुत्पादयितुमर्हति। एतेऽप्येवमनुगृहीताः सन्तः स्वाश्रयविनाशेनोपकारिणमाश्रयिष्यन्ति। अविस्मृतमेतत्सत्यवतः स्मारयामः। एतेषां मध्ये केचिदरेः कोषदण्डाभ्यामर्थिनः केचिद्विषयेणेति। अलंकारत्रयं च सत्यवता यदनुप्रेषितं तदुपगतम्। मयापि लेखस्याशून्यार्थं किंचिदनुप्रेषितं तदुपगमनीयम्। वाचिकं चाप्ततमादस्माच्छ्रोतव्यमिति।

मलयकेतुः—भागुरायण, कीदृशो लेखः।

संस्कृत-व्याख्या

अवगमयति = विज्ञापयति । उपन्यस्तसन्धीनाम् = उपन्यस्तः–प्रस्तावितः सन्धिः येभ्यस्तेषाम् । पूर्वप्रतिज्ञातसन्धिपरिपणनप्रोत्साहनेन = पूर्व-प्राक् प्रतिज्ञातस्य-प्रतिश्रुतस्य सन्धेः परिपणनस्य–मूल्यस्य प्रोत्साहनेन–अवश्यं दास्यामीत्याश्वासनेन । सत्यसन्धः = सत्यप्रतिज्ञः । अविस्मृतं = स्मृतपीत्यर्थः । स्मारयामः–स्मृतिपथं प्रापयामः । अनुप्रेषितं = प्रहितम् । उपगतं = प्राप्तम् । उपगमनीयं = स्वीकरणीयम् । वाचिकं = मौखिकम् । आप्ततमात् = अतिविश्वासभाजनात् ।

हिन्दी रूपान्तर

मलयकेतु—(पढ़ता है ।) कल्याण हो, कहीं से भी अर्थात् किसी भी स्थान से कोई भी किसी भी विशिष्ट पुरुष को यथास्थान सूचित करता है । हमारे प्रतिपक्षी (चाणक्य) का निराकरण करके सत्यवादी (आप) ने कोई भी अर्थात् अकल्पनीय (कापि) सत्यता दिखा दी है । अब पहले प्रस्तावित सन्धि वाले इन हमारे मित्रों की भी (कौलूतादिकों की) पहले प्रतिज्ञा की हुई सन्धि के मूल्य के (देने के) प्रोत्साहन के द्वारा सत्य प्रतिज्ञा वाले (आप) प्रीति उत्पन्न करने के योग्य हैं । इसप्रकार ये भी अनुगृहीत होते हुये अपने आश्रय के (मलयकेतु) विनाश से उपकारी आप (अर्थात् चन्द्रगुप्त) का आश्रय ले लेंगे । न भूले हुये यह सत्य बोलने वाले (आप) को स्मरण करा रहे हैं । इनके बीच में कुछ शत्रु के कोश और सेना के चाहने वाले हैं और कुछ देश को चाहने वाले हैं और सत्य बोलने वाले आपने जो तीन अलङ्कार भेजे थे वे मिल गये हैं । मैंने भी लेख की अशून्यता के लिये कुछ भेजा है (अलङ्करण पेटिका से आशय है) वह स्वीकार करने योग्य है और मौखिक सन्देश (वाचिकम्) अत्यन्त विश्वस्त इससे सुनना चाहिये ।

मलयकेतु--भागुरायण, कैसा लेख है ?

टिप्पणी

(१) **स्वस्ति यथास्थानम्**—इस सम्पूर्ण पत्र का निष्कर्ष इसप्रकार है:—(१) जिस व्यक्ति को यह पत्र लिखा गया है वह कोई ऊँचे व्यक्तित्व का व्यक्ति होना चाहिये । (२) जिस व्यक्ति को यह पत्र लिखा गया है उसका एक शत्रु है, जिसके पास खूब धन है, विशाल भू-सम्पत्ति है और हाथियों का बाहुल्य है । (३) जिसको यह पत्र लिखा गया है वह उसके शत्रु के विनाश से कृतकृत्य किया जा सकता है । इसीलिये उसने आभूषण उपहार के रूप में भेजे हैं ; इसके बदले में पत्र लिखने वाले ने, जिसके अपने मित्र उसके शत्रु के यहाँ सर्विस में हैं, उनकी सहायता से काम करने का आश्वासन दिया है । (४) पत्र लिखने वाले मित्रों ने इस षड्यन्त्र में भाग लेना स्वीकार लिया है यदि उनको धन, पृथिवी और हाथी मिल जावें ।

(२) **यथास्थानं कुतोऽपि कोऽपि कमपि पुरुषविशेषमवगमयति**—इसप्रकार का पत्र इसलिये लिखा गया है क्योंकि चाणक्य पहले ही कह चुका है कि—"**पूर्वमनभिव्यक्तमेवास्ताम्**" ।

(३) यथास्थानम्—स्थानमनतिक्रम्य यथास्थानम् । स्थान—यहाँ पत्र ने पहुंचना है ।

(४) अस्मत्प्रतिपक्षं निराकृत्य—तुमने हमारे साथ पहले ही प्रतिज्ञा की थी कि तुम हमारे प्रतिपक्षी चाणक्य को अमात्यपद से हटा दोगे ।

(५) प्रथममुपन्यस्तसन्धीनाम्—चन्द्रगुप्त ने राक्षस से यह प्रतिज्ञा की थी कि तुम्हारे मित्रों को छोड़ दूंगा । किन्तु यह सर्वथा मिथ्या है ।

(६) अस्मत्सुहृदाम्—प्रथम अङ्क के २० वें श्लोक में वर्णित कौलूतादि की ओर संकेत है ।

(७) अविस्मृतम्—यद्यपि सत्यवादी होने के कारण तुम भूले नहीं हो तथापि स्मरण करा रहे हैं ।

(८) अलङ्कारत्रयं च सत्यवता—मलयकेतु यह समझता है कि वे तीन आभूषण चन्द्रगुप्त की ओर से राक्षस को मुझे मारने के लिये फीस के रूप में पहले ही भेजे हैं ।

(९) लेखस्याशून्यार्थम्—अपने स्वामी के प्रति खाली हाथ पत्र नहीं लिखना चाहिये । इस नियम के अनुसार लेख के साथ कुछ भेजा है—"रिक्तपाणिर्न सेवेत राजानं देवतां गुरुम्" इति । यही वह लेख है जिसको प्रथम अङ्क में चाणक्य ने शकटदास से लिखवा कर और राक्षस की मुद्रा से मुद्रित करके सिद्धार्थक को "कर्णे एवमिव" करके दे दिया था । पत्र कुछ इसप्रकार से लिखा गया है जिससे यह मालूम पड़ता है कि चन्द्रगुप्त के लिये राक्षस के हृदय में अत्यन्त आदर का भाव है ।

(१०) वाचिकम्—मौखिक संदेश ।

"सन्दिष्टोऽर्थोऽनया वाच्यते सा वागेव वाचिकम्" ।
"निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम्" ॥शिशु०॥

सन्देशोक्तिस्तु वाचिकम् ।

भागुरायणः—भद्र सिद्धार्थक, कस्यायं लेखः ।

सिद्धार्थकः—अज्ज, ण आणामि । आर्य, न जानामि ।

भागुरायणः—हे धूर्त, लेखो नीयते न ज्ञायते कस्यायमिति । सर्वं तावत्तिष्ठतु । वाचिकं त्वत्तः केन श्रोतव्यम् ।

सिद्धार्थकः—(भयं नाटयेन् ।) तुम्हेहिं युष्माभिः ।

भागुरायणः—किमस्माभिः ।

सिद्धार्थकः—मिस्सेहिं गिहीदो ण आणामि किं भणामि त्ति । मिश्रैर्गृहीतो न जानामि किं भणामीति ।

भागुरायणः—(सरोषम् ।) एष जानाति । भासुरक, बहिर्नीत्वा तावत्ता- ड्यतां यावत्कथयति ।

पुरुषः—जं अमच्चो आणवेदि त्ति । (तेन सह निष्क्रम्य ।) यदमात्य आज्ञापय- तीति । (पुनः प्रविश्य ।) अज्ज इअं मुद्दालंच्छिदा पेडिआ तस्स कक्खादो णिवडिदा। आर्य, इयं मुद्रालाञ्छिता पेटिका तस्य कक्षातो निपतिता ।

संस्कृत-व्याख्या

मिश्रैः = पूज्यैः । कक्षातः = भुजमूलात् ।

हिन्दी रूपान्तर

भागुरायण—भद्र सिद्धार्थक, किसका यह लेख है ?

सिद्धार्थक—आर्य, (मैं) नहीं जानता हूँ ।

भागुरायण—हे धूर्त, लेख ले जा रहा है । (और) नहीं जानता हूँ (कि) यह किसका है ? अच्छा सब रहने दो । मौखिक सन्देश तुझसे किसने सुनना है ?

सिद्धार्थक—(भय का अभिनय करते हुये ।) आपने—

भागुरागण क्या, हमने ?

सिद्धार्थक—पूज्य (मिश्रैः) (आप) के द्वारा पकड़ा हुआ (मैं) क्या कह रहा हूँ, यह नहीं जानता हूँ ।

भागुरायण—(क्रोध के साथ ।) अभी (एषः) जानोगे । भासुरक, बाहर ले जाकर तब तक पीटो जब तक बताता है ।

पुरुष—जो अमात्य आज्ञा देते हैं । (उसके साथ निकलकर ।) (पुनः प्रवेश करके) । आर्य, यह मुद्रा से मुद्रित पेटिका उसकी कक्ष से (भूमि पर), गिर पड़ी ।

***गूढ़ार्थ**—**वाचिकं त्वत्तः केन श्रोतव्यम्**—भागुरायण ने यह प्रश्न किया है कि मौखिक सन्देश किसने सुनना है ? इसका स्पष्ट और प्रकरणसंगत उत्तर था— चन्द्रगुप्त ने । किन्तु वह चाहता है कि उस सारे सन्देश को ये सभी सुनें, इसलिये उसने उत्तर दिया है—आपने । किन्तु "आपने" कहने से वाक्य पूरा नहीं हो पाया है कि भागुरायण ने उसे बीच में ही टोक दिया है । सिद्धार्थक ने अपने वक्तव्य को फिर घूमा दिया है । इसप्रकार तुमको सुनाना ही मेरा मुख्य उद्देश्य है यही गूढ आशय है ।

टिप्पणी

(१) **भद्र, सिद्धार्थक**—"**किमयमागन्तुकः**" ऐसा पीछे कहकर तो अपरिचित के समान व्यवहार किया है और यहाँ पर नाम लेता है । इससे स्पष्ट है कि भागुरायण सिद्धार्थक से पहले से ही परिचित है ।

(२) **कस्यायं लेखः**—अर्थात् किस व्यक्ति को किसने यह पत्र लिखा है ?

(३) **सर्वं तावत्तिष्ठतु**—अच्छा, रहने दो मैं तुमसे इस पत्र के विषय में कोई प्रश्न नहीं करता हूँ । मैं केवल मौखिक सन्देश तक ही अपने को सीमित रखता हूँ ।

(४) एष जानाति—अभी जानोगे अर्थात् हम अभी तुमसे यही स्वीकार कराये लेते हैं कि तुम जानते हो।

भागुरायणः—(विलोक्य।) कुमार, इयमपि राक्षसमुद्राङ्कितैव।

मलयकेतुः—सखे, अयं लेखस्याशून्यार्थो भविष्यति। इमामपि मुद्रां परिपालयन्नुद्घाट्य दर्शय।

(भागुरायणस्तथा कृत्वा दर्शयति।)

मलयकेतुः—(विलोक्य।) अये, तदिदमाभरणं मया स्वशरीरादवतार्य राक्षसाय प्रेषितम्। व्यक्तं चन्द्रगुप्तस्य लेखः।

भागुरायणः—कुमार, एष निर्णीयत एव संशयः। भद्र, पुनरपि ताड्यताम्।

पुरुषः—तथा। (इति निष्क्रम्य सिद्धार्थकेन सह पुनः प्रविश्य।) एसो क्खु ताडिअमाणो कुमारस्स एव्व णिवेदेमि त्ति भणादि। एष खलु ताड्यमानः कुमारस्यैव निवेदयामीति भणति।

मलयकेतुः—तथा भवतु।

सिद्धार्थकः—(पादयोर्निपत्य।) अभएण मे पसादं करेदु अज्जो। अभयेन मे प्रसादं करोत्वार्यः।

मलयकेतुः—भद्र, अभयमेव परवतो जनस्य। निवेद्यतां यथावस्थितम्।

सिद्धार्थकः—णिसामेदु कुमारो। अहं क्खु अमच्चरक्खसेण इमं लेहं देइअ चन्दउत्तसआसं पेसिदो। निशामयतु कुमारः। अहं खल्वमात्यराक्षसेनेमं लेखं दत्त्वा चन्द्रगुप्तसकाशं प्रेषितः।

संस्कृत-व्याख्या

अशून्यार्थः=अरिक्तार्थः। उद्घाट्य=उन्मोच्य। अवतार्य=पृथक्कृत्य। परवतः=पराधीनस्य। यथावस्थितं=यथाजातम्, प्रकृतमनपह्नुत्य इत्यर्थः। निशामयतु=शृणोतु।

हिन्दी रूपान्तर

भागुरायण—(देखकर।) कुमार, यह भी राक्षस की मुद्रा से ही मुद्रित है।

मलयकेतु—मित्र, यह लेख का अशून्यार्थ होगा। इसको भी मुद्रा को बचाते हुये खोलकर दिखाओ।

(भागुरायण वैसा करके दिखाता है।)

मलयकेतु—(देखकर।) अरे, यह आभूषण मैंने अपने शरीर से उतारकर राक्षस के लिये भेजा था। स्पष्ट ही चन्द्रगुप्त का (के प्रति लिखा हुआ) लेख है।

भागुरायण—कुमार, अभी (एषः) सन्देह का निर्णय ही किया जाता है। भद्र, और भी पीटो।

पुरुष—जो आज्ञा। (इसप्रकार निकलकर सिद्धार्थक के साथ पुनः प्रवेश करके।) यह पीटा जाता हुआ कुमार को ही बताऊँगा, ऐसा कहता है।

मलयकेतु—वैसा ही हो।

सिद्धार्थक—(चरणों में गिरकर।) आर्य, अभय (दान) के द्वारा मुझ पर कृपा करें।

मलयकेतु—भद्र, पराधीन मनुष्य के लिये अभय ही है। जैसा है वैसा बताओ।

सिद्धार्थक—कुमार सुनिये। मुझे अमात्य राक्षस ने इस लेख को देकर चन्द्रगुप्त के पास भेजा है।

टिप्पणी

(१) **चन्द्रगुप्तस्य लेखः**—अर्थात् राजा के योग्य आभूषण भेजने से स्पष्ट ही चन्द्रगुप्त के प्रति राक्षस ने पत्र भेजा है।

(२) **संशयः**—संशय्यते असौ इति संशयः। "एरच्" पा० ३/३/५६ से सम् उपसर्गपूर्वक शीङ् धातु से कर्म में अच् प्रत्यय है।

(३) **अभयेन**—भयस्य अभावः अभयम्—अव्ययीभाव समास, तेन।

मलयकेतु—वाचिकमिदानीं श्रोतुमिच्छामि।

सिद्धार्थकः—कुमाल, आदिट्ठोम्हि अमच्चेण जहा एदे मह वअस्सा पञ्च राआणो तुए सह समुप्पण्णसिणेहा। ते जहा कुलूदाहिवो चित्तवम्मो मलअणअराहिवो सिंहणादो कम्हीरदेसणाहो पुक्खरक्खो सिन्धुराओ सिन्धुसेणो पारसीओ मेहणादो त्ति। एदेसु पुढमगिहीदा तिण्णि राआणो मलअकेदुणो विसअं इच्छन्ति अवरे हत्थिबलं कोसं अ। ता जह चाणक्कं णिराकरिअ महाभाएण मह पीदी समुप्पादिदा तहा एदाणं वि पुढमभणिदो अत्थो संपादइदव्वो त्ति एत्तिओ वाआसंदेसो। कुमार, आदिष्टोऽस्म्यमात्येन यथैते मम वयस्याः पञ्च राजानस्त्वया सह समुत्पन्नस्नेहाः। ते यथा कुलूताधिपश्चित्रवर्मा मलयनगराधिपः सिंहनादः काश्मीरदेशनाथः पुष्कराक्षः सिन्धुराज सिन्धुसेनः पारसीको मेघनाद इति। एतेषु प्रथमगृहीतास्त्रयो राजानो मलयकेतोर्विषयमिच्छन्त्यपरो हस्तिबलं कोषं च। तद्यथा चाणक्यं निराकृत्य महाभागेन मम प्रीतिः समुत्पादिता तथैतेषामपि प्रथमभणितोऽर्थः संपादयितव्य इत्येतावान्वाक्यसंदेशः।

मलयकेतुः—(स्वगतम्।) कथं चित्रवर्मादयोऽपि मह्यमभिद्रुह्यन्ति। अथवातएव राक्षसे निरतिशया प्रीतिः। (प्रकाशम्।) विजये, राक्षसं द्रष्टुमिच्छामि।

प्रतीहारी—जं कुमारो आणवेदि त्ति। यत्कुमार आज्ञापयति। (निष्क्रान्ता।)

संस्कृत-व्याख्या

समुत्पन्नस्नेहाः=सञ्जातसौहार्दाः। प्रथमगृहीताः=प्रागुक्ताः। विषयं=देशम्।

हिन्दी रूपान्तर

मलयकेतु—सम्प्रति मौखिक सन्देश सुनना चाहता हूँ।

सिद्धार्थक—कुमार, अमात्य राक्षस ने मुझे आदेश दिया है कि मेरे ये पाँच मित्र राजा तुम्हारे साथ उत्पन्न प्रेम वाले हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) कुल्लू देश का अधिपति चित्रवर्मा, (२) मलय देश का अधिपति सिंहनाद, (३) काश्मीर देश का स्वामी पुष्कराक्ष, (४) सिंध देश का राजा सिंधुसेन और (५) पारसीक मेघनाद। इनमें से पहले वर्णित तीन राजा मलयकेतु के देश को चाहते हैं और दूसरे दो हस्ति-सेना और कोश को चाहते हैं। तो जिसप्रकार चाणक्य का निरादर करके महानुभाव ने मेरी प्रीति को उत्पन्न किया है, उसीप्रकार इनका भी पहले कहा हुआ प्रयोजन पूरा करना चाहिये—बस इतना मौखिक सन्देश है।

मलयकेतु—(मन ही मन।) क्या चित्रवर्मादि भी मुझसे द्रोह करते हैं। अथवा इसीलिये ही राक्षस में अत्यधिक प्रीति है। (स्पष्टतः।) विजये, राक्षस को देखना चाहता हूँ।

प्रतीहारी—जो कुमार आज्ञा देता है। (निकल गई।)

टिप्पणी

(१) **वयस्याः**—वयसा तुल्या इति वयस् + यत् = समान आयु वाले अर्थात् मित्र।

(१) **मामभिद्रुह्यन्ति**—'क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयो कर्म' पा० १/४/३८ से द्वितीया विभक्ति।
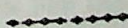
(ततः प्रविशत्यासनस्थः स्वभवनगतः पुरुषेण सह सचिन्तो राक्षसः।)

राक्षसः—(आत्मगतम्।) पूर्णमस्मद्बलं चन्द्रगुप्तबलैरिति यत्सत्यं न मे मनसः परिशुद्धिरस्ति। कुतः—

साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत्सपक्षे स्थितिं
व्यावृत्तं च विपक्षतो भवति यत्तत्साधनं सिद्धये।
यत्साध्यं स्वयमेव तुल्यमुभयोः पक्षे विरुद्धं च य—
तस्याङ्गीकरणेन वादिन इव स्यात्स्वामिनो निग्रहः ॥१०॥

संस्कृत-व्याख्या

पूर्णं = व्याप्तम्। **अस्मद्बलम्** = अस्मत्सैन्यम्।

अन्वयः—साध्ये निश्चितमिति—यत् साध्ये निश्चितम्, अन्वयेन घटितम्, सपक्षे स्थितिं बिभ्रत, विपक्षतः च व्यावृत्तं भवति तत् साधनं सिद्धये। यत् स्वयमेव साध्यम्, उभयोः तुल्यम्, यत् च पक्षे विरुद्धं तस्य अङ्गीकरणन स्वामिनः इव वादिनः निग्रहः स्यात् ॥१०॥

व्याख्या—वाविपक्षे—(१) यत्-धूमादिरूपं हेतुः साध्ये-सिद्धिविषये पक्षे निश्चितम् असन्दिग्धम्, अन्वयेन तत्सत्त्वनियतसत्ताकत्वरूपान्वयव्याप्त्या घटितं·विशि·

ष्टम्, सपक्षे-निश्चितसाध्यवति महानसादौ स्थिति-सत्तां बिभ्रत्-धारयत् विपक्षतः—साध्याभाववतः ह्रदात् च व्यावृत्तं-निवृत्तं भवति तत् साधनं-धूमादिरूपं हेतुः सिद्धये-बह्न्यनुमितये समर्थः भवति । यत्-साधनञ्च स्वयमेव साध्यं-स्वयं सिद्धत्वात् साधनान्तरेण साध्यं—(पक्षे अनिश्चितमित्यर्थः) व्यवस्थापनीयम् (यच्च साधनम्) उभयोः—सपक्षविपक्षयोः वृत्तिमत्त्वेन व्यावृत्तत्वेन वा तुल्यम्-उभयत्र वर्तमानमवर्तमानं वा दृश्यते अतएव अन्वयेन न घटितम्, यत्–साधनञ्च पक्षे विरुद्धं-विपरीतं साध्यासमानाधिकरणं तस्य-साधनस्य (हेत्वाभासस्य) अङ्गीकरणेन-स्वीकारेण-स्वामिनः-प्रभोः (राज्ञः) इव वादिनः-तार्किकस्य निग्रहः-पराभवः स्यात्-भवेत् ।

स्वामिपक्षे—(२) यत् साधनं—सैन्यं साध्ये—अनुष्ठेये अरिविजयादिके निश्चितं-निश्चितसामर्थ्यम्, अन्वयेन-पुरुषपरम्परया घटितं-प्राप्तं, कुलक्रमागतं मौलमित्यर्थः, सपक्षे-निजवर्गे स्थितम्-अवस्थानं बिभ्रतः-दधत्, विपक्षतः-शत्रुतश्च व्यावृत्तं-पराङ्मुखं (उपजापादिभिः असाध्यमित्यर्थः) भवति तत् साधनं-सैन्यं सिद्धये-कार्यसाधनाय भवति-सम्पद्यते । यत्-सैन्यं स्वयमेव-आत्मनैव साध्यं-सम्पाद्यं (न तु मौलमिव सिद्धम्), उभयोः सपक्षविपक्षयोः (शत्रुपक्षे आत्मपक्षे च इति द्वयोः) तुल्यं-समानादरं यच्च पक्षे-निजवर्गे विरुद्धम्-अननुकूलं तस्य—सैन्यस्य अङ्गीकरणेन-स्वीकरणेन स्वामिनः-प्रभोः (राज्ञः) वादिनः-तार्किकस्य इव निग्रहः-पराभवःस्यात्-भवेत् ॥१०॥

हिन्दी रूपान्तर

तृतीय दृश्य—शिविर में राक्षस का निवास स्थान ।

(तत्पश्चात् आसन पर बैठा हुआ अपने भवन में विद्यमान पुरुष के साथ चिन्तायुक्त राक्षस प्रवेश करता है ।)

राक्षस—(मन ही मन ।) हमारी सेना चन्द्रगुप्त की सेनाओं से (भद्रभटादिकों के द्वारा) (सर्वथा) व्याप्त है—अतः वस्तुतः (यतसत्यम्) मेरे मन को शान्ति नहीं है (परिशुद्धिः) । क्योंकि—

श्लोक (१०) अर्थ—(१) वादीपक्ष में—

जो (धूमरूप हेतु-साधन) वह्निरूप पक्ष में (साध्ये) असंदिग्धरूप से है, अन्वय-व्याप्ति से विशिष्ट (घटितम्) है, सपक्ष में (महासनादि में) स्थित को धारण करता हुआ है और विपक्ष से (जलाशय से) पृथक् होता है (अर्थात् विपक्ष में नहीं रहता है) वह (धूमरूप) हेतु वह्न्यनुमिति को सिद्ध करने के लिये (समर्थ होता) है । जो (साधन—हेतु) स्वयं ही साध्य है (अर्थात् पक्ष में अनिश्चित है), सपक्ष और विपक्ष दोनों में (उभयोः) समान है (अतएव अन्वयव्याप्ति से विशिष्ट नहीं है अर्थात् दोनों स्थानों पर विद्यमान होने से अथवा अविद्यमान होने से समान है) और जो (हेतु) पक्ष में विपरीत है उस हेतु (अर्थात् हेत्वाभास) के स्वीकार करने से स्वामी के समान वादी का निग्रह होता है ।

(२) स्वामीपक्ष में—

जो सेना (साधनम्) शत्रुओं की विजय करने आदि साध्य में निश्चित है, कुलक्रमागत मूल पुरुष परम्परा से (अन्वयेन) आई हुई है, अपने (राजा के) पक्ष में स्थिति को धारण करती हुई है, शत्रु से (भेदादि उपायों से) पृथक् (अर्थात् जिस सेना को शत्रु अपनी भेदनीति से अपने पक्ष में नहीं कर सकता है।) होती है, वह सेना कार्यसिद्धि में समर्थ होती है। जो (सेना) स्वयमेव साध्य है (अर्थात् कुलक्रमागत पुरुषों से स्वयंसिद्ध नहीं है।) अपने पक्ष और शत्रु पक्ष में समान है और जो अपने पक्ष में विरुद्ध है उस (सेना) के स्वीकार करने से स्वामी का वादी के समान पराभव होता है ॥१०॥

योजना—चाणक्यनीतिरूपी साधन चन्द्रगुप्त की लक्ष्मी को स्थिर करने रूप साध्य में निश्चित रूप से (साधकत्वेन अवश्यमेव) अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति से विशिष्ट है (अर्थात् मौर्य की प्रतिष्ठा और नन्द का विनाश इसका प्रमाण है), भद्र-भट-भागुरायणादि में (सपक्षे) स्थिति को धारण करने वाली है, मलयकेतु से (विपक्षात्) पृथक् है, वह नीति मौर्य लक्ष्मी को स्थिर करने के लिये (सिद्धये) समर्थ है। जो (मलयकेतु की) सेना भद्रभटादिकों के कारण स्वयमेव साध्य है (अर्थात् कुलक्रमागत पुरुषों से युक्त न होने के कारण न मालूम हमारे अभीष्ट को सिद्ध करेगी भी या नहीं) मलयकेतु और चाणक्य दोनों पक्षों में समान रूप से प्रतीत हो रही है, और जो सेना मलयकेतु के पक्ष में भद्रभटादिकों के रूप में विरुद्ध है, उस सेना के स्वीकार करने से स्वामी का अर्थात् मलयकेतु का पराभव निश्चित है। अर्थात् स्वार्थ-सिद्धि के लिये अपने पक्ष का आश्रय लेने वाले भद्रभट—भागुरायण आदि शंका को उत्पन्न करते हैं ॥१०॥

टिप्पणी

(१) **पूर्णमस्मद्बलम्**—राक्षस मन ही मन सोच रहा है कि हमारी सेना में चाणक्य के ही गुप्तचर भद्रभटादि भरे हुये हैं। इस अवस्था में मेरे मन में निरन्तर शंका बनी रहती है कि विजय कैसे प्राप्त होगी ?

(२) १० वां श्लोक द्व्यर्थक है, अर्थात् एक अर्थ वादी पक्ष में लगेगा और दूसरा अर्थ स्वामी-राजा के पक्ष में लगता है।

(३) श्लेषात्मक शब्दों के अर्थ इसप्रकार हैं—

(१) **साध्ये** - पक्ष में, शत्रुओं को विजय करने आदि साध्य कर्म में। साध + ण्यत् कर्मणि साध्य।

(२) **अन्वयेन**—अन्वयव्याप्ति से, कुलक्रम से आई हुई परम्परा से। वादीपक्ष में—अनु + इ + अच्। भावे = अन्वयः। स्वामी पक्ष में—अनु + इ + अच्।

(३) **सपक्षे**—सपक्ष में (महानसादि में), राजा के पक्ष में।

(४) **विपक्षतः**—विपक्ष से (जलाशय से), शत्रु से।

(५) **साधनम्**—हेतु, सेना।

(६) **सिद्धये**—सिद्धि के लिये (बह्न्यनुमिति के लिये), कार्य विजयादि की सिद्धि के लिये।

कहने का आशय यह है कि अनुमान को सिद्ध करने में तीन चीजें प्रमुख हैं:-

(१) **साध्य**—पक्ष = साध्यवत्तया पक्षनिर्देशः। साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा।

(२) **साधन अर्थात् हेतु**—साध्यते अनेन।

(३) पक्ष।

अनुमान का स्वरूप इसप्रकार है—"अनुमानं हि नाम **पक्षसत्त्व-सपक्षसत्त्व-विपक्षव्यावृतत्वविशिष्टलिङ्गात् लिङ्गिज्ञानम् अनुमानम्**"।

हेतु तीन प्रकार का होता है—

(१) **केवलान्वयी**—यहाँ केवलान्वयी हेतु की चर्चा है।

(२) **केवलव्यतिरेकी**—

(३) **अन्वयव्यतिरेकी**—यह हेतु ही सत् हेतु है क्योंकि इसी में, पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्ष—ये पाँच स्थितियाँ घटित हो जाती हैं। किसी भी सद् हेतु के लिये निम्न स्थिति का होना आवश्यक है—

(१) **पक्ष में रहना**—सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः।

(२) **सपक्ष में रहना**—पक्षेण सह वर्तमानः सपक्षः। निश्चितसाध्यवान् सपक्षः, साध्यधर्म को अपने में रखने वाला अर्थात् बह्निमता है।

(३) **विपक्ष में न रहना**—अर्थात् साध्यधर्म का अभाव। विभिन्नः पक्षात् विपक्षः। निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः।

इन तीनों से युक्त जो हेतु होगा वह अनुमान को सिद्ध करने में समर्थ होगा। अनुमान वाक्य इसप्रकार है:—

पर्वतो बह्निमान्—यह साध्य है, पक्ष है।

धूमवत्वात्—यह हेतु है, पर्वत पर निश्चित है। यह बह्नि का लिङ्ग है। **यत्र तत्र धूमस्तत्र तत्र वह्नि यथा महानसे**—यहाँ महानस सपक्ष है क्योंकि इसमें बह्नि विद्यमान है और इसका विपक्ष होगा जलाशय क्योंकि इसमें धूम नहीं रहता है।

अनुमान की सिद्धि के लिये व्याप्ति भी परम आवश्यक है। साध्य और साधन का स्वाभाविक सम्बन्ध व्याप्ति कहलाता है। व्याप्ति का लक्षण है—'**साहचर्यनियमो व्याप्तिः**' यह व्याप्ति दो प्रकार की होती है—

(१) **अन्वयव्याप्ति**—तत्सत्वे तत्सत्वमन्वयः।

(२) **व्यतिरेकव्याप्ति**—तदसत्वे तदसत्वं व्यतिरेकः।

यह अनुमान भी दो प्रकार का होता है-(१) स्वार्थानुमान, (२) परार्थानुमान। **इसीप्रकार**—चाणक्य की नीति = साधन है।

चन्द्रगुप्त की लक्ष्मी को स्थिर करना = **साध्य** है।

चाणक्यनीतिरूपी साधन चन्द्रगुप्त की लक्ष्मी को स्थिर करने रूप साध्य में अन्वय और व्यतिरेक इन दोनों व्याप्तियों से विशिष्ट है।

सपक्ष में—भद्रभटभागुरायणादि में स्थिति को धारण कर रही है।

विपक्ष में—मलयकेतु से पृथक् है। अतः चन्द्रगुप्त की लक्ष्मी को स्थिर करने में समर्थ है।

(४) **साध्ये निश्चितम्**—**अबाधितविषयत्व** और **असत्प्रतिपक्षत्व** का समाधान करता है। **अबाधितविषयत्व** की व्याख्या इसप्रकार समझी जा सकती है। सबसे पूर्व **बाधितविषय** को समझ लेना चाहिये। बाधितविषय का लक्षण है—"**प्रमाणान्तरावधृतसाध्याभावो हेतुर्बाधितविषयः**" अर्थात् जिस हेतु के विषय अर्थात् साध्य का अभाव किसी दूसरे प्रबलतर प्रमाण से निश्चित हो उस हेतु को बाधितविषय कहते हैं; यथा—'**वह्निरनुष्णः कृतकत्वात् घटवत्**"। यहाँ कृतकत्व हेतु अग्नि में अनुष्णत्व को सिद्ध करने के लिये दिया गया है, किन्तु त्वाच् प्रत्यक्ष के द्वारा अग्नि में अनुष्णत्व का अभाव सिद्ध होता है। अतः यह कृतकत्व हेतु बाधितविषय नाम का हेत्वाभास है। जो बाधितविषय नहीं है वह **अबाधितविषयत्व** कहलाता है। इसीप्रकार **असत्प्रतिपक्ष** इसप्रकार समझा जा सकता है। इसको समझने से पहले इसके विरोधी **सत्प्रतिपक्ष** को समझ लेना चाहिये। प्रतिपक्ष का लक्षण है—"**साध्यविपरीतसाधकं तुल्यबलं हेत्वन्तरं प्रतिपक्ष**" अर्थात् एक हेतु का जो साध्य है उससे विपरीत बात को सिद्ध करने वाला तुल्य बल वाला दूसरा हेतु प्रतिपक्ष कहलाता है। अतः जिस हेतु का प्रतिपक्ष कहलाता है। अत. जिस हेतु का प्रतिपक्ष विद्यमान है उसको सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास कहते हैं। यथा—(१) "शब्दो नित्योऽनित्यधर्मानुपलब्धे."। और (२) "शब्दः अनित्यो नित्यधर्मानु लब्धेः"।

यहाँ दोनों (अनित्यधर्मानुपलब्धेः और नित्यधर्मानुलब्धेः) तुल्यबल विरोधी हेतु हैं। अतः एक दूसरे के प्रतिपक्ष हैं और ये दोनों हेतु सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास कहे जाते हैं। जिसमें यह सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास नहीं होता है वह **असत्प्रतिपक्ष** कहलाता है।

(५) **अन्वयेन घटितम्**—सपक्षे सत्वम्।

(६) **सपक्षे स्थिति विभ्रत्**—पक्षधर्मत्वम्।

(७) **व्यावृत च विपक्षतः**—विपक्षात् व्यावृत्तत्वम्।

(८) **यत् स्वयमेव साध्यम्**—जहाँ हेतु स्वयमेव साध्य होता है अर्थात् साध्य से अभिन्न होता है अर्थात् पक्ष में अनिश्चित है। यथा = **ज्ञानं प्रमाण तद्वति तत्प्रकारकत्वात्**। यहाँ पर साधन साध्य प्रमाण से अभिन्न है। अर्थात् जिसप्रकार प्रमाण-साधनीय है वैसे ही साधन भी साधनीय है। यहाँ सत्प्रतिपक्ष और बाधित हेत्वाभास है।

(९) **तुल्यमुभयोः**—जो साधन सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहने की दृष्टि अथवा न रहने की दृष्टि से समान है। यथा—शब्दो नित्यः **प्रमेयत्वात् व्योमवत्**। यहाँ **प्रमेयत्व** हेतु है वह नित्य और अनित्य (सपक्ष घटादि में और विपक्ष आकाशादि में) दोनों में विद्यमान होने से समान है। शब्दः अनित्यः **शब्दत्वात्**। यहाँ शब्दत्व हेतु सपक्ष घटादि और विपक्ष आकाशादि में दोनों ही स्थानों पर न रहने की दृष्टि से समान है।

उभय सपक्ष और विपक्ष अन्यत्र मित्रपक्ष में और शत्रुपक्ष में। यहाँ अनैकान्तिक और **विरुद्ध** हेत्वाभास है।

(१०) **पक्षे विरुद्धं च यत्**—जो हेतु पक्ष में ही विरोधी है। यथा–शब्दः नित्यः **कृतकत्वात्**। यहाँ **कृतकत्व** हेतु शब्द की नित्यता को सिद्ध करने में ही बाधक हैं, अतः विरोधी है। **यहाँ असिद्ध** हेत्वाभास है।

इसप्रकार यह जो तीन प्रकार का हेतु होता है वह हेतु न होकर हेत्वाभास कहलाता है। ये हेत्वाभास किसी भी हेतु को सिद्ध करने में असमर्थ होते हैं, अतः असद्धेतु कहलाते हैं। ये पाँच होते हैं—(१) असिद्ध, (२) विरुद्ध, (३) अनैकान्तिक (४) प्रकरणसम और (५) कालात्ययापदिष्ट।

इसीप्रकार मलयकेतु की सेना भद्रभटादिकों से व्याप्त है। अतः दोनों पक्षों में (चन्द्रगुप्त और मलयकेतु) समान रूप से दिखाई दे रही है। किन्तु वस्तुतः मलयकेतु के पक्ष से विरोधी है। अतः स्वमेव साध्यपक्ष में आ गई है। मलयकेतु इस सेना की देखभाल करेगा या चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करेगा। अतः यह सेना विजय को सिद्ध करेगी भी या नहीं—इसप्रकार सन्दिग्ध है। इसप्रकार की सेना लेकर मलयकेतु और राक्षस की पराजय निश्चित है।

(११) निग्रहः—नि + ग्रह + अप् भावे निग्रहः। न्यायदर्शन में २२ निग्रहस्थान गिनाये हैं।

(१२) इस १० वें श्लोक के अन्दर न्यायदर्शन के निम्न शब्द पारिभाषिक हैं (१) साध्य, (२) अन्वय (३) सपक्ष, (४) साधन, (५) सिद्धि।

(१३) इस श्लोक का सारांश यह है कि जिसप्रकार वादी प्रतिज्ञात अर्थ को सिद्ध करने के लिये पक्षव्यापकत्व-सपक्षत्व-विपक्षव्यावृत्तत्व-अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्ष = इन धर्मों से युक्त हेतु को ग्रहण करता हुआ अपने प्रतिज्ञात अर्थ को सिद्ध कर लेता है, उसीप्रकार विजिगीषु राजा भी दूसरे के द्वारा भेद न करने योग्य सेना का प्रयोग करते हुये निश्चित रूप से विजय को प्राप्त करता है। किन्तु जिस प्रकार पाँच प्रकार के हेत्वाभासों के ग्रहण करने से वादी का निग्रह हो जाता है उसीप्रकार से राजा भी सेनाभास से युक्त सेना से स्वयं पराभूत हो जाता है।

अथवा विज्ञातापरागहेतुभिः प्राक्परिगृहीतोपजापैरापूर्णमिति न विकल्पयितमर्हामि। (प्रकाशम्।) भद्र प्रियंवदक, उच्यन्तामस्मद्वचनात्कुमारानुया[यिनो]

राजानः। संप्रति दिने दिने प्रत्यासीदति कुसुमपुरम्। तत्परिकल्पितविभागै-र्भवद्भिः प्रयाणे प्रयातव्यम्। कथमिति।

प्रस्थातव्यं पुरस्तात्खशमगधगणैर्मामनु व्यूह्य सैन्यै-
गान्धारैर्मध्ययाने सयवनपतिभिः संविधेयः प्रयत्नः।
पश्चात्तिष्ठन्तु वीराः शकनरपतयः संभृताश्चीनहूणैः
कौलूताद्यश्च शिष्टः पथि पथि वृणुयाद्राजलोकः कुमारम् ॥११॥

प्रियंवदकः—तह इति। (निष्क्रान्तः।) तथेति।

संस्कृत-व्याख्या

विज्ञातापरागहेतुभिः = विज्ञाताः—अनुमिताः अपरागहेतवः—विरागकारणानि येषां तैः। प्राक्परिगृहीतोपजापैः = प्राक्–अस्मद्पक्षावलम्बनात्पूर्वं परिगृहीतः–स्वीकृतः उपजापः–भेदः यैस्तैः। आपूर्णं = व्याप्तम्। प्रत्यासीदति = निकटे वर्तते। परिकल्पित-विभागैः = कृतसैन्यविभागैः। प्रयाणे = विजययात्रायाम्।

अन्वयः—**प्रस्थातव्यमिति**—पुरस्तात् व्यूह्य माम् अनु खशमगधगणैः सैन्यैः प्रस्थातव्यम् मध्ययाने सयवनपतिभिः गान्धारैः प्रयत्नः संविधेयः। पश्चात् चीनहूणैः सम्भृताः वीराः शकनरपतयः तिष्ठन्तु शिष्टश्च कौलूताद्यः राजलोकः पथि-पथि कुमारं वृणुयात् ॥११॥

व्याख्या—पुरस्तात्—यानमुखे (आयोधनसन्नद्धसैन्यसंघस्य अग्र इत्यर्थः) व्यूह्य—व्यूहं रचयित्वा मामनु—मम पश्चात् खशमगधगणैः = खशानां मगधानां च गणैः—समूहैः सैन्यैः — सैनिकैः प्रस्थातव्यं—गन्तव्यं, मध्ययाने—सैन्यमध्यभागगमने सयवन-पतिभिः–यवनपतिसहितैः गान्धारैः — गान्धारदेशवासिभिः सैन्यैः प्रयत्नः–उद्योगः संविधेयः–कर्तव्यः (जागरूकैः प्रस्थातव्यमित्यर्थः)। पश्चात्—तदनु चीनहूणैः–चीनैः हूणैश्च सम्भृताः = परिपुष्टाः वीराः – शूराः शकनरपतयः—शकराजानः तिष्ठन्तु, शिष्टः—अवशिष्टश्च कौलूताद्यः–कौलूतप्रभृतिः (कुलूतानां जनपदानां राजा कौलूतः-चित्रवर्मा स आद्यो यस्य सः, आद्यपदेन सिंहनाद-पुष्कराक्ष-सिन्धुसेन-मेघानादानां ग्रहणम्) राजलोकः—नरेन्द्रवर्गः पथि-पथि—मार्गे कुमारं—मलयकेतुं वृणुयात्—परिवार्य गच्छेत् ॥११॥

हिन्दी रूपान्तर

अथवा (हमारे द्वारा) (चन्द्रगुप्त के प्रति) विराग का कारण जाने हुये, (हमारे पक्ष में आने से) पूर्व (ही हमारे) भेद को स्वीकार किये हुये (भद्रभटादिकों) से व्याप्त है—इसप्रकार सन्देह (विकल्प) करने के योग्य नहीं हूँ अर्थात् मुझे सन्देह करना ठीक नहीं है। (स्पष्टतः।) भद्र प्रियंवदक, हमारी ओर से कुमार का अनुगमन करने वाले राजाओं से कहना। सम्प्रति दिन प्रतिदिन कुसुमपुर पास आ रहा है। इसलिये (समुचित) विभाग किये हुये तुमको (विजय) यात्रा में चलना चाहिये। कैसे।

श्लोक (११) अर्थ— अग्रभाग में (पुरस्तात्) व्यूह बनाकर (विजय यात्रा में) मेरे पीछे खश और मगध के समूहों वाली सेनाओं को चलना चाहिये, (प्रयाण के) मध्य भाग में यवन राजाओं के साथ गान्धार देश की सेनाओं को प्रयत्न करना चाहिये, (अर्थात् जागरूक होकर चलना चाहिये)। अन्त में चीन और हूणों से परिपुष्ट वीर शकराजा लोग रहें और अवशिष्ट कौलूतादि राजाओं का समूह मार्ग-मार्ग में कुमार मलयकेतु को घेरे रहे ॥११॥

प्रियंवदक—जो आज्ञा। (निकल गया।)

टिप्पणी

(१) **विज्ञातापरागहेतुभिः**— इन भद्रभटादिकों की चन्द्रगुप्त के प्रति विरक्ति वास्तविक भी थी। अतः इनके पृथक् होने की आशा थी।

(२) **प्राक्परिगृहीतोपजापैः**—ये सभी चन्द्रगुप्त से पृथक् होने वाले थे, इसी बीच हमने इनको अपने पक्ष में आने का निमन्त्रण दिया और उन्होंने स्वीकार कर लिया और वे चले आये। अतः संशय करने का कोई अवसर नहीं है।

(३) **पुरस्तात् खशमगधगणैः मामनु**—राक्षस नेता है। उसने अपने आपको सबसे आगे रखा है क्योंकि वह भद्रभटादिकों पर दृष्टि रखना चाहता है। ये मगध के रहने वाले हैं जो चन्द्रगुप्त के पास से आये हैं। "अनु" के कर्मप्रवचनीय होने से उसके योग में द्वितीया विभक्ति है।

(४) **व्यूह्य**—व्यूहं रचयित्वा। "दुर्जय" नामक व्यूह की रचना करके।

(५) **कौलूताद्यश्च शिष्टः**—कौलूतादि राक्षस के परम विश्वसनीय मित्र हैं। अतः इन पर राक्षस को किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, अतः कुमार के पीछे-पीछे चलने का आदेश दिया है। इनमें भिन्न प्रायः वे व्यक्ति हैं जो चन्द्रगुप्त से पृथक् होकर आये हैं। इनके विषय में राक्षस को सन्देह है, अतः दूर दूसरे स्थान पर रखा है।

(प्रविश्य।)

प्रतीहारी—जेदु अमच्चो। अमच्च, इच्छदि तुमं कुमारो पेक्खिदुं। जयत्वमात्यः। अमात्य, इच्छति त्वां कुमारः प्रेक्षितुम्।

राक्षसः—भद्रे, मुहूर्तं तिष्ठ। कः कोऽत्र भोः।

(प्रविश्य।)

पुरुषः—आणवेदु अमच्चो। आज्ञापयत्वमात्यः।

राक्षसः—उच्यतां शकटदासः। यथा परिधापिता कुमारेणाभरणानि वयम्। तन्न युक्तमनलंकृतैः कुमारदर्शनमनुभवितुम्। अतो यत्तदलंकरणत्रयं क्रीतं तन्मध्यादेकं दीयतामिति।

पुरुषः—तथा। (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य।) अमच्च इदं आहरणं। अमात्य, इदमाभरणम्।

राक्षसः—(नाट्येनात्मानमलंकृत्योत्थाय च ।) भद्रे, राजोपगामिनं मार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—एदु अमच्चो । एत्वमात्यः ।

राक्षसः—(आत्मगतम् ।) अधिकारपदं नाम निर्दोषस्यापि पुरुषस्य महदाशङ्कास्थानम् । कुतः—

भयं तावत्सेव्यादभिनिविशते सेवकजनं
ततः प्रत्यासन्नाद्भवति हृदये चैव निहितम् ।
ततोऽध्यारूढानां पदमसुजनद्वेषजननं
गतिः सोच्छ्रायाणां पतनमनुकूलं कलयति ॥१२॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—भयं तावदिति—तावत् भयं सेव्यात् सेवकजनम् अभिनिविशते, ततः च प्रत्यासन्नात् भयम् हृदये एव निहितं भवति । ततः अध्यारूढानां पदम् असुजनद्वेष-जननम्, सोच्छ्रायाणां गतिः अनुकूलं पतनं कलयति ॥१२॥

व्याख्या—तावत्—सर्वप्रथमं भयं—भीतिः सेव्यात् राज्ञः सकाशात् सेवक-जनं—भृत्यवर्गम् अभिनिविशते = अभितः—सर्वतः प्राप्नोति, ततः च—तदनन्तरञ्च प्रत्यासन्नात्—(स्वामिनः) पार्श्वचरात् भयम् हृदये—अन्तःकरणे एव निहितं—बद्धमूलं भवति । ततः—तस्मात्कारणात् अध्यारूढानाम्—उन्नतपदस्थानाम् अधि-कारिणां पदं-स्थानम् असुजनद्वेषजननम् = असुजनानां-दुर्जनानाम् यद्वा असुमज्जनानां = प्राणिमात्रस्येति यावत् द्वेषजनन (भवति), सोच्छ्रायाणाम्—उन्नतानां पुरुषाणां गतिः—अवस्था अनुकूलम्—अवश्यंभावित्वेनोचितं पतनं—अधःपातं कलयति—घटयति ॥१२॥

हिन्दी रूपान्तर

(प्रवेश करके ।)

प्रतीहारी—अमात्य की विजय हो । अमात्य, कुमार आपको देखना चाहते हैं ।

राक्षस—भद्रे, क्षण भर ठहर । अरे कौन यहाँ कौन है ।

(प्रवेश करके ।)

पुरुष—अमात्य, आज्ञा दीजिये ।

राक्षस—शकटदास से कहो कि कुमार ने हमको आभूषण पहनाये थे । अतः बिना अलङ्कारों को धारण किये हुये कुमार का दर्शन करना ठीक नहीं है । अतः जो वे तीन अलङ्कार खरीदे थे, उनमें से एक (मुझे) दे दो ।

पुरुष—जो आज्ञा । (ऐसा कहकर निकलकर पुनः प्रवेश करके ।) अमात्य, यह आभूषण है ।

राक्षस—(अभिनय के साथ अपने आपको अलंकृत करके और उठकर ।) भद्रे, राजा के पास जाने वाले मार्ग को बताओ ।

प्रतीहारी - अमात्य आइये ।

राक्षस—(मन ही मन।) "अधिकारम्" इस नाम से कहा जाने वाला पद निर्दोष व्यक्ति के लिये भी अधिक भय का स्थान होता है। क्योंकि—

श्लोक (१२) अर्थ—सबसे पहले (तावत्) भय सेवनीय (राजा) से सेवक को चारों ओर से प्राप्त होता है (अभिनिविशते), उसके पश्चात् (राजा के) पास रहने वाले (व्यक्ति) से (भय) हृदय में ही विद्यमान होता है। इसलिये (ततः) उच्चपद प्राप्त अधिकारियों का पद दुष्टों के लिये अथवा प्राणिमात्र के लिये (असुजनानाम्) द्वेष को उत्पन्न करने वाला होता है। उन्नत (व्यक्तियों) की अवस्था (अवश्यम्भावी होने वाले) उचित (अनुकूलम्) पतन को करती है। (अर्थात् बुद्धिमान् व्यक्ति हमेशा ही अपनी उन्नति से डरे हुये पतन को सोचे) ॥१२॥

टिप्पणी

(१) यत्तवलंकरणत्रयं क्रीतम्—ये आभूषण आगे कथानक को विकसित करने वाले होंगे।

(२) राजोपगामिनम्—राजानमुपगच्छति इति राजन् + उप + गम् + णिनि कर्तरि।

(३) अभिनिविशते—"नेर्विशः" १/३/१७ से आत्मनेपद।

(४) सेवकजनम्—"अभिनिविशश्च" १/४/७४ इति कर्मता।

(५) गतिः सोच्छ्रायाणाम्—राक्षस के होने वाले पतन को सूचित करती है।

(परिक्रम्य।)

प्रतीहारी—अमच्च, अअं कुमारो। उवसप्पदु णं अमच्चो। अमात्य अयं कुमारः। उपसर्पत्वेनममात्यः।

राक्षसः—(विलोक्य।) अयं कुमारस्तिष्ठति। य एषः

पादाग्रे दृशमवधाय निश्चलाङ्गीं
शून्यत्वादपरिगृहीततद्विशेषाम्।
वक्त्रेन्दुं वहति करेण दुर्वहाणां
कार्याणां कृतमिव गौरवेण नम्रम् ॥१३॥

(उपसृत्य।) विजयतां कुमारः

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—पादाग्र इति शून्यत्वात् अपरिगृहीततद्विशेषां निश्चलाङ्गीं दृशं पदाग्रे अवधाय दुर्वहाणां कार्याणां गौरवेण नम्रं कृतमिव वक्त्रेन्दुं करेण वहति। १३।

व्याख्या—शून्यत्वात्—मनोवृत्तिराहित्यात् अपरिगृहीततद्विशेषाम्=अपरिगृहीताः—अज्ञाताः तस्याः दृशः विशेषाः—विषयविशेषाः यया तादृशी निश्चलाङ्गीं—स्थिरां दृशं—नयनं पादाग्रे अवधाय—स्थापयित्वा दुर्वहाणां—दुःखेन वोढुं शक्यानां कार्याणां गौरवेण भारेण नम्रं—नतं कृतमिव—विहितमिव वक्त्रेन्दुं—मुखचन्द्रं करेण—हस्तेन वहति—धारयति ॥१३॥

हिन्दी रूपान्तर

चतुर्थ दृश्य—शिविर में मण्डप ।

(घूमकर ।)

प्रतिहारी--अमात्य, ये कुमार हैं । अमात्य इनके पास चलें ।

राक्षस—(देखकर ।) ये कुमार बैठे हैं । जो यह

श्लोक (१३) **अर्थ**—शून्य होने के कारण (क्योंकि मन कहीं और काम कर रहा है) उस (नेत्रों) के विषयविशेष को ग्रहण न करने वाली निश्चल अङ्गों वाली दृष्टि को पैर के अग्र भाग पर रखकर दुर्वह कार्यों के भार से मानों झुके हुये मुखचन्द्र को हाथ से धारण कर रहे हैं ॥१३॥

(पास जाकर ।) कुमार की विजय हो ।

टिप्पणी

(१) **निश्चलाङ्गीम्**—निश्चल अङ्गों वाली । क्योंकि वह राक्षस के विषय में गम्भीरता से सोच रहा है ।

(२) **शून्यत्वात्**—नेत्र खुले हुए हैं किन्तु मन कहीं और लगा हुआ है, अतः नेत्र अपने दर्शन व्यापार को नहीं कर रहे हैं ।

(३) **वक्त्रेन्दुम्**—वक्त्रमिन्दुमिव । "**उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्यप्रयोगे**" पा० २/१/५६ इति समासः ।

(४) १३ व श्लोक का आशय यह है कि राक्षस अपनी अज्ञानता में सोचता है कि हथेली पर मुख को रखकर, पैरों के अग्रभाग पर दृष्टि को किये हुये किसी दुर्वह कार्य के विषय में मलयकेतु सोच रहा है । किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि मलयकेतु राक्षस से बदला लेने की योजना के विषय में सोच रहा है ।

मलयकेतुः—आर्य, अभिवादये । इदमासनमास्यताम् ।

(राक्षसस्तथा करोति ।)

मलयकेतुः—आर्य, चिरदर्शनेनार्यस्य वयमुद्विग्नाः ।

राक्षसः—कुमार, प्रयाणे प्रतिविधानमनुतिष्ठता मया कुमारादयमुपालम्भोऽधिगतः ।

मलयकेतुः—आर्य प्रयाणे कथं प्रतिविहितमिति श्रोतुमिच्छामि ।

राक्षसः– कुमार, एवमादिष्टा अनुयायिनो राजानः । ('प्रस्थातव्यम्'—(५/११) इति पूर्वोक्तं पठति ।)

मलयकेतुः—(स्वगतम् ।) कथं य एव मद्विनाशेन चन्द्रगुप्तमाराधयितुमुद्यतास्त एव मां परिवृणवन्ति । (प्रकाशम् ।) आर्य, अस्ति, कश्चिद्यः कुसुमपुरं प्रति गच्छति तत आगच्छति वा ।

राक्षसः—अवसितमिदानीं गतागतप्रयोजनम् । अल्पैरहोभिर्वयमेव तत्र गन्तारः ।

मलयकेतुः—(स्वगतम् ।) विज्ञायते । (प्रकाशम् ।) यद्येवं ततः किमार्यणायं सलेखः पुरुषः प्रेषितः ।

संस्कृत-व्याख्या

उद्विग्नाः=कार्यत्वरया व्यग्राः । प्रतिविधानं=व्यवस्थाम् । अनुतिष्ठता=विदधता । अधिगतः=प्राप्तः । अनुयायिनः=अनुगमनशीलाः । आराधयितुं=सेवितुम् । अवसितं=समाप्तम् । गतागतप्रयोजनं=गतागतस्य—गमनागमनस्य प्रयोजनं-कार्यम् । अहोभिः=दिवसैः । प्रेषितः=प्रस्थापितः ।

हिन्दी रूपान्तर

मलयकेतु—आर्य, मैं नमस्कार करता हूँ । यह आसन है बैठिये ।

(राक्षस वैसा करता है ।)

मलयकेतु—आर्य, आर्य के चिरकाल के पश्चात् दर्शन होने से हम उद्विग्न हैं। [गूढ़ आशय है कि तुम्हारा दिखाई देना हमारे लिये मार्मिक पीड़ा देने वाला है ।]

राक्षस—कुमार, (विजय यात्रा के लिये) प्रमाण में व्यवस्था करते हुये मैंने कुमार से यह उलाहना पाया है ।

मलयकेतु—आर्य, प्रमाण में कैसी व्यवस्था की है—यह सुनना चाहता हूँ।

राक्षस—कुमार, अनुयायी राजा लोग इसप्रकार आज्ञा दिये गये हैं। ("प्रस्थातव्यम्"—५/११-इस पूर्वोक्त श्लोक को पढ़ता है ।)

मलयकेतु—(मन ही मन ।) यह कैसे (कथम्) जो (व्यक्ति) ही मेरे विनाश से चन्द्रगुप्त की सेवा करने के लिये तत्पर हैं, वे ही (कौलूतादि पाँच राजा) मुझे घेर रहे हैं । (स्पष्टतः ।) आर्य, क्या कोई (ऐसा) है जो कुसुमपुर की ओर जा रहा है अथवा वहाँ से आ रहा है ।

राक्षस—सम्प्रति जाने और आने का कार्य (प्रयोजनम्) समाप्त हो गया है। थोड़े दिनों में हम ही वहाँ जाने वाले हैं ।

मलयकेतु—(मन ही मन ।) मालूम है । (स्पष्टतः) यदि ऐसा है तो क्यों आर्य ने लेख सहित इस व्यक्ति को भेजा है ।

टिप्पणी

(१) **चिरदर्शनेन**—दर्शन में विलम्ब करने से अथवा देर से दिखाई देने से। मलयकेतु समझता है कि राक्षस चन्द्रगुप्त से सम्बन्धित कार्यों में व्यस्त था ।

(२) **प्रयाणे प्रतिविधानम्**—मलयकेतु के द्वारा किये हुये प्रश्न के गूढ़ आशय को न समझते हुये राक्षस ने उत्तर दिया है ।

(३) **कथं य एव मद्विनाशेन चन्द्रगुप्तमाराधयितुमुद्यताः**—पीछे वर्णित **"स्वाश्रयविनाशेनोपकारिणमाश्रयिष्यन्ति"** की ओर संकेत है । मलयकेतु का सन्देह और दृढ़ हो जाता है ।

(४) गन्तारः—"अनद्यतने लुट्" पा० ३/३/१५ से अनद्यतन भविष्यत् के अर्थ में लुट है।

(५) विज्ञायते—राक्षस का सीधा-सादा आशय था कि चन्द्रगुप्त को कैद करने के लिये हम ही वहाँ जाने वाले हैं किन्तु मलयकेतु ने इसको अन्य ही प्रकार से लिया है। वह समझ रहा है कि चन्द्रगुप्त के मन्त्रित्व को स्वीकार करने के लिये कुसुमपुर जाने वाले हैं।

राक्षसः—(विलोक्य।) अये, सिद्धार्थकः। भद्र, किमिदम्।

सिद्धार्थकः—(सबाष्पं लज्जां नाटयन्।) पसीददु अमच्चो। ताडीअन्तेण मए ण पारिदं रहस्सं धारिदुं। प्रसीदत्वमात्यः। ताड्यमानेन मया न पारितं रहस्यं धारयितुम्।

राक्षसः—भद्र, कीदृशं रहस्यमिति न खल्वगच्छामि।

सिद्धार्थकः—णं विण्णवेमि ताडीअन्तेण मए—(इत्यर्धोक्ते सभयमधोमुखस्तिष्ठति।) ननु विज्ञापयामि ताड्यमानेन मया—

मलयकेतुः - भागुरायण, स्वामिनः पुरस्ताद्भीतो लज्जितो वा नैष कथयिष्यति। स्वयमेवायस्य कथय।

भागुरायणः—यदाज्ञापयति कुमारः। अमात्य, एष कथयति यथाहममात्येन लेखं दत्वा वाचिकं संदिश्य चन्द्रगुप्तसकाशं प्रेषित इति।

राक्षसः—भद्र, सिद्धार्थक, अपि सत्यम्।

सिद्धार्थकः—(लज्जां नाटयन्।) एवं अतिताडीअन्तेण मए णिवेदिदं। एवमतिताड्यमानेन मया निवेदितम्।

राक्षसः—अनृतमेतत्। ताड्यमानः पुरुषः किमिव न ब्रूयात्।

मलयकेतुः—सखे, भागुरायण, दर्शय लेखम्। वाचिकमेष भृत्यः कथयिष्यति।

संस्कृत-व्याख्या

नाटयन् = अभिनयन्। न पारितं = न शक्तम्। रहस्यं = गोप्यम्। धारयितुं = गोप्तुम्। अवगच्छामि = जानामि। अनृतम् = असत्यम्। ताड्यमानः = दण्डयमानः।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—(देखकर।) अरे, सिद्धार्थक। भद्र, यह क्या है?

सिद्धार्थक—(अश्रुओं के साथ लज्जा का अभिनय करते हुये।) अमात्य प्रसन्न होइये। पीटा जाता हुआ रहस्य को धारण करने में समर्थ नहीं हो सका।

राक्षस—भद्र, कैसा रहस्य है, यह मैं नहीं समझ पा रहा हूँ।

सिद्धार्थक—निवेदन तो कर रहा हूँ (कि) पीटा जाता हुआ मैं—(ऐसा आधा कहने पर भय के साथ नीचा मुख किये खड़ा हो जाता है।)

मलयकेतु—भागुरायण (अपने) स्वामी के सम्मुख डरा हुआ अथवा लज्जित हुआ यह नहीं कहेगा। अपने आप ही आर्य को बताओ।

भागुरायण—जो कुमार आज्ञा देते हैं। अमात्य, यह कह रहा है कि मुझे अमात्य ने लेख देकर और मौखिक सन्देश देकर चन्द्रगुप्त के पास भेजा था।

राक्षस—भद्र सिद्धार्थक, क्या (यह) सत्य है?

सिद्धार्थक—(लज्जा का अभिनय करते हुये।) अत्यन्त पीटे जाते हुये मैंने ऐसा कह दिया।

राक्षस—यह मिथ्या है। पीटा जाता हुआ व्यक्ति क्या (किमिव) नहीं कह सकता है।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण, लेख दिखाओ। मौखिक सन्देश यह सेवक कहेगा।

टिप्पणी

(१) **ताड्यमानेन मया न पारितं रहस्यं धारयितुम्**—यह सिद्धार्थक की स्वीकृति है।

(२) **एवमतिताड्यमानेन मया निवेदितम्**—अर्थात् जो कुछ मैंने कहा है वह सत्य नहीं है।
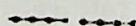
भागुरायणः—अमात्य, अयं लेखः।

राक्षसः—(वाचयित्वा।) कुमार, शत्रोः प्रयोग एषः।

मलयकेतुः—लेखस्याशून्यार्थमार्येणेदमप्याभरणमनुप्रेषितम्। तत्कथं शत्रोः प्रयोग एषः।

राक्षसः—(आभरणं निर्वर्ण्य।) कुमारेणैतन्मह्यमनुप्रेषितम्। मयाप्येतत्कस्मिंश्चित्परितोषस्थाने सिद्धार्थकाय दत्तम्।

भागुरायणः—ईदृशस्य विशेषतः कुमारेणात्मगात्रादवतार्य प्रसादीकृतस्येयं परित्यागभूमिः।

मलयकेतुः—वाचिकमप्यार्येणास्माच्छ्रोतव्यमिति लिखितम्।

राक्षसः—कुतो वाचिकम् कस्य वाचिकम्। लेख एवास्मदीयो न भवति।

मलयकेतुः—इयं तर्हि कस्य मुद्रा।

राक्षसः—कपटमुद्रामुत्पादयितुं शक्नुवन्ति धूर्ताः।

भागुरायणः—कुमार, सम्यगमात्यो विज्ञापयति। भद्र, सिद्धार्थक, केनायं लिखितो लेखः।

(सिद्धार्थको राक्षसमुखमवलोक्य तूष्णीमधोमुखस्तिष्ठति।)

संस्कृत-व्याख्या

अशून्यार्थं = पूरणार्थं, सम्पूर्णविश्वासार्थमित्यर्थः। अनुप्रेषितम् = अनुप्रहितम्। निर्वर्ण्य = दृष्ट्वा। अवतार्य = पृथक्कृत्य। परित्यागभूमिः = परित्यागस्य—दानस्य भूमिः - स्थानं, पात्रमित्यर्थः। अस्मदीयः = मामकीनः। उत्पादयितुं = निर्मातुम्।

हिन्दी रूपान्तर

भागुरायण—अमात्य, यह लेख है।

राक्षस—(पढ़कर।) कुमार, यह शत्रु का प्रयोग है।

मलयकेतु—लेख की अशून्यता के लिये आपने यह आभूषण भी भेजा है, तो यह शत्रु का प्रयोग कैसे है?

राक्षस—(आभूषण को देखकर।) कुमार ने यह (आभूषण) मुझे भेजा था। मैंने भी इसको किसी सन्तोष के स्थान पर सिद्धार्थक को दे दिया।

भागुरायण—इसप्रकार के (बहुमूल्य) (और) विशेष रूप से कुमार ने अपने शरीर से उतार कर उपहारस्वरूप दिये हुये (आभूषण का) यह देने का स्थान (पात्र) है।

मलयकेतु—मौखिक सन्देश भी इससे सुनना चाहिये—यह आर्य ने लिखा है।

राक्षस—कहाँ से मौखिक सन्देश किसका मौखिक सन्देश? (यह) लेख ही हमारा नहीं है।

मलयकेतु—यह मुद्रा किसकी है?

राक्षस—धूर्त लोग कृत्रिम मुद्रा को बनाने में समर्थ हो सकते हैं।

भागुरायण—कुमार, अमात्य ठीक कह रहे हैं। भद्र सिद्धार्थक, यह लेख किसने लिखा है?

(सिद्धार्थक राक्षस के मुख की ओर देखकर चुपचाप नीचे मुख किये हुये खड़ा रहता है।)

टिप्पणी

(१) **आभरणं निर्वर्ण्य**—आभूषण को देखकर राक्षस कहता है कि मैंने यह आभूषण नहीं भेजा है। आपने यह आभूषण मुझे दिया था और मैंने सिद्धार्थक को दे दिया।

(२) **मयाप्येतत् कस्मिंश्चित्परितोषस्थाने**—राक्षस ने समाधान कर दिया है। "परितोषस्थाने = स्वगात्रादवतार्य भूषणानि प्रयच्छति" द्वितीय अङ्क देखना चाहिये। '**कस्मिंश्चित्**" कहकर राक्षस ने एक भयानक गलती की। उसको स्पष्ट कहना चाहिये था कि वह कैसा अवसर था और किस कार्य के बदले में ये आभूषण सिद्धार्थक को दिये गये। इस अस्पष्टता ने सन्देह को और बढ़ा दिया।

(३) "ईदृशस्य" विशेषत: कुमारेण इत्यादि—यद्यपि राक्षस ने आभूषण के विषय में समाधान किया है, तथापि "ईदृशस्य" इत्यादि कहकर भागुरायण ने पुनः आग में घी डाल दिया। "ईदृशस्य" आभूषणों के महत्व को प्रतिपादित करता है।

(४) इयं परित्यागभूमिः—अर्थात् कम से कम सिद्धार्थक तो इस योग्य है नहीं कि जिसको ये आभूषण दिये जावें। क्योंकि ये आभूषण तो राजकुमारों के धारण करने योग्य हैं। अतः तुम्हारा यह कहना कि तुमने सिद्धार्थक को दे दिये थे—मिथ्या है। तुमने अवश्य ये आभूषण चन्द्रगुप्त को दे दिये होंगे।

(५) उत्पादयितुम्—निर्माण करने में। "शकधृषज्ञाग्लाघटरभलक्रमसहार्हास्त्यर्थेषु तुमुन्" पा० ३/४/६५ इति तुमुन्।

भागुरायणः—भद्र, अलं पुनरात्मानं ताडयितुम्। कथय।

सिद्धार्थकः—अज्ज, सअडदासेण। आर्य, शकटदासेन।

राक्षसः—कुमार, यदि शकटदासेन लिखितस्ततो मयैव।

मलयकेतुः—विजये, शकटदासं द्रष्टुमिच्छामि।

प्रतीहारी—जं कुमारो आणवेदि। यत्कुमार आज्ञापयति।

भागुरायणः—(स्वगतम्।) न खल्वनिश्चितार्थमार्यचाणक्यप्रणिधयोऽभिधास्यन्ति। (प्रकाशम्।) कुमार, न कदाचिदपि शकटदासोऽमात्यस्याग्रतो मया लिखितमिति प्रतिपत्स्यते। अतः प्रतिलिखितमस्यानीयतां वर्णसंवाद एवैतं विभावयिष्यति।

मलयकेतुः—विजये एवं क्रियताम्।

भागुरायणः—कुमार, मुद्दा वि। कुमार; मुद्रापि।

मलयकेतुः—उभयमप्यानीयताम्।

प्रतीहारी—जं कुमारो आणवेदि त्ति। (निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य।) कुमार, इदं तं सअडदासेण सहत्थलिहिदं पत्तअं मुद्दावि। यत्कुमार आज्ञापयति। कुमार, इदं तच्छकटदासेन स्वहस्तलिखितं पत्रं मुद्रापि।

मलयकेतुः—(उभयमपि नाट्येन विलोक्य।) आर्य, संवदन्त्यक्षराणि।

राक्षसः—(स्वगतम्।) संवदन्त्यक्षराणि। शकटदासस्तु मित्रमिति न विसंवदन्त्यक्षराणि। किं नु शकटदासेन।

स्मृतं स्यात्पुत्रदारस्य विस्मृतस्वामिभक्तिना।
चलेष्वर्थेषु लुब्धेन न यशःस्वनपायिषु ॥१४॥

संस्कृत-व्याख्या

अनिश्चितार्थम् = अनिर्णीतवस्तु । आर्यचाणक्यप्रणिधयः — आर्यकौटिल्य-दूताः । अभिधास्यन्ति = कथयिष्यन्ति । प्रतिपत्स्यते = स्वीकरिष्यति । वर्णसंवादः = वर्णानाम्-अक्षराणां संवादः—सादृश्यम् । विभावयिष्यति-परिच्छेत्स्यति । संवदन्ति = तुल्यतां यान्ति, अनुरूपाणि भवन्तीत्यर्थः । विसंवदन्ति = विरुध्यन्ते, तस्याप्ततमत्वे संशयो जायत इत्यर्थः ।

अन्वय—**स्मृतमिति** – विस्मृतस्वामिभक्तिना लुब्धेन चलेषु अर्थेषु पुत्रदारस्य स्मृतं स्यात् अनपायिषु यशःसु न ॥१४॥

व्याख्या – विस्मृतस्वामिभक्तिना = विस्मृता स्वामिभक्तिः—नन्दकुलानुरागः येन तादृशेन लुब्धेन–सञ्जातलोभेन (शकटदासेन) चलेषु—नश्वरेषु अर्थेषु—वस्तुषु पुत्रदारस्य स्मृतं–स्मरणं कृतं स्यात्, अनपायिषु—अविनश्वरेषु यशःसु = कीर्तिषु न (स्मृतं स्यात्) ॥१४॥

हिन्दी रूपान्तर

भागुरायण—भद्र, पुनः अपने आपको पीटे जाने से बस । बताओ ।

सिद्धार्थक—आर्य, शकटदास ने ।

राक्षस—कुमार, यदि शकटदास ने लिखा है तब तो मैंने ही (लिखा है) ।

मलयकेतु—विजये, शकटदास को देखना चाहता हूँ ।

प्रतिहारी—जो कुमार आज्ञा देते हैं ।

भागुरायण—(मन ही मन ।) आर्य चाणक्य के गुप्तचर अनिश्चित बात को (अर्थम्) नहीं कहेंगे । (स्पष्टतः ।) कुमार, शकटदास कभी भी अमात्य के सम्मुख मैंने लिखा है ऐसा स्वीकार नहीं करेगा । अतः इसकी प्रतिलिपि (प्रतिलिखितम्) लाओ वर्णों का सादृश्य ही इसको स्पष्ट कर देगा (अथवा सिद्ध कर देगा) ।

मलयकेतु—विजये, ऐसा करो ।

भागुरायण—कुमार; मुद्रा भी ।

मलयकेतु—दोनों ही लाओ ।

प्रतिहारी—जो कुमार आज्ञा देते हैं । (निकलकर पुनः प्रवेश करके ।) कुमार, यह वह शकटदास के द्वारा अपने हाथ से लिखा पत्र (और) मुद्रा भी है ।

मलयकेतु—(दोनों को ही अभिनय के साथ देखकर ।) आर्य, अक्षर मिलते हैं ।

राक्षस—(मन ही मन ।) अक्षर मिलते हैं । परन्तु (तु) शकटदास (मेरा) मित्र है इसलिये अक्षर नहीं मिल रहे हैं । क्या शकटदास ने ।

श्लोक (१४) अर्थ—(सम्भवतः) स्वामिभक्ति को विस्मृत कर देने वाले लोभी (शकटदास ने) अस्थिर धनों के विषय में पुत्र और स्त्री का स्मरण किया हो, अविनश्वर यश के विषय में नहीं (स्मरण किया हो) ॥१४॥

टिप्पणी

(१) यदि शकटदासेन— राक्षस को पूर्ण विश्वास है कि शकटदास ऐसा कदापि नहीं लिखेगा, इसलिये राक्षस ने ऐसा कहा है। राक्षस की यह उक्ति शकटदास के विषय में उसके विश्वास की परिचायिका है।

(२) न खल्वनिश्चितार्थम्—भागुरायण को सचमुच यह नहीं मालूम है कि यह लेख किसका है। किन्तु उसे यह पता है कि सिद्धार्थक चाणक्य का प्रणिधि है।

(३) न कदाचिदपि शकटदासः— भागुरायण मन ही मन सोचता है कि यदि शकटदास आ जाता है तब तो सारा ही रहस्य खुल जायेगा। अतः प्रत्युत्पन्नमति भागुरायण ने शकटदास का आना ही समाप्त कर दिया। भागुरायण अक्षरों को मिला करके तो देखना चाहता है परन्तु शकटदास की उपस्थिति नहीं चाहता।

(४) वर्णसम्वादः—सम् + वद् + घञ् भावे सम्वादः। वर्णानां संवादः।

(५) विभावयिष्यति—वि + भू + णिच् + लृट् + तिप्। शकटदास को बुलाने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसके हाथ के लिखे हुये किसी लेख के सादृश्य से ही यह बात प्रमाणित हो जायेगी। किन्तु यह सुझाव बहुत अच्छा नहीं है।

(६) विजये एवं क्रियताम्—मूर्ख मलयकेतु भागुरायण के सुझाव को स्वीकार कर लेता है किन्तु आश्चर्य यह है कि राक्षस किसीप्रकार की आपत्ति नहीं करता। क्योंकि राक्षस के विरोध में शकटदास ही एकमात्र गवाह है। उसकी उपस्थिति बहुत आवश्यक है।

(७) संवदन्त्यक्षराणि=अक्षर मिल रहे हैं। तो क्या शकटदास ने ही लिखा है किन्तु जब मैं यह सोचता हूँ कि 'शकटदासस्तु मित्रम्' तो मुझे प्रतीत होता है कि अक्षर नहीं मिल रहे हैं। क्योंकि वह ऐसा लिख ही नहीं सकता। यदि ऐसा है तो उसकी विश्वस्तता पर सन्देह उत्पन्न होता है।

अथवा कः सन्देहः।

मुद्रा तस्य करांगुलिप्रणयिनी सिद्धार्थकस्तत्सुहृ-
त्तस्यैवापरलेख्यसूचितमिदं लेख्यं प्रयोगाश्रयम्।
सुव्यक्तं शकटेन भेदपटुभिः सन्धाय सार्धं परै-
र्भर्तृस्नेहपराङ्मुखेन कृपणं प्राणार्थिना चेष्टितम् ॥१५॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—मुद्रेति—मुद्रा तस्य करांगुलिप्रणयिनी, सिद्धार्थकः तत्सुहृद्, तस्य एव अपरलेख्यसूचितं प्रयोगाश्रयम् इदं लेख्यम्। सुव्यक्तं भर्तृस्नेहपराङ्मुखेन प्राणार्थिना शकटेन भेदपटुभिः परैः सार्धं सन्धाय कृपणं चेष्टितम् ॥१५॥

व्याख्या—मुद्रा—(इयम्) अंगुलिमुद्रा तस्य—शकटदासस्य करांगुलिप्रणयिनी =करांगुलिषु प्रणयिनी—साभिलाषवती (तत्रैव नित्यलग्ना अन्यैर्दुष्प्रापा), सिद्धार्थकः तत्सुहृत्=तस्य-शकटदासस्य सुहृत्-मित्रं, तस्य—शकटदासस्य एव अपरलेख्यसूचितम् =अपरेण लेख्येन सूचितं-संवादितं प्रयोगश्रयं—कूटप्रयोगविषयम् इदं लेख्यं-पत्रम्। (अतः) सुव्यक्तं—सुस्पष्टं भर्तृस्नेहपराङ्मुखेन—स्वाम्यनुरागविमुखेन (पुत्रदाराणाम्) प्राणार्थिना—जीवनमिच्छता शकटेन—शकटदासेन भेदपटुभिः=भेदे-विश्लेषणे पटुभिः-कुशलैः परैः-शत्रुभिः सार्धं—सह सन्धाय—मिलित्वा कृपणं-दीनं चेष्टितं-व्यवसितम् ॥१५॥

हिन्दी रूपान्तर

अथवा (इसमें) क्या सन्देह है?

श्लोक (१५) अर्थ—(यह) मुद्रा उस (शकटदास) के हाथ की अंगुली से प्रेम करने वाली है (अर्थात् हमेशा उसी के पास रहती है), सिद्धार्थक उसका मित्र है, उस (शकटदास) ही का दूसरे लेख (Writing) से सूचित किया गया हुआ (शत्रुकृत) कूट प्रयोग का आधारभूत यह लेख है। (अतः) स्पष्ट ही (अपने) स्वामी के स्नेह से विमुख (अपने पुत्र और स्त्री के) जीवन को चाहने वाले शकटदास ने भेदन करने में चतुर शत्रुओं के साथ मिलकर बुरा कार्य (कृपणम्) किया है ॥१५॥

टिप्पणी

(१) मुद्रा तस्य करांगुलिप्रणयिनी—क्योंकि हमेशा शकटदास के पास रहती थी। द्वितीय अङ्क में राक्षस ने कहा है—"अनयैव मुद्रया स्वाधिकारे व्यवहर्तव्यम्" इति।

(२) प्रयोगाश्रयम्- प्रयोग का अर्थ है=उपाय। साम-दाम-भेद और दण्ड इन उपायों में से कोई एक उपाय। यहाँ "भेद" नामक उपाय है। भाव यह है कि यह पत्र है जो भेद उपाय का आश्रय है, अर्थात् इस पत्र से भेद किया गया है। इसी पत्र पर सारी योजना आधारित है।

(३) पराङ्मुखेन—परा अञ्चति इति परा+अञ्च+क्विप् कर्तरि पराच्। पराक् मुखमस्य=पराङ्मुखः, तेन।

(४) प्राणार्थिना—यद्यपि इस समय शकटदास के अपने प्राण संकट में नहीं हैं तथापि पुत्र और पत्नी के प्राणों की रक्षा तो करना ही चाहता है। वे इस समय कैद में हैं इसलिये पुत्र और पत्नी के प्राणों की रक्षा के लिये।

मलयकेतुः—(विलोक्य।) आर्य, अलङ्कारत्रयं श्रीमता यदनुप्रेषितं तदुपगतमिति यल्लिखितं तन्मध्यात्किमिदमेकम्। (निर्वर्ण्यात्मगतम्।) कथं तातेन धृतपूर्वमिदमाभरणम्। (प्रकाशम्।) आर्य, कुतोऽयमलङ्कारः।

राक्षसः—वणिग्भ्यः क्रयादधिगतः।

मलयकेतुः—विजये, अपि प्रत्यभिजानासि भूषणमिदम्।

प्रतीहारी—(निवर्ण्य सवाष्पम् ।) कुमार, कहं ण पच्चभिजाणामि । इदं सुगिहीदणामधेएण पव्वदीसरेण धारिदपुव्वं । कथं न प्रत्यभिजानामि । इदं सुगृहीतनामधेयेन पर्वतेश्वरेण धारितपूर्वम् ।

मलयकेतुः—(सवाष्पम् ।) हा तात,

एतानि तानि तव भूषणवल्लभस्य
गात्रोचितानि कुलभूषण भूषणानि ।
यैः शोभितोऽसि मुखचन्द्रकृतावभासो
नक्षत्रवानिव शरत्समयप्रदोषः ॥१६॥

संस्कृत-व्याख्या

उपगतं=प्राप्तम् । धृतपूर्वं=पूर्वं धृतम् । प्रत्यभिजानासि=परिचिनोषि । प्रत्यभिजानामि=परिचिनोमि । सुगृहीतनामधेयेन=प्रातःस्मरणीयेन । धारितपूर्वं=पूर्वं धारितम् ।

अन्वयः—एतानीति—कुलभूषण, भूषणवल्लभस्य तव गात्रोचितानि एतानि तानि भूषणानि । यैः मुखचन्द्रकृतावभासः नक्षत्रवान् शरत्समयप्रदोष इव शोभितः असि ॥१६॥

व्याख्या—कुलभूषण=हे वंशालङ्कार, भूषणवल्लभस्य=वल्लभानि-प्रियाणि भूषणानि-अलङ्काराणि यस्य तादृशस्य तव गात्रोचितानि=गात्रस्य-वपुषः उचितानि-योग्यानि एतानि तानि-प्रसिद्धानि भूषणानि-आभरणानि । यैः-भूषणैः मुखचन्द्रकृतावभासः=मुखम् एव चन्द्रः तेन कृतः-विहितः अवभासः-दीप्तिः येन तादृशः नक्षत्रवान्-तारकान्वितः शरत्समयप्रदोषः=शरत्समयस्य-शरत्कालस्य प्रदोषः-निशामुखम् इव शोभितः-विराजितः असि-अभूः ॥१६॥

हिन्दी रूपान्तर

मलयकेतु—(देखकर ।) आर्य, आपने (श्रीमता) जो तीन आभूषण भेजे थे वे मिल गये हैं—यह जो लिखा है (तो) क्या उनमें से (तन्मध्यात्) यह एक है (जो पहिन रक्खा है) । (देखकर मन ही मन ।) पिता के द्वारा पहले धारण किया हुआ यह आभूषण कैसे ? (स्पष्टतः ।) आर्य, यह आभूषण कहाँ से (आया) है ?

राक्षस—व्यापारियों से खरीदकर (क्रयात्) प्राप्त किया है ।

मलयकेतु—विजये, क्या इस आभूषण को पहिचानते हो ?

प्रतिहारी—(देखकर अश्रुओं के साथ ।) कुमार, कैसे नहीं पहचानूंगी । यह प्रातःस्मरणीय नाम वाले पर्वतेश्वर के द्वारा पहले धारण किया हुआ है ।

मलयकेतु—(अश्रुओं के साथ ।) हा तात,

श्लोक (१६) अर्थ—हे कुलभूषण (वंश के लिये आभूषण के समान), अलङ्कार प्रिय आपके शरीर के योग्य ये वे (प्रसिद्ध) आभूषण हैं । जिन (आभूषणों) से मुखरूपी

चन्द्रमा से दीप्ति करने वाले नक्षत्रों से युक्त शरद् कालीन सायंकाल के समान शोभित होते थे ।।१६।।

टिप्पणी

(१) **तन्मध्यात्किमिदमेकम्**—मलयकेतु का संकेत उस आभूषण की ओर है, जो राक्षस ने पहिन रखा है।

(२) **प्रत्यभिजानामि**=प्रति + अभि + ज्ञा अट् मिप् ।

(३) **सुगृहीतनामधेयेन**—"स सुगृहीतनामा स्याद् यः प्रातरनुकीर्त्यते" ।

(४) १६ वें श्लोक मे सादृश्य इसप्रकार है :—

आभूषण = नक्षत्र, पर्वतकमुख = चन्द्र, पर्वतक = शरद्कालील सायंकाल ।

राक्षसः—(स्वगतम् ।) कथं पर्वतेश्वरेण धृतपूर्वाणीत्याह । व्यक्तमेवास्य भूषणानि । (प्रकाशम् ।) एतान्यपि चाणक्यप्रयुक्तेन वणिग्जनेनास्मासु विक्रीतानि ।

मलयकेतुः—आर्य, तातेन धृतपूर्वाणां विशेषतश्चन्द्रगुप्तहस्तगतानां वणिग्विक्रय इति न युज्यते । अथवा युज्यत एवैतत् । कुतः ।

चन्द्रगुप्तस्य विक्रेतुरधिकं लाभमिच्छतः ।
कल्पिता मूल्यमेतेषां क्रूरेण भवता वयम् ॥१७॥

संस्कृत-व्याख्या

धृतपूर्वाणि = पूर्वं धृतानि--स्वदेहे परिहितानि । विक्रितानि = मूल्यमादाय समर्पितानि ।

अन्वयः—चन्द्रगुप्तस्येति—क्रूरेण भवता अधिकं लाभम् इच्छतः विक्रेतुः चन्द्रगुप्तस्य वयम् एतेषां मूल्यं कल्पिताः ॥१७॥

व्याख्या—क्रूरेण–नृशंसेन भवता–त्वया अधिकं–विशेषं लाभं-प्राप्तिम् इच्छतः कामयमानस्य (अधिकप्राप्त्याशया इत्यर्थः) विक्रेतुः-विनिमयकामस्य चन्द्रगुप्तस्य (कृते) वयम्–अहमित्यर्थः एतेषां—परिदृश्यमानानामलंकाराणां मूल्यं कल्पिताः—मूल्यत्वेन निरूपिताः (एभिर्भूषणैर्वशीकृतस्त्वं मद्विनाशे व्यवसितोऽसि इत्यर्थः) ॥१७॥

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—(मन ही मन ।) क्या (कथम्) पर्वतेश्वर ने पहले धारण किये हैं—यह कहा है । स्पष्ट ही इस (पर्वतेश्वर) के आभूषण हैं । (स्पष्टतः।) इनको भी चाणक्य द्वारा नियुक्त किये हुये व्यापारी ने (वणिक्जनेन) हमको बेच दिया है ।

मलयकेतु—आर्य, पिता के द्वारा पहले धारण किये हुओं का (और) विशेष रूप से चन्द्रगुप्त के हाथ में गये हुओं का व्यापारी द्वारा बेचा जाना—ठीक नहीं (प्रतीत होता) है । अथवा यह ठीक ही है । क्योंकि

श्लोक (१७) अर्थ—क्रूर आपने अत्यधिक लाभ को चाहने वाले बेचने की इच्छा वाले चन्द्रगुप्त के लिये हमको इन (आभूषणों) का मूल्य बनाया है (अर्थात् इन आभूषणों से वश में किये हुये तुम मुझे नष्ट करने में लगे हुये हो) ॥१७॥

टिप्पणी

(१) **एतान्यपि चाणक्यप्रयुक्तेन**—राक्षस ने अपनी सफाई दी है, जो वस्तुतः यथार्थ है। "परितोष्य विक्रेतारं गृह्यताम्" द्वितीय अङ्क में आया है। इससे राक्षस को यह स्पष्ट हो गया है कि चाणक्य के द्वारा नियुक्त व्यापारी ने ही उसको ये आभूषण बेचे हैं।

(२) **युज्यत एवैतत्**—तुम्हारे पास इन आभूषणों का होना ठीक हो सकता है क्योंकि तुम्हीं ने पर्वतक को मारा है। यह बात चन्द्रगुप्त के पक्ष में ठीक नहीं बैठती है कि उसने इन आभूषणों को किसी अन्य के हाथ बेचा हो और उसने फिर तुमको बेचे हों।

राक्षसः—(स्वगतम्।) अहो सुश्लिष्टोऽभूच्छत्रुप्रयोगः। कुतः।

लेखोऽयं न ममेति नोत्तरमिदं मुद्रा मदीया यतः
सौहार्दं शकटेन खण्डितमिति श्रद्धेयमेतत्कथम्।
मौर्ये भूषणविक्रयं नरपतौ को नाम संभावये—
त्तस्मात्संप्रतिपत्तिरेवं हि वरं न ग्राम्यमत्रोत्तरम्॥१८॥

संस्कृत-व्याख्या

सुश्लिष्टः=अतिदृढः।

अन्वयः—**लेखोऽयमिति**—अयं लेखः मन न इति, इदम् उत्तरं न यतः मुद्रा मदोया, शकटेन सौहार्दं खण्डितम् इति एतत् श्रद्धेयं कथं। नरपतौ मौर्ये भूषणविक्रयं को नाम सम्भावयेत्, तस्मात् अत्र सम्प्रतिपत्तिः एव हि वरं ग्राम्यम् उत्तरं न॥१८॥

व्याख्या—अयं प्रमाणत्वेन दर्शितः लेखः--पत्रं मम -मन्मतेन लिखितं न इति, इदम् उत्तरं--प्रतिवचनं न (सम्भवति) यतः--यस्मात् मुद्रा-अंगुलिमुद्रा मदीया—मामकीना (मदीयमुद्रया मुद्रितोऽयं लेख इत्यर्थः), शकटेन-शकटदासेन सौहार्दं-मित्रत्वं खण्डितं-भग्नम् इति एतत् श्रद्धेयं--विश्वास्यं कथम्। नरपतौ-राजनि मौर्ये-चन्द्रगुप्ते भूषणविक्रयम्-अलंकारपणनं को नाम सम्भावयेत्-विश्वसेत् (न कोऽपि विश्वसेदित्यर्थः) तस्मात् अत्र अस्मिन् विषये सम्प्रतिपत्तिः स्वीकृतिः एव (अयं मम लेख इति स्वीकार एव) हि वरं-श्रेष्ठं ग्राम्यम् इतरजनोचितमसंगतम् उत्तरं-प्रतिवचनं (वरं) न॥१८॥

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—(मन ही मन।) आश्चर्य है कि शत्रु का कूट प्रयोग सुव्यवस्थित (सुश्लिष्टः=परस्पर गुंथा हुआ) है। क्योंकि

श्लोक (१८) अर्थ—यह लेख मेरी अनुमति से (मम) नहीं (लिखा गया) है यह (कोई) उत्तर नहीं है क्योंकि मुद्रा मेरी है, शकटदास ने मित्रता तोड़ दी है यह विश्वास के योग्य कैसे हो सकता है? राजा चन्द्रगुप्त के विषय में अलंकारों का बेचा जाना कौन सम्भावना कर सकता है (अर्थात् कोई नहीं), इसलिये इस विषय में (यह

मेरी ही अनुमति से लिखा हुआ लेख है) स्वीकृति ही अच्छी है, ग्राम्य (अयुक्तियुक्त) उत्तर देना (ठीक) नहीं है ॥१८॥

टिप्पणी

(१) **मम**—मेरी सम्मति से। क्योंकि यह तो स्पष्ट ही हो चुका है कि पत्र राक्षस ने नहीं लिखा है। अतः **मम** का अर्थ "मेरा" नहीं है, अपितु "मेरी सम्मति से" यह अर्थ करना उचित है।

(२) **लेखोऽयं न ममेति**—यह लेख मेरी अनुमति से नहीं लिखा गया है। आशय यह है कि शकटदास ने यह पत्र लिखा है, इस विषय में दो ही पक्ष हो सकते हैं, (१) अपनी इच्छा से लिख दिया (२) मेरी सम्मति से लिखा है। यहाँ दूसरे पक्ष को आधार मानकर अर्थ करना उचित बैठता है।

(३) **सौहार्दम्**—सुहृदो भाव इति सौहार्दम्। "**हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च**" पा० ७/३/१९ से उभयपदवृद्धि।

(४) **श्रद्धेयमेतत्कथम्**—अपने पुत्र और स्त्री के प्राणों की रक्षा के लिये उसने मित्रता तोड़ दी, ऐसा मेरे सोचने में कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये यह भी नहीं कहा जा सकता है कि शकटदास ने मित्रता तोड़कर यह लिख दिया है। यह "**अपनी इच्छा से लिख दिया**" इसका समाधान है।

(५) **मौर्ये भूषणविक्रयं नरपतौ**—यह उस प्रश्न का उत्तर है जो राक्षस ने यह कहा है कि "**वणिग्भ्यः क्रयादधिगतः**" इति। राक्षस ने जो आभूषण धारण कर रखा है उससे वह ही दोषी ठहरता है क्योंकि ये आभूषण पर्वतक के हैं। उसकी मृत्यु के पश्चात् ये चन्द्रगुप्त के हाथ में चले गये थे। प्रश्न यह है कि ये राक्षस के पास आये कैसे ? स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त ने मलयकेतु के सिर के बदले में राक्षस को दिये हैं। राक्षस का यह कहना कि मैंने व्यापारी से खरीदे हैं—इस पर कोई विश्वास नहीं कर सकता क्योंकि चन्द्रगुप्त के समान राजा को आभूषण बेचने की आवश्यकता ही क्या है ? इसप्रकार सारांश यह है कि—

(१) मेरे नाम की मुद्रा से यह नहीं कहा जा सकता कि यह पत्र मेरी सम्मति से नहीं लिखा गया है।

(२) शकटदास ने मित्रता तोड़ दी इस पर कोई विश्वास नहीं कर सकता।

(३) चन्द्रगुप्त ने आभूषणों को बेचा है—इस पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता।

अतः (४) लेख के विषय में अपने दोष को स्वीकार कर लेना ही ठीक है।

(५) **उत्तरम्**—उत्तर चार प्रकार के होते हैं—(१) मिथ्योत्तर, (२) प्रत्यवस्कन्दन, (३ सम्प्रतिपत्ति और (४) प्राङ्न्याय। इस विषय में यह कहना कि यह लेख मेरी सम्मति से नहीं लिखा गया है, **मिथ्योत्तर** होगा। शकटदास ने मित्रता तोड़कर यह काम किया या चन्द्रगुप्त ने आभूषण बेचे—यह कहना **प्रत्यवस्कन्दन उत्तर** होगा। **प्राङ्न्याय** उत्तर के लिये यहाँ कोई अवसर ही नहीं है। परिशेष न्याय से "**सम्प्रतिपत्ति उत्तर**" ही ठीक है। **सम्प्रतिपत्ति** का लक्षण इसप्रकार है—

श्रुत्वाभियोगं प्रत्यर्थी यदि तं प्रतिपद्यते ।
सा तु सम्प्रतिपत्तिः स्याच्छास्त्रविद्भिरुदाहृता ॥'॥

मलयकेतुः—एतदार्यं पृच्छामि ।

राक्षसः—(सबाष्पम् ।) कुमार, य आर्यस्तं पृच्छ । वयमिदानीमनार्याः संवृत्ताः ।

मलयकेतुः—

मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः परिचरणपरो मित्रपुत्रस्तवाहं
दाता सोऽर्थस्य तुभ्यं स्वमतमनुगतस्त्वं तु मह्यं ददासि ।
दास्यं सत्कारपूर्वं ननु सचिवपदं तत्र ते स्वाम्यमत्र
स्वार्थे कस्मिन्समीहा पुनरधिकतरे त्वामनार्यं करोति ॥१६॥

संस्कृत-व्याख्या

संवृत्ता = जाताः ।

अन्वयः—मौर्यं इति—असौ मौर्यः स्वामिपुत्रः परिचरणपरः अहं तव मित्रपुत्रः स तुभ्यम् अर्थस्य दाता स्वमतम् अनुगतः त्वं तु मह्यं ददासि । तत्र सत्कारपूर्वं सचिवपदं दास्यं ननु अत्र ते स्वाम्यं, पुनः अधिकतरे कस्मिन् स्वार्थे समीहा त्वाम् अनार्यं करोति ॥१६॥

व्याख्या—असौ मौर्यः—चन्द्रगुप्तः (तव) स्वामिपुत्रः = स्वामिनः—नन्दस्य पुत्रः—तनयः (अतः प्रभुरिव सेव्यः), परिचरणपरः—सेवानिरतः अहं तव मित्रपुत्रः = मित्रस्य-पर्वतेश्वरस्य पुत्रः (अतएव सेवकः) सः—मौर्यः तुभ्यम् अर्थस्य—(वेतनरूपस्य) धनस्य दाता—प्रतिपादयिता, स्वमतं—स्वाभिरुचिम् अनुगतः—आश्रितः सन् त्वं तु मह्यं ददासि—प्रतिपादयसि । तत्र—मौर्ये सत्कारपूर्वं—सम्मानपुरस्सरं सचिवपदं-मन्त्रिपदं दास्यं—भृत्यत्वं ननु अत्र—मयि विषये ते स्वाम्यं—प्रभुत्व पुनः—भूयः अधिकतरे-इतोऽप्यधिके कस्मिन्—कीदृशे स्वार्थे—स्वाभिलषिते विषये समीहा-इच्छा त्वाम् अनार्यम्-असाधुम् करोति—विदधाति ॥१६॥

हिन्दी रूपान्तर

मलयकेतु—आर्य से यह पूछना चाहता हूँ ।

राक्षस—(अश्रुओं के साथ ।) कुमार, जो आर्य हो उसको पूछो । हम सम्प्रति अनार्य हो गये हैं ।

मलयकेतु—

श्लोक (१६) अर्थ—वह मौर्य (तुम्हारे) स्वामी नन्द का पुत्र है (अतः स्वामी के समान सेव्य है), (तुम्हारी) सेवा में तत्पर मैं तुम्हारे मित्र (पर्वतेश्वर) का पुत्र हूँ (अतएव सेवक हूँ), वह (मौर्य) तुमको धन का देने वाला है (और यहाँ) अपनी इच्छा के अनुसार तुम तो मुझको देते हो । वहाँ (चन्द्रगुप्त के पास) सत्कारपूर्वक

मन्त्रीपद दासता है, यहाँ (मेरे पास) तुम्हारी प्रभुता है, पुनः इससे अधिक किस स्वार्थ में (तुम्हारी) इच्छा तुमको अनार्य बना रही है ॥२१॥

टिप्पणी

(१) वयमिदानीमनार्याः संवृत्ताः—यह अपराध की स्वीकृति है।

(२) १९वें श्लोक में मलयकेतु ने चन्द्रगुप्त के पास राक्षस के रहने और अपने पास राक्षस के रहने की तुलना की है। वह तुलना इसप्रकार है—

(क) चन्द्रगुप्त तुम्हारे लिये प्रभु के समान सेव्य है और मैं तुम्हारा सेवक हूँ अर्थात् वहाँ दासता है और यहाँ स्वामित्व है।

(ख) चन्द्रगुप्त तुमको धन देने वाला है और यहाँ तुम अपनी इच्छा से धन देते हो अर्थात् वहाँ धन के विषय में परतन्त्रता और यहाँ स्वतन्त्रता है।

(ग) चन्द्रगुप्त के पास मन्त्रीपद दासता है और यहाँ मेरे पास तुम स्वामी हो।

तुलना करने के उपरान्त मलयकेतु कहता है कि इसप्रकार मौर्य की सेवा से भी बढ़कर मेरे पास तुम्हारे रहने पर भी तुम्हारी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहती है फिर और कौनसा स्वार्थ है जिससे तुम अनार्य हुये जा रहे हो क्योंकि व्यक्ति किसी अधिक फल की कामना से अकरणीय कर्म में प्रवृत्त होता है। किन्तु यहाँ तो मेरे पास रहने में ही आपकी अभीष्ट सिद्धि है, फिर क्यों मुझे छोड़कर विपक्ष का आश्रय ले रहे हो।

राक्षसः—कुमार, एवमयुक्तव्यवहारिणा निर्णयो दत्तः। भवतु तव को दोषः। ('मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः' (५/१९) इति युष्मदस्मदोर्व्यत्ययेन पठति।)

संस्कृत-व्याख्या

अयुक्तव्यवहारिणा = अनुचितवादिना । युष्मदस्मदोर्व्यत्ययेन = युष्मच्च अस्मच्च युस्मदस्मदी तयोः व्यत्ययः-विपर्यासः तेन।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—कुमार, इसप्रकार, अनुचित कहने वाले (आप) ने (स्वयम्) निर्णय दे दिया। अच्छा, (इस विषय में) तुम्हारा क्या दोष है अर्थात् कोई भी नहीं। ("मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः" (५/१९) इस श्लोक को युष्मद् और अस्मद् शब्द के परिवर्तन से (पुनः) पढ़ता है।

मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः परिचरणपरो मित्रपुत्रो मम त्वम्
दाता सोऽर्थस्य मह्यं स्वमतमनुगतोऽह तु तुभ्यं ददामि।
दास्यं सत्कारपूर्वं ननु सचिवपदं तत्र मे स्वाम्यमत्र
स्वार्थे कस्मिन्समीहा पुनरधिकतरे मामनार्यं करोति ॥१९॥

वह मौर्य (मेरे) स्वामी (नन्द) का पुत्र है (अतः स्वामी के समान सेव्य है), (मेरी) सेवा में तत्पर तुम मेरे मित्र (पर्वतेश्वर) के पुत्र हो (अतएव सेवक हो), वह (मौर्य) मुझको धन देने वाला है (और यहाँ) अपनी इच्छा के अनुसार मैं तो

तुमको देता हूँ। वहाँ (चन्द्रगुप्त के पास) सत्कारपूर्वक मन्त्रीपद दासता है, वहाँ (तुम्हारे पास) मेरी प्रभुता है, पुनः इससे अधिक किस स्वार्थ में (मेरी) इच्छा मुझको अनार्य बना रही है ॥१९॥

टिप्पणी

(१) **एवमयुक्तव्यवहारिणा**—तुमने अपने आप ही इन अनुचित बातें को कहते हुये अपने प्रश्न का उत्तर दे दिया है और फिर भी यदि उत्तर पूछते हो तो मेरा यह कहना है कि मेरे लिये चन्द्रगुप्त के पक्ष में होने के लिये कोई प्रलोभन नहीं है, तुम्हारे सोचने का ढंग ही गलत है।

(२) **मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः**—जिस समय राक्षस मन ही मन अपने अपराध को स्वीकार करने की सोच रहा है उस समय मूर्ख मलयकेतु ने राक्षस पर अनार्य होने का अभियोग लगाया है। जिसका उत्तर राक्षस ने उसी के शब्दों में उसको दे दिया है।

मलयकेतुः—(लेखमलंकरणस्थगिकां च निर्दिश्य।) इदमिदानी किम्।

राक्षसः—(सवाष्पम्।) विधिविलसितम्। कुतः

भृत्यत्वे परिभावधामनि सति स्नेहात्प्रभूणां सतां
पुत्रेभ्यः कृतवेदिनां चृतधियां येषां न भिन्ना वयम्।
ते लोकस्य परीक्षकाः क्षितिभृतः पापेन येन क्षता-
स्तस्येदं विपुल विधेर्विलसितं पुंसां प्रयत्नच्छिदः ॥२१॥

संस्कृत-व्याख्या

अलङ्करणस्थगिकाम् = आभरणपेटिकाम्। निर्दिश्य = उद्दिश्य। विधिबिलसितम् = विधेः-दैवस्य विलसितं—चेष्टितम्।

अन्वयः—धृत्यत्वे इति—कृतधियां कृतवेदिनां येषां सतां प्रभूणां परिभावधामनि भृत्यत्वे सति वयं स्नेहात् पुत्रेभ्यः भिन्नाः न। ते लोकस्य परीक्षकाः क्षितिभृतः येन पापेन क्षताः तस्य पुंसां प्रयत्नच्छिदः विधेः इदं विपुलं बिलसितम् ॥२०॥

व्याख्या—कृतधियां—कृता-समाहिता धीः-बुद्धिः येषां तेषां, समाहितचित्तानां कृतवेदिनां = कृतं विदन्ति-जानन्ति ये तादृशानां, गुणज्ञानां येषां सतां-साधुशीलानां प्रभूणां-स्वामिनां (नन्दानामित्यर्थः) परिभावधामनि = परिभावस्य-तिरस्कारस्य धामनि-आस्पदे भृत्यत्वे-सेवकत्वे सति- विद्यमाने (अपि) वयं स्नेहात् = प्रेम्णः पुत्रेभ्यः-सुतेभ्यः भिन्नाः-अन्याः न (पुत्रनिर्विशेषाः आस्म इत्यर्थः) ते लोकस्य-पुरुषस्य परीक्षकाः-सदसत्वविवेकिनः क्षितिभृतः-राजानः (नन्दाः) येन पापेन-दुराचारेण (विधिना) क्षताः-विनाशिताः तस्य पुंसां—पुरुषाणां प्रयत्नच्छिदः = प्रयत्नं—चेष्टां यः छिनत्ति-उत्सादयति तस्य विधेः-दैवस्य इदम्—एतत् विपुलं विलसितं—चेष्टितम् ॥२०॥

हिन्दी रूपान्तर

मलयकेतु—(लेख को और आभूषणों की पेटिका को निर्दिष्ट करके।) सम्प्रति यह क्या है अर्थात् यह किसका दोष है?

राक्षस—(अश्रुओं के साथ।) भाग्य का विलास है। क्योंकि

श्लोक (२०) अर्थ—समाहित चित्त वाले किये हुये कर्म को जानने वाले अर्थात् गुणज्ञ जिन श्रेष्ठ राजाओं के तिरस्कार के स्थान सेवक पद पर होने पर (भी) हम स्नेह के कारण पुत्रों से भिन्न नहीं थे (अर्थात् सेवक होते हुये भी पुत्रवत् थे,) वे मनुष्य के परीक्षक (अर्थात् परीक्षा करने में समर्थ) राजा (नन्द) जिस पापी (दैव) ने नष्ट कर दिये उस मनुष्यों के प्रयत्न को विनष्ट करने वाले दैव का यह महान् विलास है ॥२०॥

टिप्पणी

(१) **इदमिदानीं किम्**—यह क्या है अर्थात् किसका दोष है। यदि तुम्हारा कोई उद्देश्य नहीं है तो यह पत्र और आभूषणों की पेटी चन्द्रगुप्त को क्यों भेजी है। किन्तु इसके विपरीत तुम्हारा कोई गूढ़ उद्देश्य है, जो तुम हमसे छिपा रहे हो।

(२) **विधिविलसितम्**—भाग्य का विलास है। मेरी अपेक्षा भाग्य अधिक जानता है, उसी से पूछो। इस अवस्था में राक्षस ने भागुरायण-सिद्धार्थक-भद्रभटादि पर दोष नहीं दिया है—यद्यपि वह इन पर कई बार सन्देह कर चुका है।

विधेः विलसितम् इत्यादि-जहाँ कहीं भी भाग्य की चर्चा है, राक्षस का कटाक्ष चाणक्य की ओर है।

(३) **भृत्यत्वे**—अनादर में सप्तमी है। भृत्यत्वमनादृत्य = सति भृत्यत्वे।

(४) **सताम्**—परिणामतः तुम सत् नहीं हो।

(५) श्लोक २० में राक्षस ने जो विशेषण नन्द के लिये प्रयुक्त किये हैं उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जहाँ राजा नन्द कृतधी और कृतवेदी थे वहाँ मलयकेतु कृतधी और कृतवेदी नहीं है। इसलिये वह राक्षस का इसप्रकार अपमान कर रहा है। वे मनुष्यों की परीक्षा करने की कला में सिद्धहस्त थे और मलयकेतु मनुष्यों के पहिचानने में असमर्थ है। वे परिपक्व बुद्धि वाले थे और तुम वैसे नहीं हो।

मलयकेतुः—(सरोषम्।) किमद्यापि निह्नूयते एव। विधेः किलैतद् व्यवसितम्, न लोभस्य। अनार्य,

कन्यां तीव्रविषप्रयोगविषमां कृत्वा कृतघ्न त्वया
विश्रम्भप्रवणः पुरा मम पिता नीतः कथाशेषताम्।
संप्रत्याहितगौरवेण भवता मन्त्राधिकारे रिपो
प्रारब्धाः प्रलयाय मांसवदहो विक्रेतुमेते वयम् ॥२१॥

संस्कृत-व्याख्या

अद्यापि = सम्प्रत्यपि। निह्नूयते = गोपयते। व्यवसितं = चेष्टितम्।

अन्वयः—कन्यामिति—कृतघ्न, पुरा त्वया तीव्रविषप्रयोगविषमां कन्यां कृत्वा विश्रम्भप्रवणः मम पिता कथाशेषतां नीतः । सम्प्रति अहो मन्त्राधिकारे आहितगौरवेण भवता एते वयं प्रलयाय रिपौ मांसवत् विक्रेतुं प्रारब्धाः ॥२१॥

व्याख्या—कृतघ्न—हे अकृतज्ञ राक्षस, पुरा—प्राक् त्वया (न तु चाणक्येन) तीव्रविषप्रयोगविषमां = तीव्रस्य - तीक्ष्णस्य विषस्य—हलाहलस्य प्रयोगेण विषमां—घोरां कन्यां कृत्वा—विषकन्यां विधाय विश्रम्भप्रवणः—सुविश्वस्तः मम पिता—तातः पर्वतेश्वरः कथाशेषतां—नाममात्रस्थितत्वं नीतः—प्रापितः (निहत इत्यर्थः) । सम्प्रति—इदानीम् अहो मन्त्राधिकारे—मौर्यस्य मन्त्रित्वे आहितगौरवेण—धृताभिलाषेण भवता—त्वया एते वयं प्रलयाय—विनाशाय रिपौ—शत्रौ चन्द्रगुप्ते मांसवत्—क्रव्यमिव विक्रेतुं प्रारब्धाः—नियोजिताः ॥२१॥

हिन्दी रूपान्तर

मलयकेतु—(क्रोध के साथ।) क्या अब भी छिपाया जा रहा है। यह भाग्य का किया हुआ है, लोभ का नहीं। अनार्य,

श्लोक (२१) **अर्थ**—हे कृतघ्न, पहले तुमने तीव्र विष के प्रयोग के कारण घातक कन्या का निर्माण करके (अर्थात् विषकन्या का प्रयोग करके) विश्वासोन्मुख मेरे पिता (पर्वतेश्वर) को नाममात्र स्थिति को (कथाशेषताम्) प्राप्त करा दिया। (और) सम्प्रति दुःख की बात है कि (मौर्य के) मन्त्री पद पर (मन्त्राधिकारे) अभिलाषा रखने वाले (आहितगौरवेण) तुम्हारे द्वारा ये (विश्वस्त) हम विनाश के लिये शत्रु (चन्द्रगुप्त) को मांस के समान बेचने प्रारम्भ कर दिये हैं ॥२१॥

टिप्पणी

(१) **किमद्यापि निह्नूयते एव**—क्या अब भी छिपाया ही जा रहा है। यह कहना एक व्यंग्य है क्योंकि जब तुम कहते हो कि यह दैव का काम है तो इस पर कोई कैसे विश्वास कर सकता है? यह क्यों नहीं कहते हो कि यह मेरे लोभ का काम है।

(२) **कन्यां तीव्रविषप्रयोगविषमाम्**—यह सूचना अभी ही क्षपणक जीवसिद्धि के द्वारा मलयकेतु को मिली है अन्यथा इससे पूर्व तो वह यह ही समझता था कि चाणक्य ने मारा है।

(३) **मांसवत्**—राक्षस को इस श्लोक के अन्दर मांस बेचने वाले के रूप में चित्रित किया गया है। इससे पहले सर्वार्थसिद्धि को मोटा करने के लिये पर्वतक को मारा था और अब चन्द्रगुप्त को मोटा करने के लिये मलयकेतु को मारने जा रहा है।

(४) २१वें श्लोक के अन्दर मलयकेतु ने जिन भावनाओं का प्रकाशन किया है, उनकी पृष्ठभूमि में क्षपणक जीवसिद्धि का यह कहना है कि—"**इदानीमपि राक्षससेनानेकराजकार्यकुशलेन किमपि तादृशमारभ्यते**" इति। मलयकेतु का आशय यह है कि विश्वस्त पिता की हत्या करके सम्प्रति विश्वस्त मुझ पुत्र को भी मारना चाहते हो।

राक्षसः—(स्वगतम् ।) अयमपरो गण्डस्योपरि स्फोटः । (प्रकाशम् । कर्णौ पिधाय ।) शान्तं पापं शान्तं पापम् । नाहं पर्वतेश्वरे विषकन्यां प्रयुक्तवान् ।

मलयकेतुः—केन तर्हि व्यापादितस्तातः ।

राक्षसः—दैवमत्र प्रष्टव्यम् ।

मलयकेतुः—(सक्रोधम् ।) दैवमत्र प्रष्टव्यम् । न क्षपणको जीवसिद्धः ।

राक्षसः—(स्वगतम् ।) कथं जीवसिद्धिरपि चाणक्यप्रणिधिः । हन्त, रिपुभिर्मे हृदयमपि स्वीकृतम् ।

मलयकेतुः—(सक्रोधम् ।) भासुरक, आज्ञाप्यतां शेखरसेनः—"य एते राक्षसेन सह सुहृत्तामुत्पाद्यास्मच्छरीरद्रोहेण चन्द्रगुप्तमाराधयितुकामाः पञ्च राजानः कौलूतश्चित्रवर्मा मलयनृपतिः सिंहनादः काश्मीरः पुष्कराक्षः सिन्धुराजः सुषेणः पारसीकाधिपो मेघनाद इति, एतेषु त्रयः प्रथमे मदीयां भूमिं कामयन्ते ते गम्भीरश्वभ्रमभिनीय पांशुभिः पूर्यन्ताम् । इतरौ हस्तिबलकामुकौ हस्तिनैव घात्येताम्" इति ।

पुरुषः—तथा । (इति निष्क्रान्तः ।)

संस्कृत-व्याख्या

अयं गण्डस्य—मर्मस्थानव्रणस्य उपरि अपरः स्फोटः-व्रणान्तरम् । पिधाय = आच्छाद्य । चाणक्यप्रणिधिः = कौटिल्यगूढचरः । स्वीकृतं = गृहीतम् । उत्पाद्य = सम्पाद्य । अस्मच्छरीरद्रोहेण = मत्कायविनाशेन । कामयन्ते = वाञ्छन्ति । गम्भीरश्वभ्रं = गम्भीरगर्त्तम् । अभिनीय = नीत्वा । पांशुभिः = रजोभिः । पूर्यन्ताम् = आच्छाद्यन्ताम् । हस्तिबलकामुकौ = गजसैन्याभिलाषयुक्तौ । घात्येताम् = विनाश्येताम् ।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—(मन ही मन ।) यह मर्मस्थान के व्रण के ऊपर दूसरा व्रण है । (स्पष्टतः । दोनों कानों को बन्द करके ।) पाप शान्त हो, पाप शान्त हो । मैंने पर्वतेश्वर पर विषकन्या का प्रयोग नहीं किया ।

मलयकेतु—तो पिता को किसने मारा ?

राक्षस - इस विषय में भाग्य को पूछना चाहिये ।

मलयकेतु—(क्रोध के साथ ।) इस विषय में भाग्य को पूछना चाहिये । क्षपणक जीवसिद्धि को नहीं ।

राक्षस—(मन ही मन ।) क्या जीवसिद्धि भी चाणक्य का गुप्तचर है । दुःख है कि (हन्त) शत्रुओं ने मेरे हृदय पर भी अधिकार कर लिया है (स्वीकृतम्) ।

मलयकेतु—(क्रोध के साथ ।) भासुरक, शेखरसेन को आज्ञा दो—"जो ये राक्षस के साथ मैत्री को उत्पन्न करके मेरे शरीर के द्रोह के द्वारा चन्द्रगुप्त की सेवा

करने की इच्छा वाले पांच राजा (क्रमशः) कुलूदेशाधिपति चित्रवर्मा, मलयकेतु का राजा सिंहनाद, काश्मीर का राजा पुष्कराक्ष, सिन्धुराज सुषेण (और) पारसीक देश का अधिपति मेघनाद हैं, इनमें से प्रथम तीन तो मेरी भूमि को (राज्य को) चाहते हैं उनको गहरे गड्ढे में ले जाकर धूलि से भर दो। (अवशिष्ट) दूसरे दो हस्तिसेना का चाहने वाले हाथी के द्वारा ही मार डाले जावें" इति।

पुरुष -- जो आज्ञा। (ऐसा कहकर निकल गया।)

टिप्पणी

(१) **गण्डस्योपरि**---"उपरि" शब्द के योग में "**षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन**" पा० २/३/३० इति षष्ठी। अर्थात् पर्वतेश्वर को मारने का यह दूसरा दोष और लग गया।

(२) **दैवमत्र प्रष्टव्यम्** -- क्योंकि राक्षस के पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि पर्वतक को चाणक्य ने मरवाया है, अतः वह चाणक्य का नाम न लेकर "**दैव**" कहता है। यह राक्षस की उदाराशयता और महत्ता को प्रतिपादित करता है।

(३) **हृदयमपि स्वीकृतम्**---राक्षस जीवसिद्धि पर महान् विश्वास रखता था और उसको सभी रहस्य की बातें बता देता था। यदि वह ही चाणक्य का गुप्तचर है तो फिर राक्षस की कोई बात चाणक्य के लिये रहस्यमय नहीं है। इसलिये कहा है कि मेरा हृदय भी चाणक्य का अपना हृदय है।

(४) **शेखरसेनः**---पञ्चम अङ्क में इसी को शिखरक कहा गया है।

(५) **कौलूतः**---"**क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यापत्यदत्**" (वार्तिक) इति अञ् प्रत्ययः।

(६) **त्रये प्रथमे**---चित्रवर्मा, सिंहनाद और पुष्कराक्ष।

(७) **इतरौ**---सुषेण और मेघनाद।

मलयकेतुः---(सक्रोधम्।) राक्षस राक्षस, नाहं विश्रम्भघाती राक्षसः। मलयकेतुः खल्वहम्। तद्गच्छ। समाश्रीयतां सर्वात्मना चन्द्रगुप्तः। पश्य

विष्णुगुप्तं च मौर्यं च सममप्यागतौ त्वया।
उन्मूलयितुमीशोऽहं त्रिवर्गमिव दुर्नयः ॥२२॥

संस्कृत-व्याख्या

विश्रम्भघाती = विश्वासघातकः। **सर्वात्मना** = सर्वप्रकारेण।

अन्वयः--- **विष्णुगुप्तमिति**---त्वया समम् अपि आगतौ विष्णुगुप्तं च मौर्यं च अहं त्रिवर्गं दुर्नयः इव उन्मूलयितुम् ईशः ॥२२॥

व्याख्या---त्वया समं---सह अपि आगतौ विष्णुगुप्तं--चाणक्यं च मौर्य-चन्द्रगुप्तञ्च अहं त्रिवर्गं = त्रयाणां--धर्मार्थकामनां वर्गः--समुदायः तं दुर्नयः--दुर्नीतिः इव उन्मूलयितुं--नाशयितुम् ईशः--समर्थः (अस्मि) ॥२२॥

हिन्दी रूपान्तर

मलयकेतु—(क्रोध के साथ।) राक्षस राक्षस, मैं विश्वासघात करने वाला राक्षस नहीं हूँ। मैं वास्तव में मलयकेतु हूँ। तो जाओ। पूर्णरूप से चन्द्रगुप्त का आश्रय लो। देखो।

श्लोक (२२) अर्थ—तुम्हारे साथ भी आये हुये चाणक्य को और मौर्य को मैं धर्म, अर्थ और काम को (त्रिवर्गम्) दुर्नीति के समान विनष्ट करने में समर्थ हूँ ॥२२॥

टिप्पणी

(१) **नाहं विश्रम्भघाती राक्षसः**—अर्थात् तुमने अपने मित्र पर्वतक के प्रति विश्वासघात करके उसको मरवा दिया परन्तु मैं तुम्हारे साथ विश्वासघात नहीं करूँगा अर्थात् नहीं मरवाऊँगा। विश्रम्भं-विश्वासं घातयति इति विश्रम्भ + हन् + णिच् णिनि कर्तरि ताच्छील्ये।

(२) **मलयकेतुः खल्वहम्**—मैं मलयकेतु हूँ अर्थात् तुम में और मुझ में महान् अन्तर है। तुम विश्वासघाती हो और मैं अच्छे गुणों वाला मलयकेतु हूँ।

(३) २२ वें श्लोक का आशय यह है कि जिसप्रकार नीतिहीन राजा धमार्थ-काम को नष्ट कर देता है, उसीप्रकार मैं तुमको, चन्द्रगुप्त और चाणक्य को नष्ट कर दूंगा। यहाँ पर धर्म, अर्थ और काम क्रमशः राक्षस, चन्द्रगुप्त और चाणक्य को बताया गया है और दुर्नीति मलयकेतु ने अपने आपको कहा है। इसप्रकार रोष के आवेश में आकर मलयकेतु ने अपनी दुष्टता ही प्रतिपादित की है।

भागुरायणः—कुमार, कृतं कालहरणेन। सांप्रतं कुसुमपुरोपरोधायाज्ञाप्यन्तामस्मद्बलानि।

गौडीनां लोध्रधूलीपरिमलबहुलान्धूमयन्तः कपोला-
न्क्लिश्नन्तः कृष्णिमानं भ्रमरकुलरुचः कुञ्चितस्यालकस्य।
पांशुस्तम्बा बलानां तुरगखुरपुटक्षोभलब्धात्मलाभाः
शत्रूणामुत्तमाङ्गे गजमदसलिलच्छिन्नमूलाः पतन्तु ॥२३॥

(सपरिजनो निष्क्रान्तो मलयकेतुः।)

संस्कृत-व्याख्या

कृतम् = अलम्। कालहरणेन = समययापनेन। कुसुमपुरोपरोधाय = कुसुमपुरं रोद्धम्। अस्मद्बलानि = अस्मत्सैन्यानि।

अन्वयः—गौडीनामिति—लोध्रधूलीपरिमलबहुलान् गौडीनां कपोलान् धूमयन्तः भ्रमरकुलरुचः कुञ्चितस्य अलकस्य कृष्णिमानं क्लिश्नतः बलानां तुरगखुरपुटक्षोभलब्धात्मलाभाः गजमदसलिलच्छिन्नमूलाः पांशुस्तम्बाः शत्रूणाम् उत्तमाङ्गे पतन्तु ॥२३॥

व्याख्या—लोध्रधूलीपरिमलबहुलान् = लोध्राणां—लोध्रपुष्पाणां धूली—परागः तस्य परिमलः—लेपजनितो गन्धविशेषः तेन बहुलान्—व्याप्तान् गौडीनां—गौडस्त्रीणां

कपोलान्–गण्डप्रदेशान् धूमयन्तः—धूमवतः कुर्वन्तः, मलिनयन्त इति यावत्, (तथा तासामेव) भ्रमरकुलरुचः = भ्रमरकुलानां-भृङ्गपुञ्जानां रुक्—कान्तिरिव रुक् यस्य तादृशस्य (कृष्णवर्णस्येत्यर्थः) कुञ्चितस्य--तरङ्गितस्य अलकस्य--केशराशेः कृष्णिमानं-कृष्णत्वं विलश्नतः—अभिभवतः। (प्रयाणोद्यतानाम्) बलानां—सैन्यानां तुरगखुरपुटक्षोभलब्धात्मलाभाः = तुरगाणाम्-अश्वानां खुरपुटैः—खुराग्रैः यः क्षोभः-संघट्टः तेन लब्धात्मलाभाः—जनिताः गजमदसलिलच्छिन्नमूलाः = गजानां मदसलिलैः—दानवारिभिः छिन्नमूलाः–निरस्तभूमिसम्पर्काः सन्तः पांशुस्तम्बाः—धूलिप्रकाण्डाः शत्रूणाम्-अरातीनाम् उत्तमाङ्गे—शिरसि पतन्तु ॥२३॥

हिन्दी रूपान्तर

भागुरायण—कुमार, समय को नष्ट करने से बस। सम्प्रति कुसुमपुर को घेरने के लिये हमारी सेनाओं को आज्ञा दी जावे।

श्लोक (२३) अर्थ—लोध्र पुष्प के पराग की सुगन्धि से व्याप्त गौड स्त्रियों के कपोलों को धूमिल करते हुये, (और उन्हीं स्त्रियों के) भ्रमरों के समूह की कान्ति के समान कान्ति वाले (अर्थात् अत्यन्त काले) घुँघराले बालों की कालिमा को तिरस्कृत करते हुये, (आक्रमण के लिये तैयार) सेनाओं के घोड़ों के खुरपुटों के क्षोभ से उत्पन्न होने वाले (लब्धात्मलाभाः) हाथियों की मदजल की धारा से नष्ट मूल वाले धूलिकणों के समूह शत्रुओं के सिर पर गिरें ॥२३॥

(परिजन सहित मलयकेतु निकल गया।)

टिप्पणी

(१) **कृतं कालहरणेन**—समय को नष्ट करने से बस। भागुरायण की शीघ्रता इसलिये है कि अपने वास्तविक सहायकों से रहित मलयकेतु को शीघ्र ही पकड़ लिया जावे।

(२) **गौडीनां लोध्रधूलीपरिमल**—गौड स्त्रियाँ अपने कपोलों को अलंकृत करने के लिये लोध्र पुष्प के पराग का उपयोग करती थीं। यही सम्भवतः आजकल व्यवहार में आने वाला मुख पर लगाने वाला Powder है।

(३) **धूमयन्तः**— धूमवतः कुर्वन्तः। धूम + मतुप् + णिच् + शतृ।

(४) **कृष्णिमानम्** = कृष्ण + इमनिच् = कृष्णिमा तम्।

****

राक्षसः—(सावेगम्।) हा धिक्कष्टम्। तेऽपि घातिताश्चित्रवर्मादयस्तपस्विनः। तत्कथं सुहृद्विनाशाय राक्षसश्चेष्टते न रिपुविनाशाय। तत्किमिदानीं मन्दभाग्यः करवाणि।

किं गच्छामि न तपोवनं न तपसा शाम्येत्सवैरं मनः

किं भर्तॄननुयामि जीवति रिपौ स्त्रीणामियं योग्यता।

किं वा खड्गसखः पताम्यरिबले नैतच्च युक्तं भवे-

च्चेतश्चन्दनदासमोक्षरभसं रुन्ध्यात्कृतघ्नं न चेत् ॥२४॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

(इति कूटलेखो नाम पञ्चमोऽङ्कः ।)

संस्कृत-व्याख्या

मन्दभाग्यः—भाग्यहीनः ।

अन्वयः—किं गच्छामिति—किं तपोवनं गच्छामि, तपसा सवैरं मनः न शाम्येत रिपौ जीवति किं भर्तॄन् अनुयामि, इयं स्त्रीणां योग्यता । वा खड्गसखः किम् अरिबल पतामि, एतत् च युक्तं न, चन्दनदासमोक्षरभसं चेतः रुन्ध्यात्, चेत् न (रुन्ध्यात्) कृतघ्नं भवेत् ॥२४॥

व्याख्या—किं तपोवनं—तपस्यार्थमरण्यं गच्छामि ? तपसा—तपश्चरणेन सवैरं—सामर्ष मनः—चेतः न शाम्येत्—न शान्तिं गच्छेत्, रिपौ—शत्रौ जीवति—विद्यमाने सति किं भर्तॄन्—स्वामिनः (परलोकगतानित्यर्थः) अनुयामि-अनुसरामि (म्रिये इत्यर्थः) इयं—एषा स्त्रीणां योग्यता—प्रतिविधानम् (वैरनिर्यातनमकृत्वा स्त्रीवदनुमरणमयुक्तमिति भाव —वा—अथवा खड्गसखः-असिमात्रसहायः सन् किम् अरिबले—शत्रुसैन्ये पतामि एतत्—अरिबले पतनं च युक्तं न, (यतः) चन्दनदास-मोक्षरभसं=चन्दनदासस्य —क्षे—बन्धनागारात् विमोचने (रभसं—त्वरायुक्तं चेतः—मनः (माम्) रुन्ध्यात्-(अरबलक्षपगान्मां रोद्धुं प्रवर्तत इत्यर्थः) चेत्-यदि न (रुन्ध्यात्) कृतघ्नं—अकृतज्ञं भवेत् (चेतः) ॥२४॥

इति मुद्राराक्षसे कूटलेखो नाम पञ्चमोऽङ्कः ।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—(आवेग के साथ ।) हा धिक्कार है, (महान्) कष्ट है । वे बेचारे चित्रवर्मादि भी मार डाले गये । तो क्या राक्षस (अपने) मित्रों के विनाश के लिये चेष्टा करता है, शत्रुओं के विनाश के लिये नहीं । तो इस समय मन्दभाग्य वाला (मैं) क्या करूँ ।

श्लोक (२४) अर्थ—(क्योंकि मेरी राजनीति अपने ही मित्रों का विनाश करती है, अतः) क्या (मैं) तपोवन में चला जाऊँ ? तपस्या से वैरयुक्त मन शान्त नहीं होगा, शत्रु के जीवित रहने पर क्या स्वामी (नन्द) का अनुसरण करूँ ? यह स्त्रियों की योग्यता है (अर्थात् स्त्रियाँ ही पति के मर जाने पर अग्नि में जल मरती हैं) । अथवा तलवार है सहायक जिसकी ऐसा (मैं) क्या शत्रुसेना पर गिरूँ, (तो) यह ठीक नहीं है (क्योंकि) चन्दनदास को छुड़ाने में शीघ्रता वाला (मेरा यह) मन (मुझे) रोक रहा है (रुन्ध्यात्) यदि न (रोके) (तो) कृतघ्न होगा (अर्थात् यदि मेरा चित्त मुझे इस युद्ध के साहस से न रोके तो वह कृतघ्न होगा) ॥२४॥

(इसप्रकार सभी निकल जाते हैं ।)

(१) तेऽपि घातिताः—"अपि" यहाँ समुच्चय के अर्थ में है अर्थात् मेरे दूसरे सभी मित्र मारे गये और ये भी मारे गये।

(२) तत्किमिदानीम्—मेरे सभी प्रयत्न मुझे ही हानि पहुँचा रहे हैं। अतः इन प्रयत्नों को छोड़कर अब मैं क्या करूँ।

(३) २४ वें श्लोक में अपनी राजनीति से निराश राक्षस सोच रहा है कि—

(क) क्या तपस्या करने के लिये वन में चला जाऊँ।

(ख) क्या आत्महत्या कर लूँ अर्थात् अग्नि में जल मरूँ।

(ग) क्या तलवार लेकर शत्रुओं पर कूद पड़ूँ। क्योंकि जब मरना ही है तो क्षत्रियों की मौत क्यों न मरूँ।

इन सभी विकल्पों के पश्चात् राक्षस सोचता है कि चलो, कैसा भी और कितने भी कार्य क्यों न करने पड़ें अब तो येन केन प्रकारेण चन्दनदास को छुड़ाना ही एकमात्र कर्तव्यकर्म शेष रह गया है। इसलिये अब इसी विषय में प्रयत्न करूँगा।

(४) अभी तक राक्षस प्रयुक्त राजनीति का एक ही परिणाम देखने में आया है कि वह शत्रुओं के विनाश के लिये जो कुछ भी करता है, उससे शत्रु का विनाश न होकर उसके अपने ही मित्रों का विनाश हुआ है। इसका एकमात्र कारण यह है कि जिस जीवसिद्धि को वह अपना अत्यन्त विश्वासपात्र समझता था और जिससे उसकी किसी भी प्रकार की राजनीति छिपी नहीं थी वही चाणक्य का गुप्तचर निकला। तभी तो निराश होकर राक्षस को कहना पड़ा कि "रिपुभिर्मे हृदयमपि स्वीकृतम्।"

(५) इस श्लोक की अन्तिम दो पंक्तियों का आशय इसप्रकार है—मुझे तलवार लेकर शत्रुओं के बीच युद्ध में जाने के लिये एकमात्र मेरी यह विचारधारा रोक रही है कि कहीं मैं चन्दनदास के प्रति अकृतज्ञ न हो जाऊँ। मेरा चित्त यदि युद्ध के साहस से न रोके तो कृतघ्न होगा।

(६) यह बात ध्यान देने योग्य है कि चतुर्थ अङ्क में राक्षस ने पाटलिपुत्र की ओर प्रयाण करने की उत्सुकता चन्दनदास को कैद से छुड़ाने के विचार से ही प्रकट की थी।

कूटलेख नामक पञ्चम अङ्क समाप्त।

राक्षसः—

विपर्यस्तं सौधं कुलमिव महारम्भरचनं
सरः शुष्कं साधोर्हृदयमिव नाशेन सुहृदाम् ।
फलैर्हीना वृक्षा विगुणनृपयोगादिव नया-
स्तृणैश्छन्ना भूमिर्मतिरिव कुनीतैरविदुषः ।।६.११।।

महान् उद्योग से निर्माण किया हुआ महल महान् धर्मादि पुरुषार्थ क्रिया वाले कुल के समान विनष्ट हो गया, यह सम्मुख विद्यमान तालाब मित्रों के विनाश से सज्जन के हृदय के समान सूख गया । ये उद्यान के वृक्ष गुणहीन राजा के सम्बन्ध से नीतियों के समान फलों से रहित हो गये, यहाँ की भूमि कुनीतियों से मूर्ख व्यक्ति की बुद्धि के समान तिनकों से व्याप्त हो गई ।

षष्ठ अङ्क के पात्र

१-सिद्धार्थक—	प्रथम अङ्क में आ चुका है ।
२-समिद्धार्थक—-	सिद्धार्थक का मित्र, सप्तम अङ्क में विल्वपत्र नामक जल्लाद ।
३-पुरुष—	चाणक्य का प्रणिधि, राक्षस का पीछा करने वाला, मिथ्या फाँसी लगाने वाले विष्णुदास का मित्र ।
४-राक्षस—	द्वितीय अङ्क में आ चुका है ।

षष्ठ अङ्क की कथावस्तु की रूपरेखा—

समय—पौषमास का कृष्णपक्ष, पूर्वाह्न ।

स्थान—पाटलिपुत्र ।

दृश्य दो हैं—(१) पाटलिपुत्र में एक गली ।

(२) पाटलिपुत्र के बाहर एक जीर्णोद्यान ।

इस अङ्क को हम सामान्यतया पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं । यथा—(१) प्रवेशक, (२) पुरुष, (३) राक्षस का स्वगतम्, (४) राक्षस और पुरुष एवं (५) उपसंहार ।

(१) **प्रवेशक**—इसमें भूत और भविष्यत्काल की घटनाओं की सूचना रहती है । यहाँ समिद्धार्थक और सिद्धार्थक—इन दो मित्रों की पारस्परिक बातचीत से हमको कुछ भूतकाल में घटित घटनाओं का ज्ञान होता है और कुछ भविष्यत्काल में घटित होने वाली घटनाओं का संकेत मिलता है । (i) **भूतकाल** में घटित हुई घटनाओं का क्रम इसप्रकार है:—

(क) मलयकेतु के शिविर से लौटकर सिद्धार्थक ने चन्द्रगुप्त को सूचना दी है कि चाणक्य की कूटनीति से मोहित मलयकेतु ने राक्षस को निकाल दिया है और चित्रवर्मादि प्रमुख पाँच म्लेच्छ राजाओं को मरवा दिया है । [इन पाँच म्लेच्छ राजाओं की चर्चा प्रथम अङ्क के २० वें श्लोक में आई है । (ख) भद्रभट-पुरुषदत्त-बलगुप्त-राजसेन—भागुरायण—रोहिताक्ष और विजयवर्मा—इन सबने मिलकर मलयकेतु को कैद कर लिया है । [मलयकेतु को कैद करने वाले ये वही व्यक्ति हैं जो प्रथम अङ्क में चन्द्रगुप्त को छोड़कर मलयकेतु के पास चले आये थे और जिनकी विरक्ति के विषय में तृतीय अङ्क में चन्द्रगुप्त ने चाणक्य से प्रश्न किया था ।] (ग) चाणक्य ने शत्रु सेना पर आक्रमण करके उस पर अपना अधिकार कर लिया है । (घ) मलयकेतु के शिविर से निकलकर राक्षस पुनः पाटलिपुत्र में आ गया है । इसका पीछा उदुम्बर नामक चाणक्य का गुप्तचर कर रहा है ।

(ii) **भविष्यत्काल** में घटित होने वाली केवलमात्र यह घटना है कि सिद्धार्थक और समिद्धार्थक—इन दोनों ने चाण्डाल का वेष धारण करके चन्दनदास को फाँसी देने के लिये वध्यस्थान पर ले जाना है । [चन्दनदास को फाँसी दी जाने की चर्चा प्रथम अङ्क में आ चुकी है ।]

(२) **पुरुष**—यह चाणक्य का राक्षस को अपने वश में करने का अन्तिम प्रयोग है। फाँसी लगाकर आत्महत्या करने के लिये एक पुरुष रङ्गमञ्च पर आता है। यह चाणक्य का गुप्तचर है और राक्षस को निश्शस्त्र करने के लिये इसने फाँसी लगाने का कृत्रिम आयोजन किया है।

(३) **राक्षस का स्वगतम्**—प्रथम अङ्क में विद्यमान चाणक्य के स्वगतम् के समान इस अङ्क में विद्यमान यह राक्षस का स्वगतम् भी अधिक विस्तृत है। जहाँ प्रथम अङ्क में चाणक्य के स्वगतम् से उसकी राजनीति पर प्रकाश पड़ता है वहाँ यहाँ पर राक्षस के स्वगतम् से उसकी मानसिक स्थिति, ऊहापोह तथा भावुक हृदय की व्याकुलता पर प्रकाश पड़ता है। मलयकेतु से निष्कासित एवं अपमानित होकर हाथ में तलवार लिये हुये राक्षस एक बार पुनः पाटलिपुत्र के इस जीर्णोद्यान में इस आशय से आया है कि सम्भवतः चन्दनदास के विषय में कुछ पता लगा सके। एक पुराने पाषाण खण्ड पर बैठे हुये राक्षस की विचारधारा चल रही है कि देखो, नन्दवंश की राज्यलक्ष्मी मौर्यकुल में चली गई। हम विश्वस्त व्यक्तियों ने भी निराश और असफल होकर अपने प्रारब्ध कार्य को छोड़ दिया। भाग्य ने हमारे सम्पूर्ण प्रयत्नों को विफल कर दिया। महाराज नन्द के दिवंगत हो जाने पर मैंने पर्वतेश्वर को आधार मानकर नन्दवंश की लक्ष्मी को पुनः वापिस लाने का प्रयत्न किया। पर्वतेश्वर की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र मलयकेतु को आधार बनाकर प्रयत्न किया परन्तु मेरे हाथ केवल असफलता लगी। उस म्लेच्छ मलयकेतु ने एक क्षण के लिये तो यह नहीं सोचा कि मैं चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि कर कैसे सकता हूँ? इसप्रकार की विचारधारा में राक्षस बह रहा है। कभी अतीत का स्मरण करता है, कभी उद्यान की अरमणीयता पर आँसू बहाता है और कभी अपने अतीत और वर्तमान काल की अवस्था की परस्पर तुलना करता है। इसी विचारसरणि के मध्य उसको एक पुरुष दिखाई देता है, जो आत्महत्या करने के लिये अपने गले में रस्सी बाँध रहा है।

(४) **राक्षस और पुरुष**—राक्षस फाँसी का कृत्रिम आयोजन करने वाले इस पुरुष के पास जाता है। इसप्रकार निराश होकर क्यों आत्महत्या कर रहे हो? इस प्रश्न के उत्तर में वह राक्षस को अपनी आत्महत्या का कारण इसप्रकार बतलाता है कि इस पाटलिपुत्र में विष्णुदास नाम का एक मणिकार श्रेष्ठी है। वह मेरा मित्र है। वह अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को दान करके अग्नि में जल मरने के लिये नगर से बाहर चला गया है। इसलिये उसकी मृत्यु का समाचार सुनने से पूर्व ही मैं अपने आप से मर जाना चाहता हूँ। राक्षस पुनः उससे यह पूछता है कि क्या वह विष्णुदास असाध्य रोग से पीड़ित है या राजा के कोप का पात्र हो गया है या अप्राप्य किसी अनिन्द्य सुन्दरी के प्रेम में अनुरक्त है अथवा उसके भी किसी अभिन्न मित्र की मृत्यु होने जा रही है—बताओ इन कारणों में से कौनसा कारण है जिससे वह अग्नि में भस्मसात् होने जा रहा है। पुरुष उत्तर देता है कि हाँ, वह भी मेरे समान अपने

मित्र के वियोग में आत्महत्या करने जा रहा है । उसके मित्र का समाचार इसप्रकार है—इस पाटलिपुत्र में चन्दनदास नाम का एक मणिकारश्रेष्ठी है । वह इस विष्णुदास का परम मित्र है । उसने आज चन्द्रगुप्त के पास जाकर उससे कहा था कि मेरी सम्पूर्ण धन-सम्पत्ति ले लीजियेगा और इसके बदले में मेरे प्रिय मित्र चन्दनदास को छोड़ दीजिये, किन्तु चन्द्रगुप्त का कहना है कि यह सम्भव नहीं है क्योंकि इसने राक्षस के परिवार को कहीं छिपा रखा है । बार-बार मांगने पर भी नहीं देता है । अतः यदि यह राक्षस के परिवार को हमारे सुपुर्द कर दे तो इसकी मुक्ति हो सकती है अन्यथा इसको मृत्युदण्ड निश्चित है । इसप्रकार चन्दनदास की मृत्यु सुनने से पूर्व ही वह विष्णुदास अग्नि में जलकर भस्म हो जाना चाहता है और मैं भी इससे पूर्व कि विष्णुदास की मृत्यु का समाचार सुनूं, पूर्व ही मर जाना चाहता हूँ और इसीलिये मैं यहाँ आया हूँ । इतना सुनते ही राक्षस उससे कहता है कि जाओ विष्णुदास को अग्नि में जलकर मरने से रोको । मैं इस परिस्थिति में अपनी तलवार से उस चन्दनदास के प्राणों की रक्षा करता हूँ और जब उस पुरुष को यह मालूम पड़ता है कि ये अमात्य राक्षस है तो वह पुनः कहता है कि श्रीमन्, किसीप्रकार के शस्त्र को लेकर वध्यस्थान पर न जाइयेगा, यह मेरी आपसे विनम्र प्रार्थना है । क्योंकि जल्लाद जिस किसी भी अपरिचित व्यक्ति को शस्त्र लेकर आता हुआ देखते हैं तो अपने प्राणों की रक्षा करने के लिये वध्य व्यक्ति को शीघ्र ही मार डालते हैं । अतः हो सकता है कि आपको सशस्त्र आता हुआ देखकर चन्दनदास को शीघ्र ही मार डालें । इतना कहकर वह पुरुष चला जाता है ।

(५) उपसंहार—उस पुरुष के चले जाने पर रासक्ष मन ही मन चाणक्य की कूटनीति के विषय में सोचता है । उसकी यह समझ में नहीं आ रहा है कि यह सब क्या है ? क्योंकि यदि शत्रुओं की किसी गुप्त योजना के अनुसार शकटदास मेरे पास आया था तो फिर उसको मारने के लिये नियुक्त जल्लादों को चाणक्य ने मरवा क्यों दिया और यदि शकटदास का मेरे पास आना शत्रु की किसी योजना का अङ्ग नहीं था तो फिर उसने मेरे विरोध में इसप्रकार का कूटपत्र कैसे लिख दिया ? इसी ऊहापोह में चन्दनदास के प्राणों की रक्षा के विषय में वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि उसके प्राणों की रक्षा के लिये अवशिष्ट केवलमात्र एक उपाय है, और वह उपाय है **आत्मसमर्पण**

इसप्रकार अपने प्रिय मित्र चन्दनदास के प्राणों की रक्षा के लिये राक्षस की इस आत्मसमर्पण की पुनीत भावना के साथ यह अङ्क समाप्त होता है ।

———

मुद्राराक्षसम्

षष्ठोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशत्यलंकृतः सहर्षः सिद्धार्थकः ।)

सिद्धार्थकः—

जअदि जलदणीलो केसवो केसिघादी
जअदि अ जणदिट्ठी चन्दमा चन्दउत्तो ।
जअदि जअणकज्जं जाव काऊण सव्वं
पडिहदपरपक्खा अज्जचाणक्कणीदी ॥१॥

जयति जलदनीलः केशवः केशिघाती
जयति च जनदृष्टिश्चन्द्रमाश्चन्द्रगुप्तः ।
जयति जयनकार्यं यावत्कृत्वा च सर्वं
प्रतिहतपरपक्षा आर्यचाणक्यनीतिः ॥१॥

दाव चिरस्स कालस्य पिअवअस्सं समिद्धत्थअं पेक्खामि । (परिक्रम्यावलोक्य च ।) एसो मे पिअवअस्सओ समिद्धत्थओ इदो एव्व उपसप्पदि । जाव णं उपसप्पामि । तावच्चिरस्य कालस्य प्रियवयस्यं समिद्धार्थकं पश्यामि । एष मे प्रियवयस्यः समिद्धाथक इत एवोपसर्पति । यावदेनमुपसर्पामि ।

संस्कत-व्याख्या

अन्वयः---जयतीति---जलदनीलः केशिघाती केशवः जयति, जनदृष्टिश्चन्द्रमाः च चन्द्रगुप्तः जयति । जयनकार्य च यावत् सर्वं कृत्वा प्रतिहतपरपक्षा आर्यचाणक्यनीतिः जयति ॥१॥

व्याख्या—जलदनील:=जलं ददाति इति जलद:—कादम्बिनी तद्वत् नील:-श्याम:, सजलजलदजालश्यामल इत्यर्थ: केशिघाती=केशिनम्—असुरविशेषं हतवानिति केशिघाती—केशिहन्ता केशव:—विष्णु: जयति—सर्वोत्कर्षेण वर्तताम्, जनदृष्टि:=जनानां—लोकानां दृष्टि: (तस्या:) चन्द्रमा:—इन्दुस्वरूप: चन्द्रगुप्त:—मौर्यश्च जयति-उत्कर्षं लभते। जयनकार्यं=जयति अनेन इति जयनं—सैन्यम्, जयनेन—जयकारणेन सेनादिनैव यत्कार्यं तत् च यावत् सर्वं (स्वयमेव) कृत्वा—सम्पाद्य प्रतिहतपरपक्षा=प्रतिहत:—विनाशित: परपक्ष:—शत्रुपक्ष: यया एवंविधा आर्यचाणक्यनीति:=आर्यस्य-चाणक्यस्य नीति:—नय: जयति—सर्वोत्कर्षेण वर्तताम् ॥१॥

चिरस्य कालस्य=बहो: कालात्परमित्यर्थ:। उपसर्पामि=समीपं गच्छामि।

हिन्दी रूपान्तर

प्रथम दृश्य। स्थान—पाटलिपुत्र की गली।

(तत्पश्चात् अलंकृत हर्षसहित सिद्धार्थक प्रवेश करता है।)

सिद्धार्थक—

श्लोक (१) अर्थ—बादलों के समान नीलवर्ण वाले केशी नामक राक्षस को मारने वाले विष्णु सर्वोत्कृष्ट हैं और मनुष्यों की दृष्टि के लिये चन्द्रमा के समान चन्द्रगुप्त सर्वोत्कृष्ट है और (विजय के कारण) सेना आदि के द्वारा किये जाने वाले कार्य को (जयनकार्यम्) सर्वात्मना (स्वयमेव) करके शत्रुपक्ष को नष्ट कर देने वाली आर्य चाणक्य की नीति सर्वोत्कृष्ट है ॥१॥

तो चिरकाल के पश्चात् (चिरस्य कालस्य) प्रिय मित्र समिद्धार्थक को देखूंगा। (घूमकर और देखकर।) यह मेरा प्रिय मित्र समिद्धार्थक इधर ही आ रहा है। जब तक इसके पास चलता हूँ।

टिप्पणी

(१) पञ्चम अङ्क की समाप्ति के साथ मलयकेतु को पकड़ने से सम्बन्धित एक '**निर्वहण कार्य**' तो सम्पन्न हो गया। इसके पश्चात् राक्षस को वश में करने रूप प्रधान कार्य को सम्पन्न करने के लिये और चन्द्रगुप्त की लक्ष्मी को स्थिर करने रूप महान् फल की सिद्धि के लिये इन षष्ठ और सप्तम अंकों का प्रारम्भ होगा।

(२) **अलंकृत:**—चन्द्रगुप्त के द्वारा दिये हुये अलंकारों को धारण किये हुये हैं।

(३) **जलदनील:**—जलं ददाति जलद:। जल उपपद होने पर 'दा' धातु से '**आतोऽनुपसर्गे क:**' पा० ३/२/३ इति क: प्रत्यय। कादम्बिनी तद्वत् नील:।

(४) **केशव:**—कं-ब्रह्माणम् ईशं-रुद्रञ्च वर्तयतीति केशव। हरिवंशपुराण में आया है कि—

हिरण्यगर्भ: क: प्रोक्त: ईश: शंकर एव च।
सृष्ट्यादिना वर्तयति तत: केशवो भवान् ॥

(५) केशिघाती = केशिनं हतवान् इति केशिघाती = "कर्मणि हनः" पा० ३/२/८६ इति णिनिः । इसको घोड़े के रूप में मारा था । मथुरा के राजा कंस ने श्रीकृष्ण जी को मारने के लिये भेजा था ।

(६) जयनकार्यम् = जयति अनेन इति जयनं = सैन्ययुद्धादि । करणे ल्युट् । जयति जयनकार्यम्–अर्थात् सेनासनाह और युद्धादि के बिना ही चाणक्य की नीति सब कुछ कर लेती है ।

(७) सिद्धार्थक ने प्रथम श्लोक में क्रमशः केशिनामक असुर निहन्ता श्रीविष्णु, चन्द्रमा और आर्य चाणक्य की नीति की विजय की घोषणा की है ।

(प्रविश्य समिद्धार्थकः ।)

समिद्धार्थकः—

संदावे तारेसाणं गेहूसवे सुहाअत्ताणं ।
हिअअट्ठिदाणं विहवा विरहे मित्ताणं दूणन्ति ॥२॥
संतापे तारेशानां गेहोत्सवे सुखायमानानाम ।
हृदयस्थितानां विभवा विरहे मित्राणां दूनयन्ति ॥२॥

सुद च मए मलअकेदुकडआदो पिअवअस्सओ सिद्धत्थओ आअदो त्ति । णं अण्णेसामि । (इति परिक्रामति । विलोक्य ।) एसो सिद्धत्थओ । श्रुतं च मया मलयकेतुकटकात्प्रियवयस्यः सिद्धार्थक आगत इति । एनमन्वेषयामि । एष सिद्धार्थकः ।

सिद्धार्थकः—(उपसृत्य ।) कहं समिद्धत्थओ । अवि सुहं पिअवअस्सस्स । कथं समिद्धार्थकः । अपि सुखं प्रियवयस्यस्य ।

(इत्यन्योन्यमालिङ्गतः ।)

सिद्धार्थकः—कुदो सुहं जेणं तुमं चिरप्पवासपच्चागदो वि अज्ज ण मे गेहं आअच्छसि । कुतः सुखं येन त्वं चिरप्रवासप्रत्यागतोऽप्यद्य न मे गेहमागच्छसि ।

संस्कत-व्याख्या

अन्वयः—सन्तापे इति—सन्तापे तारेशानां, गेहोत्सवे सुखायमानानां हृदयस्थितानां मित्राणां विरहे विभवाः दूनयन्ति ॥२॥

व्याख्या—सन्तापे दुःखे तारेशानां–चन्द्राणां, चन्द्रवत् सन्तापहारिणामित्यर्थः, गेहोत्सवे = गेहे-गृहे यः उत्सवः–प्रमोदः तस्मिन् सुखायमानानां-सुखमनुभवतां, हृदयस्थितानां = हृदये--मनसि स्थितानाम्--अनिशं स्मृतानामित्यर्थः मित्राणां--सुहृदां विरहे-वियोगे विभवाः-सम्पदः दूनयन्ति-क्लेशयन्ति ॥२॥

मलयकेतुकटकात् = मलयकेतुशिविरात् । प्रियवयस्यः = प्रियसुहृत् । चिरप्रवासप्रत्यागतः = चिरं प्रवासः तस्मात् प्रत्यागतः—प्रतिनिवृत्तः । गेहं = गृहम् ।

हिन्दी रूपान्तर

(समिद्धार्थक प्रवेश करके ।)

श्लोक (२) अर्थ——दु:ख में चन्द्रमा के समान दु:ख का हरण करने वाले (तारेशानाम्) गृह के उत्सव में सुख का अनुभव करने वाले, हृदय में विद्यमान मित्रों के वियोग में ऐश्वर्य पीड़ित करते हैं ।।२।।

और मैंने सुना है (कि) मलयकेतु के शिविर से प्रिय मित्र सिद्धार्थक आ गया है। इसको खोजता हूँ। (ऐसा कहकर घूमता है, देखकर।) यह सिद्धार्थक है।

सिद्धार्थक——(पास जाकर।) क्या (कथम्) समिद्धार्थक है। क्या प्रिय मित्र सुखपूर्वक हैं।

(इस प्रकार दोनों परस्पर आलिंगन करते हैं।)

समिद्धार्थक——सुख कहाँ से, जिससे तुम चिरकाल के प्रवास से लौटे हुये आज भी मेरे घर नहीं आते हो।

टिप्पणी

(१) **समिद्धार्थक:**='यथा नाम तथा गुण:' है। खूब समृद्धिशाली है। आराम का जीवन व्यतीत करता है।

(२) **सन्तापे तारेशानाम्**—जो आपत्ति और दु:ख के अवसर पर चन्द्रमा के समान हैं अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा पीड़ा को हरने वाला होता है उसीप्रकार जो आपत्ति में दु:ख को कम करने वाले होते हैं।

(३) **सुखायमानानाम्**——सुखमनुभवताम्। सुखं वेदयन्ते इति सुख+क्यङ्+लट् शानच् सुखायमाना:, तेषाम्। केवल आत्मीय मित्र ही समृद्धि में बिना ईर्ष्या के प्रसन्न हो सकते हैं।

(४) **दूनयन्ति**—दू+क्त कर्तरि दून:। दूनं कुर्वन्ति इति दून+णिच् (नामधातु) लट् अन्ति।

सिद्धार्थक:——पसीददु वअस्सो। दिट्ठमेत्तो एव्व अज्जचाणक्केण आणत्तोम्हि जह-'सिद्धत्थअ, गच्छ। एवं पिओदन्तं देवस्स चन्दसिरिणो णिवेदेहि' त्ति। तदो एदस्स णिवेदअ एव्वं अणुभूदपत्थिवप्पसादो अहं पिअवअस्सं पेक्खिदु तुह एव्व गेहं चलिदोम्हि। प्रसीदतु वयस्य:। दृष्टमात्र एव आर्यचाणक्येनाज्ञप्तोऽस्मि यथा—"सिद्धार्थक, गच्छ। इमं प्रियोदन्तं देवस्य चन्द्रश्रियो निवेदय" इति। तत एतस्य निवेद्यैवमनुभूतपार्थिवप्रसादोऽहं प्रियवयस्यं प्रेक्षितुं तवैव गेहं चलितोऽस्मि।

समिद्धार्थक:—वअस्स, जदि मे सुणिदव्वं तदो कहेहि किं तं पिअं जं पिअदंसणस्स चन्दसिरिणो णिवेदिदं। वयस्य, यदि मे श्रोतव्यं ततः कथय किं तत्प्रियं यत्प्रियदर्शनस्य चन्द्रश्रियो निवेदितम्।

सिद्धार्थक: वअस्स, किं तुहवि अकहिदव्वं अत्थि ता णिसामेहि। अत्थि दाव चाणक्कणीदिमोहिदमदिणा मलअकेदुहदएण णिक्कासिअ रक्खसं

हृदा चित्तवम्मप्पमुहा प्पहाणा पञ्च पत्थिवा। तदो असमिक्खकारी एसो दुराआरो त्ति उज्झिअ मलअकेदुहदअभूमिं कुसलदाए भअविलोलसेससैणिकपरिवारेसु सभअं पत्थिदेसु पात्थिवेसु सकं विसअं णिव्विण्णहिअएसु सअलसामन्तेसु भद्दभटपुण्णिदत्त-डिंगुरादबलउत्तराअसेणभागुराअणरोहिदक्खविजअवम्मप्पमुहेहिं संजमिअ गिहीदो मलअकेदु। वयस्य, किं तवाप्यकथितव्यमस्ति तन्निशामय। अस्ति तावच्चाणक्यनीतिमोहितमतिना मलयकेतुहतकेन निष्कास्य राक्षसं हताश्चित्रवर्म-प्रमुखाः प्रधानाः पञ्च पार्थिवाः। ततोऽसमीक्ष्यकार्येषु दुराचार इत्युज्झित्वा मलयकेतुहतकभूमिं कुशलतया भयविलोलशेषसैनिकपरिवारेषु सभयं प्रस्थितेषु पार्थिवेषु स्वकं विषयं निर्विण्णहृदयेषु सकलसामन्तेषु भद्रभटपुरुषदत्तडिङ्गरात-बलगुप्तराजसेनभागुरायणरोहिताक्षविजयवर्मप्रमुखैः सयम्य गृहीतो मलयकेतुः।

संस्कृत-व्याख्या

आज्ञप्तः = आज्ञां प्राप्तः। प्रियोदन्तं = प्रियम्-आनन्दप्रदम् उदन्तं-वृत्तान्तम्। देवस्य चन्द्रश्रियः = देवाय चन्द्रगुप्ताय। चन्द्रश्रियः = चन्द्र इव श्रीर्यस्य तथोक्तस्य, चन्द्रगुप्तस्येत्यर्थः। अनुभूतपार्थिवप्रसादः = प्राप्तनृपानुग्रहः। प्रियदर्शनस्य = सुखाव-लोकनस्य। निशामय = शृणु। चाणक्यनीतिमोहितमतिना = चाणक्यस्य नीतिः-नयः तया मोहिता-वशीकृता मतिः-बुद्धिः यस्य तादृशेन। ,मलयकेतुहतकेन = नीच-मलयकेतुना। निष्कास्य = पृथक्कृत्य। प्रधानाः = प्रमुखाः। असमीक्ष्यकारी = न समीक्ष्य-न सम्यक् विचार्य कर्तुं शीलमस्य इति तादृशः। दुराचारः = दुष्टव्यवहारः। उज्झित्वा = परित्यज्य। भयविलोलशेषसैनिकपरिवारेषु = भयेन विलोलाः-विह्वलाः शेषाः सैनिकपरिवाराः येषां तेषु। स्वकम् = आत्मीयम्। विषयं = देशम्। निर्विण्ण-हृदयेषु = निर्विण्णं-खिन्नं हृदयं येषां तादृशेषु। सकलसामन्तेषु = निखिलकरदभूपेषु।

हिन्दी रूपान्तर

सिद्धार्थक—मित्र प्रसन्न होइये। देखने के साथ ही (दृष्टमात्र एव) आर्य-चाणक्य ने (मुझे) आज्ञा दी थी कि—"सिद्धार्थक, जाओ। इस प्रिय समाचार को महाराजा चन्द्रगुप्त को निवेदन करो।" तदनन्तर इस (चन्द्रगुप्त) को कहकर राजा की कृपा को अनुभव किये हुये मैं प्रिय मित्र को देखने के लिये तुम्हारे ही घर जा रहा हूँ।

समिद्धार्थक—मित्र, मेरे सुनने योग्य है तो कहो (ऐसा) वह क्या प्रिय (समाचार) है जो प्रियदर्शन चन्द्रगुप्त को निवेदन किया है।

सिद्धार्थक—मित्र, क्या तुमसे भी न कहने योग्य (कोई समाचार) है अर्थात् नहीं है, इसलिये सुनो। ऐसा है (अस्ति तावत्) कि चाणक्य की नीति से मोहित बुद्धि वाले नीच मलयकेतु ने राक्षस को निकालकर चित्रवर्मादि प्रमुख पाँच राजा मार दिये। तदनन्तर यह (मलयकेतु) बिना विचारे काम करने वाला दुष्ट व्यवहार वाला है—इसप्रकार नीच मलयकेतु की भूमि (शिविर) को छोड़कर कुशलता से (अपने प्राणों को बचाकर) भय से विह्वल अवशिष्ट सैनिक परिवार वाले राजाओं

के भयपूर्वक अपने देश को चले जाने पर, सभी सामन्तों के दुःखित हृदय होने पर भद्रभट, पुरुषदत्त, डिङ्गरात, राजसेन, भागुरायण, रोहिताक्ष और विजयवर्मा आदियों ने बाँधकर मलयकेतु को पकड़ लिया।

टिप्पणी

(१) **अस्ति तावत्**—सिद्धार्थक ने चन्द्रगुप्त को निम्न दो सुखद समाचार सुनाये हैं—

(क) दुष्ट मलयकेतु ने राक्षस को निकाल कर चित्रवर्मा आदि प्रमुख पाँच म्लेच्छ राजाओं को मार दिया है।

(ख) भद्रभट–पुरुषदत्त–डिङ्गरात–बलगुप्त–राजसेन–भागुरायण–रोहिताक्ष और विजयवर्मा आदियों ने मलयकेतु को पकड़कर कैद कर लिया है।

(२) **मलयकेतुहतकेन**—राक्षस पक्षवालों के लिये आर्य चाणक्य चाणक्यहतक है और चाणक्य पक्षवालों के लिये अमात्य राक्षस राक्षसहतक और कुमार मलयकेतु मलयकेतुहतक है। इसप्रकार परस्पर विरोध को प्रकट करने के लिये कवि ने कुत्सनार्थक हतक शब्द का प्रयोग किया है।

(३) **असमीक्ष्यकारी**— बिना सोच विचार के काम करने वाला अथवा बिना पूर्णरूप से विचार किये काम करने वाला। सम् + ईक्ष + ल्यप् = समीक्ष्य, न समीक्ष्य = असमीक्ष्य। असमीक्ष्य कर्तुं शीलमस्य इति असमीक्ष्य + कृ + णिनि कर्तरि ताच्छील्ये।

(४) **प्रस्थितेषु पार्थिवेषु और निर्विण्णहृदयेषु सकलसामन्तेषु**—पार्थिव और सामन्त में भेद किया गया है। **पार्थिव** वे हैं, जिसका अपना स्वतन्त्र राज्य है और जिन्होंने स्वतन्त्र रूप से मलयकेतु के साथ सन्धि कर रक्खी है। **सामन्त** वे है, जो मलयकेतु के द्वारा जीते हुये उसको कर देते हैं। ये पार्थिवगण मलयकेतु को छोड़कर अपने देश को चले गये हैं, जब कि सामन्तों को अपने-अपने स्थानों पर रहना पड़ा है।

समिद्धार्थकः—वअस्स, भद्दभटप्पमुहा किल देवस्स चन्दउत्तस्स अवरत्ता मलअकेदुं समस्सिदे त्ति लोए मन्तीअदि। ता किंनिमित्तं कुकविकिदणाडअस्स विअ अण्णं मुहे अण्णं णिव्वहणे। वयस्य, भद्रभटप्रमुखाः किल देवस्य चन्द्रगुप्तस्य अपरक्ता मलयकेतुं समाश्रिता इति लोके मन्त्र्यते। तत्किंनिमित्तं कुकविकृतनाटकस्येवान्यन्मुखेऽन्यन्निर्वहणे।

सिद्धार्थकः—वअस्स, दैवगदीए विअ असुणिदगदिए णमो चाणक्कणीदीए। वयस्य, दैवगत्या इव अश्रुतगत्यै नमश्चाणक्यनीत्यै।

समिद्धार्थकः—तदो तदो। ततस्ततः।

सिद्धार्थकः—तदोपहुदि सारसाहणसमेदेण इदो णिक्कमिअ अज्जचाणक्केण पडिवण्णं सअलराअलोअसहिअं असेसं म्लेच्छबलं। ततः प्रभृति सारसाधनसमेतेनेतो निष्क्रम्यार्यचाणक्येन प्रतिपन्नं सकलराजलोकसहितमशेषं म्लेच्छबलम्।

समिद्धार्थकः—वअस्स, कहिं तं। वयस्य, कुत्र तत्।

सिद्धार्थकः – जहिं एदे।

अदिसअगुरुएण दाणदप्पेण दन्ती
सजलजलदणीला उब्भमन्तो णदन्दि।
कसपहरभएण जाअकम्पोत्तरङ्गा
गिहिदजअणसद्दा संपअन्ते तुरङ्गाः ॥३॥

यत्रैते

अतिशयगुरुकेण दानदर्पेण दन्तिनः
सजलजलदनीला उदभ्रमन्तो नदन्ति।
कशाप्रहारभयेन जातकम्पोत्तरंगाः
गृहीतजयनशब्दाः संपतन्ति तुरङ्गाः ॥३॥

संस्कृत-व्याख्या

चन्द्रगुप्तस्य अपरक्ताः = चन्द्रगुप्ते विरक्ताः। समाश्रिताः = संसेविताः। मन्यते = कथ्यते। मुखे = मुखसन्धौ, प्रारम्भे अन्यत्, निर्वहणे = निर्वहणसन्धौ, उपसंहारे अन्यत्। अश्रुतगत्यै = अश्रूता-अनाकर्णिता गतिः-प्रसरः यस्याः तस्यै। ततःप्रभृति = तत्पश्चात्। सारसाधनसमेतेन = उत्कृष्टसैन्यसहितेन। इतः = अस्मन्नगरात्। प्रतिपन्नम् = अधिकृतम्। अशेषं = सम्पूर्णम्।

अन्वयः — अतिशयेति—अतिशयगुरुकेण दानदर्पेण सजलजलदनीलाः उदभ्रमन्तः दन्तिनः नदन्ति। कशाप्रहारभयेन जातकम्पोत्तरङ्गाः गृहीतजयनशब्दाः तुरङ्गाः सम्पतन्ति ॥३॥

व्याख्या — अतिशयगुरुकेन--अतिप्रवृद्धेन दानदर्पेण--मदजलगर्वेण सजलजलदनीलाः = सजलानां-विद्यमानसलिलानां (वर्षुकाणामित्यर्थः) जलदानां-मेघानाम् इव नीलाः--नीलवर्णाः उदभ्रमन्तः दन्तिनः--गजाः नदन्ति--गर्जन्ति। (तथा) कशाप्रहारभयेन = कशायाः--ताडिन्याः प्रहारभयेन--ताडनभयेन जातकम्पोत्तरङ्गाः = जातकम्पाः-जातः कम्पः येषां तादृशाः (अत्यन्तं कम्पमानाः) अतएव उत्तरङ्गाः-चपलाः गृहीतजयनशब्दाः = गृहीतः--ज्ञातः जयनशब्दः-जयध्वनिः यैस्ते तथाभूताः (जयघोषणां श्रुत्वा) तुरङ्गाः-अश्वाः सम्पतन्ति-सर्वतः मिलन्ति ॥३॥

हिन्दी रूपान्तर

समिद्धार्थक—मित्र, महाराज चन्द्रगुप्त से विरक्त हुये भद्रभटादियों ने मलयकेतु का आश्रय लिया ऐसा संसार में कहा जाता है। तो किस कारण से अयोग्य कवि के द्वारा रचित नाटक के समान मुखसन्धि में (अर्थात् प्रारम्भ में) कुछ और, और निर्वहण सन्धि में (अर्थात् अन्त में) कुछ और।

सिद्धार्थक—मित्र, दैवगति के समान अश्रुत गति वाली चाणक्य की नीति के लिये नमस्कार है।

समिद्धार्थक—उसके बाद ।

सिद्धार्थक—तत्पश्चात् (ततः प्रभृति) श्रेष्ठ (सार) सेना के साथ आर्य चाणक्य ने यहाँ से निकलकर सभी राजाओं के साथ सम्पूर्ण म्लेच्छ सेना को (अपने) अधिकार में कर लिया ।

समिद्धार्थक—मित्र, वह कहाँ (हुआ) ?

सिद्धार्थक—जहाँ ये

श्लोक (३) अर्थ—अत्यन्त प्रबल मदजल से उत्पन्न गर्व के कारण जल से भरे हुये बादलों के समान नीलवर्ण वाले चक्कर काटते हुये हाथी शब्द कर रहे हैं । (और) चाबुक के प्रहार के भय से अत्यन्त काँपते हुये (जातकम्पाः) अतएव चञ्चल जय शब्द को ग्रहण करने वाले (अर्थात् विजय की घोषणा को सुनकर) घोड़े चारों ओर से मिल रहे हैं ॥३॥

टिप्पणी

(१) **चन्द्रगुप्तस्य अपरक्ताः**—चन्द्रगुप्ते अपरक्ताः । शेषे षष्ठी ।

(२) **अन्यन्मुखेऽन्यन्निर्वहणे**—नाटक के अन्दर प्रारम्भ और उपसंहार में एकरूपता होनी चाहिये । एकरूपता का न होना दोष माना जाता है और कवि को कुकवि की संज्ञा मिलती है । यहाँ पर भी विपरीतता देखने में आती है । वह कैसे ? भद्रभटादि कहते तो थे कि चन्द्रगुप्त से विरक्त होकर मलयकेतु के पास गये हैं और अब फिर उन्होंने क्यों मलयकेतु को पकड़ लिया । निरुह्यते-इतस्तत आदाय पिण्डीक्रियते—एकार्थीक्रियते अस्मिन् इति निर् + वह् + ल्युट् अधिकरणे निर्वहणम् ।

(३) **दैवगत्या इव अश्रुतगत्यै**—चाणक्य की नीति को नमस्कार है, जिसकी गति भाग्य की गति के समान दुर्बोध है । क्योंकि हम कुछ नहीं कर सकते केवल झुक सकते हैं ।

(५) **चाणक्यनीत्यै नमः**—"नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषट्योगाच्च" पा० २/३/१६ इति चतुर्थी ।

(५) **सारसाधनसमेतेन**—साध्यते अनेन इति साध + ल्युट् करणे साधनम्= सैन्यम्, सार = श्रेष्ठ ।

(६) **प्रतिपन्नम्**—प्रति + पद ! क्त कर्मणि = अधिकार कर लिया ।

(७) **जातकम्पोत्तरङ्गाः**—घोड़े काँप रहे हैं और इसप्रकार के दिखाई दे रहे हैं कि मानों तरङ्गों के समान चारों ओर चक्कर काट रहे हैं ।

(८) **श्लोक ३**—जिसप्रकार बादल नीचे होते हैं और जलों की वर्षा करते है, गर्जते हैं, उसीप्रकार मेघ और हाथी मदजल की वर्षा कर रहे हैं और ध्वनि कर रहे हैं । इसप्रकार मेघ और हाथी दोनों में साम्य है ।

समिद्धार्थक:—वअस्स, इदं दाव चिट्ठदु। तहा सव्वलोअपच्चक्खं उज्झिआहिआरो चिट्ठिअ अज्जचाणक्को किं उणो वि तं एव्व मन्तिपदं आरूढो। वयस्य, एतत्तावत्तिष्ठतु। तथा सर्वलोकप्रत्यक्षमुज्झिताधिकारः स्थित्वार्यचाणक्यः किं पुनरपि तदेव मन्त्रिपदमारूढः।

सिद्धार्थक:—अइमुद्धोसि दाणीं तुमं जो अमच्चरक्खेण वि अणवगाहिअपुव्वं अज्जचाणक्कचरिदं अवगाहिदुमिच्छसि। अतिमुग्धोऽसीदानीं त्वं यतोऽमात्यराक्षसेनाप्यनवगाहितपूर्वमार्यचाणक्यस्य चरितमवगाहितुमिच्छसि।

समिद्धार्थक:—वअस्स, अमच्चरक्खसो सम्पदं कहिं। वयस्य, अमात्यराक्षसः साम्प्रतं कुत्र।

समिद्धार्थक:—तस्सिं भअविलोले वट्टमाणे मलअकेदुकडआदो णिक्कमिअ उदुम्बरणामहेएण चरेण अनुसंधिज्जमाणो इदं पाडलिउत्तं आअदो त्ति अज्जचाणक्कस्स णिवेदिदं। तस्मिन्भयविलोले वर्तमाने मलयकेतुकटकान्निष्क्रम्योदुम्बरनामधेयेन चरेणानुसंधीयमान इद पाटलिपुत्रमागत इत्यार्यचाणक्यस्य निवेदितम्।

संस्कृत-व्याख्या

सर्वलोकप्रत्यक्षम् = सर्वजनसमक्षम्। उज्झिताधिकारः = उज्जितः—परित्यक्तः अधिकारः—मन्त्रिपद येन सः। आरूढः = प्राप्तः, स्वीकृतवान्। अतिमुग्धः = अतिसरलः। अनवगाहितपूर्वम् = पूर्वमज्ञातम्। अवगाहितुं—प्रवेष्टुं, विज्ञातमित्यर्थः। अनुसन्धीयमानः = अनुस्रियमाणः।

हिन्दी रूपान्तर

समिद्धार्थक—मित्र, यह, तो रहने दो। उसप्रकार से सारे संसार के सामने अधिकार को छोड़े हुये रहकर आर्य चाणक्य ने क्या फिर भी उसी मन्त्रीपद को ग्रहण कर लिया (आरूढः)।

सिद्धार्थक—तुम इस समय अत्यन्त सरल हो क्योंकि अमात्य राक्षस के द्वारा भी पहले अवगाहन न किये हुये आर्य चाणक्य के चरित्र को अवगाहन करना चाहते हो।

समिद्धार्थक—मित्र, इस समय अमात्यराक्षस कहाँ है?

सिद्धार्थक—उस (शिविर) के भय से विक्षुब्ध होने पर मलयकेतु के शिविर से निकलकर उदुम्बर नाम वाले गुप्तचर से अनुसरण किया जाता हुआ इस पाटलिपुत्र में आ गया है—ऐसा आर्य चाणक्य को निवेदन किया है।

टिप्पणी

(१) **उदुम्बरनामधेयेन**—यह भी चाणक्य का प्रणिधि है क्योंकि यह राक्षस की गतिविधि की सूचना चाणक्य को देता है।

(२) **अनुसन्धीयमानः**—अनुसरण किया जाता हुआ। अनु + सम् + धा + शानच् कर्मणि।

समिद्धार्थकः—वअस्स, तहा णाम अमच्चरक्खसो णन्दरज्जपच्चाणअणे किदव्ववसाओ णिक्कमिअ सम्पदं अकिदत्थो पुणोवि इमं पाण्डलिउत्तं आअदो एव्व। वयस्य, तथा नामामात्यराक्षसो नन्दराज्यप्रत्यानयने कृतव्यवसायो निष्क्रम्य साम्प्रतमकृतार्थः पुनरपीदं पाटलिपुत्रमागत एव ।

सिद्धार्थकः—वअस्स, तक्केमि चन्दणदाससिणेहेणे त्ति । वयस्य, तर्कयामि चन्दनदासस्नेहेनेति ।

समिद्धार्थकः—वअस्स, चन्दनदासस्स मोक्खं विअ पेक्खामि । वयस्य, चन्दनदासस्य मोक्षमिव प्रेक्षे ।

सिद्धार्थकः—कुदो से अधण्णस्स मोक्खो । सो क्खु सम्पदं अज्जचाणक्कस्स आणत्तीए दुवेहिं अम्हेहिं वज्झट्ठाणं पवेसिअ वावादइदव्वो । कुतोऽस्याधन्यस्य मोक्षः। स खलु सांप्रतमार्यचाणक्यस्याज्ञप्त्या द्वाभ्यामावाभ्यां वध्यस्थानं प्रवेश्य व्यापादयितव्यः ।

समिद्धार्थकः—(सक्रोधम् ।) किं अज्जचाणक्कस्स घादअजणो अण्णो णत्थि जेण कम्हे ईरिसेसु णिओजिआ ओदिणिसंसेपु णिओएसु । किमार्यचाणक्यस्य घातकजनोऽन्यो नास्ति येन वयमीदृशेषु नियोजिता अतिनृशंसेषु नियोगेषु।

सिद्धार्थकः—वअस्स, को जीवलोए जीविदुकामो अज्जचाणक्कस्स आणत्ति पडिऊलेदि । ता एहि । चण्डालवेसधारिणा भविअ चन्दणदासं वज्झट्ठाणं णएम। वयस्य, को जीवलोके जीवितुकाम आर्यचाणक्यस्याज्ञप्ति प्रतिकूलयति । तदेहि। चण्डालवेषधारिणौ भूत्वा चन्दनदासं वध्यस्थानं नयावः ।

(इत्युभौ निष्क्रान्तौ ।)

प्रवेशकः ।

संस्कृत-व्याख्या

नन्दराज्यप्रत्यानयने = नन्दराष्ट्रपुनर्ग्रहणे । कृतव्यवसायः = विहितोद्योगः । अकृतार्थः = विफलप्रयासः । तर्कयामि = सम्भावयामि । अधन्यस्य = हतभाग्यस्य। आज्ञप्त्या = आज्ञया । व्यापादयितव्यः = हन्तव्यः। घातकजनः = हिंसकः । अतिनृशंसेषु = अतिक्रूरेषु । नियोगेषु = कार्येषु । जीवलोके = संसारे । जीवितुकामः = जीवनाभिलाषी । आज्ञप्तिम् = आज्ञाम् । प्रतिकूलयति = अन्यथाकरोति ।

हिन्दी रूपान्तर

समिद्धार्थक—मित्र, नन्दराज्य को लौटाने में उसप्रकार से प्रयत्नशील अमात्यराक्षस निकलकर इस समय असफल हुआ फिर भी इस पाटलिपुत्र में आ ही गया।

सिद्धार्थक—मित्र, (मैं तो ऐसा) सोचता हूँ (कि) चन्दनदास के प्रेम से (आया है) ।

समिद्धार्थक—मित्र, (मैं तो) चन्दनदास का मानों मोक्ष देख रहा हूँ ।

सिद्धार्थक—इस दुर्भाग्यशाली का मोक्ष कहाँ से ? उसको (तो) इस समय आर्यचाणक्य की आज्ञा से हम दोनों ने वध्यस्थान में प्रवेश कराकर मारना है।

समिद्धार्थक—(क्रोध के साथ।) क्या आर्यचाणक्य के (पास) दूसरा मारने वाला व्यक्ति अर्थात् चाण्डाल (घातकजनः) नहीं है जिससे हम इसप्रकार के अत्यन्त नृशंस कार्यों में नियुक्त किये गये हैं।

सिद्धार्थक—मित्र, इस संसार में जीने की इच्छा वाला कौन आर्यचाणक्य की आज्ञा को अन्यथा करता है। इसलिये आओ। चाण्डाल के वेश को धारण करने वाले होकर चन्दनदास को वध्यस्थान में ले चलते हैं।

(इसप्रकार दोनों निकल गये।)

प्रवेशक।

टिप्पणी

(१) **आगत एव**—आ ही गया अर्थात् उसका आना ठीक नहीं है।

(२) **अधन्यस्य**—धनं लभते धन्यः=धन शब्द से लाभ अर्थ में यत् प्रत्यय है। न धन्यः अधन्य तस्य।

(३) **आज्ञप्त्या**—आ + ज्ञा + णिच् + क्तिन् भावे = आज्ञप्तिः तया।

(४) **प्रवेशकः**—प्रवेशयति इति प्र + विश् + णिच् + ण्वुल् कर्तरि।

(ततः प्रविशति रज्जुहस्तः पुरुषः।)

पुरुषः—

छग्गुणसंजोअदिढा उआअपरिवाडिघडिअपासमुही।
चाणक्कणीतिरज्जू रिपुसंजमणुज्जआ जअदि ॥४॥

षड्गुणसंयोगदृढा उपायपरिपाटीघटितपाशमुखी।
चाणक्यनीतिरज्जू रिपुसंयमनोद्यता जयति ॥४॥

(परिक्रम्यावलोक्य च।) एसो सो पदेसो अज्जचाणक्कस्स पुरदो उदुम्बरएण कहिदो जहिं मए अज्जचाणक्काणत्तीए अमच्चरक्खसो पेक्खिदव्वो। (विलोक्य।) कहं एसो क्खु अमच्चरक्खसो किदसीसावगुण्ठणो इदो तव्व आअच्छइ। ता जाव इमेहिं उज्जाणपादवेहिं अन्तरिदसरीरो पेक्खामि कहिं आसनपरिग्गहं करेदि त्ति। (परिक्रम्य स्थितः।) एष स प्रदेश आर्यचाणक्यस्य पुरत उदुम्बरकेन कथितो यत्र मया आर्यचाणक्याज्ञप्त्या अमात्यराक्षसः प्रेक्षितव्यः। कथमेष खल्वमात्यराक्षसः कृतशीर्षावगुण्ठन इत एवागच्छति। तद्यावदेभिरुद्यानपादपैरन्तरितशरीरः प्रेक्षे कुत्रासनपरिग्रहं करोतीति।

संस्कृत-व्याख्या

अन्वय **षडगुणसंयोगदृढेति**—षड्गुणसंयोगदृढा उपायपरिपाटीघटितपाशमुखी रिपुसंयमनोद्यता चाणक्यनीतिरज्जुः जयति ॥४॥

व्याख्या—(१) चाणक्यनीतिपक्षे— षड्गुणसंयोगदृढा = षण्णां–सन्धिविग्रहयाना-सनद्वैधाश्रयाख्याणां षण्णां गुणानां संयोगेन–सम्यक् योजनेन दृढा—अच्छेद्या उपाय-परिपाटीघटितपाशमुखी = उपायानां–सामदामभेददण्डाख्यानाम् उपायानां परिपाट्या-क्रमसमावेशेन घटितं—योजितं पाशरूपं मुखं यस्याः तादृशी रिपुसंयमनोद्यता = रिपोः-शत्रोः संयमने-सम्यग्बन्धने उद्यता चाणक्यनीतिरज्जुः = चाणक्यनीतिः एव रज्जु दाम जयति–सर्वोत्कर्षेण वर्तते ।।४।।

(२) रज्जुपक्षे—षड्गुणसंयोगदृढा = षण्णां गुणानां– षड्गुणितानां रज्जूनां संयोगेन–सम्यक्ग्रथनेन दृढा—दुश्छेद्या उपायपरिपाटीघटितपाशमुखी = उपायानां—विविधनैपुण्यानां परिपाट्या घटिता–रचिता पाशमुखी = पाशाग्रभागा तादृशी रिपुसंय-मनोद्यता—रिपोः–शत्रोः संयमने—सम्यग्बन्धने उद्यता चाणक्यनीतिरज्जुः = चाणक्य-नीतिः इव रज्जु-बन्धनदाम जयति = सर्वोत्कर्षेण वर्तते ।।४।।

कृतशीर्षावगुण्ठनः = कृतं शीर्षस्य— मस्तकस्य अवगुण्ठनं—आवरणं येन सः वस्त्रेणावृतमस्तक इत्यर्थः । अन्तरितशरीरः = अन्तरितं—तिरोहितं शरीरं–कायं येन तादृशः, आच्छादितदेह इत्यर्थः । आसनपरिग्रहं करोति–उपविशतीत्यर्थः ।

हिन्दी रूपान्तर

द्वितीय दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र की सीमा पर जीर्णोद्यान ।

(तत्पश्चात् रस्सी हाथ में लिये हुये पुरुष प्रवेश करता ।)

पुरुष—

श्लोक (४) अर्थ—(१) नीतिपक्ष में—छः सन्धि, विग्रह, यान, आसन द्वैधी-भाव और आश्रय नामक) गुणों के संयोग के कारण दुर्भेद्य (दृढा) (साम, दाम, भेद और दण्ड इन चार) उपायों की परम्परा से निर्मित पाशरूपी मुख वाली शत्रु (राक्षस) को वश में करने के लिये उद्यत चाणक्य की नीति रूपी रस्सी सर्वोत्कृष्ट है ।।४।।

(२) रज्जुपक्ष में—छः डोरों (गुण) के संयोग के कारण दृढ, विविध कौशल से रचित पाश के अग्रभाग वाली शत्रु को बाँधने के लिये उद्यत चाणक्य की नीति के समान रस्सी सर्वोत्कृष्ट है ।

(घूमकर और देखकर ।) आर्यचाणक्य के सामने उदुम्बरक द्वारा कहा हुआ यह वह स्थान है जहाँ मैंने आर्यचाणक्य की आज्ञा से अमात्यराक्षस को देखना है। (देखकर ।) क्या यह अमात्यराक्षस शिर का अवगुण्ठन (ढंकना) किये हुये इधर ही आ रहा है। तो जब तक इन उद्यान के पेड़ों से शरीर को छिपाते हुये देखता हूँ (कि यह राक्षस) कहाँ आसन को ग्रहण करता है (अर्थात् बैंठता है)। (घूमकर बैठ गया ।)

टिप्पणी

(१) **रज्जुहस्तः पुरुषः**—निपुणक है । यह भी चाणक्य का प्रणिधि है ।

(२) इसके बाद यथाकथञ्चित् किसी अन्य गति के अभाव में चन्दनदास को शीघ्र बन्धन-मुक्त करने की इच्छा से राक्षस पाटलिपुत्र में पुनः आ गया है। वह राक्षस साहसी है, महापराक्रमी है और शस्त्र को अपने हाथ में लिये हुये है। अब उसको वश में करने के लिये चाणक्य द्वारा नियुक्त रस्सी को हाथों में लिये हुये एक व्यक्ति अपने हाथ में विद्यमान रस्सी का वर्णन चाणक्य की नीति के रूप में कर रहा है।

(२) चतुर्थ श्लोक द्व्यर्थक है—(१) अर्थ चाणक्य की नीति के पक्ष में और (२) अर्थ रस्सी के पक्ष में है। श्लेषात्मक शब्दों के अर्थ इसप्रकार हैं—

(१) षड्गुण-नीति पक्ष में—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव- ये छः गुण हैं। रस्सी के पक्ष में—गुण का अर्थ डोरा है अर्थात् छः डोरों वाली है।

(२) उपायपरिपाटी—नीतिपक्ष में—साम-दाम-भेद-दण्ड—ये चार उपाय हैं। रस्सी के पक्ष में—उपाय का अर्थ अनेक प्रकार के कौशल हैं।

(३) चाणक्यनीतिरज्जुः—नीतिपक्ष में "चाणक्यनीतिः एव रज्जुः" ऐसा विग्रह होगा। रस्सी के पक्ष में—"चाणक्यनीतिरिव रज्जुः" ऐसा विग्रह होगा।

(४) कृतशीर्षावगुण्ठनः—राक्षस ने अपने शरीर को वस्त्र से इसलिये ढक रखा है कि कोई पहिचान न ले। अव+गुण्ठ+ल्युट् भावे-अवगुण्ठन। कृतं शीर्षस्यावगुण्ठनमनेन।

•••••••

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टः सशस्त्रो राक्षसः।)

राक्षसः—(सास्रम्।) कष्टं भोः, कष्टम्।

उच्छिन्नाश्रयकातरेव कुलटा गोत्रान्तरे श्रीर्गता
तामेवानुगता गतानुगतिकास्त्यक्तानुरागाः प्रजाः।
आप्तैरप्यनवाप्तपौरुषफलैः कार्यस्य धूरुज्झिता
किं कुर्वन्त्वथवोत्तमाङ्गरहितैरङ्गैरिव स्थीयते॥५॥

संस्कृत-व्याख्या

यथानिर्दिष्टः=यथा-यद्वत् निर्दिष्टः—वर्णितः।

अन्वयः—उच्छिन्नाश्रय इति—श्रीः उच्छिन्नाश्रयकातरा कुलटा इव गोत्रान्तरे गता, गतानुगतिकाः त्यक्तानुरागाः प्रजाः ताम् एव अनुगताः। अनवाप्तपौरुषफलैः आप्तैः अपि कार्यस्य धूः उज्झिता, अथवा किं कुर्वन्तु, उत्तमाङ्गरहितैः अङ्गैः इव स्थीयते॥५॥

व्याख्या—श्रीः—राज्यलक्ष्मीः उच्छिन्नाश्रयकातरा=उच्छिन्नः-विनष्टः आश्रयः—आलम्बः यस्या अतएव कातरा—व्याकुला कुलटा—स्वैरिणी नारी इव गोत्रान्तरे—अन्यस्मिन् गोत्रे गता—आश्रयत्वेन प्राप्ता, गतानुगतिकाः—गतस्य—प्राक् प्रस्थितस्य अनुगतिः—अनुगमनं यासां ताः त्यक्तानुरागाः- त्यक्तः—परिहृतः अनुरागः—भक्तिः याभिः तथाभूताः प्रजाः—प्रकृतयः तां—श्रियम् एव अनुगताः- अनुसृताः।

अनवाप्तपौरुषफलैः = अनवाप्तम्-अनधिगतं पौरुषस्य-विक्रमस्य फलं यैः तथाभूतैः (विफलप्रयत्नैः इति यावत्) आप्तैः—विश्वस्तैरपि (अस्माभिः) कार्यस्य—(मौर्यलक्ष्मी-हरणरूपस्य) कर्मणः धूः—भारः, उद्योग इति यावत् उज्झिता—त्यक्ता अथवा (ते आप्ताः) किं कुर्वन्तु (न किञ्चित् इत्यर्थः) (यतः) उत्तमाङ्गरहितैः = उत्तमाङ्गेन-शिरसा रहितैः—वियुक्तैः अङ्गैः—हस्तपादादिभिः इव (शवैरिवेत्यर्थः) स्थीयते ॥५॥

हिन्दी रूपान्तर

(तत्पश्चात् यथानिर्दिष्ट शस्त्र हाथ में लिये हुये राक्षस प्रवेश करता है।)

राक्षस—(अश्रुओं के साथ।) अरे कष्ट है, कष्ट है।

श्लोक (५) अर्थ—लक्ष्मी आश्रय के विनष्ट हो जाने के कारण व्याकुल स्वैरिणी स्त्री के समान अन्य गोत्र में (अर्थात् मौर्यवंश में) चली गई, गये हुये के पीछे चलने वाली प्रेम को छोड़ देने वाली प्रजायें (भी) उसी (लक्ष्मी) के पीछे चली गई (अर्थात् प्रजाओं ने भी मौर्य का आश्रय ले लिया)। पुरुषार्थ के फल को न प्राप्त करने वाले (विफलप्रयत्न) विश्वासी (हमने) व्यक्तियों ने भी कार्य के भार को (उद्योग को) छोड़ दिया अथवा (वे विश्वस्त) क्या करें (अर्थात् कुछ नहीं), क्योंकि (अब तो केवल) शिर से रहित (हस्तपादादि) अङ्गों के समान (अर्थात् शव के समान उनसे) रहा जा रहा है ॥५॥

टिप्पणी

(१) **उच्छिन्नाश्रय**—एक वेश्या निस्सहाय हो जाती है जब उसका आश्रयदाता मर जाता है। लक्ष्मी की स्थिति भी इसीप्रकार की है। राजा नन्द उसके आश्रय थे, उनके मर जाने पर वह भी निस्सहाय हो गई।

(२) **कुलटा**—अटति गच्छति परित्यज्य इति अट् + अच् कर्तरि स्त्रियाम् अटा। कुलस्य अटा + कुलटा। **"पतिव्रता चैकपतौ द्वितीये कुलटा स्मृता"**

(३) **आप्तैरपि**—**विश्वस्त व्यक्तियों ने न तो सामान्य प्रजाओं का अनुसरण किया और न ही अपने आपको चन्द्रगुप्त के साथ सम्बन्धित किया। यह तो ठीक है, किन्तु पुनरपि उनको शान्त होकर बैठ नहीं जाना चाहिये था। "आप्ता" से तात्पर्य विराधगुप्त और राक्षसादियों से है।**

(४) अथवा—यह पक्षान्तर सूचित करता है कि ये आप्त व्यक्ति शरीर के उन अङ्गों के समान हैं जो किसी नायक के अधिकार में रहकर काम करते हैं। यह नायक और कोई नहीं राजा नन्द थे। उनके न रहने पर इनका शिथिल हो जाना स्वाभाविक था। उत्तमाङ्ग = सिर अथवा प्रमुख व्यक्ति = राजा।

(५) ५ वें श्लोक की प्रथम पंक्ति से दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(क) उस समय विधवाओं का पुनः विवाह घृणा की दृष्टि से देखा जाता था अथवा (ख) पति के गोत्र में पुनः विवाह अनुमोदित था किन्तु गोत्र से बाहर विवाह करना अपराध माना जाता था (गोत्रान्तरे श्रीर्गता)।
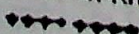
अपि च :

पतिं त्यक्त्वा देवं भुवनपतिमुच्चैरभिजनं
गता छिद्रेण श्रीर्वृषलमविनीतेव वृषली ।
स्थिरीभूता चास्मिन्किमिह करवाम स्थिरमपि
प्रयत्नं नो येषां विफलयति दैवं द्विषदिव ॥६॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—पतिमिति—श्रीः उच्चैः अभिजनं भुवनपतिं पतिं देवं त्यक्त्वा अविनीता वृषली इव छिद्रेण वृषलं गता । अस्मिन् च स्थिरीभूता, इह किं करवाम, येषां नः स्थिरमपि प्रयत्नं द्विषदिव दैवं विफलयति ॥६॥

व्याख्या—श्रीः—राज्यलक्ष्मीः उच्चैरभिजनं = उच्चैः-महान् अभिजनः-वंशः यस्य तादृशं, महाकुलीनमित्यर्थः भुवनपतिम्—अशेषलोकपतिं पतिं—भर्तारं देवं नन्दं राजानं त्यक्त्वा—परित्यज्य अविनीता—दुश्चरित्रा वृषली—शूद्ररमणी इव छिद्रेण—कपटेन वृषलं—मौर्यं गता-आश्रिता । (गत्वा च पुनः) अस्मिन्—मौर्ये च स्थिरीभूता, इह-अस्मिन् विषये (वयम्) किं करवाम येषां नः-अस्माकं स्थिरमपि-दृढमपि प्रयत्नं-प्रयासं द्विषदिव-शत्रुरिव (दैवमेव द्विषद्भूत्वा) दैवं—नियतिः विफलयति = मोघीकरोति ॥६॥

हिन्दी रूपान्तर

और भी ।

श्लोक (६) अर्थ लक्ष्मी उच्चवंश वाले संसार के अधिपति पति महाराज (नन्द) को छोड़कर दुश्चरित्रा (अविनीता) शूद्रा के समान कपट से (छिद्रेण = अवसर पाकर) मौर्य के पास चली गई और (जाकर पुनः) इस (चन्द्रगुप्त) में स्थिर हो गई, इस विषय में (हम) क्या करें ? जिन हमारे स्थिर प्रयत्न को भी शत्रु के समान भाग्य (अर्थात् भाग्य ही शत्रु होकर) विफल कर देता है ॥६॥

टिप्पणी

(१) **भुवनपतिम् और उच्चैरभिजनम्**—इन दो विशेषणों से यह सूचित किया है कि राजा नन्द को छोड़ने का कोई कारण नहीं था ।

(२) **वृषलम्**—वृषं लाति—नाशयतीति वृषलः तम् ।

(३) छठे श्लोक का आशय यह है कि जिसप्रकार अविनीता शूद्र रमणी उन्नत वंश में उत्पन्न हुये अपने पहले पति को छोड़कर अकुलीन दूसरे पुरुष के पास किसी बहाने से चली जाती है, उसीप्रकार राज्यलक्ष्मी भी उच्चकुलोत्पन्न अपने पहले पति राजा नन्द को छोड़कर अकुलीन दूसरे मौर्य को पति मानकर उसके पास चली गई। केवल चली ही नहीं गई अपितु वहाँ जाकर स्थिर हो गई । इस विषय में हम अब क्या कर सकते हैं क्योंकि भाग्य शत्रु के समान हमारे सभी प्रयत्नों को व्यर्थ कर देता है अर्थात् लक्ष्मी के राजा नन्द को छोड़ने में, मौर्य का आश्रय लेने में, वहाँ स्थिर होने में और हमारे प्रयत्नों के विफल होने में केवलमात्र भाग्य ही कारण है, चाणक्य नहीं ।

मया हि

देवे गते दिवमतद्विधमृत्युयोग्ये
शैलेश्वरं तमधिकृत्य कृतः प्रयत्नः ।
तस्मिन्हते तनयमस्य तथाप्यसिद्धि—
र्दैवं हि नन्दकुलशत्रुरसौ न विप्रः ॥७॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—देवे गत इति— अतद्विधमृत्युयोग्ये देवे दिवं गते तं शैलेश्वरम् अधिकृत्यः प्रयत्नः कृतः । तस्मिन् हते अस्य तनयं, तथापि असिद्धिः दैवं हि नन्दकुलशत्रुः असौ विप्रः न ॥७॥

व्याख्या—अतद्विधमृत्युयोग्ये – तद्विधस्य— तादृशस्य (अनार्यचाणक्यकृतस्य इत्यर्थः) मृत्योः—मरणस्य योग्यो न भवतीति तादृशे देवे–नन्दे दिवं–स्वर्गं गते–प्राप्ते सति तं–प्रख्यातं शैलेश्वरं–पर्वतकम् अधिकृत्य–अवलम्ब्य (सर्वार्थसिद्धिप्रतिष्ठापनार्थम्) प्रयत्नः–प्रयासः कृतः–विहितः । (चाणक्येन विषकन्यया) तस्मिन्–पर्वतके हते–घातिते अस्य–पर्वतेश्वरस्य तनयं–पुत्रं (मलयकेतुमधिकृत्य प्रयत्नः कृतः), तथापि असिद्धिः–कार्यसिद्धिर्न जाता, (अतः मन्ये) दैवं—नियतिः हि नन्दकुलशत्रुः–नन्दवंशविद्वेषी असौ विप्रः—ब्राह्मणः चाणक्यो न (शत्रुः) ॥७॥

हिन्दी रूपान्तर

मैंने—

श्लोक (७) **अर्थ**—उसप्रकार की मृत्यु के अयोग्य महाराज (नन्द) के स्वर्ग चले जाने पर उस (प्रसिद्ध) पर्वतक का आश्रय लेकर (सर्वार्थसिद्धि की प्रतिष्ठा के लिये) प्रयत्न किया। उस (पर्वतक) के मर जाने पर इसके पुत्र (मलयकेतु) को (आश्रय मानकर प्रयत्न किया), तब भी सफलता नहीं प्राप्त हुई, (इसलिये मैं यह समझता हूँ कि) निश्चित रूप से भाग्य (ही) नन्दवंश का शत्रु है, वह ब्राह्मण (चाणक्य) नहीं ॥७॥

टिप्पणी

(१) **अतद्विधमृत्युयोग्ये**—जिसप्रकार की मृत्यु उनकी हुई, उसप्रकार की मृत्यु के वे योग्य नहीं थे। वे राजा थे और उनकी मृत्यु युद्धस्थल में शत्रुओं के साथ लड़ते हुये होनी चाहिये थी।

(२) **तं शैलेश्वरम्**—'तम्' यह बताता है कि पर्वत उस समय एक प्रसिद्ध राजा था। उस समय इसकी सहायता सर्वश्रेष्ठ सहायता थी और यह सहायता राक्षस को पूर्ण रूप से प्राप्त हुई। पहला प्रयत्न इसको आधार मानकर किया और दूसरा प्रयत्न इसके पुत्र मलयकेतु के द्वारा किया। दोनों ही बार केवल असफलता ही हाथ लगी। इसीलिये कहा है कि "**किमिह करवाम**" इति।

(३) **असौ न विप्रः**—भाग्य ही प्रबल था अन्यथा बेचारा यह ब्राह्मण क्या कर सकता था। अनादर प्रकट करने के लिये '**विप्रः**' कहा है।

अहो विवेकशून्यता म्लेच्छस्य । कुतः

यो नष्टानपि बीजनाशमधुना शुश्रूषते स्वामिन—
स्तेषां वैरिभिरक्षतः कथमसौ संधास्यते राक्षसः ।
एतावद्धि विवेकशून्यमनसा म्लेच्छेन नालोचितं
दैवेनोपहतस्य बुद्धिरथवा सर्वा विपर्यस्यति ॥८॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—यो नष्टानिति—यः अधुना अपि बीजनाशं नष्टान् स्वामिनः शुश्रूषते, असौ राक्षसः अक्षतः तेषां वैरिभिः कथं सन्धास्यते । हि एतावत् विवेकशून्यमनसा म्लेच्छेन न आलोचितम् अथवा दैवेन उपहतस्य सर्वा बुद्धिः विपर्यस्यति ॥८॥

व्याख्या - यः-राक्षसः अधुनापि (गतेऽपि काले) बीजनाशं नष्टान्—समूलं मृतान् स्वामिनः-भर्तृन् नन्दान् शुश्रूषते–परिचरति, असौ राक्षसः (स्वयम्) अक्षतः—अविनष्टदेहः तेषां–स्वामिनां नन्दानां वैरिभिः–शत्रुभिः (सह) कथं—केन प्रकारेण संधास्यते-संगस्यते (न कथमपीत्यर्थः)। हि–वस्तुतः एतावत्—एतन्मात्रम् विवेकशून्यमनसा = विवेकेन-सदसद्बुद्ध्या शून्यं–विरहितं मनो यस्य तादृशेन म्लेच्छेन—मलयकेतुना न अलोचितं—विचारितम्, अथवा दैवेन–भाग्येन उपहतस्य–विनाशितस्य (जनस्य) सर्वा–अशेषा बुद्धिः–धीः विपर्यस्यति—विपरीता भवति ॥८॥

हिन्दी रूपान्तर

म्लेच्छ (मलयकेतु) की विचारशून्यता पर आश्चर्य है (अहो)। क्योंकि

श्लोक (८) अर्थ—जो (राक्षस) अब भी (अर्थात् समय निकल जाने पर भी) समूल (बीजनाशम्--जिनका बीज भी शेष नहीं है) नष्ट हुये (अपने) स्वामियों की सेवा कर रहा है, वह राक्षस (स्वयम्) अक्षत होता हुआ (स्वस्थ शरीर वाला) उन (स्वामियों) के शत्रुओं के साथ कैसे सन्धि कर लेगा (अर्थात् किसी भी प्रकार से नहीं)। वास्तव में इतना (ही) विवेक से शून्य मन वाले म्लेच्छ (मलयकेतु) ने नहीं सोचा, अथवा भाग्य से मारे हुये (व्यक्ति) की सम्पूर्ण बुद्धि विपरीत हो जाती है ॥८॥

टिप्पणी

(१) **विवेकशून्यता**—से किसी भी बात का बिना पता किये राक्षस के हटाये जाने की ओर और चित्रवर्मादि पाँच राजाओं की मृत्यु की ओर इशारा है।

(२) **म्लेच्छस्य**—जिनकी भाषा भिन्न होती है, वे म्लेच्छ कहलाते हैं। म्लेच्छितं—भाषान्तरं भाषते इति म्लेच्छः। यहाँ म्लेच्छ मलयकेतु है। परन्तु ऐसा वस्तुतः नहीं है कि वह म्लेच्छ हो ही। सामान्य रूप से एक गाली के रूप में कहा है।

(३) **बीजनाशं नष्टान्**—जिनका बीज भी शेष नहीं बचा है। समूलं नष्टानित्यर्थः। **बीजनाशम्**—बीजानि इव नष्टा इति बीज + नश् + णमुल भावे बीजनाशं नष्टाः। **"उपमाने कर्मणि च"** पा० ३/४/४५ इति णमुल्।

(४) अशुश्रूषते—"ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः" पा० १/३/५६ इति आत्मनेपदम्।

(५) विपर्यस्यति—वि + परि + अस् + लट् तिप्।

(६) ५-६-७-८ इन श्लोकों के अन्दर कवि ने राक्षस के चरित्र को चित्रित किया है। राक्षस और चाणक्य के चरित्र की तुलना इस पृष्ठभूमि में इसप्रकार की जा सकती है—

(क) राक्षस राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करना चाहता है, अतः उसके प्राप्त न होने पर निराशा का अनुभव करता है। चाणक्य राज्यलक्ष्मी के विषय में निरीह है, अतः उसके लिये उसका कोई मूल्य नहीं है, 'निरीहाणां लक्ष्मीस्तृणमिव तिरस्कारविषया।'

(ख) राक्षस भाग्य पर विश्वास करता है और भाग्य के प्रतिकूल होने पर खिन्नता का अनुभव करता है। इसके विपरीत चाणक्य ऐसा नहीं है, वह भाग्य से भी लड़ने के लिये तैयार है।

(ग) राक्षस निराश शीघ्र हो जाता है, चाणक्य के पास निराशा फटकती भी नहीं है।

(घ) राक्षस अपनी सफलता के लिये अपने सहायकों पर आश्रित है, चाणक्य केवल अपनी बुद्धि पर आश्रित है।

तदिदानीमपि तावदरातिहस्तगतो विनश्येन्न तु राक्षसश्चन्द्रगुप्तेन सह संदधीत। अथवा मम काममसत्यसंघ इति वरमयशो न तु शत्रुवञ्चनपराभूत इति। (समन्तादवलोक्य सास्रम्।) एतास्ता देवपादक्रमणपरिचयपवित्रीकृततलाः कुसुमपुरोपकण्ठभूमयः। इह हि

शार्ङ्गाकर्षविमुक्तप्रशिथिलकविकाप्रग्रहेणात्र देशे
देवेनाकारि चित्रं प्रजविततुरगं बाणमोक्षश्चलेषु।
अस्यामुद्यानराजौ स्थितमिह कथितं राजभिस्तैर्विनेत्थं
सम्प्रत्यालोक्यमानाः कुसुमपुरभुवो भूयसा दुःखयन्ति ॥९॥

संस्कृत-व्याख्या

अरातिहस्तगतः = अरातीनां--शत्रूणां हस्तं-करं गतः—प्राप्तः। विनश्येत् = म्रियेत्। संदधीत = सन्धि कुर्यात्। कामम् = अधिकम्। असत्यसन्धः = असत्या-अतथ्या सन्धा—प्रतिज्ञा यस्य सः, अपूर्णश्रुतिरिति यावत्। अयशः = अकीर्तिः। वरं = प्रशस्तम्। शत्रुवञ्चनपराभूतः = शत्रोः—चाणक्यस्य वञ्चनेन—प्रतारणेन पराभूतः—तिरस्कारः। देवपादक्रमणपरिचयपवित्रीकृततलाः = देवस्य— राज्ञो, नन्दस्य यत् पादक्रमणं—चरणचारणं तस्य यः परिचयः—उपलब्धिः तेन पवित्रीकृतं—परिपूतं तलं—पृष्ठं यासां तादृश्यः। कुसुमपुरोपकण्ठभूमयः = कुसुमपुरस्य उपकण्ठे—प्रान्ते स्थिताः भूमयः—प्रदेशाः।

अन्वयः—शार्ङ्गाकर्षविमुक्त इति—देवेन अत्र देशे शार्ङ्गाकर्षविमुक्तप्रशिथिल-कविकाप्रग्रहेण प्रजविततुरगं चलेषु चित्रं बाणमोक्षः अकारि। अस्याम् उद्यानराजौ स्थितम्, इह राजभिः कथितम्, सम्प्रति तैर्विना इत्थम् आलोक्यमानाः कुसुमपुरभुवः भूयसा दुःखयन्ति ॥९॥

व्याख्या—देवेन-राज्ञा नन्देन अत्र देशे-अस्मिन् स्थाने शार्ङ्गकर्षविमुक्त-प्रशिथिलकविकाप्रग्रहेण = शार्ङ्गस्य - धनुषः आकर्षेण—आकर्षणेन अवमुक्तः—त्यक्तः अतएव प्रशिथिलः — अदृढः कविकाप्रग्रहः—खलीनवल्गा यस्य तथाभूतेन प्रजविततुरगं = प्रजवितः— प्रकृष्टवेगः तुरगः—अश्वः यत्र तत् चलेषु—चञ्चलेषु लक्ष्येषु चित्रं—महदाश्चर्यकारि बाणमोक्षः— शरनिक्षेपः अकारि--कृतः। अस्याम् उद्यानराजौ—उपवनपंक्तौ स्थितम्— उषितम्, इह— अस्मिन् प्रदेशे राजभिः—नृपैः सह कथितम्—आलपितम्, सम्प्रति— इदानीं तैः--तदादिभिः राजभिः विना (केवलेन मया) इत्थम्—एवंप्रकारेण (शून्या जीर्णश्च) आलोक्यमानाः—दृश्यमानाः कुसुमपुरभुवः-कुसुमपुर भुवः-पर्यन्तभूमयः भूयसा-आधिक्येन दुःखयन्ति--तापयन्ति ॥९॥

हिन्दी रूपान्तर

इसप्रकार अब भी तो शत्रुओं के हाथ में गया हुआ राक्षस नष्ट तो हो जावेगा परन्तु चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि नहीं करेगा। अथवा (यह) मिथ्या प्रतिज्ञा वाला है (मलयकेतु को सारा राज्य न दे सकने के कारण)—यह मेरा अपयश अधिक (कामम्) अच्छा है किन्तु शत्रु (चाणक्य) की वञ्चना से पराजित होना (अच्छा) नहीं है), इति। (चारो ओर देखकर अश्रुओं के साथ।) ये वे महाराज (नन्द) के चरण विन्यास के परिचय के साथ पवित्र की हुई पृष्ठवाली कुसुमपुर की समीपवर्तिनी भूमियाँ हैं। यहाँ

श्लोक (९) अर्थ—महाराज (नन्द) ने इस स्थान पर धनुष के खींचने से छोड़ी हुई अतएव ढीली लगाम की रश्मि के कारण घोड़े की तीव्र गति से युक्त चञ्चल लक्ष्यों पर अदभुत (चित्रम्) बाणों को छोड़ा था। इस उद्यान की पंक्ति में बैठे थे, यहाँ राजाओं के साथ बातचीत की थी, इस समय उनके बिना (केवल मेरे द्वारा) इसप्रकार देखी जाती हुई कुसुमपुर की भूमियाँ अत्यधिक पीड़ित कर रही हैं ॥९॥

टिप्पणी

(१) **विनश्येत्**—मैं मर जाऊँगा, इससे पहले कि मैं चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि करूँ। अतः मलयकेतु ने मेरे ऊपर जो सन्देह किया है वह अन्यायपूर्ण है।

(२) **अथवा मम कामम्**—मलयकेतु ने मुझ पर यह कलंक लगाया है कि मैंने चन्द्रगुप्त के साथ कोई सन्धि कर ली है। मैंने इसका यथाशक्ति प्रतिवाद किया। किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि चाणक्य ने मुझे अपनी बुद्धि से परास्त कर दिया है। अब यदि मलयकेतु मुझसे यही कहता कि तुम चाणक्य से कूटनीति के प्रयोग में हार गये हो—तो यह भी मेरे समान राजनीतिज्ञ के लिये अपकीर्ति ही होती। अतः मुझे यह मालूम पड़ता है कि मेरी तो दोनों ही ओर से अपकीर्ति होती थी, चाहे

तो मलयकेतु यह कह देता कि तुम चन्द्रगुप्त के साथ मिल गये और चाहे यह कहे देता कि तुम चाणक्य से राजनीति में हार गये। दोनों ही प्रकार से मेरी अपकीर्ति थी। अब मुझे इन दोनों प्रकार की अपकीर्तियों में से किसी एक को चुनना है तो मेरे पक्ष में यह अच्छा ही हुआ कि मलयकेतु यह समझ रहा है कि मैं चन्द्रगुप्त से मिल गया और इसप्रकार उसके साथ मैं अपनी प्रतिज्ञा को नहीं निभा सका। मैं उसके सम्मुख मिथ्या प्रतिज्ञा वाला हूँ (**मम कामम् असत्यसन्ध इति वरम् अयशः**)। मलयकेतु यदि मुझे यह समझता कि मैं चाणक्य से राजनीति में हार गया—इस-प्रकार की अपकीर्ति मेरे लिये अच्छी नहीं थी (**न तु शत्रुबञ्चनपराभूत इति अयशो वरम्**)।

(३) **वरमयशः**—राक्षस पराजित राजनीतिज्ञ होने की अपेक्षा असत्यसन्ध कूटनीतिज्ञ होने का अपयश अधिक पसन्द करता है।

(४) **इह हि**—यह 'इह' शब्द राक्षस के सम्मुख विद्यमान सम्पूर्ण स्थान के लिये आया है। जब कि श्लोक में आये हुये, अत्र, अस्याम्, इह—ये शब्द विशिष्ट स्थान की ओर संकेत करते हैं।

(५) **चित्रम्**—लगाम को बिना पकड़े हुये दौड़ते हुये घोड़े की पीठ पर बैठ कर चञ्चल लक्ष्यों पर बाणों से निशाना लगाना आश्चर्यजनक होता है, अतः 'चित्रम्' कहा है।

(६) **प्रजविततुरगम्**—प्रकृष्टो जवः = प्रजवः—तीव्रगतिः स सञ्जातः अस्य इति प्रजवः। इतच्—प्रजवितः। तादृशः तुरगः यस्मिन कर्मणि यथा तथा।

(७) **चलेषु बाणमोक्षः अकारि**—इसके द्वारा राजा नन्द की चञ्चल लक्ष्यों को बेधन करने में कुशलता बताई है।

(८) **इत्थम्**—वह प्रकार सूचित किया है, जिसप्रकार से दुःखित करती है। ये स्थान विशेष नन्द के समय घटित होने वाली घटनाओं की स्मृति दिलाते हैं।

(९) ९वें श्लोक का भाव यह है कि जिस स्थान पर राजा नन्द ने मृगया करते हुये बाणों का सन्धान किया, जहाँ पर आये राजाओं के साथ वार्तालाप किया, उसी स्थान को सम्प्रति एकाकी देखने से अत्यन्त दुःख उत्पन्न होता है।
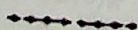
तत्क्व नु गच्छामि मन्दभाग्यः। (विलोक्य।) भवतु। दृष्टमेतज्जीर्णोद्यानम्। अत्र प्रविश्य कुतश्चिच्चन्दनदासप्रवृत्तिमुपलप्स्ये। [अलक्षितनिपाताः पुरुषाणां समविषमदशापरिणतयो भवन्ति]। कुतः

पौरैरंगुलिभिर्नवेन्दुवदहं निर्दिश्यमानः शनै-
र्यो राजेव पुरा पुरान्निरगमं राज्ञां सहस्रैर्वृतः।
भूयः सम्प्रति सोऽहमेव नगरे तत्रैव वन्ध्यश्रमो
जीर्णोद्यानकमेष तस्कर इव त्रासाद्विशामि द्रुतम् ॥१०॥

संस्कृत-व्याख्या

मन्दभाग्यः=अदृष्टहीनः । चन्दनदासप्रवृत्तिम्=चन्दनदासस्य प्रवृत्ति—वृत्तान्तम् । उपलप्स्ये=प्राप्स्ये । अलक्षितनिपाताः=अतर्कितागमाः । समविषमदशा-परिणतयः=समाः—समभावेन स्थिताः (अनुकूलाः) विषमाः—तद्विपरीताः (प्रतिकूलाः) याः दशाः-अवस्थाः तासां परिणतयः—परिपाकाः ।

अन्वयः—पौरैरिति—यः अहं पुरा राज्ञां सहस्रैः वृतः राजा इव पौरैः अंगुलिभिः नवेन्दुवत् निर्दिश्यमानः शनैः पुरात् निरगमम् । स एव वन्ध्यश्रमः अहं सम्प्रति भूयः तत्रैव नगरे तस्कर इव त्रासात् द्रुतं जीर्णोद्यानकम् एष विशामि ॥१०॥

व्याख्या—यः अहं–राक्षसः पुरा-प्राक् (जीवति नन्दे) राज्ञां सहस्रैः वृतः—परिवारितः राजा—नृपतिः इव पौरैः—पुरवासिभिः अंगुलिभिः नवेन्दुवत्—नवोदितः चन्द्र इव (प्रतिपच्चन्द्र इव) निर्दिश्यमानः—प्रदर्श्यमानः शनैः-मन्दगतिः पुरात्—नगरात् निरगमं--निर्गतवान् । स एव वन्ध्यश्रमः—त्रिफलप्रयासः सन् अहं सम्प्रति—इदानीं भूयः—पुनः तत्रैव नगरे (वन्ध्यश्रमः) तस्करः---चौर इव त्रासात्–भयात् द्रुतं–(कश्चित्पश्येदिति भयात्) झटिति जीर्णोद्यानकं–कुत्सितमिदमुद्यानम् (न तु राजभवनम्) एष विशामि-प्रविशामि ॥१०॥

हिन्दी रूपान्तर

तो (मैं) मन्दभाग्य वाला कहाँ जाऊँ ? (देखकर।) अच्छा (मैंने) इस जीर्ण उपवन को देख लिया है । इसमें प्रविष्ट होकर कहीं से चन्दनदास के समाचार को (प्रवृत्तिम्) मालूम करूंगा । (क्योंकि मनुष्यों के अनुकूल और प्रतिकूल अवस्थाओं के परिणाम बिना किसी कल्पना के ही आने वाले होते हैं । क्योंकि ।

श्लोक (१०) **अर्थ**—जो मैं पहले (नन्द के जीवित होने पर) सैंकड़ों राजाओं से घिरा हुआ राजा के समान नागरिकों के द्वारा अंगुलियों से नवीन उदय होते हुये (प्रतिपदा के) चन्द्रमा के समान निर्दिष्ट किया जाता हुआ शनैः शनैः नगर से निकला करता था । वह ही विफल परिश्रम वाला मैं इस समय पुनः उसी नगर में (विफल परिश्रम वाले) चोर के समान भय के कारण शीघ्रता से जीर्ण उपवन में यह प्रवेश कर रहा हूँ ॥१०॥

टिप्पणी

(१) **अलक्षितनिपाताः**—न लक्षितः अलक्षितः । नि+पत्+घञ् भावे निपातः—आना । अलक्षितः निपातः एषाम् ।

(२) **पौरैः**—जब राजा अपने महल से बाहर निकला करते थे उस समय उनकी प्रजा अपने घरों के ऊपर विद्यमान छज्जों से, सड़कों पर खड़ी होकर उनको देखा करती थी । परस्पर बिना कुछ बातचीत किये अंगुलियों के इशारे से ही कहा करते थे कि वह जा रहा है, बात कर रहा है इत्यादि ।

(३) **नवेन्दुवत्**—'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' पा० ५।१।१५ इति वति प्रत्ययः ।

(४) **बन्ध्यश्रमः**—अहम् और तस्कर दोनों के लिये आया है। मैं भी नन्द-राज्य को लौटा लाने में असफल प्रयत्न हूँ और चोर भी रात्रि को चोरी करने में असफल हो गया है।

(५) **तस्करः**—तत् करोति इति "तद्बृहतोः करपत्योश्चौरदेवतयोः सुट्तलोपश्च" (वार्तिक) से सुट का आगम और त का लोप, तस्करः।

(६) १० वें श्लोक के अन्दर राक्षस के द्वारा प्रतिपादित विरोध देखने योग्य है। नन्द के जीवित होने पर राक्षस की क्या स्थिति थी और अब जबकि वह एकाकी, असहाय और मित्रों से शून्य है, तब उसकी क्या स्थिति है? ये दोनों ही चित्र राक्षस के कुसुमपुर के अन्दर ही घटित हुये हैं।

(क) "पुरा राजा इव" और अब 'तस्कर इव"।

(ख) "पुरा पश्यन्तु लोकाः इति शनैः" जिससे व्यक्ति अच्छी प्रकार से देख लें। और अब 'लोकाः मा द्राक्षुरिति द्रुतम्"—कहीं देख न लें, अतः शीघ्र गति से।

(ग) 'पुरात्' और अब 'जीर्णोद्यानकम्'।

(घ) 'निरगमम्' और अब 'विशामि'।

(ङ) पहले 'राज्ञां सहस्रैः वृतः' और अब 'त्रासात्'।

इसका भाव यह है कि पहले जिस स्थान पर मैं आदर के साथ राजा के समान आया करता था, सम्प्रति वहीं मैं उसी स्थान पर चोर के समान प्रवेश कर रहा हूँ। यही भाग्यचक्र है। प्रथम दो पंक्तियों में राक्षस की अनुकूल स्थिति का वर्णन है और अन्तिम दो पंक्तियों में प्रतिकूल स्थिति का वर्णन है।

अथवा येषां प्रसादादिदमासीत् एव न सन्ति। (नाट्येन प्रविश्यावलोक्य च:) अहो जीर्णोद्यानस्यारमणीयता। अत्र हि

विपर्यस्तं सौधं कुलमिव महारम्भरचनं
सरः शुष्कं साधोर्हृदयमिव नाशेन सुहृदाम्।
फलैर्हीना वृक्षा विगुणनृपयोगादिव नया—
स्तृणैश्छन्ना भूमिर्मतिरिव कुनीतैरविदुषः ॥११॥

संस्कृत-व्याख्या

प्रसादात् = अनुग्रहात्। अरमणीयता = अचारुत्वम्।

अन्वयः — विपर्यस्तमिति—महारम्भरचनं सौधं महारम्भरचनं कुलम् इव विपर्यस्तम्, सरः सुहृदां नाशेन साधोः हृदयम् इव शुष्कम्। वृक्षाः 'विगुणनृपयोगात् नयाः इव फलैः हीनाः, भूमिः कुनीतैः अविदुषः मतिरिव तृणैः छन्ना ॥११॥

व्याख्या—महारम्भरचनं = महता—विपुलेन आरम्भेण—उद्योगेन रचना—निर्माणं यस्य तादृशं सौधं = प्रासादः महारम्भरचनं = महारम्भा रचना—धर्मादि—पुरुषार्थक्रिया यस्य तादृशं कुलमिव - वंश इव विपर्यस्तं—विध्वस्तम्, सरः—(एष दृश्यमानः) जलाशयः सुहृदां–मित्राणां नाशेन साधोः–सहृदयमिव शुष्कं—निर्जलं नीरसञ्च जातम् । वृक्षाः–अमी उद्यानपादपाः विगुणनृपयोगात् = विगुणस्य = गुणहीनस्य नृपस्य–राज्ञः योगात्—सम्पर्कात् नयाः इव–नीतिप्रयोगा इव फलैः हीनाः—रहिताः, भूमिः—स्थली कुनीतैः—कुनयैः अविदुषः—मूर्खस्य मतिरिव—बुद्धिरिव तृणैः—घासादिभिः छन्ना—परिव्याप्ता ॥११॥

हिन्दी रूपान्तर

अथवा जिनकी कृपा से यह (सब कुछ) था वे ही (अब) नहीं है । (अभिनय के साथ प्रवेश करके और देखकर ।) अहो, जीर्ण उपवन की असुन्दरता । निश्चय से यहाँ

श्लोक (११) अर्थ—महान् उद्योग से निर्माण किया हुआ महल महान् धर्मादि पुरुषार्थ क्रिया वाले (महारम्भरचनम्) कुल के समान विनष्ट हो गया, (यह सम्मुख विद्यमान) तालाब मित्रों के विनाश से सज्जनों के हृदय के समान सूख गया । (ये उद्यान के) वृक्ष गुणहीन राजा के सम्बन्ध से नीतियों के समान फल से रहित हो गये, (यहाँ की) भूमि कुनीतियों से मूर्ख (व्यक्ति) की बुद्धि के समान तिनकों से व्याप्त हो गई ॥११॥

टिप्पणी

(१) इदम्—यह, जिनका वर्णन ११ वें श्लोक का प्रथम दो पंक्तियों में किया गया है ।

(२) महारम्भरचनम्—यह 'सौधम्' और 'कुलम्' दोनों का विशेषण है ।

(३) शुष्कम्—"शुषः कः" पा० ८/२/५१ क्त को क ।

(४) सुहृदाम्—नन्द और कौलूतादि ।

(५) विगुणनृपयोगात्—गुणहीन मलयकेतु के सम्पर्क से ।

(६) कुनीतैः—भागुरायण इत्यादि के कपटोपदेशों से । नी + क्त भावे नीतम्, कुत्सितानि नीतानि एषाम् कुनीताः तैः । नीतम् = नीतिः ।

(७) अविदुषः—मूर्ख मलयकेतु की ।

(७) ११ वें श्लोक के अन्दर जीर्ण-उपवन का वर्णन करते हुये राक्षस ने निम्न चीजों को ध्वनित किया है ।

(क) जीर्ण-उपवन का वर्णन करने के व्याज से राजमहल आदियों की उपमा के द्वारा नन्दकुल का विनाश सूचित किया है ।

(ख) नन्दकुल के विनाश से राक्षस ने अपने हृदय की खिन्नता प्रतिपादित की है ।

(ग) मलयकेतु के सम्बन्ध से अपनी नीति की विफलता को सूचित किया है ।

(घ) मलयकेतु की बुद्धि को मोहित करने वाली भागुरायण की कुनीति को ध्वनित किया है ।

इस श्लोक में वर्णन की स्थिति इसप्रकार होगी । उद्यान है, उद्यान में तालाब है, तालाब के किनारे पर बनाया हुआ महल है, इसी को "समुद्रगृह" भी कहते हैं ।

अपि च ।

क्षताङ्गानां तीक्ष्णैः परशुभिरुदग्रैः क्षितिरुहां
रुजा कूजन्तीनामविरतकपोतोपरुदितैः
स्वनिर्मोकच्छेदैः परिचितपरिक्लेशकृपया
श्वसन्तः शाखानां व्रणमिव निबध्नन्ति फणिनः ॥१२॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—क्षताङ्गानामिति—तीक्ष्णैः उदग्रैः परशुभिः क्षताङ्गानां क्षितिरुहां रुजा अविरतकपोतोपरुदितैः कूजन्तीनां (इव) शाखानां व्रणं फणिनः परिचितपरिक्लेशकृपया श्वसन्तः स्वनिर्मोकच्छेदैः निबध्नन्ति इव ॥१२॥

व्याख्या—तीक्ष्णैः–निशितैः उदग्रैः कठोरैः परशुभिः–कुठारैः क्षताङ्गानां - छिन्नावयवानां क्षितिरुहां–वृक्षाणां रुजा–पीडया अविरतकपोतोपरुदितैः=अविरतानि-अजस्राणि यानि कपोतानां–पारावतानाम् उपरुदितानि–कूजनानि तैः कूजन्तीनाम्—अव्यक्तशब्दं कुर्वन्तीनां (इव) शाखानां व्रणं–क्षतं फणिनः—(शाखाश्रयाः) सर्पाः परिचितपरिक्लेशकृपया=परिचितानां—सततसङ्गितया कृतपरिचयानां परिक्लेशेन—क्लेशदर्शनेन या कृपा-दया तया हेतुना श्वसन्तः–दीर्घनिःश्वासं त्यजन्तः स्वनिर्मोच्छेदैः-स्वस्य-आत्मनः निर्मोकस्य—कञ्चुकरूपस्य छेदैः–खण्डैः निबध्नन्ति इव–योजयन्ति इव ॥१२॥

हिन्दी रूपान्तर

और भी ।

श्लोक (१२) अर्थ—तीक्ष्ण धार वाले कठोर कुठारों से कटे हुये अङ्गों वाले वृक्षों की वेदना से निरन्तर कबूतरों के शब्दों से (मानो) विलाप करती हुई शाखाओं के घाव को (शाखाओं पर बैठे हुये) सर्प (सहवास के कारण) परिचितों के कष्ट से उत्पन्न दया के कारण दीर्घोच्छ्वास लेते हुये अपनी कैंचुली के टुकड़ों से मानों बाँध रहे हैं ॥१२॥

टिप्पणी

(१) ११ वें, १२ वें श्लोक के अन्दर उपवन की अरमणीयता वर्णित है।

(२) रुजा—रुज् + क्विप् भावे रुक् तेन ।

(३) १२ वें श्लोक में कवि की कल्पना इसप्रकार है—(क) उद्यान के वृक्षों को कुल्हाड़ी से काटा गया है। यह काटा हुआ स्थान घाव के रूप में चित्रित किया गया है।

(ख) काटे जाने से हुये घावों में जो पीड़ा हो रही है, उनसे ये वृक्ष रो रहें हैं, इनके रोने की कल्पना वृक्षों पर बैठे हुये कबूतरों की निरन्तर होने वाली ध्वनि से की गई है।

(ग) वृक्षों की शाखाओं में घाव है, कबूतरों की ध्वनि में वे रो रहे हैं। इनके रोने से वृक्षों पर निवास करते हुये सर्पों को दया हो आई है। वे इन वृक्षों के घावों पर पट्टी बाँध रहे हैं। यह पट्टी और कुछ नहीं सर्पों की अपनी कैंचुली है।

आशय यह है कि जिसप्रकार दयालु व्यक्ति परिचित व्यक्तियों की पीड़ा से पीड़ित होते हुये उनकी चोटों पर पट्टी बाँधते है, उसीप्रकार ये सर्प कबूतरों की ध्वनि में रोने वाले वृक्षों के घावों में अपनी कैंचुली रूपी पट्टी को बाँध रहे हैं। राक्षस के कहने का भाव यह है कि इस उद्यान के माली के न होने के कारण इधर-उधर स्वच्छन्द होकर सर्प रह रहे हैं। लकड़हारों की कुल्हाड़ी से काटी हुई ये शाखायें हैं। यह सारा उद्यान कितना अरमणीय हो रहा है।

एते च तपस्विनः

अन्तःशरीरपरिशोषमुदग्रयन्तः
कीटक्षतिस्रुतिभिरस्रमिवोद्वमन्तः।
छायावियोगमलिना व्यसने निमग्ना
वृक्षाः श्मशानमुपगन्तुमिव प्रवृत्ताः ॥१३॥

संस्कृत-व्याख्या

तपस्विनः=दीनाः।

अन्वयः—अन्तःशररेति—(तपस्विनः) अन्तःशरीरपरिशोषम् उदग्रयन्तः कीटक्षतिस्रुतिभिः अस्रम् उद्वमन्तः इव। छायावियोगमलिनाः व्यसने निमग्नाः वृक्षाः श्मशानम् उपगन्तुं प्रवृत्ताः इव ॥१३॥

व्याख्या—(तपस्विनः=दीनाः वृक्षाः जलसेकाभावात्) अन्तःशरीरपरिशोषम् =अन्तःशरीरस्य—शरीराभ्यन्तरस्य परिशोषं-शोषणम् उदग्रयन्तः—वर्धयन्तः (तथा) कीटक्षतिस्रुतिभिः—कीटक्षतिरन्ध्रनिर्यासैः अस्रम्—अश्रु उद्वमन्तः इव—मुञ्चन्त इव। (निष्पर्णतया) छायावियोगमलिनाः=छायावियोगेन—छायाराहित्येन मलिनाः—शुष्काः (अतएव आतपक्लिष्टाः) व्यसने-विपदि निमग्नाः—पतिताः वृक्षाः—पादपाः श्मशानं—पितृवनम् उपगन्तुम्—आश्रयितुं मर्त्तुमित्यर्थः प्रवृत्ताः इव-उद्युक्ताः इव ॥१३॥

हिन्दी रूपान्तर

और ये बेचारे

श्लोक—(१३) **अर्थ**—(पानी से न सींचे जाने के कारण) आन्तरिक शरीर की शुष्कता को बढ़ाते हुये, कीड़ों के काटने से (निकलते हुए रस के) प्रवाहों से मानों अश्रुओं को प्रकट करते हुये, (पत्तों के अभाव में) छाया के न होने से शुष्क विपत्ति में ग्रस्त (निमग्नाः) वृक्ष मानों श्मशान में जाने के लिये प्रवृत्त हो रहे हैं ॥१३॥

टिप्पणी

(१) **अन्तःशरीरपरिशोषम्**—वृक्षों ने सूखना प्रारम्भ कर दिया है क्योंकि शाखायें कटने लगी हैं और सूर्य की प्रखर किरणें सीधी उन पर पड़ रही हैं।

(२) **उदग्रयन्तः**—उदग्रं कुर्वन्तः इति उदग्र + णिच् + शतृ।

(३) १३ वें श्लोक में कवि की कल्पना इसप्रकार है—(क) इन उद्यानस्थ वृक्षों की किसी भी प्रकार की देखभाल नहीं है। उनको कोई जल से सींचने वाला नहीं है। परिणामतः वे सूख गये हैं।

(ख) इन वृक्षों को यत्र-तत्र कीड़ों ने खा लिया है। उन खाये हुये स्थानों से वृक्षों का रस निकल रहा है। कवि ने इस रस को अश्रु मानकर कल्पना की है कि मानों ये रो रहे हैं।

(ग) इन वृक्षों की शाखायें काट ली गई हैं। परिणामतः सूर्य की प्रखर धूप में ये सूख गये हैं। इनके सूख जाने को कवि ने विपत्ति में ग्रस्त हुये की कल्पना करके यह कल्पना की है कि मानों ये श्मशान में जाने की तैयारी कर रहे हैं।

यावदस्मिन्विषमदशापरिणामसुलभे भिन्नशिलातले मुहूर्तमुपविशामि। (उपविश्याकर्ण्य च।) अये किमिदमस्मिन्काले पटुपटहशङ्खमिश्रो नान्दीनादः। य एष

प्रमृद्गन्श्रोतॄणां श्रुतिपथमसारं गुरुतया
बहुत्वात्प्रासादैः सपदि परिपीतोज्झित इव।
असौ नान्दीनादः पटुपटहशङ्खध्वनियुतो
दिशां द्रष्टुं दैर्घ्यं प्रसरति सकौतूहल इव ॥१५॥

संस्कृत-व्याख्या

विषमदशापरिणामसुलभे=विषमा-प्रतिकूला या दशा—अवस्था तस्याः परिणामः-परिणतिः तत्र सुलभे-योग्ये। **भिन्नशिलातले**=भिन्नं तत् शिलातलं —प्रस्तरखण्डः तस्मिन्। नान्दीनादः=मङ्गलतूर्यध्वनिः।

अन्वयः—प्रमृद्गन् इति—(यः एष नान्दीनादः) श्रोतॄणाम् असारं श्रुतिपथं गुरुतया प्रमृद्गन् बहुत्वात् प्रासादैः सपदि परिपीतोज्झित इव। पटुपटहशङ्खध्वनियुतः असौ नान्दीनादः सकौतूहल इव दिशां दैर्घ्यं द्रष्टुं प्रसरति ॥१४॥

व्याख्या—(य एष नान्दीनादः) श्रोतृणाम्—आकर्णयताम् असारम्—अविद्यमानः सारः—प्रसारो, विस्तार इति यावत् यस्य तमसारं—संकुचितमित्यर्थः अथवा नास्ति सारः—स्थिरांशः प्रभूतश्रवणशक्तिर्यस्य तम् श्रुतिपथं—श्रवणविवरं गुरुतया-प्रभूततया प्रमृद्‌गन्—पीडयन्, बहुत्वात्—बाहुल्यात् प्रासादैः—राजभवनैः—सपदि—झटिति परिपीतोज्झित इव=आदौ परिपीतः—निगीर्णः पश्चात् उज्झितः–प्रतिध्वनि-व्याजेन परित्यक्तः उद्वान्त इव। पटुपटहशङ्खध्वनियुतः=पटु यथास्यात्तथा पटहानां—ढक्कानां शङ्खानाञ्च ध्वनिभिः युतः—मिश्रः असौ नान्दीनादः—मङ्गलतूर्यः ध्वनिः सकौतूहलः—कौतुकवान् इव दिशां—दशानामपि ककुभां दैर्ध्यम्—आयामं द्रष्टुम्—अवलोकयितुं प्रसरति—समन्ताद् गच्छति ॥१४॥

हिन्दी रूपान्तर

जब तक इस प्रतिकूल दशाओं के परिणाम के योग्य (सुलभ) टूटे हुये शिलातल पर क्षणभर बैठता हूँ। (बैठकर और सुनकर।) अरे, इस समय अच्छी तरह बजते हुये (पटु) नगाड़े और शङ्ख की ध्वनि से मिश्रित यह मांगलिक तूर्यध्वनि (नान्दीनादः) कैसी ? जो यह

श्लोक—(१३) **अर्थ**—(जो यह नान्दीनाद) सुनने वालों के संकुचित अथवा अशक्त कानों को सघन होने के कारण (गुरुतया) पीड़ित करता हुआ, अत्यधिक होने के कारण (बहुत्वात्) राजभवनों से शीघ्र (ही) मानों पहले पिया हुआ बाद में छोड़ा हुआ, अच्छी तरह बजते हुये (पटु) नगाड़े और शङ्ख की ध्वनि से मिश्रित वह माङ्गलिक तूर्यध्वनि मानों कौतूहल से युक्त हुई दसों दिशाओं की दीर्घता को देखने के लिये फैल रही है ॥१४॥

टिप्पणी

(१) **यावदस्मिन्**—अर्थात् जिसप्रकार सम्प्रति आपत्ति सुलभ है और बिना कहना के ही प्राप्त हो गई है उसीप्रकार यह पाषाणखण्ड भी अनायास ही भाग्य से प्राप्त हो गया है।

(२) **मुहूर्तमुपविशामि**—क्योंकि मानसिक और शारीरिक थकान आराम चाहती है।

(३) **अस्मिन् काले**—यह बताता है कि यह "नान्दीनाद" इस समय असामयिक और आशा के विपरीत है।

(४) **नान्दीनादः**—हर्ष की सूचना देने वाली ध्वनि।

(५) **प्रमृद्‌गन् श्रोतृणाम्**—जिसप्रकार छोटे छिद्र में कोई विशाल चीज प्रवेश करती हुई पीड़ित करती है, उसीप्रकार यह माङ्गलिक तूर्य की ध्वनि विशाल है और कर्णकुहर छोटे हैं। उनमें यह सामर्थ्य नहीं है कि इस विशाल ध्वनि को आसानी से सुन सकें, अतः पीड़ित हो रहे हैं।

(६) **बहुत्वात् प्रासादैः**—जिसप्रकार अत्यन्त पिया हुआ जल वमन कर दिया जाता है, उसीप्रकार यह नान्दीनाद की विशाल ध्वनि महलों में नहीं समा रही है। अतः मानो वे प्रतिध्वनि के व्याज से इसको वमन कर रहे हैं।

(७) दिशां दैर्घ्यं द्रष्टुम्—सभी दिशाओं में व्याप्त होने वाला। दिशाओं की दीर्घता देखने के लिये अर्थात् कौन सी दिशा ऐसी है जो मेरी ध्वनि से व्याप्त नहीं हुई है—अतः दिशाओं के विस्तार को नापने के लिये।

(विचिन्त्य।) आः, ज्ञातम्। एष हि मलयकेतुसंयमनसंजातो राजकुलस्य- (इत्यर्धोक्ते सासूयतम्।) मौर्यकुलस्याधिकपरितोषं पिशुनयति। (सवाष्पम्।) कष्टं भोः, कष्टम्।

श्रावितोऽस्मि श्रियं शत्रोरभिनीय च दर्शितः।
अनुभावयितुं मन्ये यत्नः संप्रति मां विधेः ॥१५॥

संस्कृत-व्याख्या

ज्ञातम्=अवगतम्। मलयकेतुसंयमनसञ्जातः=मलयकेतोः संयमनात्-ग्रहणात् सञ्जातः=उत्पन्नः। सासूयम्=असूयः-द्वेषः तेन सह वर्तमानम्। अधिकपरितोषं= प्रभूतानन्दम्। पिशुनयति=सूचयति।

अन्वयः—श्रावित इति—शत्रोः श्रियं श्रावितः अस्मि, अभिनीय च दर्शितः। मन्ये सम्प्रति विधेः माम् अनुभावयितुं यत्नः ॥१५॥

व्याख्या—(विधिना) शत्रोः—रिपोः मौर्यस्य श्रियं—राज्यलक्ष्मीं श्रावितः—आकर्णितः अस्मि, अभिनीय—समीपमानीय च (तां श्रियं) दर्शितः—साक्षात्कारितः (अस्मि)। मन्ये, सम्प्रति—अधुना विधेः—दैवस्य माम् अनुभावयितुं—बोधयितुं यत्नः—प्रयासः (वर्तते) ॥१५॥

हिन्दी रूपान्तर

(सोचकर।) आः, मालूम पड़ गया। निश्चय से यह (नान्दीनाद) मलयकेतु के पकड़े जाने से उत्पन्न राजकुल के—(ऐसा आधा कहने पर ईर्ष्या के साथ।) मौर्यकुल के अत्यधिक आनन्द को सूचित कर रहा है। (अश्रुओं के साथ।) अरे कष्ट है, कष्ट है।

श्लोक (१५) अर्थ—(भाग्य के द्वारा) शत्रु के ऐश्वर्य को (श्रियम्) सुनाया गया हूँ और (यहाँ) लाकर दिखाया गया हूँ, (और) मैं समझता हूँ (कि) सम्प्रति भाग्य का मुझको (इस ऐश्वर्य को) अनुभव कराने का प्रयत्न है ॥१५॥

टिप्पणी

(१) सासूयम्—मौर्यकुल को राजकुल कहने के कारण असूया है।

(२) श्रावितोऽस्मि—इससे पूर्व विराधगुप्त और करभकादियों ने मुझे सुनाया था। जब राक्षस मलयकेतु के शिविर को छोड़कर चुपचाप पाटलिपुत्र की ओर चल पड़ा था, उस समय उसने भद्रभट और उसके साथियों के द्वारा मलयकेतु के कैद किये जाने का समाचार सुन लिया था और जब वह पाटलिपुत्र के पास पहुँचा तब उसने चन्द्रगुप्त की सेना को मलयकेतु की सेना को परास्त कर वापिस नगर में जाते हुये देखा था। यही भाव १५ वें श्लोक की प्रथम पंक्ति का है।

(३) अभिनीय च दर्शितः—और अब मुझे यहाँ लाकर दिखा दिया है अर्थात् सुनने की अपेक्षा देखना अधिक कष्टकारी है।

(४) अनुभावयितुम्—मैं समझता हूँ कि भाग्य इतने से ही सन्तुष्ट नहीं है। वह मुझे शत्रुओं के पंजे से चन्दनदास को छुड़ाने के प्रयत्न में इन सब का अनुभव भी कराना चाहता है।

पुरुषः— आसीणो अअं। जाव अज्जचाणक्कादेसं संपादेमि। आसीनोऽयम्। यावदार्यचाणक्यादेशं संपादयामि।

(राक्षसमपश्यन्निव तस्याग्रतो रज्जुपाशेन कण्ठमुद्बध्नाति।)

राक्षसः—(विलोक्य।) अये, कथमात्मानमुद्बध्नात्ययमहमिव दुःखितस्तपस्वी। भवतु। पृच्छाम्येनम्। भद्र, किमिदमनुष्ठीयते।

पुरुषः—(सबाष्पम्।) अज्ज, जं पिअवअस्सविणासदुःखिदो अम्हारिसो मन्दभग्गो अणुचिट्ठदि। आर्य, यत्प्रियवयस्यविनाशदुःखितोऽस्मादृशो मन्दभाग्योऽनुतिष्ठति।

राक्षसः—(आत्मगतम्।) प्रथममेव मया ज्ञातं नूनमहमिवार्तस्तपस्वीति। (प्रकाशम्।) हे व्यसनसब्रह्मचारिन्, यदि न गुह्यं नातिभारिकं वा ततः श्रोतुमिच्छामि।

पुरुषः—अज्ज, ण रहस्सं णादिगुरुअं किंदु ण सक्कणोमि पिअवअस्सविणासदुक्खिदहिअओ एत्तिअमेत्तं वि मरणस्स कालहरणं कादुं। आर्य, न रहस्यं नातिगुरुकं किंतु न शक्नोमि प्रियवयस्यविनाशदुःखितहृदय एतावन्मात्रमपि मरणस्य कालहरणं कर्तुम्।

राक्षसः—(निःश्वस्य आत्मगतम्।) कष्टमेते सुहृद्व्यसनेषु परमुदासीनाः प्रत्यादिश्यामहे वयमनेन। (प्रकाशम्।) भद्र, यदि न रहस्यं नातिगुरु तच्छ्रोतुमिच्छामि।

संस्कृत-व्याख्या

आसीनः = उपविष्टः। आर्यचाणक्यादेशम् = आर्यचाणक्यस्य। आदेशम् = आज्ञप्तिम्। सम्पादयामि = करोमि। रज्जुपाशेन = बन्धनदाम्ना। उद्बध्नाति = संयच्छति। तपस्वी = दीनः। प्रियवयस्यविनाशदुःखितः = प्रियवयस्यस्य-प्रियमित्रस्य विनाशेन = मृत्युना दुःखितः-पीडितः। अस्मादृशः = मत्सदृशः। आर्तः = दुःखितः। व्यसनसब्रह्मचारिन् = व्यसनेन-विपदा सब्रह्मचारिन्—सहाध्यायिन्, समानव्यसन इत्यर्थः। गुह्यं = रहस्यम्। अतिभारिकम् = अतिमहत्। कालहरणम् = समययापनम्। सुहृद्व्यसनेषु = मित्रविपत्सु। उदासीनाः = अकृतप्रतीकारा इत्यर्थः। प्रत्यादिश्यामहे = तिरस्क्रियामहे।

हिन्दी रूपान्तर

पुरुष—यह बैठ गया है। जब तक आर्य चाणक्य की आज्ञा को सम्पन्न करता हूँ।

(राक्षस को मानों न देखते हुये इसके सम्मुख रस्सी के पाश से गले को बाँधता है।)

राक्षस—(देखकर ।) अरे, मेरे समान यह बेचारा दुःखी क्यों अपने आपको फाँसी लगा रहा है ? अच्छा । इसको पूछता हूँ । भद्र, यह क्या कर रहे हो ।

पुरुष—(अश्रुओं के साथ ।) आर्य, जो प्रिय मित्र की मृत्यु से दुःखित मुझ जैसा मन्दभाग्य वाला (व्यक्ति) करता है ।

राक्षस—(मन ही मन ।) मैंने पहले ही जान लिया था (कि) (यह) बेचारा निश्चय से मेरे समान दुःखी है । (स्पष्टतः ।) हे समानव्यसन वाले, यदि गुप्त (बात) नहीं है अथवा अत्यन्त महान् नहीं है तो सुनना चाहता हूँ ।

पुरुष—आर्य, न रहस्य है (और) न ही अत्यन्त महान् है । किन्तु प्रिय मित्र की मृत्यु से दुःखित हृदय वाला (मैं) इतने भी मृत्यु के समय को व्यर्थ (कालहरणम्) करने में समर्थ नहीं हूँ ।

राक्षस—(दीर्घ उच्छ्वास लेकर, मन ही मन ।) दुःख है (कि) इसके द्वारा मित्र की विपत्तियों के विषय में अत्यन्त उदासीन ये (एते) हम तिरस्कृत कर दिये गये हैं (प्रत्यादिश्यामहे) । (स्पष्टतः ।) भद्र, यदि रहस्य नहीं है (और) अत्यन्त महान् (भी) नहीं है तो सुनना चाहता हूँ ।

टिप्पणी

(१) **व्यसनब्रह्मचारिन्**—शाब्दिक अर्थ है—आपत्तियों के विद्यालय में साथ पढ़ने वाला । ब्रह्मन् = वेद । ब्रह्म-वेदः तदध्ययनार्थं व्रतमपि उपचारात् ब्रह्म तच्चरति इति ब्रह्मन् + चर् + णिनि कर्तरि व्रते = ब्रह्मचारी—जिसने वेदों के अध्ययन करने का व्रत ले रखा है अर्थात् वेद पढ़ने वाला विद्यार्थी । समानो ब्रह्मचारी = सब्रह्मचारी = वेदों के अध्ययन में सहपाठी । समान को 'चरणे ब्रह्मचारिणि" पा० ६/३/८६ से 'स' हो गया । लक्षणा के द्वारा "सब्रह्मचारिन्" का अर्थ होगा किसी भी ज्ञान को प्राप्त करने में सहाध्यायी । यहाँ पर अध्ययन का विषय है "व्यसन = आपत्ति ।" व्यसने सब्रह्मचारी = व्यसनब्रह्मचारी, सम्बोधन में व्यसनसब्रह्मचारिन् । आशय यह है कि हम दोनों समानरूप से विपत्तिग्रस्त हैं ।

(२) **गुह्यम्**—गुह—संवरणे + क्यप् कर्मणि गुह्यम् ।

(३) **अतिभारिकम्**—अतिभारः अस्य अस्ति इति "अत इनि ठनौ" पा० ५/२/११५ इति मत्वर्थीयः ठन् । अतिभार + ठन् ।

(४) **प्रत्यादिश्यामहे**—तिरस्क्रियामहे । मैं अपने आपको समझता था कि मैं अत्यधिक मित्रवत्सल हूँ और मैं चन्दनदास के लिये वह काम कर रहा हूँ जो और कोई अपने मित्र के लिये नहीं कर सकता है । अतः मैं अपने आपको मित्रों के प्रति कर्तव्य कार्य का निर्वाह करने में सर्वोपरि समझता था किन्तु आज मुझे एक ऐसा व्यक्ति भी मिला जो मुझसे भी बढ़कर अपने मित्र के लिये कर रहा है । अतः इस व्यक्ति ने मुझे अपने आचरण से नीचा कर दिया है ।

पुरुषः—अहो णिब्बन्धो अज्जस्स । का गई । णिवेदेमि । अत्थि दाव एत्थ णअरे मणिआरसेट्ठी विह्णुदासो णाम । अहो निर्बन्ध आर्यस्य । का गतिः । निवेदयामि । अस्ति तावदत्र नगरे मणिकार श्रेष्ठी विष्णुदासो नाम ।

राक्षस.—(आत्मगतम् ।) अस्ति विष्णुदासश्चन्दनदासस्य सुहृत् । (प्रकाशम् ।) किं तस्य ।

पुरुषः—सो मम पिअवअस्सो । स मम प्रियवयस्यः ।

राक्षसः—(सहर्षमात्मगतम् ।) अये प्रियवयस्य इत्याह । अत्यन्तसंनिकृष्टः संबन्धः । हन्त, ज्ञास्यति चन्दनदासस्य वृत्तान्तम् । (प्रकाशम् ।) भद्र, किं तस्य ।

पुरुषः—सो संपदं दिण्णाभरणादिविहवो जलणं पवेसिदुकामो णअरादो णिक्कन्तो । अहं वि जाव तस्स असुणिदव्वं ण सुणेमि ताव अत्ताणं उब्बन्धिअ वावादइदुं इमं जिण्णुज्जाणं आअदो । स संप्रति दत्ताभरणादिविभवो ज्वलनं प्रवेष्टुकामो नगरान्निष्क्रान्तः । अहमपि यावत्तस्याश्रोतव्यं न शृणोमि तावदात्मानमुद्बध्य व्यापादयितुमिदं जीर्णोद्यानमागतः ।

संस्कृत-व्याख्या

निबंन्धः+ आग्रहः । ज्वलनम् = अग्निम् । प्रवेष्टुकामः=प्रवेशाभिलाषी । उद्बध्य = बद्ध्वा ।

हिन्दी रूपान्तर

पुरुष—आः आर्य का आग्रह है । क्या उपाय (गति) है । कहता हूँ । इस नगर में विष्णुदास नाम वाला जोहरी है ।

राक्षस—(मन ही मन ।) विष्णुदास चन्दनदास का मित्र है । (स्पष्टतः ।) उसका क्या (हुआ) ?

पुरुष—वह मेरा प्रिय मित्र है ।

राक्षस - (हर्ष के साथ मन ही मन ।) अरे प्रिय मित्र है, यह कहा । अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है । प्रसन्नता की बात है, चन्दनदास का समाचार जानता होगा । (स्पष्टतः ।) भद्र, उसका क्या (हुआ) ?

पुरुष—आभूषणादि सम्पत्ति को (दान में) देकर (दत्ताभरणादिविभवः) वह इस समय अग्नि में प्रवेश करने की इच्छा वाला नगर से बाहर निकल गया है । मैं भी जब तक उसके न सुनने योग्य (समाचार) को नहीं सुनता हूँ तब तक अपने को बाँधकर मारने के लिये इस जीर्ण–उपवन में आ गया हूँ ।

टिप्पणी

(१) अत्यन्तसन्निकृष्टः—घनिष्ठ सम्बन्ध । अतः सम्भवतः यह मुझे चन्दनदास के विषय में कुछ बता सके ।

(२) अश्रोतव्यम्—न सुनने के योग्य अर्थात् उसकी आत्महत्या का समाचार ।

राक्षसः—भद्र, अग्निप्रवेशे सुहृदस्ते को हेतुः।

किमौषधपथातिगैरुपहतो महाव्याधिभिः ॥

पुरुषः—णहि णहि। नहि नहि।

राक्षसः—

किमग्निविषकल्पया नरपतेर्निरस्तः क्रुधा।

पुरुषः—अज्ज, सन्तं पावं सन्तं पावं। चन्दउत्तस्स जणवदे ण सिसंसा पडिवत्ती। आर्य, शान्तं पापं शान्तं पापम्। चन्द्रगुप्तस्य जनपदे न नृशंसा प्रतिपत्तिः।

राक्षसः—

अलभ्यमनुरक्तवान्कथय किं नु नारीजनं।

पुरुषः—(कर्णौ पिधाय।) सन्तं पावं। अभूमी क्खु एसो अविणअस्स। शान्तं पापम्। अभूमिः खल्वेषोऽविनयस्य।

राक्षसः—

किमस्य भवतो यथा सुहृद एव नाशोऽवशः ॥१६॥

पुरुषः—अज्ज, अह इं। आर्य, अथ किम्।

राक्षसः—(सावेगमात्मगतम्।) चन्दनदासस्य प्रियसुहृदिति तद्विनाशो हुतभुजि प्रवेशहेतुरिति यत्सत्यं चलितमेवास्ते युक्तस्नेहपक्षपाताद् हृदयम्। (प्रकाशम्।) तद्विनाश च प्रियसुहृद्वत्सलतया मर्तव्ये व्यवसितस्य सुचरितं च विस्तरेण श्रोतुमिच्छामि।

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—**किमिति**—किम् औषधपथातिगैः महाव्याधिभिः उपहतः। किम् अग्निविषकल्पया नरपतेः क्रुधा निरस्तः। कथय, किं नु अलभ्यं नारीजनं अनुरक्तवान्। किम् अस्य भवतः यथा सुहृदः एव अवशः नाशः ॥१६॥

व्याख्या—किम् औषधपथातिगैः=औषधानां-भेषजानां पन्थानं-वर्त्म अतिगच्छन्ति-अतीत्य वर्तन्ते ये तादृशैः, औषधाप्रतिविधेयैः महाव्याधिभिः—महारोगैः उपहतः-प्रपीडितः (येन स प्राणान् परित्यज्य रोगयन्त्रणां परिहर्तुमिच्छति)? किम् अग्निविषकल्पया=अग्नितुल्यया विषतुल्यया च नरपतेः-राज्ञः (चन्द्रगुप्तस्य) क्रुधा-कोपेन निरस्तः-ग्रस्तः? (येनात्मानं व्यापाद्य राजरोषं परिहर्तुमिच्छति)? कथय-ब्रूहि किन्तु अलभ्यं-दुर्लभं नारीजनं-स्त्रियम् अनुरक्तवान्-आसक्तवान् (येन तदप्राप्तौ निर्विण्णः प्राणान् त्यक्तुमुद्यतः), किम् अस्य—विष्णुदासस्य भवतः-तव यथा—इव सुहृदः-मित्रस्य एव अवशः-अप्रतीकार्यः नाशः (संजातः)? (भवानिव सोऽपि मित्रनाशादेव म्रियते किम्?) ॥१६॥

जनपदे=राज्ये। नृशंसा=निष्ठुरा। प्रतिपत्तिः=प्रवृत्तिः। अभूमिः=अपात्रम्। हुतभुजि=अग्नौ। यत्सत्यम्=नूनम्। युक्तस्नेहपक्षपातात्=युक्तः-युक्तियुक्तः

ः स्नेहस्य—अनुरागस्य पक्षपातः—अभिनिवेशः तस्मात् । प्रियसुहृद्वत्सलतया = प्रिय-सुहृदि वत्सलः तस्य भावः तया । मर्तव्ये = मरणे । व्यवसितस्य = कृतनिश्चयस्य । सुचरितं = पावनं वृत्तम् ।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस – भद्र, तुम्हारे मित्र का अग्नि में प्रवेश करने में क्या कारण है ?

श्लोक (१६) अर्थ—क्या औषधि के मार्ग का अतिक्रमण करने वाली (अर्थात् असाध्य) महान् व्याधियों से पीड़ित है [जिससे वह प्राणों को छोड़कर रोग की यन्त्रणा को दूर करना चाहता है] ।

पुरुष – नहीं, नहीं ।

राक्षस—क्या अग्नि और विष के तुल्य (कल्पया) राजा के क्रोध से ग्रस्त है (जिससे अपने को मारकर राजा के क्रोध का परिहार करना चाहता है) ।

पुरुष—आर्य, पाप शान्त हो, पाप शान्त हो । चन्द्रगुप्त के राज्य में (जनपदे) निर्दय प्रवृत्ति नहीं है ।

राक्षस—बताओ, क्या दुष्प्राप्य स्त्री में अनुरक्त हो गया है, जिससे दुःखी होकर प्राणों को छोड़ रहा है ।

पुरुष—(दोनों कानों को बन्द करके ।) पाप शान्त हो । यह (इसप्रकार के) अविनय का स्थान नहीं है ।

राक्षस—क्या इसका (भी) तुम्हारे समान मित्र का प्रतिकार न करने के योग्य (अवशः) विनाश ही (कारण) है । [क्या वह भी तुम्हारे समान मित्र के नाश से मर रहा है ।] ॥१६॥

पुरुष—आर्य, और क्या ?

राक्षस—(आवेग के साथ मन ही मन ।) चन्दनदास का (विष्णुदास) प्रिय मित्र है । इसलिये उसकी (चन्दनदास की) मृत्यु अग्नि में प्रवेश का कारण है, अतः वस्तुतः (यत्सत्यम्) उचित स्नेह के प्रति पक्षपात होने के कारण (मेरा) हृदय जल रहा है । (स्पष्टतः ।) उसकी मृत्यु को और प्रिय मित्र के प्रेम के कारण मरने के विषय में कृतनिश्चयी (उस) के सुचरित को विस्तार से सुनना चाहता हूँ ।

टिप्पणी

(१) आत्महत्या करने के चार कारण होते हैं । इन चारों कारणों का क्रमशः १६वें श्लोक में वर्णन है । चार कारण इस प्रकार हैं—

(१) ऐसी बीमारी जिसकी चिकित्सा औषधियों से न हो सकती हो अर्थात् असाध्य रोग । (२) राजकोप । (३) अप्राप्य स्त्रीविषयक प्रेमासक्ति । (४) मित्र का विनाश ।

(२) **औषधपथातिगैः**—औषधानां पन्थाः औषधपथः । समासान्त अप् प्रत्यय । "ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे" पा० ५/४/७४ इति अप् । तम् अतिगच्छन्ति इति औषधपथ + अति + गम् + ड कर्तरि ।

(३) **अग्निविषकल्पया**—अग्निश्च विषञ्च इति अग्निविषे ताभ्याम् **ईषत्** ऊना = अग्निविष + कल्पप् स्त्रियाम् तथा । "**ईषदसमाप्तौ, कल्पब्देश्यदेशीयरः**" पा० ५/३/६७ से कल्पप् ।

(४) **जनपदे**—राज्य में । वह शासन सम्बन्धी क्षेत्रपरिधि, जहाँ सामान्य जनता की सम्मति का आदर किया जाता है ।

(५) **नृशंसा**—शंसनम् इति शंस + अ, भावे स्त्रियां शंसा । नृणां शंसा, नृशंसा = मनुष्यों को मारना ।

(६) **अवशः**—न विद्यते वशं-प्रभुत्वं यत्र अर्थात् प्रतीकार करने की शक्ति से बाहर, जिसमें व्यक्ति कुछ करने में असहाय हो जाता है ।

(७) १६वें श्लोक की प्रत्येक पंक्ति में राक्षस ने एक प्रश्न किया है, जिसका उत्तर गद्य में दिया गया है ।

(८) **तद्विनाशं सुचरितं च**—उसकी मृत्यु की कहानी और उसके सुचरित को विस्तार से सुनना चाहता हूँ ।

पुरुषः—अदो अवरं सक्कणोमि मन्दभग्गो मरणस्स विग्धमुप्पादेदुं । अतोऽपरं न शक्नोमि मन्दभाग्यो मरणस्य विघ्नमुत्पादयितुम् ।

राक्षसः—भद्र, श्रवणीयां कथां कथय ।

पुरुषः—का गई । किं कादव्वम् । एसो क्खु णिवेदेमि । सुणोदु अज्जो । का गतिः । किं कर्तव्यम् । एष खलु निवेदयामि । शृणोत्वार्यः ।

राक्षसः—भद्र, अवहितोऽस्मि ।

पुरुषः—अत्थि एत्थ णअरे मणिआरसेट्ठी चन्दनदासो णाम । अस्ति इह नगरे मणिकारश्रेष्ठी चन्दनदासो नाम ।

राक्षसः—(सविषादमात्मगतम् ।) एतत्तदपावृतमस्मच्छोकदीक्षाद्वारं दैवेन । हृदय, स्थिरीभव । किमपि ते कष्टतरमाकर्णनीयमस्ति । (प्रकाशम् ।) भद्र, श्रूयते मित्रवत्सलः साधुः । किं तस्य ।

पुरुषः—सो एदस्स विह्णुदासस्स पिअवअस्सो होदि । स एतस्य विष्णुदासस्य प्रियवयस्यो भवति ।

राक्षसः—(स्वगतम् ।) सोऽयमभ्यर्णः शोकवज्रपातो हृदयस्य ।

पुरुषः—तदो विह्णुदासेण वअस्ससिणेहसरिसं अज्ज विण्णविदो चन्दउत्तो । ततो विष्णुदासेन वयस्यस्नेहसदृशमद्य विज्ञप्तश्चन्द्रगुप्तः ।

राक्षसः—कथय किमिति ।

पुरुषः—देव, मह गेहे कुटुम्बभरणपज्जत्ता अत्थवत्ता अत्थि । ता एदिणा विणिमएण मुञ्चिअदु पिअवअस्सो चन्दणदासो त्ति । देव मम गेहे कुटुम्बभरणपर्याप्तार्थवत्तास्ति । तदेतेन विनिमयेन मुच्यतां प्रियवयस्यश्चन्दनदास इति ।

संस्कृत-व्याख्या

अपावृतम् = उद्घाटितम् । अस्मच्छोकदीक्षाद्वारम् = अस्माकं शोकदीक्षा— शोकानुभवनियमः तद् द्वारम्—आगमनमार्गः । स्थिरीभव = धैर्यमवलम्बस्व । मित्रवत्सलः = सुहृदनुरागी । अभ्यर्णः = आसन्नः । विज्ञप्तः = प्रार्थितः । विनिमयेन = परिवर्तनेन ।

हिन्दी रूपान्तर

पुरुष—इसके बाद मन्दभाग्यशाली (मैं अपनी) मृत्यु के दूसरे विघ्न को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हूँ ।

राक्षस—भद्र, सुनने योग्य कथा को कहो ।

पुरुष—क्या उपाय है ? क्या करना चाहिये ? यह कहता हूँ । आर्य सुनिये ।

राक्षस—भद्र, सावधान हूँ ।

पुरुष—इस (कुसुमपुर) नगर में चन्दनदास नाम वाला जौहरी है ।

राक्षस—(विषाद के साथ मन ही मन ।) भाग्य ने इस उस हमारे शोक के दीक्षा के द्वार को खोल दिया है । हृदय, स्थिर हो जाओ । तुझे कुछ और अधिक कष्टदायक (कथानक) सुनना है । (स्पष्टतः ।), भद्र मित्रों से प्रेम करने वाला सज्जन सुना जाता है । उसका क्या (हुआ) ?

पुरुष—वह इस विष्णुदास का प्रिय मित्र है ।

राक्षस—(मन ही मन ।) वह यह (मेरे) हृदय का शोकरूपी वज्रपात समीप है ।

पुरुष—उसके बाद आज विष्णुदास ने मित्रों के प्रेम के अनुरूप चन्द्रगुप्त से निवेदन किया ।

राक्षस—कहो क्या ?

पुरुष—महाराज, मेरे घर में परिवार के भरण-पोषण के लिये पर्याप्त सम्पत्ति (अर्थवत्ता) है । इसलिये इसके (धन के) विनिमय से प्रिय मित्र चन्दनदास को छोड़ दीजिये ।

टिप्पणी

(१) **अस्मच्छोकदीक्षाद्वारम्**—अर्थ यह है कि भाग्य ने मेरे लिये शोक का अध्ययन करने की दीक्षा के लिये द्वार खोल दिया है । दीक्षणं दीक्षा । शोके दीक्षा = शोकदीक्षा । अस्माकं शोकदीक्षा, तस्याः द्वारम् ।

(२) **अभ्यर्णः**—अभि + अर्द् + क्त कर्तरि अभ्यर्णः = समीप । **'अभेश्चाविदूर्ये'** पा० ७/२/२५ ।

(३) **शोकवज्रपातो हृदयस्य—अर्थात् यह व्यक्ति अब भयानक शब्दों को कहने** जा रहा है कि चन्दनदास की मृत्यु होगी ।

(४) **कुटुम्बभरणपर्याप्तार्थवत्ता**—चन्द्रगुप्त के परिवार के भरण-पोषण के लिये पर्याप्त सम्पत्ति । विष्णुदास के अपने परिवार के भरण-पोषण के लिये पर्याप्त सम्पत्ति है, ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिये ।

राक्षसः—(स्वगतम् ।) साधु भो विष्णुदास, साधु । अहो, दर्शितो मित्रस्नेहः । कुतः ।

पितॄन्पुत्राः पुत्रान्परवदभिहिंसन्ति पितरो
यदर्थं सौहार्दं सुहृदि च विमुञ्चन्ति सुहृदः ।
प्रियं मोक्तुं तद्यो व्यसनमिव सद्यो व्यवसितः
कृतार्थोऽयं सोऽर्थस्तव सति वणिक्त्वेऽपि वणिजः ॥१७॥

(प्रकाशम् ।) भद्र, ततस्तथाभिहितेन किं प्रतिपन्नं मौर्येण ।

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—पितॄनिति— यदर्थं पुत्राः पितॄन्, पितरः पुत्रान् परवत् अभिहिंसन्ति, (यदर्थं) च सुहृदः सुहृदि सौहार्दं विमुञ्चन्ति । तत् प्रियं यः व्यसनमिव सद्यः मोक्तुं व्यवसितः, सः अयम् अर्थः वणिजः तव वणिक्त्वे सति अपि कृतार्थः ॥१७॥

व्याख्या—यदर्थं-यद्धननिमित्तं पुत्राः—सुताः पितॄन्—जनकान् पितरः-जनकाः पुत्रान्-सुतान् परवत्-परेण तुल्यम् अभिहिंसन्ति-निघ्नन्ति, (यदर्थं) च सुहृदः—मित्राणि सुहृदि-मित्रे सौहार्दं-[illegible] विमुञ्चन्ति-त्यजन्ति । तत् प्रियम्-इष्टं (धनम्) यः (त्वम्) व्यसनमिव-स्वीकृत[illegible] सद्यः-सहसा मोक्तुं-त्यक्तुं व्यवसितः-उद्यतः, सः अयम् अर्थः—धन [illegible] पण्यजीविनः तव भवतः वणिक्त्वे-वणिग्भावे सति अपि कृतार्थः—सफलो जा[illegible] ॥१७॥

प्रतिपन्नं = प्रत्युक्तम् ।

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—(मन ही मन ।) बहुत अच्छा है विष्णुदास, बहुत अच्छा । अहो, मित्र-प्रेम दिखा दिया । क्योंकि ।

श्लोक (१७) अर्थ—जिस (धन) के लिये पुत्र पिताओं को, पिता पुत्रों को शत्रु के समान मार डालते हैं, और (जिस धन के लिये) मित्र मित्र के विषय में मित्रता को छोड़ देते हैं । उस प्रिय (धन) को जो (तुम) व्यसन के समान शीघ्र ही छोड़ने के लिये उद्यत हो गये हो (इसीलिये) वह यह (तुम्हारा) धन वणिक् तुम्हारे वणिक् होने पर भी सफल हो गया (क्योंकि बनिये को धन का लोभ स्वाभाविक रूप से होता है ।) ॥१७॥

(स्पष्टतः ।) भद्र, उसके पश्चात् उसप्रकार से कहे हुये मौर्य ने क्या उत्तर दिया ?

टिप्पणी

(१) **सौहार्दम्**—सुहृदो भावः सौहार्दम् । सुहृद् + अण् "**हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च**" पा० ७/३/१९ [illegible] उभयपदवृद्धिः ।

(२) **वणिक्त्वेऽपि**—अनादर में सप्तमी है ।

(३) १७वें श्लोक का आशय यह है कि जिस धन के लोभ से पिता और पुत्र में विरोध उत्पन्न हो जाता है, जिसके लोभ से मित्रों में शत्रुता हो जाती है, उस धन को तुम अपने मित्र की रक्षा के लिये देने के लिये तैयार हो। अतः तुम्हारा धन सफल है। संसार में "अर्थ्यते सर्वप्रियाय इति अर्थः" अर्थात् जो अपने प्रयोजन के लिये चाहा जाता है, वह अर्थ है। इसी अर्थ में "अर्थ" शब्द प्रचलित है, किन्तु विष्णुदास के लिये तो "अर्थ" शब्द का अर्थ है—'अर्थ्यते मित्राय" इति, अर्थात् मित्र के लिये चाहा जाता है। अतः "अर्थ" शब्द सार्थक है।

पुरुषः—अज्ज, तदो एवं भणिदेण चन्दउत्तेण पडिभणितो सेट्ठी विह्लुदासो—'ण मए अत्यअस्स कारणेण चन्दणदासो संजमितो, किंदु पच्छादिदो अणेण अमच्चरक्खसस्स घरअणो त्ति बहुसो जाणिदं। तेण वि बहुसो जाचिदेण ण समप्पिदो। ता जदि तं समप्पेदि तदो अत्थि से मोक्खो। अण्णहा पाणहरो से दण्डो' त्ति, भणिअ वज्झट्ठाणं आणविदो चन्दणदासो। तदो दाव वअस्सचन्दणदासस्स असुणिदव्वं ण सुणोमि ताव जलणं पविसामि त्ति सेट्ठी विह्लुदासो णअरादो णिक्कन्दो। अहं वि विह्लुदासस्स असुणिदव्व' जाव ण सुणोमि ताव उब्बन्धिअ अत्ताणं वावादेमि त्ति इदं जिण्णुज्जाणं आअदो। आर्य, तत एवं भणितेन चन्द्रगुप्तेन प्रतिभणितः श्रेष्ठी विष्णुदासः 'न मयार्थस्य कारणेन चन्दनदासः सयमितः, किन्तु प्रच्छादितोऽनामात्यराक्षसस्य गृहजन इति बहुशो ज्ञातम्। तेनापि बहुशो याचितेनापि न समर्पित। तद्यदि तं समर्पयति तदस्ति अस्य मोक्षः। अन्यथा प्राणहरोऽस्य दण्डः' इति भणित्वा वध्यस्थानमानायितश्चन्दनदासः। ततो यावदस्य चन्दनदासस्याश्रोतव्यं न शृणोमि तावज्ज्वलनं प्रविशामीति श्रेष्ठी विष्णुदासो नगरान्निष्क्रान्तः। अहमपि विष्णुदासस्याश्रोतव्यं यावन्न शृणोमि तावदुद्बध्यात्मानं व्यापादयामीतीदं जीर्णोद्यानमागतः।

संस्कृत-व्याख्या

प्रतिभणितः = प्रत्युक्तः। संयमितः = बद्धः। गृहजनः = कलत्रादिः। प्रच्छादितः = संगोपितः। याचितेन = अर्थितेन। मोक्षः = मुक्तिः। भणित्वा = अभिधाय। ज्वलनम् = अग्निम्।

हिन्दी रूपान्तर

पुरुष—आर्य, उसके बाद इस प्रकार कहे हुये चन्द्रगुप्त ने सेठ विष्णुदास को उत्तर दिया—'मैंने धन के कारण से चन्दनदास को नहीं पकड़ा है, किन्तु इसने अमात्यराक्षस का परिवार छिपाया हुआ है—ऐसा अनेक बार पता लगा है। (और) अनेक बार मांगे जाते हुये भी उसने (परिवार को) समर्पित नहीं किया है। अतः यदि उस (अमात्यराक्षस के परिवार) को सौंप देता है तो इसका छुटकारा है। अन्यथा इसको प्राणों का अपहरण करने वाला दण्ड है, ऐसा कहकर चन्दनदास को वध्यस्थान में लाया गया है। तत्पश्चात् जब तक इस चन्दनदास के न सुनने योग्य

(समाचार) को नहीं सुनता हूँ तब तक अग्नि में प्रवेश करता हूँ—ऐसा (सोचकर) सेठ विष्णुदास नगर से बाहर निकल गया। मैं भी जब तक विष्णुदास के न सुनने योग्य (समाचार) को नहीं सुनता हूँ तब तक अपने आपको बाँधकर मारता हूँ—इसलिये इस जीर्ण-उपवन में आया हूँ।

टिप्पणी

(१) **प्राणहरः**=प्राणान् हरतीति प्राण+हृ+अच् कर्तरि।
(२) **आनायितः**—आ+नी+णिच्+क्त कर्मणि।
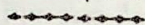
राक्षसः—भद्र, न खलु व्यापादितश्चन्दनदासः।

पुरुषः—अज्ज दाव वावादीअदि। सो क्खु संपदं पुणो पुणो अमच्चरक्खसस्स घरअणं जाचीअदि। ण सो क्खु मित्तवत्सलदाए समप्पेदि ता एदिणा कालणेण होदि तस्स मरणस्स कालहरणं। अद्य तावद् व्यापाद्यते। स खलु साम्प्रतं पुनः पुनरमात्य-राक्षसस्य गृहजनं याच्यते। न स खलु मित्रवत्सलतया समर्पयति तदेतेन कारणेन भवति तस्य मरणस्य कालहरणम्।

राक्षसः—(सहर्षमात्मगतम्) साधु वयस्य चन्दनदास, साधु।

शिवेरिव समुद्भूतं शरणागतरक्षया।
निचीयते त्वया साधो यशोऽपि सुहृदा विना ॥१८॥

संस्कृत-व्याख्या

मित्रवत्सलतया=सुहृत्स्नेहेन। समर्पयति=ददाति। कालहरणं=समय-यापनम्।

अन्वयः—शिवेरिवेति—साधो, शरणागतरक्षया समुद्भूतं शिवेः (यशः) इव त्वया सुहृदा विना अपि यशः निचीयते ॥१८॥

व्याख्या—साधो–सत्स्वभाव, शरणागतरक्षया=शरणागतस्य रक्षया-रक्षणेन हेतुना समुद्भूतम्–उत्पन्नं शिवेः-शिविराजस्य (यशः) इव त्वया–भवता सुहृदा-मित्रेण विना अपि यशः निचीयते-उपार्ज्यते ॥१८॥

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—भद्र, निश्चितरूप से चन्दनदास मार (तो) नहीं दिया गया।

पुरुष—आज मारा जावेगा। इस समय उससे पौनःपुन्येन अमात्यराक्षस का परिवार मांगा जा रहा है। (और) वह मित्र-प्रेम के कारण नहीं दे रहा है इसलिये इस कारण से उसकी मृत्यु में विलम्ब (कालहरणम्) हो रहा है।

राक्षस—(प्रसन्नता के साथ मन ही मन।) बहुत अच्छा मित्र चन्दनदास, बहुत अच्छा।

श्लोक (१८) अर्थ—हे सज्जन, शरणागत की रक्षा करने के कारण 'उत्पन्न शिवि के (यश के)' समान तुम्हारे द्वारा मित्र के बिना भी यश सञ्चित किया जा रहा है ॥१८॥

टिप्पणी

(१) **सः गृहजनं याच्यते**—यहाँ पर "सः" अप्रधान कर्म है। "अप्रधाने **दुहादीनाम्**" के अनुसार यह उक्त हो गया है।

(२) १८ वें श्लोक का आशय यह है कि राजा शिवि ने अपने शरणागत के सन्मुख ही अपने विनाश को प्राप्त किया है, किन्तु तुम ऐसे हो कि अपने मित्र के परोक्ष में उसके लिये विनाश को प्राप्त कर रहे हो। इसप्रकार मेरी अनुपस्थिति में अर्जित किया हुआ यश शिवि के यश से भी बढ़कर है। तुम श्लाघनीय चरित हो।

(प्रकाशम्।) भद्र, गच्छ गच्छेदानीम्। शीघ्रं विष्णुदासं ज्वलनप्रवेशान्निवारय। अहमपि चन्दनदासं मरणान्मोचयसि।

पुरुषः—अह उण केण उवाएण तुमं चन्दनदासं मरणादो मोचेसि। अथ पुनः केनोपायेन त्वं चन्दनदासं मरणान्मोचयसि।

राक्षसः—(खड्गमाकृष्य।) नन्वनेन व्यवसायसुहृदा निस्त्रिंशेन। पश्य

निस्त्रिंशोऽयं सजलजलदव्योमसंकाशमूर्ति—
युद्धश्रद्धापुलकित इव प्राप्तशख्यः करेण।
सत्त्वोत्कर्षात्समरनिकषे दृष्टसारः परैर्मे-
मित्रस्नेहाद्विवशमधुना साहसे मां नियुङ्क्ते ॥१९॥

संस्कृत-व्याख्या

ज्वलनप्रवेशात् = बह्निप्रवेशात्। मोचयामि = पृथक् करोमि। व्यवसायसुहृदा = व्यवसायः— उत्साहः, पौरुषमिति यावत् सुहृत—मित्रं यस्य तेन। निस्त्रिंशेन—खड्गेन।

अन्वयः—**निस्त्रिंशोऽयमिति**—सजलजलदव्योमसंकाशमूर्तिः करेण प्राप्तसख्यः युद्धश्रद्धापुलकित इव सत्त्वोत्कर्षात् परैः समरनिकषे दृष्टसारः अयं मे निस्त्रिंशः अधुना मित्रस्नेहात् विवशं मां साहसे नियुंक्ते ॥१९॥

व्याख्या—सजलजलदव्योमसंकाशमूर्तिः = सजलैः—जलधारासहितैः जलदैः—मेघैः युक्तं यत् व्योम आकाशं तेन सकाशा—सवर्णा मूर्तिः—रूपं यस्य तादृशः करेण—हस्तेन प्राप्तसख्यः = प्राप्तं—लब्धं सख्यं येन तादृशः युद्धश्रद्धापुलकित इव—युद्धश्रद्धया—संग्रामादरेण पुलकितं–जातरोमाश्च इव सत्त्वोत्कर्षात्-बलातिशयात् परैः—शत्रुभिः समरनिकषे = समरः एव निकषः—परीक्षाप्रस्तरविशेषः तस्मिन् दृष्टसारः = दृष्टः—अनुभूतः सारं–बलं यस्य तादृशः अयं मे—मम निस्त्रिंशः-खड्गः अधुना—सम्प्रति मित्रस्नेहात् = मित्रस्य—चन्दनदासस्य स्नेहात्–अनुरागात् विवशं–कार्याकार्य-विचारविमुखं मां साहसे—युद्धव्यापारे नियुंक्ते–प्रेरयति ॥१९॥

हिन्दी रूपान्तर

(स्पष्टतः।) भद्र, जाओ इस समय जाओ। शीघ्र विष्णुदास को अग्नि में प्रवेश करने से रोको। मैं भी चन्दनदास को मृत्यु से छुड़ाता हूँ।

पुरुष—अब फिर किस उपाय से तुम चन्दनदास को मारने से छुड़ाओगे।

राक्षस—(तलवार को खींचकर।) निश्चित रूप से पुरुषार्थ में मित्र इस तलवार से। देखो

श्लोक (१९) अर्थ—जल से भरे हुये बादलों से युक्त आकाश के समान आकृति वाली हाथ के साथ प्राप्त मित्रता वाली मानों युद्ध की आकांक्षा (श्रद्धा) से रोमाञ्चित बल के आधिक्य के कारण शत्रुओं के द्वारा युद्ध रूपी कसौटी पर देखी गई शक्ति वाली यह मेरी तलवार इस समय मित्र-प्रेम के कारण विवश (कार्याकार्य विचार से विमुख) मुझको साहस के कर्म में (युद्धव्यापार में) नियुक्त कर रही है ॥१९॥

टिप्पणी

(१) **ज्वलनप्रवेशात्**—'वारणार्थानामीप्सितः' पा० १/४/२७ इति पञ्चमी।

(२) **मरणात्**—'भीत्रार्थानां भयहेतुः' पा० १/४/२५ इति पञ्चमी।

(३) **व्यवसायसुहृदा**—मेरे महान् पुरुषार्थ में मित्र। अर्थात् मैं अपनी तलवार की सहायता से एकाकी ही सम्पूर्ण शत्रु सेना को विनष्ट करके अपने मित्र को छुड़ाता हूँ।

(४) **निस्त्रिंशः**—निर्गतः त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यः इति निस्त्रिंशः। "संख्यायास्तत्पुरुषस्य वाच्यः" (वार्तिक) इति समासान्त डच् प्रत्यय। निर्+त्रिंशत्+डच्= निस्त्रिंशः—तलवार, जो नाप में तीन अंगुलियों से अधिक हो।

(५) **सजलजलदव्योम**—तलवार सजल मेघ के समान सघन नीली है और आकाश के समान निर्मल है। तीक्ष्ण धार है।

(६) **युद्धश्रद्धापुलकित इव**—क्योंकि आकाश जल की धाराओं से युक्त है। अतः जल की धाराओं में रोमाञ्च की कल्पना करके उत्प्रेक्षा की है कि मानों ये जलधारायें ही पुलक=रोमाञ्च हैं। पुलकः सञ्जातः अस्य इति पुलक+इतच्= पुलकितः।

(७) **साहसे**—सहसा कृतं साहसं तस्मिन्। "हिताहितानपेक्षं यत्कर्म तत्साहसं विदुः।"

(८) **नियुंक्ते**—नि+युज्+लट् ते। मुझे प्रेरित कर रही है। मैं "नहीं" नहीं कह सकता हूँ क्योंकि मैं विवश हूँ।

पुरुषः—अज्ज, एवं सेट्ठिचन्दणदासजीविदप्पदाणपिसुणिदं विसमदसाविपाकणिवडिदं साधु ण सक्कणोमि तुमं णिण्णीअ पडिवत्तुं किं सुगिहीदणामहेआ अमच्चरक्खसपादा तुम्हे दिट्ठआ दिट्ठा। (इति पादयोः पतति।) आर्य, एवं श्रेष्ठिचन्दनदासजीवितप्रदानपिशुनितं विषमदशाविपाकनिपतितं साधु न शक्नोमि त्वां निर्णीय प्रतिपत्तुं किं सुगृहीतनामधेया अमात्यराक्षसपादा यूयं दिष्ट्या दृष्टाः।

राक्षसः—उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। अलमिदानीं कालहरणेन। निवेद्यतां विष्णुदासाय एष राक्षसश्चन्दनदासं मरणान्मोचयति। (इति 'निस्त्रिंशोऽयम्' (६/१९) इति पठन् खड्गं चाकृष्य परिक्रामति।)

पुरुषः—ता करेहि मे पसादं संदेहणिण्णएण । तत्कुरु मे प्रसादं संदेह-निर्णयेन ।

राक्षसः—सोऽहमनुभूतभर्तृविनाशः सुहृद्विपत्तिहेतुरनार्यो दुर्गृहीतनाम-धेयो यथार्थो राक्षसः ।

संस्कृत-व्याख्या

श्रेष्ठिचन्दनदासजीवितप्रदानपिशुनितं=श्रेष्ठिनः चन्दनदासस्य जीवितप्रदानेन—जीवितप्रदानप्रतिज्ञया पिशुनितं—सूचितम् । विषमदशाविपाकनिपतितं=विषमदृष्टः दशायाः—विपरीतावस्थायाः विपाके—परिणामे निपतितं—निमग्नम् । निर्णीय= निश्चित्य । प्रतिपत्तुं=ज्ञातुम् । दिष्ट्या=भाग्यबलेन । अनुभूतभर्तृविनाशः= अनुभूतः भर्तुः—नन्दस्य विनाशः—क्षयः येन सः । सुहृद्विपत्तिहेतुः=सुहृदां-कौलूतादीनां सुहृदः-चन्दनदासस्य च या विपत्तिः-विनाशः-तस्य हेतुः । दुर्गृहीतनामधेयः=अपुण्यनामा। यथार्थः=अन्वर्थः ।

हिन्दी रूपान्तर

पुरुष—आर्य, इसप्रकार सेठ चन्दनदास को जीवन देने से सूचित होने वाले विपरीत अवस्था के परिणाम में निमग्न आपको सम्यक्तया निर्णय करके जानने में समर्थ नहीं हूँ (कि) क्या (मैंने) सौभाग्य से प्रातःस्मरणीय आप अमात्यराक्षस को देखा है। (ऐसा कहकर चरणों में गिरता है।)

राक्षस—उठो उठो । सम्प्रति समय खोने से बस । विष्णुदास को सूचित करो (कि) यह राक्षस चन्दनदास को मारने से छुड़ाता है। (इसप्रकार 'निस्त्रिंशोऽयम्' ६/१९ इसको पढ़ता हुआ और तलवार को खींचकर घूमता है।)

पुरुष—तो संशय के निर्णय के द्वारा मुझ पर अनुकम्पा कीजिये ।

राक्षस—वह मैं स्वामी की मृत्यु को अनुभव करने वाला मित्र की विपत्ति का कारण अनार्य नाम के न लिये जाने के योग्य अर्थ के अनुरूप राक्षस हूँ ।

टिप्पणी

(१) सोऽहम्—इस वाक्य से बढ़कर आत्मविषयक निन्दा क्या हो सकती है कि उसने अपने आपको अनार्य, दुर्गृहीतनामधेय और यथार्थ राक्षस कहा है।

(२) अनुभूतभर्तृविनाशः—किन्तु फिर भी नहीं मरा, अतः यथार्थ रूप में राक्षस हूँ ।

(३) सुहृद्विपत्तिहेतुः—तथापि तुम्हारे समान मैंने मरने का निश्चय नहीं किया है। अतः अनार्यवत् आचरण करने से भी मैं यथार्थ में राक्षस हूँ ।
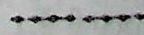
पुरुषः—(सहर्षं पुनः पादयोः पतित्वा ।) ही हीमाणहे । दिट्ठिआ दिट्ठोसि । पसीदन्तु अमच्चपादाः । अत्थि दाव एत्थ पढमं चन्दउत्तहदएण अज्जसअडदासो वज्झ-ट्ठाणं आणत्तो । सो अ वज्झट्ठाणादो केण कि अवहरिअ देसन्तरं णीदो । तदो चन्दउत्तहदएण कीस एसो प्पमादो किदो त्ति अज्जसअडदासे समुज्जलिदो कोववण्ही घादअजणणिहेणेण णिव्वाविदो । तदो पहुदि घादआ जं कंवि गिहिदसत्थं अपुव्वं पुरुसं

पिट्ठदो वा अग्गदो वा पेक्खन्ति तदो अत्तणो जीविदं परिरक्खन्तो अप्पमत्ता वज्झट्ठाणे वज्झं वावादेन्ति। एवं च गिहिदसत्थेहिं अमच्चपादेहिं गच्छन्तेहिं सेट्ठिचन्दणदासस्स वहो तुवरिदो होदि। आश्चर्यम्। दिष्ट्या दृष्टोऽसि। प्रसीदन्त्वमात्यपादाः। अस्ति तावदत्र प्रथमं चन्द्रगुप्तहतकेनार्यशकटदासो वध्यस्थानमाज्ञप्तः। स च वध्यस्थानात्केनाप्यपहृत्य देशान्तरं नीतः। ततश्चन्द्रगुप्तहतकेन कस्मादेष प्रमादः कृत इति आर्यशकटदासे समुज्ज्वलितकोपवह्निर्घातकजननिधनेन निर्वापितः ततः प्रभृति घातका यं कमपि गृहीतशस्त्रमपूर्वं पुरुषं पृष्ठतो वाग्रतो वा प्रेक्षन्ते तदात्मनो जीवितं परिरक्षन्तोऽप्रमत्ताः वध्यस्थाने वध्यं व्यापादयन्ति। एवं च गृहीतशस्त्रैरमात्यपादैर्गच्छद्भिः श्रेष्ठिचन्दनदासस्य वधस्त्वरायितो भवति।

संस्कृत-व्याख्या

अपहृत्य = आदाय। देशान्तरं = दूरदेशम्। प्रमादः = अनवधानता। समुज्वलितः = प्रदीप्तः। घातकजननिधनेन = मारकजनमारणेन। निर्वापितः = शमितः। घातकाः = हिंसकाः। अपूर्वम् = अदृष्टपूर्वम्। परिरक्षन्तः = परित्रायमाणाः। अप्रमत्ताः = सावधानाः। वध्यं = मारणार्हम्।

हिन्दी रूपान्तर

पुरुष—(प्रसन्नता के साथ पुनः चरणों में गिरकर।) आश्चर्य है। सौभाग्य से देखे हैं। अमात्य प्रसन्न होइये। यहाँ (इस नगर में) पहले दुष्ट चन्द्रगुप्त ने आर्य शकटदास को वध्यस्थान (में ले जाने) की आज्ञा दी थी और उसको किसी ने भी वध्यस्थान से अपहरण करके दूसरे स्थान पर पहुंचा दिया। उसके बाद दुष्ट चन्द्रगुप्त ने "यह असावधानता किस कारण से की" इसप्रकार आर्यशकटदास पर प्रज्वलित क्रोधाग्नि को मारने वाले मनुष्यों की मृत्यु से शान्त किया। तब से लेकर जल्लाद [illegible] लिये हुये जिस किसी भी अपरिचित (अपूर्वम्) व्यक्ति को पीछे अथवा आगे देखते हैं, उस समय अपने जीवन की रक्षा करते हुए सावधान हुये वध्यस्थान में मारने योग्य व्यक्ति को मार देते हैं। और इसप्रकार शस्त्र धारण किये हुये जाते हुये अमात्य के द्वारा सेठ चन्दनदास का वध शीघ्रता वाला हो जावेगा। (निकल गया।)

टिप्पणी

(१) **चन्द्रगुप्तहतकेनार्यशकटदासः**—यहाँ पर चन्द्रगुप्त के साथ 'हतक' शब्द और शकटदास के साथ "आर्य" शब्द लगाकर वह राक्षस को प्रभावित कर यह बतलाना चाहता है कि मैं नन्दकुल का पक्षपाती हूँ।

(२) **आत्मनो जीवितं परिरक्षन्तः**—अपने जीवन की रक्षा करते हुये। कहीं ऐसा न हो कि जिस व्यक्ति को फांसी दी जाती है, वह बचकर भाग निकले और उसके स्थान पर इन्हीं को फाँसी के तख्ते पर लटकना पड़े।

राक्षसः—(स्वगतम्।) अहो दुर्बोधश्चाणक्यबटोर्नीतिमार्गः। कुतः

यदि च शकटो नीतः शत्रोर्मतेन ममान्तिकं
किमिति निहतः क्रोधावेशाद्वधाधिकृतो जनः।
अथ न कृतकं तादृक्कष्टं कथं नु विभावये-
दिति मम मतिस्तर्कारूढा न पश्यति निश्चयम् ॥२०॥

संस्कृत-व्याख्या

दुर्बोधः—ज्ञातुमशक्यः।

अन्वयः—यदि चेति—यदि शत्रोः मतेन शकटः मम अन्तिकं नीतः, क्रोधावेशात् वधाधिकृतः जनः किमिति निहतः। अथ कृतकं न, तादृक्कष्टं कथं नु विभावयेत्, इति तर्कारूढ़ा मम मतिः निश्चयं न पश्यति ॥२०॥

व्याख्या—यदि शत्रोः—मौर्यस्य मतेन—अनुमत्या (छद्मना) शकटः-शकटदासः (वध्यस्थानादपवाह्य) मम अन्तिकं—समीपं नीतः—प्रापितः (तदा) कोधावेशात् वधाधिकृतः=वधे—हनने अधिकृतः–नियोजितः जनः-घातकजनः किमिति–कथं निहतः —व्यापादितः। {अथ—पक्षान्तरे (शकटदासस्य मदन्तिकप्राप्तिः) कृतकं—छद्मरूपं न (भवति), (तदा) तादृक्—तथाविधं कष्टं—कुत्सितं स्वहस्तलेखमुद्राङ्कनादिरूप स्वामिद्रोहं कथं नु-केन प्रकारेण विभावयेत्—कर्तव्यत्वेन चिन्तयेत्, आचरेदित्यर्थः (चिन्तनमपि तस्यानुचितं किमुताचरणम्), इति-इत्थं तर्कारूढा-ऊहे प्रवृत्ता सती मम मतिः—बुद्धिः निश्चयं—निर्णयं न पश्यति—नावधारयति ॥२०॥

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—(मन ही मन।) अहो, चाणक्यबटु की नीति का मार्ग समझने में अगम्य है। क्योंकि।

श्लोक (२०) **अर्थ**—यदि शत्रु (मौर्य) की अनुमति से (कपटपूर्वक) शकटदास मेरे पास ले जाया गया है, (तो) क्रोध के आवेश से बध करने में नियुक्त व्यक्ति को क्यों (किमिति) मारा। इससे विपरीत (अथ) यदि (शकटदास का मेरे पास आना) बनावटी नहीं है (अर्थात् शत्रु की अनुमति से मेरे पास नहीं लाया गया है), तो उसप्रकार के कुत्सित कर्म को (कष्टम्=उसका अपने हाथ से पत्र लिखना और मुद्रा से अंकित करना आदि रूप स्वामीद्रोह) कर्तव्यरूप से कैसे सोच सकता है, इसप्रकार तर्क-वितर्क में संलग्न मेरी बुद्धि (किसी) निर्णय को नहीं कर पा रही है (पश्यति) ॥२०॥

टिप्पणी

(१) **तादृक्कष्टम्**—शकटदास ने अपने आप अपने से पत्र लिखकर स्वामी के प्रति द्रोह रूप अत्यन्त कुत्सित कर्म किया है। राक्षस उस कुत्सित कर्म को अपनी वाणी से भी नहीं कहना चाहता है। इसप्रकार के घृणित, कुत्सित और वाणी से न कहे जाने योग्य कर्म के लिये उसने "**तादृक् कष्टम्**" कहा है।

(२) **२० वें श्लोक का आशय इसप्रकार है**—राक्षस की चिन्तनप्रणाली दो प्रकार से काम कर रही है। एक तो यह कि क्या शकटदास शत्रु की किसी गुप्त योजना के द्वारा उसके पास भिजवाया गया था या सिद्धार्थक स्वयं ही साहस करके वध्यस्थान से छुड़ाकर उसको ले गया था। प्रथम विकल्प तो उसकी समझ में इसलिये

नहीं आ रहा है कि शत्रुओं ने अपनी योजना से शकटदास को उसके पास भेजा है तो फिर उसके वध के लिये नियुक्त जल्लादों को चन्द्रगुप्त ने मरवा क्यों दिया ? और दूसरा विकल्प इसलिये नहीं घटित होता है कि यदि शकटदास यथार्थ रूप में भाग कर आया है तो उसने कूटपत्र लिखकर स्वामीद्रोह क्यों किया ?

(विचिन्त्य ।)

नायं निस्त्रिंशकालः प्रथममिह कृते घातकानां विघाते
नीतिः कालान्तरेण प्रकटयति फलं किं तया कार्यमत्र ।
औदासीन्यं न युक्तं प्रियसुहृदि गते मत्कृतामेव घोरां
व्यापत्तिं ज्ञातमस्य स्वतनुमहमिमां निष्क्रयं कल्पयामि ॥२१॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

[इति कपटपाशो नाम षष्ठोऽङ्कः ।]

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—नायमिति—इह प्रथमं घातकानां विघाते कृते अयं निस्त्रिंशकालः न, नीतिः कालान्तरेण फलं प्रकटयति तया अत्र किं कार्यम् । प्रियसुहृदि मत्कृताम् एव घोरां व्यापत्तिं गते औदासीन्यं न युक्त ज्ञातम् अहम् इमां स्वतनुम् अस्य निष्क्रयं कल्पयामि ॥२१॥

व्याख्या—इह—एतस्मिन् विषये (चन्दनदासमोचनविषये) प्रथम—पूर्वं (चन्दनदासस्य मोचनात् पूर्वम्) घाताकानां—घातकैः (चन्दनदासस्य) विघाते—वधे कृते सति अयं निस्त्रिंशकालः=निस्त्रिंशस्य-खड्गस्य कालः—समयः न, नीतिः—राजनीतिः कालान्तरेण—समयान्तरेण फलं—सिद्धिं प्रकटयति—दर्शयति (नेदानीम्), (अतः) तया—नीत्या अत्र—अस्मिन् विषये (चन्दनदासमोक्षरूपे) किं कार्यं—फलम् (न किमपीत्यर्थः) । प्रियसुहृदि—प्रियवयस्ये मत्कृतां—मया कृता ताम् एव घोरां—दारुणां व्यापत्तिं—विपदं गते—प्राप्ते सति औदासीन्यं—तटस्थतयावस्थानं न युक्तं-नोचितं, ज्ञातं—निश्चितं (मया यत्) अहम् इमां स्वतनुं—स्वशरीरम् अस्य—चन्दनदासस्य निष्क्रयं—मोचनमूल्यं कल्पयामि—सम्पादयामि ॥२१॥

इति मुद्राराक्षसे षष्ठोऽङ्कः ॥

हिन्दी रूपान्तर

(सोचकर ।)

श्लोक (२१) अर्थ—इस (चन्दनदास को छोड़ने के) विषय में (इह) (शकटदास को छुड़ाने से) पहले (ही) मारने वालों के द्वारा (उसका) वध कर दिये जाने पर यह तलवार का समय नहीं है, राजनीति कालान्तर से (अर्थात् कुछ समय बाद) फल को प्रकट करती है, (इस समय नहीं) (अतः) उससे इस विषय में क्या प्रयोजन ? प्रिय मित्र (चन्दनदास) के मेरे द्वारा की हुई ही दारुण विपत्ति को प्राप्त होने पर उदासीनता ठीक नहीं है, मैंने निश्चय कर लिया (ज्ञातम्) (कि) मैं इस अपने शरीर को इस (चन्दनदास) का विनिमय मूल्य बनाता हूँ । [अर्थात् यह मेरा शरीर मित्र के शरीर का मूल्य होगा ।] ॥२१॥

(इसप्रकार सभी निकल जाते हैं।)

टिप्पणी

(१) नाय निर्हिंस्त्रशकालः—क्योंकि चन्दनदास का वध शीघ्र हो जावेगा।

(२) घातकानाम्—घातकैः, कृत् योगे कर्तरि षष्ठी।

(३) कालान्तरेण—"अपवर्गे तृतीया" पा० २/३/२६ इति तृतीया।

(४) मत्कृताम्—क्योंकि मैंने अपना सम्पूर्ण परिवार उसके पास रख दिया था, इस कारण ही यह सब विपत्ति उस पर आई है। इसलिये मुझे कुछ न कुछ इसके प्रतिकार में करना ही चाहिये।

(५) निष्क्रयम्—निष्क्रीयते अनेन इति निस्+क्री+अच् करणे निष्क्रयः; तम्।

(६) २१ वें श्लोक का आशय यह है कि राक्षस के लिये तीन विकल्प हैं। (१) तलवार लेकर वध्यस्थान पर जावे और जल्लादों को मारकर चन्दनदास को छुड़ा ले। (२) राजनीति का आश्रय ले। (३) उदासीन हो जावे।

राक्षस ने श्लोक की प्रत्येक पंक्ति में एक-एक विकल्प का उत्तर दिया है। प्रथम विकल्प तो राक्षस को इसलिये ठीक नहीं लगता है कि दूर से ही उसको सशस्त्र आता हुआ देखकर जल्लाद झटिति चन्दनदास को मार डालेंगे। राजनीति विषयक द्वितीय विकल्प का प्रयोग काफी देर बाद अपना फल दिखायेगा और चन्दनदास की मृत्यु सन्निकट है। अतः इस समय वह उपाय करना चाहिये जिससे उसके प्राण बच सकें। अतः राजनीति भी उचित नहीं। उदासीन हो जाने का विकल्प प्रिय मित्र के विषय में ठीक नहीं है क्योंकि उसकी यह स्थिति मेरे ही कारण हुई है। इस-प्रकार इन विकल्पों का निराकरण करने के उपरान्त राक्षस आत्म-समर्पण कर देना ही चन्दनदास की मुक्ति का एकमात्र उपाय देखता है और इसी निश्चय के साथ वह बाहर निकल जाता है।

[कपटपाश नामक षष्ठ अङ्क समाप्त।]

चाणक्यः—

> विना वाहनहस्तिभ्यो मुच्यतां सर्वबन्धनम् ।
> मया पूर्णप्रतिज्ञेन केवलं बध्यते शिखा ॥७.१७॥

घोड़े और हाथियों को छोड़कर सभी के बन्धनों को खोल दो। पूर्ण प्रतिज्ञा वाले मेरे द्वारा केवल अपनी शिखा बाँधी जाती है।

———

सप्तम अङ्क के पात्र

१–दो चाण्डाल— पहला—वज्रलोमन् = सिद्धार्थक—प्रथम अङ्क में आ चुका है।
दूसरा—विल्वपत्रक = समिद्धार्थक—षष्ठ अङ्क में आ चुका है।

२–चन्दनदास— प्रथम अङ्क में आ चुका है।

३–कुटुम्बिनी— चन्दनदास की पत्नी।

४–पुत्र— चन्दनदास का पुत्र।

५–राक्षस— द्वितीय अङ्क में आ चुका है।

६–चाणक्य— प्रथम अङ्क में आ चुका है।

७–राजा = चन्द्रगुप्त— तृतीय अङ्क में आ चुका है।

८–पुरुष— चाणक्य का अनुचर।

सप्तम अङ्क की कथावस्तु की रूपरेखा—

समय—पौष मास का कृष्णपक्ष, पूर्वाह्न।

स्थान—पाटलीपुत्र।

दृश्य दो हैं—(१) पाटलीपुत्र में वध्यस्थान।

(२) पाटलीपुत्र के राजकीय प्रासाद।

प्रथम अङ्क में चाणक्य की जिस कूटनीति का बीजन्यास हुआ था, उसका इस अङ्क में समाहार है। इस अङ्क को पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं। यथा—(१) फाँसी दिये जाने के लिये ले जाया जाता हुआ चन्दनदास, (२) राक्षस और चाण्डाल, (३) चाणक्य और राक्षस, (४) राजा चन्द्रगुप्त, चाणक्य और राक्षस तथा (५) उपसंहार।

(१) फाँसी दिये जाने के लिये ले जाया जाता हुआ चन्दनदास—प्रथम अङ्क में अमात्य राक्षस के परिवार को सुपुर्द न करने के कारण चाणक्य की आज्ञा से चन्द्रगुप्त ने चन्दनदास को फाँसी की आज्ञा दी थी। इस समय वह विल्वपत्रक और वज्रलोमन् नाम के दो जल्लादों द्वारा फाँसी के लिये ले जाया जा रहा है। उसमें एक चाण्डाल घोषणा करता है कि हे मनुष्यों, राजद्रोह करना छोड़ दो क्योंकि ऐसा करने पर सारा का सारा कुल ही विनष्ट हो जाता है और यदि इस मेरी बात पर विश्वास नहीं करते हो तो इस चन्दनदास को देखो। चन्दनदास ने अपने कन्धे पर शूली को उठा रखा है। उसकी पत्नी और पुत्र उसके पीछे-पीछे चल रहे हैं। चन्दनदास को अपनी इस मृत्यु पर गर्व है क्योंकि वह सोचता है कि "**मित्रकार्येण मे विनाशो न पुरुषदोषेण**"। चन्दनदास की पत्नी सोचती है कि "**भर्तुश्चरणावनुगच्छन्त्या आत्मानुग्रहो भवति**"। अतः वह पति के साथ ही मर जाना चाहती है, पति से पृथक् होकर उसको अपना जीवन अभीष्ट नहीं है। अपने पुत्र के यह पूछने पर कि "**मया तातविरहितेन किमनुष्ठातव्यम्**"? चन्दनदास कहता है कि—पुत्र, '**चाणक्यविरहिते देशे वस्तव्यम्**'। इसप्रकार परिवार के तीनों ही सदस्य अपनी-अपनी विचारधारा में दृढ़ हैं। इसी समय वध्यस्थान आ जाता है। शूली गाड़ दी जाती है और चन्दनदास इसी प्रतीक्षा में है कि उसे कब फाँसी दी जाती है। इसी समय सहसा राक्षस रंगमञ्च पर उपस्थित होकर कहता है कि हे जल्लादो, चन्दनदास को छोड़ दो। यह फाँसी की रस्सी मेरे गले में बाँधो क्योंकि—

आत्मा यस्य वधाय वः परिभवक्षेत्रीकृतोऽपि प्रिय-
स्तस्येयं मम मृत्युलोकपदवी वध्यस्रगावध्यताम् ॥७.४॥

(२) **राक्षस और चाण्डाल**—चन्दनदास के यह कहने पर कि हे राक्षस, तुमने यह क्या किया ? ऐसा करके तो तुमने मेरे सम्पूर्ण प्रयत्नों को ही विफल कर दिया। राक्षस कहता है कि मैंने तो केवलमात्र तुम्हारे सुचरित के एक अंश का अनुसरणमात्र ही किया है। अतः ऐसा करने पर मुझे उलाहना मत दो और जल्लादों के द्वारा चाणक्य के पास यह सन्देश भिजवाता है कि "वध्यत्वमेषोऽस्मि सः" अर्थात् मृत्यु के लिये मैं उपस्थित हूँ। वज्रलोमन् अमात्य राक्षस के पकड़े जाने की सूचना देने चला जाता है।

(३) **चाणक्य और राक्षस**—चाणक्य रङ्गमञ्च पर आता है। राक्षस उसको देखकर मन ही मन कहता है कि **"अयं स दुरात्मा अथवा महात्मा कौटिल्यः"**। और राक्षस को देखकर चाणक्य सोचता है कि यह वह महात्मा अमात्यराक्षस है, जिसने निरन्तर चन्द्रगुप्त की सेना और मेरी बुद्धि को परेशान कर रखा था। चाणक्य राक्षस के प्रति सम्मान प्रकट करता है और उसको अभिवादन करने के उपरान्त अपनी कूटनीति की व्याख्या करते हुये कहता है कि मैंने सिद्धार्थक के द्वारा ही अनजान में शकटदास से वह कूटपत्र लिखवाया था। शकटदास को उस लेख के विषय में कुछ नहीं मालूम। यह सुनकर राक्षस को परम सन्तोष होता है और मन ही मन गुन-गुनाता है कि—**"दिष्ट्या चन्दनदासं प्रति अपनीतो विकल्पः"**। चाणक्य संक्षेप में अपनी राजनीति का (७/६) में वर्णन करता है। साथ ही कहता है कि चन्द्रगुप्त आपको देखने के लिये आ रहा है।

(४) **राजा चन्द्रगुप्त, चाणक्य और राक्षस**—राजा चन्द्रगुप्त इस बात के लिये लज्जित है कि आर्य चाणक्य ने विना ही युद्ध के शत्रुओं को जीत लिया है और उसको युद्ध में अपना पराक्रम दिखाने का अवसर नहीं मिला है। चन्द्रगुप्त चाणक्य को प्रणाम करता है। चाणक्य उसको आशीः देता है। तदनन्तर आगे बढ़कर अमात्य-राक्षस को नमस्कार करता है। राक्षस उसे **"विजयस्व"** कहकर आशीर्वाद देता है। इस औपचारिक के बाद चाणक्य राक्षस से कहता है कि यदि चन्दनदास के जीवन को चाहते हो तो इस **"अमात्य पद"** के चिह्नस्वरूप शस्त्र को ग्रहण कीजिये और वह **"नमः सर्वकार्यप्रतिपत्तिहेतवे सुहृत्स्नेहाय"** कहकर अमात्य पद के प्रतीक उस शस्त्र को ग्रहण कर लेता है।

(५) **उपसंहार**—इस मुद्राराक्षस की समाप्ति चाणक्य की निम्न घोषणाओं से होती है—

(१) एक पुरुष प्रवेश करके सूचित करता है कि भद्रभट और भागुरायणादि के द्वारा कैद किया हुआ मलयकेतु उपस्थित है। राक्षस की इच्छा का आदर करता

हुआ चाणक्य आदेश देता है कि जाओ, भद्रभटादिकों से कहो कि पितृपरम्परा से प्राप्त उसके राज्य को वापिस कर दो। तुम सब उसके साथ जाकर उसको उसके राज्य पर प्रतिष्ठित करके पुनः वापिस आना।

(२) इस बात की घोषणा कर दो कि चन्दनदास को सम्पूर्ण नगर का "श्रेष्ठी" बना दिया गया है।

(३) और अन्त में कहता है कि—

विना वाहनहस्तिभ्यो मुच्यतां सर्वबन्धनम्।
मया पूर्णप्रतिज्ञेन केवलं बध्यते शिखा ॥७.१७॥

जिस नन्दवंश के वध की प्रतिज्ञा चाणक्य ने की थी, वह इसप्रकार राक्षस को मौर्य चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनाने के साथ समाप्त होती है। अन्त में भरत-वाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

———

मुद्राराक्षसम्

सप्तमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चण्डालः ।)

चण्डालः—ओसलेह ओसलेह । अवेह अवेह ।

जइ इच्छह लक्खिदव्वे प्पाणे विहवे कुले कलत्ते अ ।
ता पलिहलह विसमं लाआपत्थं सुदूलेण ॥१॥

अपसरत अपसरत । अपेत अपेत ।

यदि इच्छत रक्षितव्याः प्राणा विभवः कुलं कलत्रं च ।
तत्परिहरत विषमं राजापथ्यं सुदूरेण ॥१॥

अवि अ ।

होदि पुलिसस्स वाही मलणं वा सेविदे अपत्थम्मि ।
लाआपत्थे उण सेविदे सअलं वि कुलं मलदि ॥८॥

अपि च ।

भवति पुरुषस्य व्याधिर्मरणं वा सेविते अपथ्ये ।
राजापथ्ये पुनः सेविते सकलमपि कुलं म्रियते ॥२॥

ता जदि ण पतिज्जह ता एह पेक्खह एअं लाआपत्थकालिणं सेट्ठिचन्दणदासं सउत्तकलत्तं वज्झट्ठाणं णीअमाणम् । (अकाशे श्रुत्वा ।) अज्जा, किं भणह—'अत्थि से को वि मोक्खोवाओ' त्ति । अज्जा, अत्थि अमच्चरक्खसस्स घरअणं जइ समप्पेदि। (पुनराकाशे ।) किं भणह—'एसे सलणागदवच्छले अत्तणो जीविदमेत्तस्स कालणे ईदिसं अकज्जं ण कलिस्सदि' त्ति । अज्जा, तेण हि अवधालेह से सुहां गदिम् । किं दाणि

तुम्हाणं एत्थ पडिआरविआरेण। तद्यदि न प्रतीथ तदत्र प्रेक्षध्वमेनं राजापथ्य-कारिणं श्रेष्ठिचन्दनदासं सपुत्रकलत्रं वध्यस्थानं नीयमानं। आर्याः, किं भणथ- 'अस्त्यस्य कोऽपि मोक्षोपाय' इति। आर्याः, अस्त्यमात्यराक्षसस्य गृहजनं यदि समर्पयति। किं भणथ। एष शरणागतवत्सल आत्मनो जीवितमात्रस्य कारणे ईदृशमकार्यं न करिष्यतीति। आर्याः, तेन हि अवधारयतास्य सुखां गतिम्। किमिदानीं युष्माकमत्र प्रतीकारविचारेण।

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—यदीति—यदि रक्षितव्याः प्राणाः विभवः कुलं कलत्रं च इच्छत तत् विषमं राजापथ्यं सुदूरेण परिहरत ।।१।।

व्याख्या—यदि रक्षितव्याः प्राणाः—जीवनं विभवः—सम्पत् कुलं—वंशः कलत्रं च—भार्या च इच्छत तत्—तदा विषमं—घोरं राजापथ्यं = राजविरोधं सुदूरेण —अतिदूरात् परिहरत = परित्यजत ।।१।।

अन्वयः - भवतीति—अपथ्ये सेविते पुरुषस्य व्याधिः मरणं वा भवति। पुनः राजापथ्ये सेविते सकलम् अपि कुलं म्रियते ।।२।।

व्याख्या—अपथ्ये—अहितकरे (देहस्य) सेविते—भुक्ते आचरिते वा सति पुरुषस्य—जनस्य व्याधिः मरण—मृत्युर्वा भवति—जायते। पुनः—किन्तु राजा—पथ्ये—राज्ञोऽहितकरे पदार्थे, राजविद्रोहादी सेविते—कृते सकलं—सर्वम् अपि कुलं-वंशः म्रियते—विनश्यति ।।२।।

प्रतीथ = प्रत्ययध्वम्। प्रेक्षध्वम्—अवलोकध्वम्। राजापथ्यकारिणं = राज-विरोधविधायिनम्। भणथ = ब्रूथ। मोक्षोपायः = मुक्तिप्रकारः। समर्पयति = ददाति। शरणागतवत्सलः = शरणापन्नेष्वनुरागवान्। जीवितमात्रस्य कारणे = जीवितमात्रस्य यत् कारणं-प्रेरणा तस्मिन्विषये। अवधारयत = जानीत। सुखां गति-शरणागतरक्षणपुण्येनोत्तमलोकप्राप्तिम्।

हिन्दी रूपान्तर

प्रथम दृश्य

स्थान—कुसुमपुर में वध्यस्थान।

(तत्पश्चात् चाण्डाल प्रवेश करता है।)

चाण्डाल—हट जाओ, हट जाओ। दूर हो जाओ, दूर हो जाओ।

श्लोक (१) अर्थ—यदि रक्षणीय प्राणों, ऐश्वर्य, कुल और स्त्री को चाहते हो तो विषम राजा के विरोध को अत्यन्त दूर से छोड़ दो ।।१।।

और भी।

श्लोक (२) अर्थ—अपथ्य का सेवन करने पर मनुष्य को बीमारी अथवा मृत्यु हो जाती है किन्तु (पुनः) राजा के अपथ्य का सेवन करने पर सम्पूर्ण वंश ही नष्ट हो जाता है ।।२।।

तो यदि विश्वास नहीं करते हो तो यहाँ राजा का विरोध करने वाले पुत्र और स्त्री के साथ वध्यस्थान को ले जाये जाते हुये इस सेठ चन्दनदास को देखो (आकाश में सुनकर ।) आर्यों क्या कहते हो—"क्या इस चन्दनदास का कोई भी मुक्ति का उपाय है ?" आर्यों, है, यदि अमात्य राक्षस के परिवार को सौंप देता है। (फिर आकाश में ।) क्या कहते हो— यह शरणागत वत्सल अपने केवलमात्र जीवन के लिये (जीवनमात्रस्य कारणे) इसप्रकार का अनुचित कार्य नहीं करेगा । आर्यों, तो (तेन) इसकी (शरणागत की रक्षा करने के पुण्य से) शुभ गति को (उत्तम लोक की प्राप्ति अर्थात् मृत्यु) निश्चित रूप से समझ लो । इस समय तुम्हारे इस विषय में प्रतिकार करने के विचार से क्या (लाभ) ?

*गूढार्थ—**सुखां गतिम्** - इसका बाह्य अर्थ है कि शरणागत की रक्षा करने से प्राप्त होने वाले पुण्य कर्म से उत्तम लोक की प्राप्ति होगी । इसका गूढ़ आशय है कि राक्षस के वश में हो जाने से इसका छुटकारा हो जावेगा और इसप्रकार इसको सुख की प्राप्ति होगी ।

टिप्पणी

(१) इससे पूर्व षष्ठ अङ्क में इस बात की सूचना दी जा चुकी है कि चन्दनदास वध्यस्थान की ओर ले जाया जा रहा है और इस समाचार को सुनकर राक्षस अपने शस्त्र को छोड़कर उसको छुड़ाने के लिये वध्यस्थान की ओर चल दिया है ।

(२) सम्प्रति इस अङ्क में राक्षस के द्वारा चन्द्रगुप्त के मन्त्रित्व को स्वीकार करना और इसप्रकार मौर्य लक्ष्मी को स्थिर करना—इन दो नाटक के प्रमुख फलों का वर्णन है ।

(३) इस अङ्क में उसी चन्दनदास का वृतान्त विस्तार से वर्णित है ।

(४) **चण्डाल:**—यह चाण्डाल और कोई नहीं है, केवल हमारा पूर्व परिचित सिद्धार्थक है, जिसने इस समय चाण्डाल का वेश धारण कर रखा है ।

(५) चाण्डालों की भाषा मागधी प्राकृत है । यह नीच जाति का व्यक्ति होता है । इसे **"श्वपाक"** भी कहते हैं ।

(६) प्रथम दोनों श्लोक चन्द्रगुप्त की दया को प्रतिपादित करते हैं, जिसने केवल चन्दनदास को ही मृत्यु का दण्ड दिया है, उसके सम्पूर्ण परिवार को नहीं ।

(७) **अपथ्ये** - पथ:—अनुकूलव्यापारवतो वस्तुन इत्यर्थः, अनेपतं पथ्यम्—**"धर्म्मपथ्यर्थन्यायादनपेते"** पा ४/४/९२ इति यत् । न पथ्यमपथ्यम्=अहितकरं तस्मिन् ।

(८) **अपथ्य और राजापथ्य में अन्तर**—अपथ्य का सेवन करने से तो अपथ्य का सेवन करने वाले उस एक ही व्यक्ति को या तो बीमारी हो जाती है या उसकी मृत्यु हो जाती है । किन्तु राजापथ्यसेवन करने वाले व्यक्ति का तो सारा ही परिवार मृत्यु का ग्रास हो जाता है । **अर्थात्** सामान्य अपथ्य से केवल एक का ही विनाश होता है, राजापथ्य के सेवन से सर्वनाश हो जाता है ।

(९) प्रतीथ = प्रति + इ + लट् थ ।

(१०) सुखां गतिम् —व्यंग्य है । फांसी से होने वाली मृत्यु अत्यन्त कष्ट-दायिनी होगी ।

(ततः प्रविशति द्वितीयचण्डालानुगतो वध्यवेषधारी शूलं स्कन्धेनादाय कुटुम्बिन्या पुत्रेण चानुगम्यमानश्चन्दनदासः) ।

चन्दनदासः— (सबाष्पम् ।) हद्धी हद्धी । अम्हारिसाणं वि णिच्चं चारित्तभङ्ग-भीरूणं चोरजणोचिदं मरणं होदि त्ति णको किदन्तस्स । अह वा ण णिसंसाणं उदासीणेसु इदरेसु वा विसेसो त्थि । तह हि । हा धिक् हा धिक् । अस्मादृशानामपि नित्यं चारित्रभङ्गभीरूणां चोरजनोचितं मरणं भवतीति नमः कृतान्तस्य । अथवा न नृशंसानां उदासीनेषु इतरेषु वा विशेषोऽस्ति । तथा हि ।

मोत्तूणं आमिसाइं मरणभएण तिणेहिं जीवन्तम् ।
वाहाण मुद्धहरिणं हन्तुं को णाम णिब्बन्धो ॥३॥
मुक्त्वा आमिषाणि मरणभयेन तृणैर्जीवन्तम् ।
व्याधानां मुग्धहरिणं हन्तुं को नाम निर्बन्धः ॥३॥

(समन्तादवलोक्य ।) भो पिअवअस्स विह्णुदास, कहं पडिवअणं वि ण मे पडिवज्जसि । अह वा दुल्लहा ते क्खु माणुसा जे एदस्सिं काले दिट्ठिपथे वि चिट्ठन्ति । (सबाष्पम् ।) एदे अम्हपिअवअस्सा अंसुपादमेत्तकेण किदणिवावसलिला विअ कहं वि पडिणिव्वत्तमाणा सोअदीणवअणा वाहगुरुआए दिट्ठीए मं अणुगच्छन्दि । (इति परिक्रामति ।) भो प्रियवयस्य विष्णुदास, कथं प्रतिवचनमपि न मे प्रतिपद्यसे । अथवा दुर्लभास्ते खलु मानुषा य एतस्मिन्काले दृष्टिपथेऽपि तिष्ठन्ति । एतेऽस्मत्प्रियवयस्या अश्रुपातमात्रेण कृतनिवापसलिला इव कथमपि प्रतिनिवर्तमानाः शोकदीनवदना वाष्पगुर्व्या दृष्ट्या मामनुगच्छन्ति ।

संस्कृत-व्याख्या

शूलं = शंकुम् । स्कन्धेन = अंसेन । कुटुम्बिन्या = पत्न्या । चारित्रभङ्ग-भीरूणाम् = चारित्रस्य यः भङ्गः—स्खलनं तस्मात् भीरूणां—भयशालिनाम् । चोरजनोचितं = दस्युजनयोग्यम् । नमः कृतान्तस्य = यमाय नमः । नृशंसानाम् = निर्दयानाम् । उदासीनेषु = तटस्थेषु, निरपराधेष्वित्यर्थः । इतरेषु = सापराधेषु इत्यर्थः । विशेषः = भेदः ।

अन्वयः—मुक्त्वेति—मरणभयेन आमिषाणि मुक्त्वा तृणैः जीवन्तं मुग्धहरिणं हन्तुं व्याधानां को नाम निर्बन्धः ॥३॥

व्याख्या—मरणभयेन—मृत्युभीत्या आमिषाणि—मांसानि मुक्त्वा—वर्जयित्वा तृणैः—शष्पैः जीवन्तं—प्राणान् धारयन्तं मुग्धहरिणं = मुग्धं—सरलं हरिणं—मृगं हन्तुं—व्यापादयितुं व्याधानां—लुब्धकानां को नाम निर्बन्धः—आग्रहातिशयः । ३॥

प्रियवयस्य = प्रियबन्धो । प्रतिवचनं = प्रत्युत्तरम् । प्रतिपद्यसे = ददासि । दृष्टिपथे = चक्षुर्विषये । कृतनिवापसलिलाः = कृतम्—अनुष्ठितं निवापसलिलं—प्रेतदेयजल-गण्डूषदानकर्म यैः तथाविधाः सन्तः । शोकदीनवदनाः = दुःखम्लानमुखाः ।

हिन्दी रूपान्तर

(तत्पश्चात् दूसरे चाण्डाल से अनुसरण किया हुआ वध के योग्य वेष को धारण किये हुये शूल को कन्धे पर लेकर पत्नी और पुत्र से अनुसरण किया जाता हुआ चन्दनदास प्रवेश करता है।)

चन्दनदास—(अश्रुओं के साथ।) हा धिक्कार है, हा धिक्कार है। हमेशा चरित्र के भङ्ग होने से डरने वाले हम जैसे (व्यक्तियों) की भी चोर मनुष्यों के योग्य मृत्यु होती है। अतः यमराज को नमस्कार है। अथवा निर्दयी व्यक्तियों का उदासीनों (अर्थात् पाप से निर्लिप्त) अथवा दूसरों (पापियों) में भेद नहीं होता है। तथाहि।

श्लोक (३) अर्थ—मृत्यु के भय से मांस को छोड़कर तिनकों से जीवन धारण करने वाले भोले हरिणों को मारने में शिकारियों का कौन सा (को नाम) आग्रह है ॥३॥

(चारों ओर देखकर।) हे प्रिय मित्र विष्णुदास, क्या (कथम्) मुझे उत्तर भी नहीं देते हो। अथवा वे मनुष्य दुर्लभ है जो इस समय (दुःख के अवसर पर) नयनों के मार्ग में (अर्थात् आँखों के सम्मुख) भी रहते हैं। (अश्रुओं के साथ।) ये हमारे प्रिय मित्र केवल अश्रुओं के बहाने से मानो तर्पणाञ्जलि देते हुये येन केन प्रकारेण लौटते हुये शोक से मलिन मुख वाले अश्रुओं से शिथिल दृष्टि से मेरा अनुसरण कर रहे हैं। (ऐसा कहकर घूमता है।)

टिप्पणी

(१) शूलं स्कन्धेनादाय—जिसको मृत्युदण्ड दिया जाता था, उसको स्वयं ही उस शूली को कन्धे पर लटका कर ले जाना होता था, जिस पर उसको फाँसी दी जाती थी।

(२) कुटुम्बिन्या—"पुत्रवती गृहस्थिता नारी"—कुटुम्बिनी कहलाती है, तया।

(३) नमः कृतान्तस्य—चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग हुआ है अर्थात् हम बिना किसी विरोध के मृत्यु के निर्णय को स्वीकार करते हैं। यहाँ "क्यों"? का कोई प्रश्न ही नहीं है।

(४) उदासीनेषु—तटस्थ व्यक्तियों के विषय में। जो नृशंस व्यक्तियों के कामों में किसीप्रकार का भी हस्तक्षेप नहीं करते हैं।

(५) मरणभयेन—यहाँ इसका अर्थ "अपनी मृत्यु के भय से" नहीं है, अपितु मांस को प्राप्त करने के लिये जो जीवहिंसा होती है, उस भय से।

(६) इस श्लोक का आशय यह है कि जिसप्रकार शिकारी भोले भाले हरिणों को बिना किसी दोष के मार डालते हैं, उसीप्रकार चाणक्य भी निर्दोष व्यक्तियों को मार देता है। नृशंस व्यक्ति पापियों और निष्पाप व्यक्तियों में किसीप्रकार का भेद नहीं करते हैं।

(७) अथवा दुर्लभास्ते खलु मानुषाः—'राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः''।

(८) दृष्टिपथेऽपि—और जो दृष्टिपथ में भी रहते हैं अर्थात् श्रुतिपथ में तो रहते ही हैं। आशय यह है कि जो मृत्यु के समय नेत्रों के सामने रहते हैं, जिनके साथ बातचीत भी की जा सकती है। वे मनुष्य दुर्लभ हैं। विष्णुदास उस समय वहाँ उपस्थित नहीं है।

(९) अश्रुपातमात्रेण कृतनिवापसलिला इव—अपने मरते हुये मित्र को मानो अपने अश्रुओं के जलों से जलाञ्जलि दे रहे हैं।

चण्डालः—अज्ज चन्दणदास, आअदोसि वज्झट्ठाणं। ता विसज्जेहि पलिअणम्। आर्य चन्दनदास, आगतोऽसि वध्यस्थानम्। तद्विसर्जय परिजनम्।

चन्दनदासः—कुटुम्बिणि, णिवत्तेहि संपदं सपुत्ता। ण जुत्तं क्खु अदोवरं अणुगच्छिदुम्। कुटुम्बिनि, निवर्तस्व साम्प्रतं सपुत्रा। न युक्तं खल्वतोऽपरमनुगन्तुम्।

कुटुम्बिनी—(सबाष्पम्।) परलोअं पत्थिदो अज्जो ण देसन्तरं। परलोकं प्रस्थित आर्यो न देशान्तरम्।

चन्दनदासः—अज्जे, अअं मित्तकज्जेण मे विणासो ण उण पुरिसदोसेण। ता अलं विसादेण। आर्ये, अयं मित्रकार्येण मे विनाशो न पुनः पुरुषदोषेण। तदलं विषादेन।

कुटुम्बिनी—अज्ज, जइ एवं ता दाणिं अकालो कुलजणस्स णिवट्टिदुम्। आर्य, यद्येवं तदिदानीमकालः कुलजनस्य निवर्तितुम्।

चन्दनदासः—अह किं ववसिदं कुटुम्बिणीए। अथ किं व्यवसितं कुटुम्बिन्या।

कुटुम्बिनी—भत्तुणो चलणे अणुगच्छन्तीए अप्पाणुग्गहो होदि त्ति। भर्तुश्चरणावनुगच्छन्त्या आत्मानुग्रहो भवतीति।

चन्दनदासः—अज्जे, दुव्ववसिदं एदं तुए। अअं पुत्तओ असुणिदलोअसंव्ववहारो बालो अणुगह्णिदव्वो। आर्ये, दुर्व्यवसितमिदं त्वया। अयं पुत्रकोऽश्रुतलोकसंव्यवहारो बालोऽनुगृहीतव्यः।

कुटुम्बिनी—अणुगिह्णन्दु णं पसण्णाओ देवदाओ। जाद पुत्तअ, पत पच्छिमेसु पिदुणो पादेसु। अनुगृह्णन्त्वेनं प्रसन्ना देवताः। जात पुत्रक, पत, पश्चिमयोः पितुः पादयोः।

पुत्रः—(पादयोर्निपत्य ।) ताद, किं दाणिं मए तादविरहिदेण अणुचिट्ठदव्वम् । तात, किमिदानीं मया तातविरहितेनानुष्ठातव्यम् ।

चन्दनदासः—पुत्त चाणक्कविरहिदे देसे वसिदव्वम् । पुत्र चाणक्यविरहिते देशे वस्तव्यम् ।

संस्कृत-व्याख्या

विसर्जय=निवर्तय । अतःपरम्=एतदग्रे । अनुगन्तुम्=अनुसर्त्तुम् । विनाशः=मृत्युः । कुलजनस्य=गृहजनस्य पत्न्याः इत्यर्थः । व्यवसितं=निश्चितम् । आत्मानुग्रहः=आत्मनः अनुग्रहः । दुर्व्यवसितम्=अयुक्तं स्थिरीकृतम् । अश्रुतलोकसंव्यवहारः=अश्रुत.—अज्ञातः लोकसंव्यवहारः—लोकाचारो येन सः । पत=नमस्कुरु इत्यर्थः । पश्चिमयोः=अतःपरं द्रष्टुमशक्ययोः । अनुष्ठातव्यं=विधातव्यम् । वस्तव्यम्=निवासः कर्तव्यः ।

हिन्दी रूपान्तर

चाण्डाल—आर्य चन्दनदास, (तुम) वध्यस्थान में आ गये हो । इसलिये (अपने) परिवार को विदा कर दो ।

चन्दनदास—हे गृहिणी, अब पुत्र सहित लौट जाओ । इससे आगे (मेरा) अनुसरण करना ठीक नहीं हैं ।

कुटुम्बिनी—(अश्रुओं के साथ ।) आर्य परलोक को जा रहे हैं, दूसरे देश को नहीं ।

चन्दनदास—आर्ये, मेरी यह मृत्यु मित्र के कार्य से (हो रही) है, पुरुष के दोष (अर्थात् असद् आचरण) से नहीं । अतः विषाद में बस ।

कुटुम्बिनी—आर्य, यदि ऐसा है तो इस समय पत्नी के (कुलजनस्य) लौटने का समय नहीं है ।

चन्दनदास—अच्छा, गृहिणी ने क्या निश्चय किया है ?

कुटुम्बिनी—(अपने) पति के चरणों का अनुसरण करती हुई का अपने पर अनुग्रह होता है ।

चन्दनदास—आर्ये, तुमने यह गलत निर्णय किया है । लोकव्यवहार को न जानने वाला यह बालक पुत्र अनुगृहीत किया जाना चाहिये ।

कुटुम्बिनी—प्रसन्न देवता इसको अनुगृहीत करें । बालक पुत्र, पिता के अन्तिम बार प्राप्त होने वाले (पश्चिमयोः) चरणों में गिरो ।

पुत्र—(चरणों में गिरकर ।) तात, सम्प्रति पिता से रहित मुझे क्या करना चाहिये ?

चन्दनदास—पुत्र, चाणक्य से रहित देश में रहना चाहिये ।

टिप्पणी

(१) न युक्तं खल्वतःपरमनुगन्तुम्—इससे यह ज्ञात होता है कि श्मशान तक अनुसरण करना चाहिये । किन्तु कहीं ऐसा विधान प्राप्त नहीं होता है ।

(२) परलोकं प्रस्थित आर्यो न देशान्तरम्—विदेश जाते हुये व्यक्ति का अनुसरण नहीं करना चाहिये—ऐसी शास्त्र की मर्यादा है, किन्तु परलोक जाने वाले व्यक्ति का तो अनुसरण करना ही उचित है।

(३) व्यवसितम्—निश्चय किया है अर्थात् मेरा अनुसरण करने और यहाँ से लौट जाने – इन दोनों में से किस बात का निश्चय किया है?

(४) आत्मनुग्रहः—मृत्यु के समय पति का अनुसरण करने में पत्नी की आत्मा को शुभगति प्राप्त होती है। अतः मैं लौटूंगी नहीं।

(५) बालः—१६ वर्ष से कम आयु का 'बाल' कहलाता है।

(६) चाणक्यविरहिते—इससे चाणक्य की क्रूरता को बताया है।

चण्डालः—अज्ज चन्दनदास, णिखादे शूले, ता सज्जो होहि। आर्य चन्दनदास निखातः शूलः। तत्सज्जो भव।

कुटुम्बिनी—अज्जा, परित्ताअध। आर्याः, परित्रायध्वं परित्रायध्वम्।

चन्दनदासः—अज्जे, अह किं एत्थ आक्कन्दसि। सग्गं गदाणं दाव देवा दुक्खिअं परिअणं अणुकम्पन्दि। अण्णं अ मित्तकज्जेण मे विणासो ण अजुत्तकज्जेण। ता किं हरिसट्ठाणे वि रोदीअदि। आर्ये, अथ किमत्र आक्रन्दसि। स्वर्गं गतानां तावद्देवा दुःखितं परिजनमनुकम्पन्ते। अन्यच्च मित्रकार्येण मे विनाशो नायुक्तकार्येण। तत्किं हर्षस्थानेऽपि रुद्यते।

प्रथमश्चाण्डालः—अले विल्लपत्त, गेह्ण चन्दणदासं। सअं एव्व परिअणो गमिस्सदि। अरे विल्वपत्र, गृहाण चन्दनदासम्। स्वयमेव परिजनो गमिष्यति।

द्वितीयश्चाण्डालः—अले वज्जलोमा, एस गेह्णामि। अरे वज्रलोमन्, एष गृह्णामि।

चन्दनदासः—भद्द, मुहुत्तं चिट्ठ जाव पुत्तअं सन्तआमि। (पुत्रं मूर्ध्न्याघ्राय।) जाद, अवस्सं भविदव्वे विणासे मित्तकज्जं समुव्वहमाणो विणासमणुभवामि। भद्र, मुहूर्तं तिष्ठ यावत्पुत्रकं सान्त्वयामि। जात, अवश्यं भवितव्ये विनाशे मित्रकार्यं समुद्वहमानो विनाशमनुभवामि।

पुत्रः—ताद, किं एदं वि भणिदव्वं। कुलधम्मो क्खु एसो अम्हाणं। (इति पादयोः पतति।) तात, किमिदमपि भणितव्यम्। कुलधर्मः खल्वेषोऽस्माकम्।

चाण्डालः—अले, गेह्ण एणं। अरे, गृहाणैनम्।

कुटुम्बिनी—(सोरस्ताडम्।) अज्ज, परित्ताहि परित्ताहि। आर्य, परित्रायस्व परित्रायस्व।

संस्कृत-व्याख्या

निखातः = भूमौ निक्षिप्तः । सज्जो भव = उद्यतो भव । आक्रन्दसि = विलपसि। समुद्वहमानः = कुर्वन् । विनाशं = मृत्युम् ।

हिन्दी रूपान्तर

चाण्डाल—आर्य चन्दनदास, शूल गाड़ दिया है । अतः तैयार हो जाओ ।

कुटुम्बिनी—आर्यो, रक्षा करो, रक्षा करो ।

चन्दनदास—आर्य, सम्प्रति इस विषय में क्यों विलाप कर रही हो ? स्वर्ग में गये हुये (व्यक्तियों) के दुःखित परिवार पर तो देवता अनुकम्पा करते हैं और फिर मेरी मित्र के कार्य से मृत्यु (हो रही) है, अनुचित कार्य से नहीं । तो क्यों प्रसन्नता के अवसर पर भी रोया जा रहा है ।

प्रथम चाण्डाल—अरे बिल्वपत्र, चन्दनदास को पकड़ लो । परिवार अपने आप चला जावेगा ।

द्वितीय चाण्डाल—अरे वज्रलोमन्, यह पकड़ता हूँ ।

चन्दनदास—भद्र, क्षणभर ठहरो जब तक पुत्र को सान्त्वना देता हूँ । (पुत्र को सिर से सूँघकर) पुत्र, मृत्यु के अवश्यम्भावी होने पर (मैं) मित्र के कार्य को वहन करता हुआ मृत्यु को अनुभव कर रहा हूँ (अतः तुमको दुःखित नहीं होना चाहिये)।

पुत्र—तात, क्या यह भी कहने के योग्य है ? यह (तो) हमारा कुलधर्म है। (ऐसा कहकर पैरों में गिरता है ।)

चाण्डाल—अरे, इसको पकड़ लो ।

कुटुम्बिनी—(वक्षःस्थल को पीटन के साथ ।) आर्य, रक्षा करो रक्षा करो।

टिप्पणी

(१) **परित्रायध्व परित्रायध्वम्**—चन्दनदास की पत्नी की; यह उस भीड़ से चन्दनदास को छुड़ाने की अपील है, जो उसका अनुसरण कर रही है ।

(२) **किमत्र आक्रन्दसि**—क्यों विलाप कर रही हो ? तुम्हारा रुदन व्यर्थ है। मुझे बचाने वाला इस भीड़ में इस समय कोई नहीं है । इस समय तो केवल देवताओं की ही शरण में जाना चाहिये ।

(३) **अवश्यं भवितव्ये**—मृत्यु अवश्यम्भावी है, प्रत्येक को मरना है, परन्तु मेरे समान ऐसे कितने सौभाग्यशाली हैं जो मित्र के लिये अपने प्राणों को छोड़ते हैं। अतः हे वत्स, मेरे लिये शोक मत करो ।

(प्रविश्य पटाक्षेपेण ।)

राक्षसः—भवति, न भेतव्यम् । भोः भोः शूलायतनाः, न खलु व्यापादयितव्यश्चन्दनदासः ।

येन स्वामिकुलं रिपोरिव कुलं दृष्टं विनश्यत्पुरा
मित्राणां व्यसने महोत्सव इव स्वस्थेन येन स्थितम् ।

आत्मा यस्य वधाय वः परिभवक्षेत्रीकृतोऽपि प्रिय—
स्तस्येयं मम मृत्युलोकपदवी वध्यस्रगाबध्यताम् ॥४॥

संस्कृत-व्याख्या

पटाक्षेपेण=पटाक्षेपः—अनुचितस्य सहसा सम्भ्रमेण प्रवेशः पटाक्षेपः तेन। शूलायतनाः=शूलं आयतनं=जीवनाश्रयो येषां ते तयोक्ताः, शूलजीविन इत्यर्थः।

अन्वयः—येनेति—येन पुरा स्वामिकुलं रिपोः कुलम् इव विनश्यत् दृष्टम्, येन मित्राणां व्यसनं महोत्सवे इव स्वस्थेन स्थितम्। यस्य परिभवक्षेत्रीकृतः अपि आत्मा वः वधाय प्रियः तस्य मम इयं मृत्युलोकपदवी वध्यस्रग् आबध्यताम् ॥४॥

व्याख्या—येन–मया पुरा–पूर्वं स्वामिकुलं=स्वामिनः–नन्दस्य कुलं रिपोः–शत्रोः कुलमिव--वंश इव विनश्यत्–विनाशं गच्छत् दृष्टम्–अवलोकितम् (न तत्र प्रतिकृतमित्यर्थः), येन–मया मित्राणां–सुहृदां (कौलूतादीनाम्) व्यसने--वधे महोत्सवे इव स्वस्थेन--प्रकृतिस्थेन स्थितम् (न साहाय्यं कृतमित्यर्थः)। यस्य परिभवक्षेत्रीकृतः= (स्वापिमित्रनाशादिना यः) परिभवः--अवमानना तस्य क्षेत्रं--भाजनं सम्पद्यमानः अपि (एतादृशं परिभवमनुभवन्नपि) आत्मा--शरीरं वः--युष्माकं वधाय--वधार्थं प्रियः--इष्टः, तस्य मम--राक्षसस्य (कण्ठे) इयं मृत्युलोकपदवी--यमलोकगमनमार्गरूपा वध्यस्रक्--वध्यस्य चिह्नभूता माला (या चन्दनदासस्य कण्ठं निबद्धा) आबध्यताम् ।४॥

हिन्दी रूपान्तर

(पर्दे को हटाने के साथ प्रवेश करके।)

राक्षस—आयुष्मति, नहीं डरना चाहिये। हे हे शूली पर नियुक्त पुरुषो, चन्दनदास को नहीं मारना चाहिये।

श्लोक (४) **अर्थ**—जिसने (मैंने) (इमसे) पहले स्वामी (नन्द) के कुल को शत्रु के समान नष्ट होते हुये देखा, जिसके द्वारा (कौलूतादि) मित्रों का वध होने पर महान् उत्सव के समान निर्विकार भाव से (स्वस्थेन) रहा गया। जिसका (स्वामी और मित्रनाशादि के द्वारा) तिरस्कार का पात्र किया हुआ भी शरीर तुम्हारे मारने के लिये (मुझे) प्रिय है। उस मेरे (राक्षस के गले में) यह मृत्युलोक में (पहुँचाने वाली) मार्गरूप वध्यमाला (चन्दनदास के गले में बंधी हुई है) बाँधो ॥४॥

टिप्पणी

(१) **पटाक्षेपेण**=आ—समन्तात् क्षेपः--अपसारणम्=आक्षेपः, पटस्य आक्षेपः =पटाक्षेपः—पर्दे को हटाना, तेन। बिना सूचना दिये पर्दे को उठाकर जो सहसा प्रवेश किया जाता है उसे 'पटाक्षेप" कहते हैं। आने वाला पात्र अपने आप पर्दे को हटाता है।

(२) **भवति**—चन्दनदास की पत्नी को सम्बोधन है।

(३) **दृष्टम्**–परन्तु स्वयं नष्ट नहीं हो गया अथवा कोई प्रतिकार नहीं किया।

(४) **स्वस्थेन स्थितम्**—किसीप्रकार का कोई प्रतीकार नही किया।

(५) **वधाय**=हन्तुम्। "तुमर्थाच्च भाववचनात्" पा० २/३/१५ इति चतुर्थी।

(६) चतुर्थ श्लोक की अन्तिम दो पंक्तियों का आशय यह है कि जिस मुझको पकड़ने के लिये चाणक्य ने तुम घातकों का कपट से वध कर दिया और जिस मेरे लिये कौलूतादि मित्र मारे गये— ऐसा पाप का कारणभूत हुआ भी मैं अभी तक अपने प्राणों को धारण कर रहा हूँ। यह राक्षस की अपने प्रति ग्लानि है।

चन्दनदासः—(सबाष्पं विलोक्य।) अमच्च, किं एदं। अमात्य, किमिदम्।

राक्षसः—त्वदीयसुचरितैकदेशस्यानुकरणं किलैतत्।

चन्दनदासः—अमच्च, सव्वं वि इमं पआसं णिप्फलं करन्तेण तुए किं अणुचिट्ठिदं। अमात्य, सर्वमपीमं प्रयासं निष्फलं कुर्वता त्वया किमनुष्ठितम्।

राक्षसः—सखे, स्वार्थ एवानुष्ठितः। कृतमुपालम्भेन। भद्रमुख, निवेद्यतां दुरात्मने चाणक्याय।

वज्रलोमा- किं त्ति। किमिति।

राक्षसः—

दुष्कालेऽपि कलावसज्जनरुचौ प्राणैः परं रक्षता
नीतं येन यशस्विनातिलघुतामौशीनरीयं यशः।
बुद्धानामपि चेष्टितं सुचरितैः क्लिष्टं विशुद्धात्मना
पूजार्होऽपि स यत्कृते तव गतः शत्रुत्वमेषोऽस्मि सः ॥५॥

संस्कृत-व्याख्या

त्वदीयसुचरितैकदेशस्य=त्वदीयस्य-तव सुचरितस्य-साधुचरित्रस्य एकदेशः-एकभागः तस्य। अनुकरणम्=अनुसरणम्। कृतम्=अलम्।

अन्वयः—दुष्कालेऽपीति—असज्जनरुचौ दुष्काले कलौ अपि प्राणैः परं रक्षता यशस्विना येन औशीनरीयं यशः अतिलघुतां नीतम्। विशुद्धात्मना बुद्धानाम् अपि चेष्टितं सुचरितैः क्लिष्टम्, पूजार्हः अपि सः यत्कृते तव शत्रुत्वं गतः, सः एषः अस्मि ॥५॥

व्याख्या—असज्जनरुचौ=असती—असाध्वी जनरुचिः—लोकप्रवृत्तिः यस्मिन् तस्मिन् दुष्काले—पापिनि कलौ-कलियुगे अपि प्राणैः-असुभिः परम्—अन्यं रक्षता—पालयता यशस्विना-कीर्तिमता येन—चन्दनदासेन औशीनरीयं-शिविगतं यशः-कीर्तिः अतिलघुताम्—अत्यन्ततुच्छतां नीतं—प्रापितम्। विशुद्धात्मना—निर्दोषस्वभावेन (चन्दनदासेन) बुद्धानाम्,—आर्हतानाम् अपि अपि चेष्टितं-चरितं सुचरितैः—सत्कर्मभिः

क्लिष्टं–तिरस्कृतम् । पूजार्हः–सत्कारपात्रम् अपि सः–चन्दनदासः यत्कृते=यस्य–राक्षसस्य कृते–निमित्तं तव शत्रुत्वं गतः–प्राप्तः, सः–राक्षसः एषः अस्मि ॥५॥

हिन्दी रूपान्तर

चन्दनदास (देखकर अश्रुओं के साथ।) अमात्य, यह क्या है ?

राक्षस—यह तुम्हारे श्रेष्ठ आचरणों के एक अंश का (सम्पूर्ण का नहीं) अनुकरण है।

चन्दनदास—अमात्य, इस सम्पूर्ण प्रयत्न को निष्फल करते हुये आपने क्या किया ?

राक्षस—मित्र, (अपना) स्वार्थ ही (अर्थात् तुम्हारे प्राणों की रक्षा करना मेरा स्वार्थ है) सम्पन्न किया है। उलाहना देने से बस। भद्रमुख, दुष्ट चाणक्य से निवेदन करो।

वज्रलोमा—क्या ?

राक्षस—

श्लोक (५) अर्थ—असद् लोकप्रवृत्ति वाले पापी कलियुग में भी (अपने) प्राणों से दूसरे की रक्षा करते हुये यशस्वी जिस (चन्दनदास) ने शिवि सम्बन्धी यश को अत्यन्त तुच्छता को प्राप्त करा दिया। (और) विशुद्ध आत्मा वाले (जिस चन्दनदास) ने बुद्धों के चरित्र को (अपने) श्रेष्ठ आचरणों से तिरस्कृत कर दिया (क्लिष्टम्), पूजा के योग्य भी वह जिसके कारण से (यत्कृते) तुम्हारी शत्रुता को प्राप्त हो गया, वह (मैं) यह हूँ ॥५॥

टिप्पणी

(१) **किल**—यह बताता है कि तुमने अपने प्राणों का विसर्जन अपनी इच्छा से किया था, किन्तु मेरा अपने प्राणों का त्याग बलात् किया जा रहा है।

(२) **स्वार्थ एव**—मैंने केवल अपना स्वार्थ ही सिद्ध किया है। क्योंकि मलयकेतु से पृथक् होकर राक्षस का जीवन उसके लिये एक भारस्वरूप हो जाता और विशेषकर उस अवस्था में जब कि चन्दनदास की मृत्यु हो जाती। इसलिये चन्दनदास के जीवन की रक्षा करना राक्षस के लिये स्वार्थ ही है और राक्षस ने यह स्वार्थ शत्रु को आत्मसमर्पण करके प्राप्त किया है।

(३) **औशीनरीयं यशः**—राजा शिवि ने पुण्यशाली सतयुग में यह काम किया था, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु तुमने तो वही काम इस पापी कलियुग में किया है, अतः उससे भी श्रेष्ठ चरित्र वाले हो। उशीनरस्यापत्यं पुमान् इति उशीनर+अञ्=औशीनर। इसकी माता का नाम दृषद्वती था। तस्येदम्. औशीनर+छ= "**गहादिभ्यश्च**" पा० ४/२/१३८ इति छः प्रत्ययः। शिवि ऐसे स में रहते थे जब कि पाप बिल्कुल था ही नहीं और चन्दनदास उस युग में रह रहा जो कि पापों से परिपूर्ण है।

(४) **बुद्धानामपि चेष्टितं विलष्टम्**—इसका तात्पर्य यह है कि उस समय भारत में बौद्ध धर्म था और बौद्ध धर्म के अनुयायी समाज में बड़ी आदर की दृष्टि से देखे जाते थे।

(५) **एषोऽस्मि सः**—पूरा आत्मसमर्पण है। इसलिये चन्दनदास को छोड़ दो—ऐसा चाणक्य से कह दो।
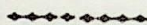
प्रथमः—अले विल्लपत्तअ, तुमं दाव चन्दनदासं गेह्लिअ इह एदस्स मसाणपादपस्स छाआए मुहुत्तं चिट्ठ जाव अहं चाणक्कस्स णिवेदेमि गिहीदो अमच्चरक्खसो त्ति। अरे विल्वपत्रक, त्वं तावच्चन्दनदासं गृहीत्वैहैतस्य श्मशानपादस्य छायायां मुहूर्तं तिष्ठ यावदहं चाणक्यस्य निवेदयामि गृहीतोऽमात्यराक्षस इति।

द्वितीयः—अले वज्जलोमा, गच्छ। अरे वज्रलोमन्, गच्छ।

(इति सपुत्रदारेण चन्दनदासेन सह निष्क्रान्तः।)

प्रथमः—एदु अमच्चो। (राक्षसेन सह परिक्रम्य।) अत्थि एत्थ कोवि णिवेदेह दाव णन्दकुलणगकुलिसस्स मोलिअकुलपडिट्ठावअस्स अज्जचाणक्कस्स। एत्वमात्यः। अस्त्यत्र कोऽपि निवेदयेत् तावन्नन्दकुलनगकुलिशस्य मौर्यकुलप्रतिष्ठापकस्यार्यचाणक्यस्य।

राक्षसः—(स्वगतम्।) एतदपि नाम श्रोतव्यम्।

चाण्डालः—एसो अज्जणीदिसंजमिदबुद्धिपलिसले गिहीदो अमच्चरक्खसे त्ति। एष आर्यनीतिसंयमितबुद्धिपरिसरो गृहीतोऽमात्यराक्षस इति॥

संस्कृत-व्याख्या

तिष्ठ = प्रतिपालय। नन्दकुलनगकुलिशस्य = नन्दकुलमेव नगः = पर्वतः तस्य सम्बन्धे कुलिशं—वज्रं तस्य। आर्यनीतिसंयमितबुद्धिपरिसरः = आर्यस्य-आर्यचाणक्यस्य नीत्या संयमितः—कुण्ठीकृतः बुद्धिपरिसरः—मतिप्रसरः यस्य।

हिन्दी रूपान्तर

प्रथम—अरे बिल्वपत्रक, तुम तब तक चन्दनदास को लेकर यहाँ इस श्मशान वृक्ष की छाया में क्षण भर प्रतीक्षा करो, जब तक मैं चाणक्य को सूचित करता हूँ (कि) अमात्य राक्षस पकड़ा गया है।

द्वितीय—अरे वज्रलोमन्, जा।

(इसप्रकार पुत्र और स्त्री सहित चन्दनदास के साथ निकल गया।)

प्रथम—अमात्य आइये। (राक्षस के साथ घूमकर।) यहाँ कोई भी है, (जो) नन्दवंश रूपी पर्वत के लिये वज्र मौर्यकुल की प्रतिष्ठा करने वाले आर्य चाणक्य को निवेदन करे।

राक्षस—(मन ही मन।) यह भी सुनना है।

चाण्डाल—आर्य (चाणक्य) की नीति से कुण्ठित बुद्धि के प्रसार वाला यह अमात्य राक्षस पकड़ लिया गया है।

टिप्पणी

(१) **चाणक्यस्य निवेदयामि**—शेषे षष्ठी है।

(२) **एतु अमात्यः**—प्रथम जल्लाद और राक्षस उस ओर जा रहे हैं, जहाँ सम्भवतः चाणक्य किसी नवीन समाचार पाने की आशा में प्रतीक्षा कर रहा है।

(३) **नन्दकुलनगकुलिशस्य**—इन्द्र ने अपने वज्र से पर्वतों के पंख काट दिये थे और चाणक्य ने तो नन्दवंश के लिये इससे भी अधिक किया है। वज्र ने तो केवल पर्वतों को पंगु ही बनाया था किन्तु चाणक्य ने तो अपने शत्रुओं को समूल नष्ट कर दिया।

(ततः प्रविशति जवनिकावृतशरीरो मुखमात्रदृश्यश्चाणक्यः।)

चाणक्यः—भद्र, कथय कथय।

केनोत्तुङ्गशिखाकलापकपिलो बद्धः पटान्ते शिखी
पाशैः केन सदागतेरगतिता सद्यः समासादिता।
केनानेकपदानवासितसटः सिंहोऽर्पितः पञ्जरे
भीमः केन च नैकनक्रमकरो दोर्भ्यां प्रतीर्णोऽर्णवः ॥६॥

संस्कृत-व्याख्या

जवनिकावृतशरीरः = जवनिकया—तिरस्करिण्या आवृतम्—आच्छादितं शरीरं—कायः यस्य सः। मुखमात्रदृश्यः = आननमात्रदृश्यः।

अन्वयः—केनेति—उत्तुङ्गशिखाकलापकपिलः शिखी केन पटान्ते बद्धः, केन पाशैः सदागतेः अगतिता सद्यः समासादिता। केन अनेकपदानवासितसटः सिंहः पञ्जरे अर्पितः, नैकनक्रमकरः च भीमः अर्णवः केन दोर्भ्यां प्रतीर्णः ॥६॥

व्याख्या—उत्तुङ्गशिखाकलापकपिलः = उत्तुङ्गानाम्—उन्नतानाम् ऊर्ध्वस्थितानामित्यर्थः शिखानां—ज्वालानां कलापेन—संहत्या कपिलः—पिङ्गलः शिखी-अग्निः केन पटान्ते—वसनान्ते बद्धः—संयमितः, केन पाशैः—सूक्ष्मरशनाभिः सदागतेः—सततगमनशीलस्य वायोः अगतिता—अचलता सद्यः—झटिति समासादिता—कृता; केन अनेकपदानवासितसटः = अनेकपदानां—द्विपानां दानेन—मदसलिलेन वासिता—सुरभीकृता सटा—जटा यस्य तादृशः सिंहः पञ्जरे अर्पितः—नियन्त्रितः, नैकनक्रमकरश्च = नैके—असंख्याः नक्राः मकराः ग्राहाश्च यत्र तथाभूतश्च भीमः—भयङ्करः अर्णवः—समुद्रः केन दोर्भ्यां—भुजाभ्यां प्रतीर्णः उत्तीर्णः ॥६॥

हिन्दी रूपान्तर

द्वितीय दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र में राजकीय प्रासाद

(तत्पश्चात् पर्दे से ढके हुये शरीर वाला केवल मुख से देखे जाने योग्य चाणक्य प्रवेश करता है।)

चाणक्य—भद्र, बताओ बताओ।

श्लोक (६) अर्थ—अत्यन्त ऊँची (उठती हुई) ज्वालाओं के समूह से पिङ्गल-वर्ण वाली अग्नि को किसने वस्त्र के अन्दर बांधा है ? किसने पाशों से सदा प्रवाहित होने वाली वायु की गति के अवरोध को शीघ्र (ही) प्राप्त किया है। (और) किसने हाथियों के मदजल से सुगन्धित जटाओं वाले सिंह को पिञ्जरे में नियन्त्रित किया है, और अनेक नक्रों और मगरमच्छों वाले भीषण समुद्र को किसने (अपनी) दोनों भुजाओं से पार किया है ? ॥६॥

टिप्पणी

(१) **जवनिका**—जु + ल्युट् करणे + कन् स्वार्थे स्त्रियाम् = जवनिका। चाणक्य अपने आपको पर्दे से ढककर क्यों आया, यह कुछ स्पष्ट नहीं है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् यह समझते हैं कि "यवनिका" शब्द का प्राकृत में "जवनिका" बनता है। यवनिका = ग्रीक पर्दा। इससे ये विद्वान् यह अनुमान लगाते हैं कि भारतीय नाटक ग्रीक से उधार लिये गये हैं।

(२) **अनेकः**—न एकः अनेकः। अनेकश्च अनेकश्च = अनेकौ। अनेकाभ्यां पिबति इति अनेक + पा + क कर्तरि अनेकपः = हाथी। हाथी पहले अपनी सूंड से और फिर मुख से पानी पीता है।

(३) श्लोक ६ का आशय यह है कि किसने साहसिक, महाशूर, विपुल बुद्धि वाले राक्षसों को अपने वश में कर लिया है ? इसप्रकार चाणक्य की यह "आत्म-श्लाघा" है। अत्यन्त गर्वीले राक्षस को वश में करना, वस्त्र के अन्दर अग्नि को रखने के समान, रस्सी से वायु की गति रोकने के समान, पिंजरे में मस्त हाथियों को मारने वाले शेर को बन्द करने के समान तथा भुजाओं से दुस्तर समुद्र को पार करने के समान दुष्कर कार्य किया है।

चाण्डालः—णीदिणिउणबुद्धिणा अज्जेण। नीतिनिपुणबुद्धिनार्येण।

चाणक्यः—मा मैवम्। नन्दकुलविद्वेषिणा दैवेनेति ब्रूहि।

राक्षसः—(स्वगतम्।) अयं दुरात्मा अथवा महात्मा कौटिल्यः।

आकरः सर्वशास्त्राणां रत्नानामिव सागरः।
गुणैर्न परितुष्यामो यस्य मत्सरिणो वयम् ॥७॥

चाणक्यः—(विलोक्य, सहर्षं स्वगतम्।) अये, अयमसावमात्यराक्षसः। येन महात्मना।

गुरुभिः कल्पनाक्लेशैर्दीर्घजागरहेतुभिः।
चिरमायासिता सेना वृषलस्य मतिश्च मे ॥८॥

(जवनिकां करेणापनीयोपसृत्य च।) भो अमात्यराक्षस, विष्णुगुप्तोऽहम-भिवादये।

संस्कृत-व्याख्या

नीतिनिपुणबुद्धिना = नीतौ—राजनीतौ निपुणा—कुशला बुद्धिः—मतिर्यस्य तेन। दैवेन = भाग्येन।

अन्वयः—आकर इति—रत्नानां सागरः इव सर्वशास्त्राणाम् आकरः। यस्य गुणैः मत्सरिणः वयं न परितुष्यामः ॥७॥

व्याख्या—(अयं चाणक्यः) रत्नानां सागरः इव—अर्णवः इव सर्वशास्त्राणाम्—निखिलशास्त्रज्ञानानामित्यर्थः आकरः—खनिः, पारदृश्वेत्यर्थः। यस्य-चाणक्यस्य गुणैः मत्सरिणः—विद्वेषवन्तः वयं न परितुष्यामः—परितुष्टाः भवामः ॥७॥

अन्वयः—गुर्वभिरिति—(येन महात्मना) दीर्घजागरहेतुभिः गुरुभिः कल्पनाक्लेशैः वृषलस्य सेना मे मतिश्च चिरम् आयासिता ॥८॥

व्याख्या—(येन महात्मना) दीर्घजागरहेतुभिः = दीर्घजागरः—महान् निद्राविरामः तस्य हेतुभिः—साधनैः गुरुभिः—महद्भिः कल्पनाक्लेशैः—मानसिकरचनाजनितदुःखैः (सेनापक्षे—कल्पनाक्लेशाः—सदा सन्नहनादयः, मतौ—कल्पनाक्लेशाः ऊहापोहादयः) वृषलस्य—चन्द्रगुप्तस्य सेना मे—मम मतिः—बुद्धिश्च चिरं-दीर्घकालं यावत् आयासिता—आयासमनुभाविता ॥८॥

जवनिकां = तिरस्करिणीम्। अपनीय = अपसार्य।

हिन्दी रूपान्तर

चाण्डाल—नीति में कुशल बुद्धि वाले आर्य ने।

चाणक्य—नहीं, ऐसा नहीं, नन्दवंश से द्वेष करने वाले भाग्य ने—यह कहो।

राक्षस—(मन ही मन।) यह कौटिल्य दुष्टात्मा है अथवा महात्मा है।

श्लोक (७) अर्थ—(यह चाणक्य) रत्नों के (खजाने) समुद्र के समान सभी शास्त्रों का खजाना है। जिस (चाणक्य) के गुणों से ईर्ष्या करने वाले हम सन्तुष्ट नहीं होते हैं ॥७॥

चाणक्य—(देखकर, प्रसन्नता के साथ मन ही मन।) अरे, यह वह अमात्य राक्षस है। जिस महात्मा ने

श्लोक (८) अर्थ—निरन्तर जागते रहने के कारण महान् कल्पनाओं के (सेना की दृष्टि से हमेशा तैयार रहने आदि के और बुद्धि की दृष्टि से राक्षस को पकड़ने के उपायों की उद्‌भावनाओं के) क्लेशों से चन्द्रगुप्त की सेना को और मेरी बुद्धि को चिरकाल तक कष्ट का अनुभव कराया ॥८॥

(हाथ से पर्दे को हटाकर और पास जाकर।) हे अमात्य राक्षस मैं विष्णुगुप्त अभिवादन करता हूँ।

टिप्पणी

(१) आकर—जिसप्रकार समुद्र रत्नों का खजाना है उसीप्रकार चाणक्य सभी शास्त्रों का खजाना है।

(२) सातवें श्लोक में राक्षस के मुख से प्रथम बार चाणक्य की प्रशंसा निकली है। राक्षस चाणक्य के गुणों की प्रशंसा करता है। अतः अब सन्धि होनी आसान है।

(३) **कल्पनाक्लेशैः**—क्लृप् + णिच् + युच् कर्मणि कल्पना = विचार, (मति पक्ष में) सर्वदा उद्यत रहना (सेना की दृष्टि से) कल्पनायाः क्लेशाः तैः। सबसे प्रमुख कष्ट तो यह था कि सो नहीं पाते थे। क्योंकि मैं निरन्तर राक्षस द्वारा प्रयुक्त कूटनीति का प्रतिकार करने का उपाय सोचा करता था, और सेना को हमेशा किसी भी क्षण आक्रमण करने या आक्रमण का प्रतिकार करने के लिये जागरूक रहना पड़ता था।

(४) ८ वें श्लोक का आशय यह है कि जिसकी बुद्धि और पौरुष के भय से चन्द्रगुप्त की सेना और मैंने निरन्तर दिन रात जागते हुये महान् कष्ट का अनुभव किया।

(५) **विष्णुगुप्तोऽहमभिवादये**—अभिवादन करते समय अपने नाम का पहले उल्लेख करना चाहिये, ऐसा शास्त्रसम्मत विधान है। मनु का कहना है—

अभिवादात्परो विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥२।१२२॥

चाणक्य का वास्तविक नाम विष्णुगुप्त है। चाणक्य नाम उसके पिता से आया हुआ नाम है। चणकस्य: अपत्यं पुमान् इति चणक + यङ् = चाणक्यः। राक्षस चाणक्य से आयु में काफी बड़ा है, अतः उसने नमस्कार किया है।
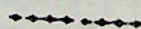
राक्षसः—(स्वगतम्।) अमात्य इति लज्जाकरमिदानीं विशेषणम्। (प्रकाशम्।) विष्णुगुप्त, न मां चाण्डालस्पर्शदूषितं स्प्रष्टुमर्हसि।

चाणक्यः—भो अमात्यराक्षस, नेमौ चाण्डालौ। अयं खलु दृष्ट एव भवता सिद्धार्थको नाम राजपुरुषः। योऽप्यसौ द्वितीयः सोऽपि समिद्धार्थको नाम राजपुरुष एव। शकटदासोऽपि तपस्वी तं तादृशं लेखमजानन्नेव कपटलेखं मया लेखित इति।

राक्षसः—(स्वगतम्।) दिष्ट्या शकटदासं प्रत्यपनीतो विकल्पः।

चाणक्यः—किं बहुना। एष संक्षेपतः कथयामि।

भृत्या भद्रभटादयः स च तथा लेखः स सिद्धार्थक—
स्तच्चालंकरणत्रयं स भवतो मित्रं भदन्तः किल।
जीर्णोद्यानगतः स चापि पुरुषः क्लेशः स च श्रेष्ठिनः।
सर्वं मे—

(इत्यर्धोक्ते लज्जां नाटयति।)

वृषलस्य वीर भवता संयोगमिच्छोर्नयः ॥९॥

तदयं वृषलस्त्वां द्रष्टुमिच्छति।

संस्कृत-व्याख्या

चाण्डालस्पर्शदूषिम् = चाण्डल:-श्वपाकः तस्त स्पर्शेन दूषितः तम्। तपस्वी =दीनः, अपराधी इति यावत्। लेखितः = लेखितं कारितः। अपनीतः = निरस्तः। विकल्पः = संशयः। संक्षेपतः = समासतः।

अन्वयः—भृत्या इति—भद्रभटादयः भृत्याः, तथा च स लेखः, स सिद्धार्थकः तच्च अलङ्करणत्रयं, सः भवतः किलः मित्रं भदन्तः, स च जीर्णोद्यानगतः पुरुषः अपि, स च श्रेष्ठिनः क्लेशः सर्वं वीर, वृपलस्य भवता संयोगम् इच्छोः मे नयः ॥९॥

व्याख्या—भद्रभटादयः =भद्रभट आदिर्येषां ते (आदिशब्दात् भागुरायण-डिङ्गरातादयः बोद्धव्याः) भृत्याः-अनुचराः, तथा—तथाविधः (तेन प्रकारेण छलेन रचितं इत्यर्थः) च सः-कृत्रिमः इत्यर्थः, लेखः-पत्रम्, स सिद्धार्थकः, तच्चअलङ्करणत्रयम्-त्रयः अलङ्काराः, सः भवतः किल-अलीकं मित्र-सुहृत् भदन्तः—बौद्धसंन्यासी क्षपणको जीवसिद्धिः, सः च जीर्णोद्यानगतः-जीर्णोपवनप्राप्तः अपि स च श्रेष्ठिनः—वणिजः चन्दनदासस्य क्लेशः—दुःखं, सर्वम्—उपायजातम् वीर—हे शूर, वृपलस्य-चन्द्रगुप्तस्य भवता—त्वया (सह) संयोगं-सम्मेलनम् इच्छोः-अभिलापुकस्य मे—मम नयः—नीतिप्रकारः ॥९॥

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—(मन ही मन।) "अमात्य" यह विशेषण इस समय लज्जित करने वाला है। (स्पष्टतः।) हे विष्णुगुप्त, चाण्डाल के स्पर्श से दूषित मुझको छूने के योग्य नहीं हो।

चाणक्य—हे आमत्य राक्षस, ये दोनों चाण्डाल नहीं हैं। यह आपके द्वारा देखा हुआ ही सिद्धार्थक नाम वाला राजपुरुष है। जो भी वह दूसरा है यह भी समिद्धार्थक नाम वाला राजपुरुष ही है। बेचारे शकटदास से भी वैसे उस लेख को न जानते हुये ही मैंने कपट लेख लिखवाया था।

राक्षस—(मन ही मन।) सौभाग्य से शकटदास के प्रति (मेरा) सन्देह (विकल्पः) दूर हो गया।

चाणक्य—अधिक कहने से क्या (लाभ)। यह संक्षेप में कहता हूँ।

श्लोक (९) अर्थ—भद्रभटादि नौकर और उसप्रकार का वह लेख, वह सिद्धार्थक और वे तीन आभूषण, वह आपका मिथ्या (किल) मित्र क्षपणक (भदन्तः) और वह जीर्ण-उपवन में गया हुआ मनुष्य भी, और वह सेठ (चन्दनदास) को कष्ट, ये सब (उपाय समूह) (ऐसा आधा कहने पर लज्जा का अभिनय करता है।) हे वीर, चन्द्रगुप्त का आपके साथ संयोग चाहने वाले मेरी नीति के प्रकार हैं ॥९॥

इसलिये यह चन्द्रगुप्त आपको देखना चाहता है।

टिप्पणी

(१) **अमात्य इति लज्जाकरम्**—राक्षस मन ही मन सोचता है कि जिन नन्दों का मैं अमात्य था उनका चन्द्रगुप्त से प्रतिशोध लेने में मैं असफल हो गया हूँ। अतः इस असफलता की स्थिति में "अमात्य" कहलाया जाना लज्जा का विषय है। क्योंकि यह सम्बोधन मुझे अपनी पूर्व की स्थिति को और अपनी वर्तमान असफलता को स्मरण दिलाने वाला है।

(२) **लेखितः**—लिखितं कारितः, 'हेतुमति च' पा० ३/१/२६ इति हेतौ णिच्।

(३) **मित्रं भदन्तः किल**—किल इत्यलीके। अर्थात् वह तुम्हारा सर्वथा मित्र नहीं था।

(४) **वीर**—अत्यन्त शूरवीर, साहसी आपको पराक्रमादि के द्वारा मलयकेतु के समान वश में नहीं किया जा सकता था, इसको ध्वनित करने के लिये "वीर" सम्बोधन किया है।

(५) ९ वें श्लोक में चाणक्य ने उन उपायों का वर्णन किया है, जिनका आश्रय उसने राक्षस को वश में करने के लिये लिया था।

राक्षसः—(स्वगतम्।) का गतिः एष पश्यामि।

(ततः प्रविशति राजा विभवतश्च परिवारः।)

राजा—(स्वगतम्।) विनैव युद्धादार्येण जितं दुर्जयं परबलमिति लज्जित एवास्मि। मम हि

फलयोगमवाप्य सायकानां विधियोगेन विपक्षतां गतानाम्।
न शुचेव भवत्यधोमुखानां निजतूणीशयनव्रतं प्रतुष्टये ॥१०॥

संस्कृत-व्याख्या

विभवतः=ऐश्वर्यानुसारेण। परिवारः=अनुचरवर्गः। जितं=पराभूतम्। परबलं=शत्रुसैन्यम्। लज्जितः=त्रपायुक्तः।

अन्वयः—फलयोगमिति—विधियोगेन फलयोगम् अवाप्य विपक्षतां गतानां शुचा इव अधोमुखानां सायकानां निजतूणीशयनव्रतं प्रतुष्टये न भवति ॥१०॥

व्याख्या—विधियोगेन-दैवयोगेन अन्यत्र विधेः—चाणक्यनयविधेः योगेन—व्यापारेण फलयोगं—कार्यसिद्धिप्राप्तिम् अन्यत्र शल्ययोगम् अवाप्य—प्राप्य (अपि) विपक्षतां-विरोधितां गतानाम्, (इति विरोधः तत्परिहारस्तु) वीनां—कङ्कानां पक्षाः येषां तेषां भावस्तत्तां गतानाम्, विशिष्टकङ्कवताम् (अतएव) शुचा इव—विपक्षताप्राप्तिजातया शोकेनेव अधोमुखानाम्—अवनताननानां सायकानां—बाणानां निजतूणीशयनव्रतं=निजतूण्यां—स्वशरधौ यत् शयनं—निश्चेष्टभावेनावस्थानं तदेव व्रतं-नियमः प्रतुष्टये—सन्तोषाय न भवति ॥१॥

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—(मन ही मन।) क्या उपाय है ? यह देखता हूँ।

(तत्पश्चात् राजा और ऐश्वर्य के अनुसार सेवकवर्ग प्रवेश करता है।)

राजा—(मन ही मन।) युद्ध के बिना ही आर्य (चाणक्य) ने अजेय शत्रु की सेना को जीत लिया है, अतः (मैं) लज्जित ही हूँ। क्योंकि मेरे

श्लोक (१०) अर्थ—दैवयोग से अन्यत्र चाणक्य की नीति के व्यापार से (विधियोगेन) शत्रु विजय रूपी कार्यसिद्धि की प्राप्ति को अन्यत्र शल्ययोग को (फलयोगम्) प्राप्त करके (भी) विरोधी भाव को प्राप्त हुये (यह विरोध है, इसका परिहार) कङ्क पक्षियों की पंखता को प्राप्त हुये (विपक्षतां गतानाम्) (अतएव) मानों शोक से नीचे मुख किये बाणों का अपने तूणीर में शयनरूपी व्रत सन्तोष के लिये नहीं होता है ॥१०॥

टिप्पणी

(१) **परिवारः** = परिवार्यते अनेन इति परि + वृ + घञ् करणे। जो चारों ओर से घेरते हैं अर्थात् सेवक।

(२) १० वें श्लोक में निम्न शब्द द्वयर्थक हैं—(क) फलयोगम्, (ख) विधियोगेन, (ग) विपक्षताम्। इनके अर्थ क्रमशः इसप्रकार हैं—

(क) फलयोगम् = (१) कार्यसिद्धि की प्राप्ति, (२) शल्ययोग।

(ख) विधियोगेन = (१) दैवयोग से, (२) चाणक्य की नीति के व्यापार से।

(ग) विपक्षताम् = (१) विरोधीभाव को (२) कङ्क पक्षियों की पक्षता को।

साथ ही यहाँ **विरोधाभास** भी है। यथा—फलयोगमवाप्य विपक्षतां (विरोधिताम्) गतानाम् इति विरोधः, तत्परिहारस्तु वीनां—कङ्कानां पक्षाः येषां तेषां भावः तत्तां गतानाम्।

(३) **अधोमुखानाम्**—बाण जब तूणीर मे रखे जाते हैं तब उनका अग्रभाग नीचे की ओर होता है और पृष्ठभाग ऊपर की ओर। इस पर कवि ने कल्पना की है कि मानों उन्होंने अपना मुख शोक से नीचे कर रखा है।

(४) १० वें श्लोक के अन्दर चन्द्रगुप्त को लज्जा की अनुभूति हो रही है। क्योंकि उसको शत्रु को परास्त करने में अपना पराक्रम दिखाने का अवसर ही नहीं मिला है। उसके बाण शर्म से मुख नीचे किये हुये तूणीर में व्यर्थ ही पड़े हुये हैं।

अथवा।

विगुणीकृतकार्मुकोऽपि जेतुं भुवि जेतव्यमसौ समर्थ एव।
स्वपतोऽपि ममेव यस्य तन्त्रे गुरवो जाग्रति कार्यजागरूकाः ॥११॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—**विगुणीकृतेति**—स्वपतः अपि मम इव यस्य तन्त्रे कार्यजागरूकाः गुरवः जाग्रति, असौ विगुणीकृतकार्मुकः अपि भुवि जेतव्यं जेतुं समर्थ एव ॥११॥

व्याख्या—स्वपतः—निद्रां गच्छतः (राज्यचिन्तापराङ्मुखस्येत्यर्थः) अपि मम इव यस्य राज्ञः तन्त्रे-राज्ये कार्यजागरूकाः = कार्येषु जागरूकाः—अवहिताः अप्रमत्ता

इति यावत् सन्तः गुरवः—गुरुजनाः (चाणक्य इव मन्त्रिणः इत्यर्थः) जाग्रति, असौ—नृपः विगुणीकृतकार्मुकः=विगुणीकृतं-ज्यारहितं (प्रयोजनाभावात्) कृतं कार्मुकं येन तादृशः अपि भुवि-पृथिव्यां जेतव्यं-जेतुं योग्यम् (अरिम्) जेतुं—पराभवितुं समर्थ एव-शक्त तव ।।१२।।

हिन्दी रूपान्तर

अथवा—

श्लोक (११) अर्थ—सोते हुये भी (अर्थात् राज्य-चिन्ता से विमुख) मेरे समान जिस राजा के राज्य में राज्यकार्य में सतत सावधान गुरु (आचार्य चाणक्य के समान मन्त्री) निरन्तर जागरूक रहते हैं वह (राजा कार्य के अभाव से) प्रत्यञ्चा से रहित धनुष वाला होता हुआ भी संसार में जीतने के योग्य (शत्रु) को जीतने में समर्थ ही है ।।११।।

टिप्पणी

(१) **विगुणीकृतकार्मुकः**—धनुष का प्रत्यञ्चा से रहित होना गुरु की सतत जागरूकता का परिणाम है । जिन्होंने शत्रु को जीत लिया है और धनुष बाण के प्रयोग में लाने का अवसर ही नहीं मिला है ।

(२) **स्वपतोऽपि मम**—इसकी तुलना "गुरवो जाग्रति" से है । मैं सोता हूँ और मेरे गुरु निरन्तर मेरे कार्यों को देखते हुये सतत जागरूक रहते हैं ।

(चाणक्यमुपसृत्य ।) आर्य, चन्द्रगुप्तः प्रणमति ।

चाणक्यः—सपन्नास्ते सर्वाशिषः । तदभिवादयस्व तत्रभवन्तममात्यमुख्यम् ।

राक्षसः— (स्वगतम् ।) योजितोऽनेन सम्बन्धः ।

चाणक्यः—(राजानमुपसृत्य ।) अयममात्यराक्षसः प्राप्तः । प्रणमैनम् ।

राजा—(राक्षसमुपसृत्य ।) आर्य, चन्द्रगुप्तः प्रणमति ।

राक्षसः—(विलोक्य स्वगतम् ।) अये, चन्द्रगुप्तः । य एष

बाल एव हि लोकेऽस्मिन्संभावितमहोदयः ।
क्रमेणारूढवान् राज्यं यूथैश्वर्यमिव द्विपः ।।१२।।

(प्रकाशम् ।) राजन्, विजयस्व ।

राजा—आर्य,

जगतः किं न विजितं मयेति प्रविचिन्त्यताम् ।
गुरौ षाड्गुण्यचिन्तायामार्ये चार्ये च जाग्रति ।।१३।।

संस्कृत-व्याख्या

सम्पन्नास्ते सर्वाशिषः=ते-तव सम्बन्धे सर्वाशिषः=यत् यत् आशास्यमासीत् मे, यत् यत् आशासितं त्वया वा तत्सर्वम् इत्यर्थः सम्पन्नाः-सिद्धाः, मनोरथस्ते सम्पन्नो जातः । अभिवादयस्व=प्रणम ।

अन्वयः—बाल एवेति—बाल एव हि अस्मिन् लोके सम्भावितमहोदयः यूथै—श्वर्यं द्विपः इव क्रमेण राज्यम् आरूढवान् ॥१२॥

व्याख्या—बाल एव—बाल्यादारभ्यैव हि अस्मिन् लोके सम्भावितमहोदयः=सम्भावितः-तर्कितः महान् उदयः-उन्नतिः यस्य तथाभूतः यूथैश्वर्यं=यूथस्य-गजयूथस्य ऐश्वर्यं—नेतृत्वम् द्विपः—हस्ति इव क्रमेण—शनैः राज्यम् आरूढवान्—आक्रान्तवान् ॥१२॥

अन्वयः—जगत इति—गुरौ आर्ये च आर्ये षाड्गुण्यचिन्तायां जाग्रति जगतः मया किं न विजितम् इति प्रविचिन्त्यताम् ॥१३॥

व्याख्या—आर्ये—गुरौ चाणक्ये च आर्ये— मान्ये भवति राक्षसे च षाड्गुण्यचिन्तायां=षाड्गुण्यं-सन्धिविग्रहादीनां षण्णां गुणानां चिन्तायां—कर्तव्याकर्तव्यत्वभावनायां जाग्रति—जागरूके सति जगतः-जगति मया किं न विजितम् (अपि तु सर्वमेव जितम्) इति-एतत् प्रविचिन्त्यताम्-अवधार्यताम् ॥१३॥

हिन्दी रूपान्तर

(चाणक्य के पास जाकर।) आर्य, चन्द्रगुप्त प्रणाम करता है।

चाणक्य—तुम्हारे लिये (हमारी) सभी इच्छायें पूर्ण हो गई अथवा तुम्हारी सभी इच्छायें पूर्ण हो गई। इसलिये मान्य अमात्य प्रमुख को अभिवादन करो।

राक्षस—(मन ही मन।) इसने सम्बन्ध जोड़ दिया।

चाणक्य—(राजा के पास जाकर।) ये अमात्यराक्षस आ गये हैं। इनको प्रणाम करो।

राजा—(राक्षस के पास जाकर।) आर्य, चन्द्रगुप्त प्रणाम करता है।

राक्षस—(देखकर मन ही मन।) अरे, चन्द्रगुप्त है। जो यह

श्लोक (१२) अर्थ—बाल्यकाल से लेकर ही इस संसार में सम्भावना की गई है महान् उन्नति जिसकी ऐसा हाथियों के समूह के नेतृत्व को हाथी के बच्चे के समान क्रमशः राज्य पर आरूढ़ हो गया है ॥१२॥

(स्पष्टतः।) राजन्, विजयी होवो।

राजा—आर्य।

श्लोक (१३) अर्थ—आर्य गुरु (चाणक्य) के और आर्य (आप अर्थात् राक्षस) के सन्धि-विग्रहादि छः गुणों के चिन्तन में जागरूक रहने पर संसार में मैंने क्या नहीं जीत लिया है—यह सोचिये अर्थात् सभी कुछ जीत लिया है ॥१३॥

टिप्पणी

(१) **बाल एव हि**—राक्षस ने चन्द्रगुप्त को शैशवावस्था में देखा था और अब उसको यौवन में देख रहा है।

(२) १२ वें श्लोक का आशय यह है कि हाथी का बच्चा जिसप्रकार कालक्रम से झुण्ड के नेतृत्व को प्राप्त कर लेता है, उसीप्रकार चन्द्रगुप्त ने भी राज्य को प्राप्त कर लिया है।

(३) विजयस्व—"विपराभ्यां जे:" पा० १/३/१९ इत्यात्मनेपदम् ।

(४) जगत:—संसार में, "षष्ठी शेषे" पा० २/३/५० इति षष्ठी । संसार में क्या नहीं जीत लिया ।

(५) १३ वें श्लोक में चन्द्रगुप्त ने राक्षस के साथ मन्त्रित्वेन व्यवहार किया है।

राक्षसः—(स्वगतम् ।) स्पृशति मां भृत्यभावेन कौटिल्यशिष्यः । अथवा विनय एवैष चन्द्रगुप्तस्य । मत्सरस्तु मे विपरीत कल्पयति । सर्वथा स्थाने यशस्वी चाणक्यः । कुतः ।

द्रव्यं जिगीषुमधिगम्य जडात्मनोऽपि
नेतुर्यशस्विनि पदे नियतं प्रतिष्ठा ।
अद्रव्यमेत्य भुवि शुद्धनयोऽपि मन्त्री
शीर्णाश्रयः पतति कूलजवृक्षवृत्या ॥१४॥

संस्कृत-व्याख्या

भृत्यभावेन = सेवकत्वेन । मत्सरः = ईर्ष्याभावः । विपरीतम् = अन्यथा । कल्पयति = अवगमयति । स्थाने = युक्तम् ।

अन्वयः—द्रव्यमिति—द्रव्यं जिगीषुम् अधिगम्य जडात्मनः अपि नेतुः यशस्विनि पदे प्रतिष्ठा नियतम् । अद्रव्यम् एत्य शुद्धनयः अपि मन्त्री शीर्णाश्रयः कूलजवृक्षवृत्या भुवि पतति ॥१४॥

व्याख्या—द्रव्यं—श्रेयःप्राप्तियोग्यं जिगीषुं ज्योद्योगिनम् (पुरुषम्) अधिगम्य—प्राप्य जडात्मनः—मन्दबुद्धेः अपि नेतुः—अमात्यस्य यशस्विनि—यशःप्रदायके पदे—स्थाने प्रतिष्ठा-स्थितिः नियतम्-अवश्यम् (भवति) (किमुतोदारबुद्धेरमात्यस्य) । (किन्तु) अद्रव्यम्—अयोग्यम् (जिगीषुं प्रभुम्) एत्य—प्राप्य शुद्धनयः = शुद्धः-अनवद्यः नयः—नीतिप्रयोगो यस्य तादृशः अपि मन्त्री—अमात्यः (अहमिव) शीर्णाश्रयः = शीर्ण-उच्छिन्नः आश्रयः—अवलम्बनं यस्य सः कूलजवृक्षवृत्या = कूलजस्य – नदीतीरजातस्य वृक्षस्य वृत्या—व्यवहारेण भुवि—पृथिव्यां पतति ॥१४॥

हिन्दी रूपान्तर

राक्षस—(मन ही मन ।) चाणक्य का शिष्य मुझको भृत्यभाव से स्पर्श कर रहा है (व्यवहार कर रहा है) । अथवा यह चन्द्रगुप्त का विनय ही है । किन्तु ईर्ष्या मुझे विपरीत भाव से ज्ञान करा रही है । सब प्रकार से चाणक्य उचित ही यशस्वी है । क्योंकि ।

श्लोक (१४) अर्थ—श्रेयः प्राप्ति के योग्य (द्रव्यम्) जीतने की इच्छा वाले (पुरुषः) को प्राप्त करके मन्दबुद्धि वाले भी अमात्य की (नेतुः) यशस्वी पद पर स्थिति (प्रतिष्ठा) निश्चित रूप से होती है (उदार बुद्धि वाले अमात्य का तो कुछ कहना ही

नहीं)। (किन्तु) अयोग्य स्वामी का आश्रय लेकर शुद्धनीति वाला भी मन्त्री (मेरे समान) विनष्ट आश्रय वाला (होता हुआ) (नदी के) किनारे उत्पन्न वृक्ष की वृत्ति से पृथ्वी पर गिर पड़ता है (अर्थात् द्रव्यप्राप्ति प्रतिष्ठा कराती है और अद्रव्यप्राप्ति पतन कराती है।) ॥१४॥

टिप्पणी

(१) **स्पृशति मां भृत्यभावेन**—अभी तो मैंने मन्त्रित्व भी स्वीकार नहीं किया है, तथापि। अथवा अभी तो मुझे अमात्य होने के लिये निमन्त्रण भी नहीं दिया है, तथापि भृत्यभावेन—भृत्यभाव से। राक्षस के हृदय में इसप्रकार की अनुभूति चन्द्रगुप्त के "आर्य" सम्बोधन करने से हुई है।

(२) **कौटिल्यशिष्यः**—कौटिल्येन शिष्यः—अनुशिष्ट इत्यर्थः। अर्थात् यह स्वयं विनम्र नहीं है अपितु चाणक्य की प्रेरणा से विनम्र व्यवहार कर रहा है।

(३) **अथवा विनय एव**—राक्षस के मन में पहले तो यह विचार आया था कि यह चन्द्रगुप्त चाणक्य की प्रेरणा से विनम्र होकर व्यवहार कर रहा है। अगले ही क्षण वह अपने इस सोचे हुये का निराकरण "**अथवा विनय एवैष चन्द्रगुप्तस्य**" इन शब्दों में कर देता है।

(४) **सर्वथा स्थाने यशस्वी चाणक्यः**—अपनी तुलना करता है, जिसको मलयकेतु जैसा मूर्ख अयोग्य व्यक्ति मिला है। राक्षस अपने दुर्भाग्य पर दुःख मानता है कि उसको मलयकेतु के साथ काम करना पड़ा।

(५) **द्रव्यम्**—चन्द्रगुप्त की ओर संकेत है।

(६) **अद्रव्यम्**—मलयकेतु की ओर संकेत है।

(७) **शुद्धनयः**—राक्षस का अपनी ओर संकेत है। उसके कूटनीतिक प्रयोग पर्याप्त रूप से अमोघ थे। उनसे विजय की प्राप्ति भी सम्भव थी, यदि मलयकेतु जैसा व्यक्ति न मिलता।

(८) **शीर्णाश्रयः**—राक्षस अपने आपको ऐसा ही अनुभव करता है। नदी के किनारे का वृक्ष शीर्णाश्रय हो जाता है जब कि नदी की धारा से तट गिर जाता है। इसीप्रकार राक्षस भी मलयकेतु के विनाश से शीर्णाश्रय है।

(९) **पतति**—भुवि पतति—**मन्त्रीपक्ष में** समाज में गिर जाता है। **वृक्षपक्ष में**—पृथ्वी पर गिर पड़ता है।

(१०) १४ वें श्लोक का आशय यह है कि सत्पात्र चन्द्रगुप्त का आश्रय लेने से चाणक्य की कार्यसिद्धि भी हुई और संसार में प्रतिष्ठा भी हुई। इसके विपरीत असत्पात्र मलयकेतु का आश्रय लेने से मेरी कार्यसिद्धि का होना तो दूर, मेरा पतन ही हो गया। अतः द्रव्यप्राप्ति प्रतिष्ठा कराती है और अद्रव्यप्राप्ति पतन कराती है।

चाणक्य:—अमात्य राक्षस, इष्यते चन्दनदासस्य जीवितम् ।

राक्षस:—भो विष्णुगुप्त, कुतः संदेहः ।

चाणक्य:—अमात्य राक्षस, अगृहीतशस्त्रेण भवतानुगृह्यते वृषल इत्यतः संदेहः । तद्यदि सत्यमेव चन्दनदासस्य जीवितमिष्यते ततो गृह्यतामिदं शस्त्रम् ।

राक्षस:—भो विष्णुगुप्त, मा मैवम् । अयोग्या वयमस्य विशेषतस्त्वया गृहीतस्य ग्रहणे ।

चाणक्य:—राक्षस, योग्योऽहं त्वं योग्य इति किमनेन । पश्य

अश्वैः सार्धमजस्रदत्तकविकैः क्षामैरशून्यासनैः
　स्नानाहारविहारपानशयनस्वेच्छासुखैर्वर्जितान् ।
माहात्म्यात्तव पौरुषस्य मतिमन्दृप्तारिदर्पच्छिदः
　पश्यैतान्परिकल्पनाव्यतिकरप्रोच्छूनवंशान्गजान् ॥१५॥

संस्कृत-व्याख्या

अगृहीतशस्त्रेण = अनादत्तायुधेन । अनुगृह्यते—अनुकम्प्यते ।

अन्वय:—अश्वैरिति—मतिमन्दृप्तारिदर्पच्छिदः तव पौरुषस्य माहात्म्यात् अशून्यासनैः अजस्रदत्तकविकैः क्षामैः अश्वैः सार्धं स्नानाहारविहारपानशयनस्वेच्छासुखैः वर्जितान् परिकल्पनाव्यतिकरप्रोच्छूनवंशान् एतान् गजान् पश्य ॥१५॥

व्याख्या—मतिमन्दृप्तारिदर्पच्छिदः = मतिमतः—बुद्धिमतः दृप्तानां—गर्वितानां अरीणां च दर्पच्छिदः—गर्वहारिणः तव—भवतः पौरुषस्य—शौर्यस्य माहात्म्यात्—प्रभावात् अशून्यासनैः = अशून्यानि—अपनीतानि आसनानि—पल्याणानि येषां तैः (सदा संनद्धैरित्यर्थः) (अतएव) अजस्रदत्तकविकैः = अजस्रम्—अनवरतं दत्ता—मुखे योजिता कविकावल्गा येषां तैः क्षामैः = क्षीणैः अश्वैः—वाजिभिः सार्धं स्नानाहारविहारपानशयनस्वेच्छासुखैः = स्नानेषु—निमज्जनेषु आहारेषु—भोजनेषु विहारेषु—भ्रमणेषु पानेषु शयनेषु च विषये या स्वेच्छा—स्वैरिता ततो यानि सुखानि तैः (स्वाधीनस्नानादिजन्यानन्दैः इत्यर्थः) वर्जितान्—विरहितान् परिकल्पनाव्यतिकरप्रोच्छूनवंशान् = परिकल्पनायाः—पर्याणादिसाधनसज्जायाः व्यतिकरेण—सम्बन्धेन प्रोच्छूनाः = शोथरुजा व्याप्ताः वंशाः—पृष्ठास्थिभागाः येषां तान् तथाभूतान् एतान् गजान्—हस्तिनः पश्य—अवलोकय ॥१५॥

हिन्दी रूपान्तर

चाणक्य—अमात्य राक्षस, चन्दनदास के जीवन को चाहते हो ?

राक्षस—हे विष्णुगुप्त, (इसमें) सन्देह कहाँ से ?

चाणक्य—अमात्य राक्षस, शस्त्र को बिना ग्रहण किये हुये आपके द्वारा चन्द्रगुप्त अनुगृहीत किया जा रहा है, इसलिये सन्देह है । तो यदि वस्तुतः ही चन्दन-दास का जीवन चाहते हो तो इस शस्त्र को ग्रहण करो ।

राक्षस—हे विष्णुगुप्त, नहीं, ऐसा नहीं। इस (शस्त्र) के हम अयोग्य हैं (और) विशेषतः तुम्हारे द्वारा ग्रहण किये हुये (शस्त्र) के ग्रहण करने में।

चाणक्य—राक्षस, मैं योग्य हूँ (अथवा) तुम योग्य हो—इससे क्या ? देखो

श्लोक (१५) अर्थ—बुद्धिमान् और गर्वित शत्रुओं के दर्प को नष्ट करने वाले तुम्हारे पुरुषार्थ के प्रभाव से अशून्य आसन (जीन) वाले (अतएव) निरन्तर मुख में लगाम को धारण किये हुये कृश घोड़ों के साथ, स्नान-भोजन-भ्रमण-पीना और सोने के विषय में स्वेच्छा से प्राप्त होने वाले सुखों से रहित गद्दी आदि साधन सज्जा के सम्बन्ध से सूजे हुये (प्रोच्छून) पृष्ठभाग वाले इन हाथियों को देखो ॥१५॥

टिप्पणी

(१) इष्यते—प्रश्न है ?

(२) अगृहीतशस्त्रेण—"शस्त्र" अमात्य पद का प्रतीक है। शस्त्र को धारण किये बिना ही आप चन्द्रगुप्त के प्रति कृपाभाव प्रकट कर रहे हैं। अर्थात् चन्द्रगुप्त के अमात्य होने को स्वीकार कीजिये। जब तक आप अमात्य होना स्वीकार नहीं कर लेते तब तक आपका अनुग्रह निराधार है।

(३) **परिकल्पना**=हाथी की पीठ पर प्रयुक्त होने वाली गद्दी।

(४) **व्यतिकर**=वि + अति + कृ + घञ् करणे=व्यतिकरः।

(५) **प्रोच्छून**=प्र + उद् + श्वि + क्त कर्तरि प्रोच्छून=सूजी हुई।

(६) चाणक्य १५ वें श्लोक से राक्षस को यह बताना चाहता है कि वस्तुतः अमात्य पद के लिये तुम्हीं योग्य हो और एकमात्र यह तुम्हारा ही प्रताप था कि हमारे घोड़े और हाथी सर्वदा युद्ध के लिये तैयार रहते थे।

अथवा किं बहुना। न खलु भवतः शस्त्रग्रहणमन्तरेण चन्दनदासस्य जीवितमस्ति।

राक्षसः—(स्वगतम्।)

नन्दस्नेहगुणाः स्पृशन्ति हृदयं भृत्योऽस्मि तद्विद्विषां
ये सिक्ताः स्वयमेव वृद्धिमगंश्छिन्नास्त एव द्रुमाः।
शस्त्रं मित्रशरीररक्षणकृते व्यापारणीयं मया
कार्याणां गतयो विधेरपि न यन्त्याज्ञाकरत्वं चिरात् ॥१६॥

संस्कृत-व्याख्या

अन्तरेण=विना। जीवितं=जीवनम्।

अन्वयः—नन्दस्नेहेति—नन्दस्नेहगुणाः हृदयं स्पृशन्ति, तद्विद्विषां भृत्योऽस्मि, ये द्रुमाः स्वयं सिक्ताः एव वृद्धिम् अगमन् ते छिन्नाः एव। मित्रशरीररक्षणकृते मया शस्त्रं व्यापारणीयम्, कार्याणां गतयः चिरात् विधेरपि आज्ञाकरत्वं न यन्ति ॥१६॥

व्याख्या—(एकतस्तु) नन्दस्नेहगुणाः = नन्दानां स्नेहस्य गुणाः (मम) हृदयं—अन्तरं स्पृशन्ति—आवर्जयन्ति, (अपरतश्च) तद्विद्विषां = तेषां—नन्दानां विद्विषां—शत्रूणां भृत्यः—सेवकः (जातः) अस्मि, ये—नन्दरूपाः द्रुमाः—वृक्षाः स्वयं सिक्ताः—परिपालिताः सन्तः एव वृद्धिम् अगमन् ते—द्रुमाः छिन्नाः—उत्सन्ना एव। मित्रशरीररक्षणकृते = मित्रस्य—सुहृदः चन्दनदासस्य यत् शरीररक्षणं–देहगुप्तिः तस्य कृते मया शस्त्रं—मन्त्रित्वं व्यापारणीयं—स्वीकरणीयम् (अन्यथा तस्य मुक्तिर्नास्ति), कार्याणां-प्राक्तनकर्मणां गतयः—परिणतयः चिरात् विधेः—विधातुः अपि आज्ञाकरत्वं न यन्ति ॥१६॥

हिन्दी रूपान्तर

अथवा अधिक कहने से क्या (लाभ) ? आपके शस्त्रग्रहण के बिना चन्दनदास का जीवन नहीं है।

राक्षस—(मन ही मन।)

श्लोक (१६) **अर्थ**—(एक तरफ तो) नन्द के स्नेह के गुण (मेरे) हृदय को स्पर्श कर रहे हैं, (और दूसरी ओर) उन (नन्दों) के शत्रुओं का (मैं) भृत्य होने जा रहा हूँ, जो (नन्दरूपी) वृक्ष अपने आप पाले हुये ही वृद्धि को प्राप्त हुये थे, वे (इस समय) नष्ट हो ही गये। (अपने) मित्र (चन्दनदास) के शरीर की रक्षा के लिये मुझे मन्त्रित्व (शस्त्रम्) स्वीकार करना है (व्यापारणीयम्), पूर्व जन्म के कर्मों की गतियाँ चिरकाल से ब्रह्मा की भी आज्ञाकारिता को प्राप्त नहीं होती हैं ॥१६॥

टिप्पणी

(१) **कार्याणां गतयः**—अर्थात् सर्वात्मना समर्थ होता हुआ भी ब्रह्मा कर्मों की विचित्र गति होने के कारण उन कर्म की गतियों का अनुचर के समान हो जाता है।

(प्रकाशम्।) विष्णुगुप्त, नमः सर्वकार्यप्रतिपत्तिहेतवे सुहृत्स्नेहाय। का गतिः। एषः प्रह्वोऽस्मि।

चाणक्यः—(सहर्षम्।) वृषल वृषल, अमात्यराक्षसेनेदानीमनुगृहीतोऽसि। दिष्ट्या वर्धते भवान्।

राजा—आर्यप्रसाद एष चन्द्रगुप्तेनानुभूयते।

पुरुषः—जेदु अज्जो। एसो क्खु भद्दभटभाउराअणप्पमुहेहिं संजमिदकलचलणो मलअकेदु पडिहारभूमिं उवट्ठिदो। एदं सुणिअ अज्जो प्पमाणम्। जयत्वार्यः। एष खलु भद्रभटभागुरायणप्रमुखैः संयमितकरचरणो मलयकेतुः प्रतिहारभूमिमुपस्थितः। इदं श्रुत्वा आर्यः प्रमाणम्।

चाणक्यः—भद्र, निवेद्यतामात्यराक्षसाय। सोऽयमिदानीं जानीते।

राक्षसः—(स्वगतम् ।) दासीकृत्य मामिदानीं विज्ञापनायां मुखरीकरोति कौटिल्यः । का गतिः (प्रकाशम् ।) राजन् चन्द्रगुप्त, विदितमेव ते यथा वयं मलयकेतौ कंचित्कालमुषितास्तत्परिरक्ष्यन्तामस्य प्राणाः

(राजा चाणक्यमुखमवलोकयति ।)

संस्कृत-व्याख्या

सर्वकार्यप्रपत्तिहेतवे = सर्वेषां कार्याणां प्रतिपत्तिः—स्वीकृतिः तस्याः हेतवे—कारणाय । आर्यप्रसादः = आर्यस्य—पूज्यस्य भवतः प्रसादः—अनुग्रहः । संयमितकरचरणः = सयमितं—बद्धः करचरणम्—हस्तपादः यस्य सः । प्रतिहारभूमिम् = द्वारदेशम् । दासीकृत्य = भृत्यं विधाय । मुखरीकरोति = वाचालं करोति । उषिताः = स्थिताः ।

हिन्दी रूपान्तर

(स्पष्टतः ।) विष्णुगुप्त, सभी प्रकार के कार्यों की स्वीकृति के कारण मित्र-स्नेह के लिये नमस्कार है । क्या उपाय है ? यह झुक गया हूँ (अर्थात् मुझे स्वीकार है) ।

चाणक्य—(हर्ष के साथ ।) वृषल वृषल, सम्प्रति अमात्यराक्षस से अनुगृहीत हो । सौभाग्य से तुम बढ़ रहे हो (अर्थात् तुमको बधाई हो ।) ।

राजा—यह आर्य की कृपा का चन्द्रगुप्त अनुभव कर रहा है ।

पुरुष—आर्य की विजय हो । भद्रभट और भागुरायणादियों के द्वारा बँधे हुये हाथ पैर वाला यह मलयकेतु द्वार पर उपस्थित है । यह सुनकर आर्य प्रमाण हैं ।

चाणक्य—भद्र, अमात्यराक्षस से निवेदन करो । इस समय वे ये (राक्षस) जानते हैं (कि अब क्या करना है ?) ।

राक्षस—(मन ही मन ।) दास बनाकर इस समय चाणक्य मुझे कहने में वाचाल बना रहा है । क्या उपाय है ? (स्पष्टतः ।) राजन् चन्द्रगुप्त, तुमको मालूम ही है कि हम मलयकेतु के आश्रय में कुछ समय रहे हैं इसलिये इसके प्राणों की रक्षा कीजिये ।

(राजा चाणक्य के मुख को देखता है ।)

टिप्पणी

(१) प्रह्वः – प्र + ह्वे॑ञ् + क्त कर्तरि, प्रह्वः ।

(२) **चाणक्यमुखम्**—राक्षस की मलयकेतु को छोड़ देने की प्रार्थना अप्रत्याशित थी । राजा इस समय निर्णय नहीं कर सका कि ऐसे समय में क्या कहना चाहिये । अतः चाणक्य के मुख की ओर इस आशय से देखता है कि आप ही मुझे इस विषय में मार्ग दर्शन कीजिये ।

चाणक्यः—प्रतिमानयितव्योऽमात्यराक्षसस्य प्रथमः प्रणयः । (पुरुषं प्रति ।) भद्र, अस्मद्वचनादुच्यन्तां भद्रभटप्रमुखा यथा—'अमात्यराक्षसेन विज्ञापितो देवश्चन्द्रगुप्तः प्रयच्छति मलयकेतवे पित्र्यमेव विषयम् । अतो गच्छन्तु भवन्तः सहानेन । प्रतिष्ठिते चास्मिन्पुनरागन्तव्यम्' इति ।

पुरुषः—जं अज्जो आणवेदि त्ति। (परिक्रामति।) यदार्य आज्ञापयतीति।

चाणक्यः—भद्र; तिष्ठ तिष्ठ। अपरं च वक्तव्यो दुर्गपालः—'अमात्यराक्षसलाभेन सुप्रीतश्चन्द्रगुप्तः समाज्ञापयति य एष श्रेष्ठी चन्दनदासः स पृथिव्यां सर्वनगरश्रेष्ठिपदमारोप्यतामिति। अपि च विना वाहनहस्तिभ्यः क्रियतां सर्वमोक्षः' इति। अथवामात्यराक्षसे नेतरि किमस्माकं प्रयोजनमिदानीम्।

विना वाहनहस्तिभ्यो मुच्यतां सर्वबन्धनम्।
पूर्णप्रतिज्ञेन मया केवलं बध्यते शिखा ॥१७॥

पुरुषः—जं अज्जो आणवेदि त्ति। (निष्क्रान्तः।) यदार्य आज्ञापयतीति।

संस्कृत-व्याख्या

प्रतिमानयितव्यः—स्वीकर्तव्यः। प्रथमः = आद्यः। प्रणयः = प्रार्थना। विज्ञापितः = प्रार्थितः। प्रयच्छति = ददाति। पित्र्यम् = पितृसम्बन्धि, पितुरागतम् इति यावत्। विषयं = राज्यम्। नेतरि = अमात्ये सति।

अन्वयः—विनेति—वाहनहस्तिभ्यः विना सर्वबन्धनं मुच्यताम्। पूर्णप्रतिज्ञेन मया केवलं शिखा बध्यते ॥१७॥

व्याख्या—वाहनहस्तिभ्यः = वाहनेभ्यः—अश्वेभ्यः हस्तिभ्यः—गजेभ्यश्च विना सर्वबन्धनं = सर्वेषां बन्धनं—संयमनं मुच्यताम्—अपनीयताम्। पूर्णप्रतिज्ञेन = पूर्णा—सफला प्रतिज्ञा—प्रतिश्रुतिः यस्य तादृशेन मया केवलं शिखा बध्यते ॥१७॥

हिन्दी रूपान्तर

चाणक्य—अमात्यराक्षस की प्रथम प्रार्थना (प्रणयः) स्वीकार करनी चाहिये। (पुरुष को लक्ष्य करके) भद्र, हमारी ओर से भद्रभटादियों से कहना कि "अमात्यराक्षस के द्वारा निवेदन किये हुये महाराज चन्द्रगुप्त मलयकेतु को (उसका) पैतृक ही राज्य देते हैं। अतः तुम सब इसके साथ जाओ। और इसके (राज्य में) स्थिर हो जाने पर फिर आना" इति।

पुरुष—जो आर्य आज्ञा देते हैं। (घूमता है।)

चाणक्य—भद्र, ठहरो ठहरो। और दूसरी (बात) दुर्गपाल को कहना कि "अमात्यराक्षस की प्राप्ति से अत्यन्त प्रसन्न चन्द्रगुप्त आज्ञा देता है (कि) जो यह सेठ चन्दनदास है उसको पृथ्वी पर सारे शहरों में श्रेष्ठी पद पर नियुक्त कर दो। और भी घोड़े और हाथियों को छोड़कर सबको मुक्त कर दो।" अथवा अमात्यराक्षस के मन्त्री होने पर (नेतरि) इस समय हमारा क्या प्रयोजन है (अर्थात् कुछ भी नहीं)।

श्लोक (१७) अर्थ—घोड़े और हाथियों को छोड़कर सभी के बन्धनों को खोल दो। पूर्ण प्रतिज्ञा वाले मेरे द्वारा केवल (अपनी) शिखा बाँधी जाती है ॥१७॥

पुरुष—जो आर्य आज्ञा देते हैं। (निकल गया।)

टिप्पणी

(१) प्रतिमानयितव्यः—प्रति + मन् + णिच् + तव्य कर्मणि। यद्यपि राजनीति का यह सिद्धान्त है कि "शत्रुशेषं न शेषयेत्" अर्थात् शत्रु को समूल नष्ट कर दे और इस सिद्धान्त के अनुसार मलयकेतु को नहीं छोड़ना चाहिये तथापि राक्षस की अमात्य पद को स्वीकार करने के पश्चात् यह प्रार्थना है, अतः स्वीकार की जानी चाहिये।

(२) प्रणयः—प्रणीयते अनेन इति प्र + णी + अच् करणे प्रणयः = प्रार्थना।

(३) अस्मद् वचनात्—हमारी ओर से। चाणक्य यह सोचता है कि सम्भवतः भद्रभटादि राक्षस के मन्त्रित्व पर अविश्वास करते हुये राक्षस की बात को या चन्द्रगुप्त की बात को न मानें। अतः उसने "अस्मद्वचनात्" ऐसा कहा है।

(४) अमात्यराक्षसेन विज्ञापितः—ऐसा कहने का यह प्रयोजन है कि मलयकेतु को भी यह मालूम पड़ जावे कि जिसके साथ मैंने इसप्रकार का कठोर और अपमान-जनक व्यवहार किया है, उसी राक्षस ने उपकार किया है। इसप्रकार मलयकेतु को राक्षस की सुजनता का अनुभव कराना ही इस कथन का उद्देश्य है।

(५) प्रतिष्ठिते चाऽस्मिन्—इस मलयकेतु के राज्य में स्थिर हो जाने पर। क्योंकि मलयकेतु अभी नवीन राजा है और उसकी पराजय के बाद उसके राज्य को चन्द्रगुप्त के राज्य में मिला देने की घोषणा की जा चुकी है, इसलिये।

(६) दुर्गपाल—जेलर। यह मन्त्रिमण्डल में सुरक्षा-मन्त्री था। इसका कैदियों को बन्धन मुक्त करना कर्तव्य था।

(७) प्रयोजनम्—प्रयोज्यते अनेन इति प्र + युज् + णिच् + ल्युट् करणे प्रयोजनम्।

(८) विना वाहनहस्तिभ्यः—उह्यते एभिः इति वह + ल्युट् करणे-निपातनात् वृद्धि, वाहन = घोड़ा। "पृथक् विनानानाभिस्तृतीयान्तरस्याम्" पा० २/३/३२ इति पञ्चमी।

(९) मुच्यतां सर्वबन्धनम्—सभी कैदियों को बन्धनमुक्ति का आदेश दे देना-- यह भी प्रसन्नता को प्रकट करने के प्रतीक रूप में एक परम्परा चली आई है। इस परम्परा का आजकल भी भारतीय न्यायालयों में पालन किया जाता है।

(१०) पूर्णप्रतिज्ञेन—चाणक्य की प्रतिज्ञा नन्दवंश के विनाश की ही नहीं थी अपितु मौर्य की लक्ष्मी को स्थिर करने की प्रतिज्ञा थी और यह प्रतिज्ञा राक्षस को चन्द्रगुप्त का अमात्य बना देने पर पूरी हो गई।

(११) इस सप्तम अङ्क के १७वें श्लोक में आकर चाणक्य की प्रतिज्ञा पूरी होती है। "ततः प्रविशति मुक्तां शिखां परामृशन्" इसप्रकार मुखसन्धि में निक्षिप्त बीज का यहाँ निर्वहण किया है।

चाणक्य.—भो राजन् चन्द्रगुप्त, भो अमात्य राक्षस, उच्यतां किं वां भूयः प्रियमुपकरोमि ।

राजा—किमतः परमपि प्रियमस्ति ।

राक्षसेन समं मैत्री राज्ये चारोपिता वयम् ।
नन्दाश्चोन्मूलिताः सर्वे किं कर्तव्यमतः प्रियम् ॥१८॥

राक्षसः—तथापीदमस्तु भरतवाक्यम् ।

वाराहीमात्मयोनेस्तनुमवनविधावास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री ।
म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः ॥१९॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

[इति संग्रहणं नाम सप्तमोऽङ्कः ।]

[इति विशाखदत्तविरचितं मुद्राराक्षसं नाटकं समाप्तम् ।]

संस्कृत-व्याख्या

अन्वयः—राक्षसनेति—राक्षसेन समं मैत्री वयं च राज्ये आरोपिताः । सर्वे च नन्दाः उन्मूलिताः अतः किं प्रियं कर्तव्यम् ॥१८॥

व्याख्या—राक्षसेन समं–सह मैत्री–सख्यम् (जातम्) वयं च राज्ये आरोपिताः—स्थिरीकृताः । सर्वे च नन्दाः उन्मूलिताः—उत्खाताः अतः–अस्मात्परं किं प्रियं कर्तव्यम्—करणीयम् ॥१८॥

अन्वयः—वाराहीमिति—प्राक्प्रलयपरिगता भूतधात्री अवनविधौ अनुरूपां वाराहीं तनुम् आस्थितस्य यस्य आत्मयोनेः दन्तकोटिं शिश्रिये । अधुना म्लेच्छैः उद्विज्यमाना राजमूर्तेः भुजयुगं संश्रिता, श्रीमद्बन्धुभृत्यः सः पार्थिवः चन्द्रगुप्तः चिरं महीम् अवतु ॥१९॥

व्याख्या—प्राक्—कल्पादौ प्रलयपरिगता—प्रलयेन परिगता–निमग्ना सती भूतधात्री—पृथ्वी अवनविधौ—जगद्रक्षणविधाने अनुरूपां—समर्थां वाराहीं—शौकरीं तनुं–शरीरम् आस्थितस्य–आश्रितस्य यस्य आत्मयोनेः–स्वयंभुवः श्रीविष्णोः दन्तकोटिं-दंष्ट्राग्रं शिश्रिये—आश्रिता (अभूत्) । अधुना—सम्प्रति (पुनः कलियुगे) म्लेच्छैः—यवनैः उद्विज्यमाना—उत्पीड्यमाना सती (भूतधात्री) (तस्यैव) राजमूर्तेः—राजा—चन्द्रगुप्तः एव मूर्तिः—शरीरं यस्य तथाभूतस्य (भगवतः) भुजयुगं—बाहुद्वयं संश्रिता—समालम्बमाना (आस्ते), श्रीमद्बन्धुभृत्यः—श्रीमन्तः–समृद्धाः बन्धवः–स्वजनाः भृत्याः–सेवकाश्च यस्य तादृशः सः-विष्णुमूर्तिः पार्थिवः—राजा चन्द्रगुप्तः–मौर्यः चिरं–बहु-कालं यावत् महीं—पृथिवीम् अवतु—रक्षतु ॥१९॥

॥ इति मुद्राराक्षसे सप्तमोऽङ्कः ॥

॥ इति विशाखदत्तविरचितं मुद्राराक्षसं नाटकं समाप्तम् ॥

हिन्दी रूपान्तर

चाणक्य—हे राजन् चन्द्रगुप्त, हे अमात्यराक्षस कहो तुम दोनों का और क्या प्रिय कर सकता हूँ ?

राजा—क्या इससे भी अधिक प्रिय है ?

श्लोक (१८) अर्थ— राक्षस के साथ मित्रता (हो गई) और हमको राज्य पर प्रतिष्ठित कर दिया। और सभी नन्दों को समूल नष्ट कर दिया, इससे अधिक क्या प्रिय करना (शेष) है।

राक्षस—तथापि यह भरतवाक्य हो।

श्लोक (१९) अर्थ— पहले (कल्प के आदि में) प्रलय से व्याप्त होती हुई पृथिवी ने रक्षा करने में समर्थ वराह सम्बन्धी शरीर को धारण किये हुये जिस स्वयंभू विष्णु भगवान् के दाँतो के अग्रभाग पर आश्रय लिया था, सम्प्रति (कलियुग में) म्लेच्छों से पीड़ित होती हुई (उसी पृथिवी) ने राजा चन्द्रगुप्त ही है शरीर जिसका ऐसे (श्रीविष्णु) की (राजमूर्तेः) दोनो भुजाओं का आश्रय लिया है। श्रीसम्पन्न बन्धु और भृत्यों वाला वह (विष्णुरूप) राजा चन्द्रगुप्त चिरकाल तक (उसी) पृथिवी की रक्षा करे ॥१९॥

(इसप्रकार सभी निकल जाते हैं।)

संग्रहण नामक सप्तम अङ्क समाप्त।

टिप्पणी

(१) भो राजन् चन्द्रगुप्त—अभी तक चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को '**राजन्**' कहकर कभी सम्बोधित नहीं किया है, हमेशा ही "**वृषल**" कहकर पुकारा है, क्योंकि चाणक्य यह समझता था कि बिना राक्षस को वश में किये चन्द्रगुप्त यथार्थ में "**राजन्**" सम्बोधन के योग्य नहीं है। अतः यहाँ पर राक्षस को वश में करके, उसे चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाकर, राज्यलक्ष्मी को स्थिर करके और अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के उपरान्त अब "**राजन्**" सम्बोधन किया है।

(२) भो राजन् चन्द्रगुप्त, भो अमात्य राक्षस, उच्यतां किं वां भूयः प्रियमुपकरोमि—राजन् और अमात्य इन शब्दों का प्रयोग राजा होने और अमात्य होने के सम्बन्ध को प्रभावशाली बनाने के लिये किया है। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त और अमात्य राक्षस दोनों के ही दो-दो प्रिय कर्म किये हैं। चन्द्रगुप्त के दो प्रिय कर्म इसप्रकार किये हैं—

(क) मलयकेतु को पराजित किया है और (ख) अमात्यराक्षस को मन्त्री बना दिया है।

राक्षस के दो प्रिय कर्म इसप्रकार किये हैं—(क) मलयकेतु को प्राणदान देकर उसको उसी के राज्य पर प्रतिष्ठित कर देना और (ख) चन्दनदास को बन्धन से मुक्त करके सम्पूर्ण नगर का प्रमुख श्रेष्ठी बना देना।

इसप्रकार दोनों के दो-दो प्रिय कर्म करने के पश्चात् चाणक्य ने पूछा है कि अब मुझे बताओ कि मैं इससे भी अधिक क्या आप दोनों का प्रिय उपकार कर सकता हूँ।

(३) चाणक्य ने राजा चन्द्रगुप्त और अमात्य राक्षस दोनों से ही यह प्रश्न किया था कि "किं वां भूयः प्रियमुपकरोमि" इसका उत्तर चन्द्रगुप्त ने १८ वें श्लोक में और राक्षस ने भरतवाक्य के रूप में १९ वें श्लोक में दिया है।

(४) **इदमस्तु**—ऐसा कहकर जो कुछ कहना चाहता है, उसको कहने के लिये "**भरत**"—प्रमुख अभिनेता के लिये छोड़ देता है।

(५) **भरतवाक्यम्**—नाटक की समाप्ति पर प्रमुख पात्र के द्वारा यह पढ़ा जाता है। "**भरतवाक्य**" में अभिनय करने वाले पात्रों की ओर से एक सर्वसाधारण समृद्धि की कामना होती है। भरत का अर्थ नट है। नट के द्वारा कहा हुआ वाक्य नटवाक्य = भरतवाक्य। वस्तुतः नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत ने यह सोचकर कि प्रस्तावना और समाप्ति दोनो ही स्थलों पर नट का उल्लेख करना अनुचित होगा, अतः यहाँ पर नट पद को छोड़कर भरत पद का उपादान किया है। इसप्रकार यह श्लोक नट के द्वारा ही पढ़ा जाना चाहिये। अभिनेताओं में 'भरत' प्रमुख अभिनेता कहलाता है। यहाँ पर इसके वचन को राक्षस का ही वचन समझना चाहिये क्योंकि वह राक्षस की भावना को ही व्यक्त कर रहा होता है।

(६) **वाराहीम्**—वराहस्य इयम्। विष्णु जी के तीसरे अवतार की दशा है। इस अवतार में उन्होंने "**वराह**" का रूप धारण कर प्रलय में पृथिवी की रक्षा की थी।

(७) **अनुरूपाम्**—समर्थ। यह शरीर जो प्रलयकाल में पृथिवी की रक्षा करने में समर्थ हो और यह शरीर ऐसा होना चाहिये जो पृथिवी और जल में समान रूप से रह सके। भगवान् विष्णु ने देखा कि वराह का शरीर इस कार्य के लिये सर्वथा उचित रहेगा और उन्होंने इसी रूप को धारण कर लिया।

(८) **शिश्रिये**—श्रि उभयपदी धातु है। **कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदम्।**

(९) **म्लेच्छैः**—यह पृथिवी पहले "**प्रलयपरिगता**" थी और अब "**म्लेच्छैरुद्विज्यमाना**" है। अतः पहले की अपेक्षा इस समय की आपत्ति भयंकर है।

(१०) **राजमूर्तेः**—यह शब्द यह प्रकट करता है कि वराहवतार के समान श्रीविष्णु जी ने कलिकाल में चन्द्रगुप्त के रूप में अवतार लिया है। चन्द्रगुप्त और विष्णु में अभेद किया गया है।

(११) १९ वें श्लोक के अनुसार पृथिवी ने पहले **'दन्तकोटि'** पर आश्रय लिया था और सम्प्रति "भुजयुगल" पर आश्रय लिया है। दोनों समय की स्थितियों की परस्पर तुलना इसप्रकार है—**प्राक् = अधुना** — पहले की अपेक्षा अब अधिक खतरा है। **दन्तकोटि = भुजयुगम्** – दन्तकोटि की अपेक्षा दो भुजायें अधिक अच्छा आश्रय दे सकती हैं। **वाराहीम् = राजमूर्ते। प्रलयपरिगता = म्लेच्छैरुद्विज्यमाना। शिश्रिये = संश्रिता** (सम् + श्रि + क्त कर्तरि वर्तमाने)।

(१२) नाटक की समाप्ति पर हम देखते हैं कि राक्षस पराजित होता है और चन्द्रगुप्त के अमात्यत्व को स्वीकार कराया जाता है।

श्री विशाखदत्तविरचित मुद्राराक्षस नाटक समाप्त।

परिशिष्ट (१)

पारिभाषिक शब्दों के लक्षण

(१) नान्दी—इसका लक्षण इसप्रकार है—

अर्थतः शब्दतो वापि मनाक् काव्यार्थसूचनम् ।
यत्राष्टभिर्द्वादशभिरष्टादशभिरेव च ।
द्वाविंशत्यापदर्वापि सा नान्दी परिकीर्तिता ॥

अर्थात् नान्दी आठ पदों वाली, बारह पदों वाली, अठारह पदों वाली और बाईस पदों वाली होती है । नाटकादि रूपकों का प्रारम्भिक पद्य 'नान्दी' कहलाता है ।

(क) 'पद' शब्द का अर्थ 'पाद' भी होता है । इसलिये दो पद्यों के द्वारा यहाँ इस मुद्राराक्षस नाटक में अष्टापदा नान्दी की गई है । क्योंकि—

श्लोकपादं पदं केचित् सुप्तिङन्तमथापरे ।
परेऽवान्तरवाक्यैकस्वरूपं पदमूचिरे ॥

(ख) 'नान्दी' पद की व्युत्पत्ति इसप्रकार है—नन्दन्ति देवता अस्याम् अथवा नन्दयति—आनन्दयति लोकान् इति नान्दी । शुभाशंसनेन लोकानन्दजननात् । इसके अनुसार 'नान्दी' इसप्रकार कही गई है—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति सा स्मृता ॥

अथवा— देवद्विजनृपादीनामाशीर्वादपरायणा ।
नन्दन्ति देवता यस्मात्तस्मान्नान्दी प्रकीर्तिता ॥

अथवा— आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोकः काव्यार्थसूचकः ।
नान्दी पदैर्द्वादशभिरष्टाभिर्वाप्यलङ्कृता ॥

(ग) यह नान्दी दो प्रकार की होती है—(१) नटकल्पित और (२) नाटककार रचित । इनमें से नटकल्पिता नान्दी 'पूर्वरङ्ग' नान्दी कहलाती है और नाटककार रचित नान्दी 'रङ्गनान्दी' कहलाती है । यहाँ कविकृत नान्दी है क्योंकि यहाँ नान्दी के बाद सूत्रधार आता है । प्रस्तुत नाटक में 'पत्रावली' नामक नान्दी है । इसका लक्षण इसप्रकार है—

यस्यां बीजस्य विन्यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुनः ।
श्लेषेण वा समासोक्त्या नान्दी 'पत्रावली' तु सा । नाटचदर्पण

(२) नृत्तम्—"नृत्तं ताललयाश्रयम्" दशरूपक प्रकाश १·९

अर्थात् "नृत्त" ताल और लय पर आश्रित होता है । इसमें केवल अङ्गविक्षेप पाया जाता है, अभिनय का यहाँ सर्वथा अभाव रहता है । 'देशी तथा परम् (नृत्तम्)' अर्थात् यह 'नृत्त' देशी नाम से भी कहलाता है । मुद्राराक्षस के प्रथम अङ्क के द्वितीय पद्य में वर्णित शिवजी का 'नृत्त' है, नृत्य नहीं ।

(३) सूत्रधार (१) नाटकीयकथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते ।
रङ्गभूमिं समाक्रम्य 'सूत्रधारः' स उच्यते ॥
(२) नाटचोपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते ।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते ॥
(३) नाटचप्रयोगनिपुणो नानाशिल्पकलान्वितः ।
छन्दोविधानतत्वज्ञस्सर्वशास्त्रविचक्षणः ॥
तत्तद्गीतानुगलयकलातालावधारणः ।
अवधाय प्रयोक्ता च योक्तृणामुपदेशकः ॥
एवं गुणगणोपेतस्सूत्रधारोऽभिधीयते ।

व्युत्पत्ति—सूत्रं-नाटचसूत्रं धारयतीति सूत्रधारः ॥

(४) भारती वृत्ति—"भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः" दशरूपक, प्रकाश ३·५ । नट (सूत्रधार) के द्वारा प्रयुक्त संस्कृत भाषा वाला वाणी का व्यापार "भारतीवृत्ति" कहलाता है । इसके चार भेद होते हैं—(१) प्ररोचना, (१) वीथी, प्रहसन और (४) आमुख । प्ररोचना का लक्षण इसप्रकार है—

उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना । दशरूपक, प्रकाश ३ ६ ।

अर्थात् काव्य की प्रशंसा के द्वारा सामाजिकों को उसकी ओर उन्मुख करना, उनके मन को आकृष्ट करना प्ररोचना कहलाता है । प्ररोचना की व्युत्पत्ति—"प्रकृतोऽर्थः (नाटकरूपः) रोच्यते—उपादेयतया ध्रियतेऽनयेति प्ररोचना" ।

(५) नाटक— नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसन्धिसमन्वितम् ।
विलासर्द्ध्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः ॥
सुखदुःखसमुद्भूतिः नानारसनिरन्तरम् ।
पञ्चाधिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः ॥
ख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ॥
एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ॥

चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्या व्यापृतपूरुषाः ।
गोपुच्छाग्रसमग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ॥ साहित्यदर्पण

षष्ठ परिच्छेद ७-११

नाटक की व्युत्पत्ति—नाटयति—विचित्रं रञ्जनानुप्रवेशेन सभ्यानां हृदयं नर्तयतीति नाटकम् । यद्यपि कथादयोऽपि श्रोतृहृदयं नन्दयन्ति तथा अङ्कोपायादीनां वैचित्र्यहेतुनामभावात् न तथा रञ्जकत्वमिति न ते नाटकम् । यह नाटक रूपक के दस भेदों में से सर्वप्रथम और सर्वोत्कृष्ट प्रकार है ।

(६) **पूर्वरङ्ग**—किसी नाटक के अभिनय के पूर्व जो संगीत का आयोजन अपेक्षित है, वह **पूर्वरङ्ग** कहलाता है ।

(७) **प्रस्तावना**—आमुख = स्थापना—

(क) सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्ष वाथ विदूषकम् ।
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम् ॥
प्रस्तावना वा । दशरूपक. प्रकाश ३. ७–८.

(ख) नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिता सलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना **प्रस्तावनापि** सा ॥ इति ।

आमुख को ही **प्रस्तावना** कहते हैं । इनके तीन भेद होते हैं—

(१) कथोद्घात, (२) प्रवृत्तक और (३) प्रयोगातिशय । यह आमुख भारतीवृत्ति के चार अङ्गों में से एक है । इस आमुख के अङ्ग ही वीथी के अङ्ग होते हैं। वीथी के १३ अङ्ग होते हैं । प्रस्तावना अथवा आमुख में जो अभिनय सम्भव है, वह वस्तुतः मुख्य रूप से वाचकाभिनय के रूप में ही सम्भव है । अतः प्रस्तावना को भारतीवृत्ति का अङ्ग कहा है। नाटकान्तर्गत पात्र के प्रवेश से पहले का जो नाटक का भाग है, वह प्रस्तावना अथवा आमुख होता है और बाद का नाट्य अथवा नाटक कहलाता है । प्रस्तुत नाटक में "कथोद्घात" नाम की प्रस्तावना है । इसका लक्षण इसप्रकार है—

स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः ।
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातो द्विधैव सः ॥

दशरूपक. प्रकाश ३. ९–१०

अपने इतिवृत्त के समान घटना वाले सूत्रधार के वाक्य को या वाक्यार्थ को लेकर तदनुकूल उक्ति का प्रयोग करते हुये जब कोई नाटकीय पात्र मञ्च पर प्रवेश

करता है, तो उस प्रस्तावना को कथोद्घात कहते हैं। इसप्रकार कथोद्घात में दो प्रकार से पात्र प्रवेश करता है—(१) वाक्य को आधार मानकर अथवा (२) वाक्यार्थ को आधार मानकर।

(८) नटी—सूत्रधार की पत्नी भी हो सकती है अथवा नाट्यमण्डली से सम्बन्धित कोई स्त्री पात्र भी हो सकता है। मुद्राराक्षस में नटी सूत्रधार की पत्नी है।

(९) परिषद्—नाटक के अभिनय को देखने के लिये उपस्थित दर्शकों का समूह "परिषद्, सभ्य, सामाजिक, दर्शक" इत्यादि शब्दों से कही जाती है।

(१०) स्वगतम्—'अश्राव्यं स्वगतं मतम्'। दशरूपक, प्रकाश १.६४
इसी को 'आत्मगतम्' भी कहते हैं। "स्वगतं स्वहृदि स्थितम्।"

(११) आकाशे—आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा=आकाशभाषित—

किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत्।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥

दशरूपक, प्रकाश १.६७

आकाशोक्तिः स्वयं प्रश्न-प्रत्युत्तरमरात्रकम्।

(१२) प्रतीहारी—सन्धिविग्रहसन्नद्धनानाचारसमुत्थितम्।
निवेदयन्ति याः कार्यं प्रतीहार्यस्तु ता मताः ॥

(१३) अङ्क—एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम्।
पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः ॥ दशरूपक, प्रकाश ३.३६
अङ्क इति रूढिशब्दो भावैश्च रसैश्च रोहयत्यर्थान् ॥

(१४) अपवारितम्— ......तद्भवेदपवारितम्।
रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाशते ॥
त्रिपताका करेणान्यानपवार्यान्तिरा कथाम् ॥

त्रिपताक का लक्षण—ऊर्ध्वसर्वाङ्गुलिर्वक्रानामिकः करस्त्रिपताकः। यह 'नियत-श्राव्य' का एक भेद है।

(१५) जनान्तिकम्— अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्।

दशरूपक, प्रकाश १.६५

जनानामेकस्यैव गोप्यत्वात् बहूनामन्तिकं श्राव्यतया निकटं जनान्तिकम्।

(१६) गण्ड—गण्डः प्रस्तुतसम्बन्धिभिन्नार्थं सहसोदितम्।

दशरूपक, प्रकाश ३.१८

इस नाटक में दो बार प्रयोग हुआ है (पृष्ठ ५२ पर और पृष्ठ ६० पर)।

(१७) नेपथ्य—इसके तीन अर्थ हैं—
(१) नट की वेषभूषा-रामादिवद्व्यञ्जको वेषो नटे नेपथ्यमुच्यते ॥
(२) पर्दा—नेपथ्यं स्याज्जवनिका।
(३) रङ्गभूमि।

(१८) प्रवेशक—तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तःशेषार्थस्योपसूचकः ॥

दशरूपक, प्रकाश १.६०

यह "अर्थोपक्षेपक" के पाँच भेदों में से एक भेद है । तद्वदेव=भूतभविष्यदर्थ-ज्ञापकत्वमतिदिश्यते ।

(१९) प्रकाशम्—सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात् । दशरूपक, प्रकाश १.६४
अथवा–प्रकाशं ज्ञाप्यमन्येषाम् ।

(२०) भरतवाक्यम्—संस्कृत नाटकों का प्रारम्भ "नान्दी" संगीत से और समाप्ति भरतवाक्य संगीत से हुआ करती है । इसी को "प्रशस्ति" कहते हैं, जो पाँचवीं निर्वहण-सन्धि का चौदहवाँ अङ्ग है । इसके विपरीत नान्दी को "मुखसन्धि" का अङ्ग नहीं माना गया है ।

प्रशस्ति का लक्षण—प्रशस्तिः शुभशंसनम् । दशरूपक, प्रकाश १·१४

परिशिष्ट (२)

सुभाषितावली

प्रथम अङ्क—

(१) प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिता येषां गुणा भूतये ।
ते भृत्या नृपतेः कलत्रमितरे संपत्सु चापत्सु च ॥ १/१५

(२) कायस्थ इति लघ्वी मात्रा ।

(३) श्रोत्रियाक्षराणि प्रयत्नलिखितान्यपि नियतमस्फुटानि भवन्ति ।

(४) यथानुचित उपचारो हृदयस्य परिभवादपि दुःखमुत्पादयति ।

(५) अत्यादरो शंकनीयः ।

(६) कीदृशस्तृणानामग्निना सह विरोधः ।

(७) शिरसि भयमतिदूरे तत्प्रतीकारः ।

(८) फलेन संवादितमस्य विकत्थितम् ।

(९) अनुभूयतां चिरं विचित्रो राजप्रसादः ।

(१०) दिष्ट्या मित्रकार्येण मे विनाशो न पुरुषदोषेण ।

द्वितीय अङ्क—

(१) प्रकृत्या वा काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला ।
पुरन्ध्रीणां प्रज्ञा पुरुषगुणविज्ञानविमुखी ॥७॥

(२) त्वमपि स्वाधिकारमशून्यं कुरु ।

(३) किं शेषस्य भरव्यथा न वपुषि क्ष्मां न क्षिपत्येष यत् ।
किं वा नास्ति परिश्रमो दिनपतेरास्ते न यन्निश्चलः ।
किं त्वङ्गीकृतमुत्सृजन्कृपणवच्छ्लाघ्यो जनो लज्जते
निर्व्यूढं प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतद्धि गोत्रव्रतम् ॥१८॥

(४) नन्वयुक्ततरः सुहृद्द्रोहः ।

(५) भव्यं रक्षति भवितव्यता ।

(६) पृथिव्यां स्वामिभक्तानां प्रमाणे परमे स्थितः ।

(७) त्वदभिप्रायापरिज्ञानान्तरितोऽयमस्मदनुनयः ।

(८) सौहार्दात्कृतकृत्यतैव नियतं लब्धान्तरा भेत्स्यति ।

तृतीय अङ्क—

(१) राज्यं हि नाम राजधर्मानुवृत्तिपरस्य नृपतेर्महदप्रीतिस्थानम्।
(२) परायत्तः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्ति पुरुषः ॥४॥
(३) दुराराध्या हि राजलक्ष्मीरात्मवद्भिरपि राजभिः।
(४) श्रीर्लब्धप्रसरेव वेशवनिता दुःखोपचर्या भृशम् ॥५॥
(५) सेवां लाघवकारिणीं कृतधियः स्थाने श्ववृत्तिं विदुः ॥१५॥
(६) निरीहाणामीशस्तृणमिव तिरस्कारविषयः ॥१६॥
(७) न निष्प्रयोजनमधिकारवन्तः प्रभुभिराहूयन्ते।
(८) दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति।
(९) विद्वांसोऽप्यविकत्थना भवन्ति।
(१०) हन्त, संगृहीतोऽधिकारः।

चतुर्थ अङ्क—

(१) त्वद्वान्ध्यान्तरितानि सम्प्रति विभो तिष्ठन्ति साध्यानि नः ॥१५॥
(२) अबीभत्सदर्शनं कृत्वा प्रवेशय।
(३) येनात्मनः पक्षमुज्झित्वा परपक्षः प्रमाणीक्रियते।
(४) प्रायो भृत्यास्त्यजन्ति प्रचलितविभवं स्वामिनं सेवमानाः।

पञ्चम अङ्क—

(१) मुण्डितमुण्डो नक्षत्राणि पृच्छसि।
(२) तदाज्ञां कुर्वाणो हितमहितमित्येतदधुना
　　विचारातिक्रान्तः किमिति परतन्त्रो विमृशति ॥४॥
(३) रक्षणीया राक्षसस्य प्राणा इत्यार्यदेशः।
(४) अभयमेव परवतो जनस्य।
(५) अधिकारपदं नाम निर्दोषस्यापि पुरुषस्य महदाशंकास्थानम्।
(६) गतिः सोच्छ्रायाणां पतनमनुकूलं कलयति ॥१॥
(७) वयमिदानीमनार्याः संवृत्ताः।
(८) स्वार्थे कस्मिन्समीहा पुनरधिकतरे स्वामनार्यं करोति ॥१६॥
(९) अयमपरो गण्डस्योपरि स्फोटः।

षष्ठ अङ्क—

(१) तत्किंनिमित्तं कुकविकृतनाटकस्येवान्यन्मुखेऽन्यन्निर्वहणे।
(२) दैवेनोपहतस्य बुद्धिरथवा सर्वा विपर्यस्यति ॥८॥
(३) अथवा मम काममसत्यसंधः इति वरमयशो न तु शत्रुवञ्चनपराभूत

इति।

(४) अलक्षितनिपाताः पुरुषाणां समविषमदशापरिणतयो भवन्ति ।
(५) अभूमिः खल्वेषोऽविनयस्य ।
(६) एतत्तदपावृतमस्मच्छोकदीक्षाद्वारं दैवेन ।
(७) सोऽयमभ्यर्णः शोकवज्रपातो हृदयस्य ।
(८) कृतार्थोऽयं सोऽर्थस्तव सति वणिक्त्वेऽपि वणिजः ॥१७॥

सप्तम अङ्क—

(१) स्वपतोऽपि ममेव यस्य तन्त्रे गुरवो जाग्रति कार्यजागरूकाः ॥११॥
(२) सम्पन्नास्ते सर्वाशिषः ।
(३) सर्वथा स्थाने यशस्वी चाणक्यः ।
(४) कार्याणां गतयो विधेरपि न यन्त्याज्ञाकरत्वं चिरात् ॥१६॥
(५) किं वां भूयः प्रियमुपकरोमि ।
(६) किं कर्तव्यमतः परम् ॥१८॥

परिशिष्ट [३]

छन्दः—एक परिचय

छन्द पादौ तु वेदस्य

वेद निःश्रेयस् का मूल है और छन्दःशास्त्र उसके अङ्गों में चरणस्थानीय है। छन्दशास्त्र के आदि आचार्य और जन्मदाता पिङ्गलमुनि माने जाते हैं । सम्प्रति पिङ्गल और छन्दशास्त्र पर्यायवाची शब्द हो गये हैं। प्राचीन सूत्र परम्परा के अनुसार पिङ्गल मुनि ने छन्दशास्त्र को सूत्रों में लिखा है । इसका नाम 'पिङ्गल सूत्र' प्रचलित है । इसके आठ अध्याय हैं । पिङ्गल मुनि के अनन्तर कई छन्दः-शास्त्रकार हुये हैं, जिनमें केदारभट्ट भी हैं इन्होंने 'वृत्त-रत्नाकार' की रचना की है । वर्तमान-काल में इसका अधिक प्रचार है ।

लौकिक छन्दों के दो भेद हैं—(१) मात्रिक और (२) वर्णिक । वर्णों के आधार पर बने छन्दों की रचना आठ गुणों पर निर्भर होती है । गुरु और लघु के एक विशेष क्रम से बने हुये तीन-तीन के समूह के रूप में इन आठ गणों की रचना हुई है यदि तीन का समूह बनाने के पश्चात् दो या एक अक्षर शेष रह जावें तो यह या तो गुरु होगा और या लघु होगा । सामान्य रूप से स्मरण करने की दृष्टि से निम्न सूत्र परम उपयोगी है । **यमाताराजमानसलगम्** । इसमें 'ल' से लघु और 'ग' से गुरु समझना चाहिये ।

गण का लक्षण—तीन वर्णों के समूह को "गण" गहते हैं । ये गण आठ हैं । इनके नाम और लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) यगण = ।SS = आदि लघु । (२) मगण = SSS = सभी गुरु ।
(३) तगण = SS। = अन्तलघु । (४) रगण = S।S = मध्यलघु ।
(५) जगण = ।S। = मध्य गुरु । (६) भगण = S।। = आदि गुरु ।
(७) नगण = ।।। = सर्वलघु । (८) सगण = ।।S = अन्त गुरु ।

यहाँ आर्यादि मात्रिक छन्दों में चतुर्मात्रिक पाँच गण होते हैं, उनका स्वरूप इसप्रकार है - सर्वगुरु SSS, अन्तगुरु ।।S, मध्यगुरु ।S।, आदि गुरु S।।, सर्वलघु ।।।. यहाँ पर इतना ध्यान रखना चाहिये कि लघु की एक और गुरु की दो मात्रायें ही होती हैं ।

गुरु-लघु का लक्षण—जिसका एक ही सांस में उच्चारण किया जावे, उसे वर्ण कहते हैं । वर्ण ह्रस्व अथवा गुरु होता है, यदि उसका स्वर ह्रस्व अथवा दीर्घ है।

अनुस्वारयुक्त, जिसके अन्त में विसर्ग हो, वह दीर्घ होता है। संयोग से पूर्व का लघु वर्ण भी गुरु होता है। पाद के अन्त में यदि लघु हो तो विकल्प से—लघु से प्रयोजन हो तो लघु और गुरु से प्रयोजन हो तो गुरु समझना चाहिये।

सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गो च गुरुर्भवेत्।
वर्णः संयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा॥

प्रस्तार आदि के लिये गुरु का 'ऽ' इसप्रकार का और लघु का "।" इसप्रकार का चिह्न है। मात्रिक छन्दों में ह्रस्व वर्ण की एक मात्रा होती है और गुरु की दो मात्रायें।

पाद का लक्षण—छन्द के चौथे भाग को पाद कहते हैं। कभी-कभी इसके पर्यायवाची "चरण" इत्यादि का प्रयोग भी इसी अर्थ में हो जाता है।

यति लक्षण—विराम को **यति** कहते हैं। श्लोक को पढ़ते हुये सुनने में माधुर्य लाने के लिये जो कहीं पर रुका जाता है, उसे **यति** कहते हैं। जहाँ पर रुका जाता है, उसे **यति-स्थान** कहते हैं। यतिस्थान प्रत्येक छन्द के नियत हैं, जो कि लक्षणों में तृतीयान्त पदों में सूचित किये गये हैं।

वृत्त भेद—पद्य सामान्यरूप से चार पादों से निर्मित होता है। संस्कृत में पद्य का आधार मात्राओं अथवा अक्षरों का परिमाण होता है। अक्षर अथवा मात्राओं के आधार पर निर्मित पद्य वृत्त अथवा जाति कहलाता है। वृत्तों के तीन भेद हैं—

(१) सम, (२) अर्धसम और (३) विषम। इनमें से जिस छन्द के चारों चरण समान लक्षण से युक्त हों, उसे **समवृत्त** कहते हैं। जिस छन्द का प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण समान हों उसे **"अर्धसम"** कहते हैं। जिस छन्द के चारों चरणों के लक्षण परस्पर भिन्न हों, उसे **विषमवृत्त** कहते हैं।

मुद्राराक्षस नाटक में प्रयुक्त १९ छन्दों के नाम, उनका लक्षण और किस-किस स्थान पर आये हैं—इनका वर्णन छन्दः सारिणी के रूप में किया गया है।

छन्दः सारिणी

क्रम-संख्या	वर्ण-संख्या	छन्दः नाम	कहाँ प्रयुक्त हुआ है	कुल-संख्या	लक्षण
१	८	अनुष्टुप्	प्रथम अङ्क ३, १६, २४, २५, द्वितीय २०, २२ तृतीय २३, ३२, चतुर्थ ८, ९, १० पञ्चम १४, १७, २२, षष्ठ १५, १८, सप्तम ७, ८, १२, १३, १७, १८	२२	श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञयसर्वत्र लघु पंचमम् । द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं र्घमन्ययोः ॥ इसीको 'श्लोक' भी कहते हैं ।
२	११	इन्द्रवज्रा	पञ्चम अङ्क ८ ।	१	स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः ।
३	११	उपजाति	द्वितीय अङ्क २, चतुर्थ १३ ।	२	इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा—इन दोनों छन्दों के मिश्रण से इस 'उपजाति' छन्द का निर्माण होता है । इन दोनों छन्दों का लक्षण इसप्रकार है— इन्द्रवज्रा = स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः । उपेन्द्रवज्रा—उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ॥ इसप्रकार इन दोनों छन्दों से निर्मित "उपजाति" का लक्षण इसप्रकार है— अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः । इत्थ किलान्यास्वपि मिश्रितासु स्मरन्ति जातिष्विदमेव नाम ॥
४	१२	वंशस्थ	चतुर्थ अङ्क १४ ।	१	जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ।
५	१३	प्रहर्षिणी	प्रथम ७, तृतीया १२, पञ्चम १३	३	त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम् ।
६	१३	रुचिरा	द्वितीय अङ्क ३, पञ्चम ६ ।	२	जभौ सजौ गिति रुचिरा चतुर्ग्रहैः ।
७	१४	वसन्ततिलका	प्रथम अङ्क ८, १०, २७	१६	उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ।

			द्वितीय ६, ७, १७; तृतीय ६, १७, १८, ३१, ३३, चतुर्थ ६, ११, १७; पञ्चम ७, १६, षष्ठ ७, १३, सप्तम १४।		
८	१५	मालिनी	तृतीय अङ्क १५, २५; षष्ठ १, ३।	४	ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।
६	१७	शिखरिणी	प्रथम अङ्क १३; द्वितीय ७, १०; तृतीय ३, ४, ९, ११, १६, २६; पञ्चम ३, ४, १२; षष्ठ ६, ११, १२, १४, १७।	१८	रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी।
१०	१७	हरिणी	तृतीय अङ्क ६ चतुर्थ २, षष्ठ २०।	३	नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता।
११	१७	पृथ्वी	षष्ठ अङ्क १६।	१	जसौजसजलावसुग्रहयतिश्च पृथ्वीगुरुः।
१२	१७	मन्दाक्रान्ता	षष्ठ अङ्क १६।	१	मन्दक्रान्ता जलधिषड्गैर्म्भौ न तौ ताद्गुरु चेत्।
१३	१६	शार्दूलविक्रीडित	प्रथम अङ्क १२, १४, १५, २३, २६; द्वितीय ४, ५, ६; १२, १३, १५, १६, १८, २१, २३; तृतीय, १, २, ५, १३, १४, २६; चतुर्थ ५, १५; पञ्चम ५, १०, १५, १८, २०, २१, २४; षष्ठ ५, ८, १०; सप्तम ४, ५, ६, ६, १५, १६।	३६	सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रिडितम्।
१४	२०	सुवदना	चतुर्थ अङ्क १६।	१	ज्ञेया सप्ताश्वषड्भिर्मरभनययुता म्लौ गः सुवदना।

१५	२१	स्रग्धरा	प्रथम अङ्क १, २, ११, २०, द्वितीय १४, तृतीय १०, १६, २०, २१, २२, २४, २७, २८, ३०, चतुर्थ ३, ७, १२, २१, पञ्चम ११, १६, २३, षष्ठ ६, २१, सप्तम १६ ।	२४	म्नभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ।
१६	११।१२	मालभारिणी	सप्तम अङ्क १०, ११ ।	२	विषमे ससजा यदा गुचेरुत्, सभरा येन तु मालाभारिणीयम् ।
१७	१३।१४	पुष्पिताग्रा (अर्ध समवृत्त)	प्रथम अङ्क ४ ।	१	अयुजि न युगरेफतो यकारोयुजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा
१८	३०।२७	आर्या (मात्रिक छन्द)	प्रथम अङ्क ५, ६, ६, १७, १८, १६, २१, २२; द्वितीय १, ११, १६, चतुर्थ १, ४, १८, १६; पञ्चम १, २, ६; षष्ठ २, ४; सप्तम १, २, ३ ।	२३	यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ।।
१६		गीति	चतुर्थ अङ्क २० ।	१	आर्या प्रथमार्धसमं यस्याः परार्धमीरिता गीतिः ।

परिशिष्ट (४)

श्लोकानुक्रमणिका

[नोट—प्रथम नम्बर अङ्क को और दूसरा पद्य की संख्या को सूचित करता है ।]

"इत्यलम्"

साहित्य भण्डार

सुभाष बाजार, मेरठ